ग्रंथ प्रकाशकः—

रावजी सखाराम दोशी,

सोलापूर.

आगष्ट, सन १९२९



प्रिंटरः—

वंशीधर उदयराज पंडित,

'श्रीधर' प्रेस, भवानीपेठ, सोलापूर.

आदिके दो शब्द ।

यह ग्रंथ पचमकालमें होनेवाली जैनधर्मकी परिस्थितिपर तथा भेद प्रमेदोंपर प्रकाश डालकर हेयादेयको दिखानेकी इच्छासे निर्माण किया गया है। इसकी भाषा संस्कृतके समान है परतु प्रचलित संस्कृत व्याकरण तथा कोषके अनुसार नहीं है। किंतु इसमें यह विशेष गुण है कि संस्कृत कम समझनेवाले भी इसका अर्थ पढते ही समझ सकते हैं।

साहित्यमें चार भाषाए ऐसी बताई हैं जिनमें साहित्य लिखनेका काम होता है; उन्हींमेंसे एक अपभ्रंश भाषा है। अपभ्रंशका विशेष खुलासा कहीं देखनेमें नही आया है। परतु हमारी समझ है कि इस ग्रथकी भाषाको अपभ्रंश मानना चाहिये। इस हमारी कल्पनाको ध्यानमें लेकर साहित्यप्रेमी लोग इसकी भाषापर विचार करेंगे तो बहुत कुछ उपयोग होगा।

इस ग्रथकी अतिम संधिको देखते मानना पडता है कि इतना यह भाग एक ही अधिकार है।

इसके कर्ता और निर्माण समयका निश्चय अतिम प्रशस्तिपर से पाठकोंको करना चाहिये। अतमें जो निर्माण काल बताया है उसका अर्थ अस्पष्ट है। इसलिये पाठक उसको ध्यानसे पढें और मनन करें।

गत वर्ष कटनी शहरमें आचार्यवर्य श्री १०८ शांतिसागर महाराजने अपने संघके साथ चातुर्मास समाप्त किया था। संघमें ब्र० ज्ञानचन्द्रजी महाराज भी थे। उन्होने इस ग्रथको हिंदी व्याख्यान सहित वहांपर लिखकर तयार किया था और उसका वाचन संघमें किया जा रहा था। इसी समय वीर सं. २४५४ के श्रावण मासमें संघके दर्शनार्थ १ गांधी नेमचद मियाचंद, २ गांधी खेमचद मियाचंद व गांधी उगरचद मियाचद जाति विसाहुमड उत्तरेश्वर गोत्रवाले दिगबर जैन धर्मानुयायी ये तीनो भाई अपने निवास स्थान नातेपुतेसे कटनी पहुचे थे। उस समय इस ग्रंथकी नवीनता और विशेषताका वर्णन श्रीआचार्य महाराजके मुखसे सुनकर इन तीनो भाइयोको इस ग्रंथको छपाकर प्रसिद्ध करनेकी स्फूर्ति हुई और तदनुसार यह ग्रन्थ उक्त बंधुत्रयने छपाकर प्रसिद्ध किया है। यह भी एक पुण्यकार्य है। आशा है समाज इसके स्वाध्यायसे धर्ममें सुदृढ बनेगा।

रावजी सखाराम दोशी.

विषय परिचय.



विद्वद्वरनेमिचन्द्रविरचितः,

सूर्यप्रकाशग्रंथः प्रारभ्यते ।

मगल ।

श्रीमन्तं सर्वयोगीन्द्रवद्यान्हि सन्मतिं जिनम् । वदे प्रारब्धसिद्धयर्थं सिद्धं सिद्धिकर वरम् ॥ १ ॥

अर्थ—अंतरग अनतचतुष्टयादि लक्ष्मी और बहिरंग समवसरणादि लक्ष्मी से सुशोभित, सर्व योगीश्वरो से पूजित, चार घातिया कर्मोंका नाश करने से सिद्ध अवस्था (भाविनयकी अपेक्षा) को प्राप्त हुए, समस्त प्रकारकी सिद्धियों को प्रदान करनेवाले, श्रेष्ठ ऐसे वीर प्रभुको मै, प्रबलतर मोहनीयादि कर्मों के नाशकी सिद्धिकेलिये, नमस्कार करता हू । १ ॥

भावार्थ—श्रीवीरप्रभुके गुणो की अचिंत्य महिमाको प्रकट करनेके लिये ग्रंथकर्ताने श्रीमत आदि विशेषणों से यह बतलाया है कि जगत् में आभ्यंतर और बहिरंग लक्ष्मीसे प्रभु वीर भगवान् अतिशय प्रभावित हैं । महान् ऋद्धियोंके

शर्मदं शर्मभोक्तारं नेमिचंद्रं जिनेश्वरम् । वक्ष्ये सूर्यप्रकाशास्य ग्रंथमानंददायकम् ॥ २ ॥
वृषभादिजिनान् सर्वान् पंचकल्याणभूषितान् । ज्ञानाब्धिपारगान् शुद्धान् वंदे भवविहानये ॥ ३ ॥
सर्वान् सिद्धानहं वंदे शर्ममग्नान् सदा खलु । लोकाग्रशिखरारूढान् तेषां सद्गुणसिद्धये ॥ ४ ॥
सूरीन् सर्वानिह वंदे षट्त्रिंशद्गुणभूषितान् । भुक्तिमुक्तिप्रदान् नित्यं नानर्द्धिगुणमंडितान् ॥ ५ ॥

धारक योगीश्वरो से भी पूजित है। और समस्त प्रकार रागादि भावो का नाश कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त होचुके हैं। ऐसे वीर भगवान्‌को नमस्कार करने से मेरे कार्य की सिद्धि हो। १ ॥

अर्थ—अनंतसुखके स्वामी, अतएव जगत्‌के जीवो को अनंत सुखके प्रदान करनेवाले ऐसे श्री नेमिचंद्र जिनेंद्र भगवान्‌को नमस्कार कर परमानंद देनेवाले इस सूर्यप्रकाश नामक ग्रंथका वर्णन करता हूं।

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्यके उद्योत से अंधकार नष्ट होकर आनंदकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार इस सूर्यप्रकाश ग्रंथ से भव्य जीवो का चिरकालका घोर मिथ्यांधकार नष्ट होकर उनको परम आनंद अवश्य ही प्राप्त होगा। २ ॥

अर्थ—गर्भ जन्म तप ज्ञान निर्वाण ऐसे पंचकल्याणो के द्वारा महान् अतिशय को प्राप्त हुए, समस्त प्रकारके दोषो से रहित, परम विशुद्धताको प्राप्त और ज्ञानरूपी समुद्रके पारंगत ऐसे वृषभादि चतुर्विंशति परम तीर्थंकर परमदेवको मैं संसार नाश करनेके लिये नमस्कार करता हूं। ३ ॥

अर्थ—लोकके शिखरके अग्रभागमें विराजमान और अनंत सुख में निमग्न ऐसे समस्त सिद्ध परमात्माओंको उनके गुणो की प्राप्तिके लिये मैं नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥

अर्थ—पंचाचारादि छत्तीस गुणो से सुशोभित, अनेक प्रकारकी ऋद्धियो से विभूषित, और स्वर्ग मोक्षके प्रदान करने वाले ऐसे आचार्य परमेष्ठीको मैं नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥

पाठकान् बुद्धिवृद्ध्यर्थं वंदे देवेन्द्रवंदितान् । स्वयं पठति सर्वांङ्गं शिष्यान् सपाठयत्यहो ॥ ६ ॥
सर्वान् साधूनहं वंदे त्रिकाले ध्यानकारकान् । योगसंरोधने दक्षान् ध्यानज्ञानादिसिद्धये ॥ ७ ॥
जिनाननात्समुत्पन्ना भारतीं मतिवृद्धये । वंदे भवतु मे देवि ! बोधलाभो भवे भवे ॥ ८ ॥
वंदे वृषभसेनादीन् त्रिपंचगुणान्वितान् । नानर्द्धिमंडितान् शुद्धान् गणाधीशान् सुरार्चितान् ॥ ९ ॥

अर्थ-जो ग्यारह अंग चौदह पूर्वको स्वयं पढते हैं और शिष्योंको पढाते हैं तथा देवेन्द्र नरेन्द्र आदि से पूजनीक हैं ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीको बुद्धिकी वृद्धिके लिये मैं नमस्कार करता हूं ॥ ६ ॥

अर्थ—तीन कालमें ध्यानको धारण करने वाले, मन वचन कायका संरोधन करने वाले, इन्द्रियों को वश करने वाले, समस्त प्रकार के परिग्रह और आरंभ से विरक्त ऐसे साधु परमेष्ठीको ज्ञान ध्यान की सिद्धिके लिये मैं नमस्कार करता हूं । ७ ॥

अर्थ—श्री सर्वज्ञ वीतराग-अरहंत प्रभुके मुखकमल से प्रकट हुई अनादिनिधन सरस्वती देवी को बुद्धिके विकाशके लिये नमस्कार हो । हे त्रिलोक को जानने वाली सरस्वती देवी ! आपके प्रसाद से मुझे भव भवमें सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो ॥ ८ ॥

अर्थ—त्रेपन गुणों से सुशोभित महान् अतिशयोंको प्रकट करनेवाली बडी २ ऋद्धियों से संपन्न, परम विशुद्ध, देवेन्द्रों कर वंदनीक ऐसे वृषभसेन आदि गणधर देवोंको मैं नमस्कार करता हूं ।

भावार्थ—२८ मूल गुण और २५ उपाध्यायके गुण इस प्रकार दोनों गुण मिलाकर गणधर देवमें ५३ गुण होते हैं । गणधर देवोंके मनःपर्यय ज्ञान होता है और भी अनेक सातिशय ऋद्धियां होती हैं । वे समस्त मुनीश्वरों के स्वामी होते हैं । तथा देव मनुष्य और अहमिंद्रोंकर पूज्य होते हैं । आदि तीर्थंकर ऋषभदेवके मुख्य गणधर श्री

मुनीन्द्रान् जिनसेनादीन् वंदे धर्मप्रकाशकान् । दिशावासोधरान् वीरान ज्ञानध्यानात्तमानसान् ॥ १० ॥

जिनेन्द्रं शर्मदातारं सीमंधरमहं मुदा । दत्त सुदर्शनं पूर्वं कुंदकुंदतपोनिधे ॥ ११ ॥

पूर्वारण्ये सुदरे क्षेत्रे विदेहे भव्यसभृने । वदेहं मुक्तिभर्त्तारं तत्पदाप्ताय केवलम् ॥ १२ ॥

कलंकनाशने वीरमकलंकं दयापतिम् । वदे बौद्धमतेभाना नाशने सिंहसदृश (पाटवं) १३ ।

वृषभसेन थे । इसी प्रकार अन्य तेईस तीर्थकरोके गणधर जानने । महावीर स्वामीके मुख्य गणधर गौतम स्वामी थे। ग्रंथकार इन समस्त गणधर देवोको बुद्धिकी अतिशयता प्राप्त होनेके लिये नमस्कार करते है । ९ ।

अर्थ–परम धर्मके प्रकाशक, दिशारूपी वस्त्रको धारण करनेवाले (भगवती दैगंबरी दीक्षाके धारक) ज्ञान ध्यान में लवलीन ऐसे जिनसेनाचार्यादि मुनीश्वरोको मै नमस्कार करता हूं । ॥ १० ॥

अर्थ–स्वर्ग मोक्षके सुखो का प्रदान करनेवाले, तपोनिधि आचार्यवर्य श्रीकुदकुद स्वामी को अपना दर्शन देकर कृतकृत्य करनेवाले, भव्यजीवोसे परिपूर्ण ऐसे पूर्व विदेह क्षेत्रको अपने अवतार से पवित्र करनेवाले, मुक्ति रमणीके स्वामी, ऐसे श्री सीमंधर स्वामी को मै आनंदके साथ उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिये सदा नमस्कार करता हू ।११। १२।

समस्त प्रकारके कलंको को नाश करने में साहसिक वीरोत्तम, दयाके अधिपति और बौद्धमतरूपी उद्धत गजराजके नाश करनेके लिये प्रबल सिंह ऐसे भगवान् अकलक देव को नमस्कार करता हूं।

भावार्थ, यदि बौद्धराजाके नगरमें जैन मतका रथ सबसे प्रथम उस के ही नगरमें नहीं निकलता तो जैन धर्म के लिये यह एक बडी भारी कालिमा थी । उस कालिमाका नाश करने वाले और ज्वालामालिनी देवीके सहारेसे, बौद्धोंसे स्थापित तारा देवी की अदम्य शक्तिको नाश करने वाले और शास्त्रार्थ द्वारा जगतमें जैनधर्म की प्रभावना स्थापन करने वाले अकलक भगवान्के लिये में नमस्कार करता हू । १३ ।

वदे सकलकीर्त्याख्य मुनीन्द्र पावन मुदा । चतुरशीतिग्रथानां कर्तारं तत्पदाप्तये ॥ १४ ॥
मंगलार्थं नमस्कृत्य एतेषा चरणाब्जयो । वच्म्यहं च शृणुध्व वै यथोचेमं बुधोत्तमा ॥ १५ ॥
जबूद्वीपोऽत्र विख्यातस्तन्मध्ये राजते महान् । क्षेत्रोहि भारतो नाम्ना रिपुखंडविमडित ॥ १६ ॥
तस्मिश्च शोभते ह्यार्यखडो वै आर्यमर्त्ययुक् । देशे च मगधे ख्याते सर्वेषु चोत्तमे खलु ॥ १७ ॥

अर्थ–शुद्ध चारित्रके धारक, परमपवित्र और चौरासी ग्रथोके निर्माणकर्ता यतीश्वर सकलकीर्ति आचार्यकेलिये मे उनके गुणप्राप्त्यर्थ नमस्कार करता हू ।

भावार्थ–सकलकीर्ति आचार्यने चौरासी ग्रथ वनाये है । यद्यपि इस समय समस्त ग्रंथ देखने में नहीं आते हैं तो भी उनमेंसे वहुत कुछ मिलते है । १४ ।

अर्थ–उपर्युक्त अरहत सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्व साधु और सीमंधरादि मगलोत्तम परमेष्ठियोंके चरण कमलोको मंगल कामना के लिये नमस्कार कर यह सूर्यप्रकाश नामका ग्रथ कहता हू हे भव्योत्तम हो ! आप लोग आत्मकल्याणके लिये इसको सावधानतापूर्वक श्रवण करें ।

अर्थ— इस प्रसिद्व जंबू द्वीपमें भारत वर्ष नामका एक सुंदर क्षेत्र है । जो छह खंडोसे सुशोभित है १६ ॥

अर्थ— उस भरतक्षेत्रमें एक आर्य खंड है और पाच म्लेच्छ खंड हैं । आर्य खडमें उत्पन्न हुए मनुष्योको क्षेत्रज आर्य कहते है । उस आर्य खंडमें एक मगध नामका सुंदर देश है । जो समस्त देशो से उत्तम है । १७ ॥

क्षेत्रज आर्य एक समान नहीं होते हैं । उनमें भी जाति आर्य कर्म आर्य चारित्र आर्य आदि अनेक भेद हैं वैसे ही भंगी चमार कोली आदि क्षेत्रज आर्य होने पर भी अस्पर्श्य हैं क्षेत्रंज आर्यों में जिनको नीचगोत्र का उदय प्राप्त हुआ है ऐसे

पुरे नै माति देवाना नद्द सज्जनैर्युत । नाम्ना राजगृहश्चैव मनुजो धनधान्यत । १८ ॥
क्षमी दमी कृती पूज्यो निर्जरैर्या नृभिर्नृपैः । शुद्धक्षायिकसम्यक्त्वात्रिरत्नेनान्वी गुणी ॥ १९ ॥
श्रीवीरजिनपादाब्ज सेवार्पितमना सदा । भोक्ता धर्मपुराणे मार्ग शुभगिमनी नम्रः ॥ २० ॥
त्रिवर्गसाधने दक्ष प्रतापजितभूपण । मुनैश्च साधिताशनी श्रेणिक स्त्यशोधन ॥ २१ ॥

अर्थ— मगध देशमें - देवताओंको भी आनंद देनेवाला, ऐसा राजगृह नामका एक भव्य नगर था। जिसमें सज्जन जन निवास करते थे और जो धन धान्यादि सुख सामग्रीसे परिपूर्ण था। १८ ॥

अर्थ—राजगृह नगरका अधिपति क्षमावान दयालु कृतकृत्य कामादि शत्रुओंका दमन करनेवाला, नीतिके समस्त कर्तव्योंको जाननेवाला, देवताओंसे पूज्य अथवा मनुष्य और राजाओंसे पूजित शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन को

जीव अपने शरीरकी स्थिति पर्यंत तीन भी करते हैं उनके साथ जाति आर्यों का खान पान संबंध व रजस्वलादि संबंध नहीं होता है। ऐसे मनुष्यों को मुनिव्रत धारण करने की योग्यता नहीं होती है। इसीसे ही ये अनार्य होते हैं। जिनका चारित्र आचारांग शास्त्र की आज्ञाके विरुद्ध होता है। जो स्त्रीका पुनर्संस्कार (विधवा विवाह) करते हैं, जो विजातीय विवाह करते हैं जो अपने कुल व जातिके योग्य चारित्र के विरुद्ध काम सेवनादि करते आचाते हैं वे भी अनार्य ही हैं।

क्षेत्र आर्यों की अपेक्षा जाति आर्य अधिक पूज्य हैं। वे मोक्ष मार्गके अधिकारी हैं। विशुद्ध कुल और विशुद्ध वंशमें जो ऊंच गोत्र के उदय से उत्तम (चारित्र धारण करने योग्य) जातिमें उत्पन्न हुए हों उनको जाति आर्य कहते हैं। जाति आर्य में सावद्य कर्म और निरवद्य कर्म आदि के कारण बहुत से भेद हैं। जाति कुल अनादि निधन हैं। और उनका संबंध नीच-ऊंच गोत्र से है। ऐसा नहीं है कि जिसका रोजगार (धंधा) ऊंचा हो वह ऊंचा और जिसका धंधा नीचा हो वह नीच हो।

पुत्रवत्स्वप्रजानां च पालको बुद्धिमान् शुचिः । दुष्टानां नाशकर्ता च न्यायवान् पुरुषोत्तमः ॥ २२ ॥
इत्याद्यन्यगुणैर्युक्तो नाम्ना श्रीश्रेणिको नृपः । तस्मिन्नासीद्गुणैः पूर्णे ईदृशैरुज्वले परे ॥ २३ ॥
तस्यासीत् भूपते राज्ञी चेलना शातदायका । नाम्ना शुभगुणैर्युक्ता दंभभावविवर्जिता ॥ २४ ॥
शुद्धशीलव्रतैर्युक्ता रूपेण निर्जिताप्सरा । भर्त्राज्ञापालका नम्रा धर्ममार्गविचक्षणा ॥ २५ ॥
मृगशावसमानेत्रा शुभा क्षायिकदर्शना । ज्ञानविज्ञानसम्पन्ना गत्या च करिणीं जिता ॥ २६ ॥
मनोनकहरा भर्तुर्मार्दवारविमंडिता । वामासु खलु सर्वासु मुख्या ह्याह्लादापहा ॥ २७ ॥
गुर्वाज्ञाधारका मन्युवर्जिता सत्क्रियान्विता । जिनार्चनरता भक्त्या वासरं प्रति शर्मणे ॥ २८ ॥

धारण करनेवाला, प्रतापवान्, तेजस्वी, महामना, गुणवान्, श्री वीर भगवान्के चरणकमलोंकी सेवा करनेवाला, जैन धर्मका परमभक्त, कुटुम्ब परिवारोकी बहुसख्याके साथ राज्यका उपभोग करनेवाला, शूर-वीरशिरोमणि, धर्म—अर्थ काम पुरुषार्थोंके पालन करनेमें समर्थ, अपने प्रताप कर सूर्यको भी तुच्छ करनेवाला, बलवान्, कामदेवके समान रूपवान्, प्रजाको पुत्रके समान पालन करनेवाला, बुद्धिमान् , पवित्र, दुष्ट और दुर्जनोका निग्रहकर्ता (दण्ड देनेवाला) नीतिपर चलनेवाला इत्यादि अनेक उत्तमोत्तम और पवित्र गुणोसे विभूषित ऐसा श्रेणिक नामका राजा था । २३ ॥

अर्थ—श्रेणिक महाराजके चेलना नामकी अत्यत सुदर गुणवती रानी थी जो कि सब रानियोमें मुख्य थी। यद्यपि चेलनामें अनेकानेक उत्तमसे उत्तम और पवित्रसे पवित्र गुण थे जिनकी गणना होनी अशक्य है। तो भी उनमेंसे मुख्य २ गुणोका दिग्दर्शन इस प्रकार हैं। शुद्ध शील और शुद्ध व्रतोको धारण करने वाली, दंभवृत्तिसे रहित, रूपसे अप्सराओको जीतनेवाली, अपने स्वामीकी आज्ञाका पालन करनेवाली, नम्र, धर्ममार्गके जाननेमें अतिशय निपुण, मृग-के वालकके समान सुदर नेत्रवाली, शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शनको धारण करने वाली, ज्ञान और विज्ञान गुणोसे विभूषित,

स्वमतस्थेषु वात्सल्यकरा न्यायादिभि खलु । मुनीशिना गृहस्थाना वेददानप्रदायका ॥ २९ ॥
यात्राभिश्चैव धर्मस्य वर्द्धका स्यंदनस्य वै । स्वपुरे भ्रामणेनैव सिद्धभूमौ निरालसा ॥ ३० ॥
प्रतिपद्दर्शनीं भूयो तामाप्य शर्मदायकाम् । तया साकं च संरेभे पूर्वसुकृतसंचयात् ॥ ३१ ॥
शर्ममग्नौ गतं काल न जानंतौ च तस्थतु । अविराध्य जिनेन्द्रोक्तं धर्म कामार्थदायकम् ॥ ३२ ॥

गतिसे हथिनीकी गतिका भी तिरस्कार करनेवाली, मनको हरण करनेवाली, स्वामीको आनंद देनेवाली, गुणवती, समस्त स्त्रियोमें मुख्य, आठ प्रकारके मदोंसे रहित, धर्मगुरुओंकी आज्ञाको अखड रीतिसे पालनेवाली, क्रोध रहित, श्रेष्ठ क्रियाए जो श्रीजिनेन्द्र देवने आगममें कही है उनको पालन करनेवाली, आगमके अनुसार अपनी जीवनचर्याको पालन करने वाली, श्री जिनेन्द्र देव की पूजा भक्ति और सेवा आदिमें नित्यप्रति तत्पर रहनेवाली, अपने धर्म के अनुयायी गृहस्थों को भोजन पान आदि देकर वात्सल्य अगको प्रकट करने वाली, व्रती पुरुषो की भक्तिपूर्वक वैयावृत्य आदि सेवा करने वाली, मुनीश्वरोंको आहार दान–औषध दान–शास्त्रदान और वसतिका दानको भक्तिपूर्वक देनेवाली, जैनधर्मपरायण गृहस्थो की सेवा सुश्रुषा करनेवाली, जैनधर्मकी उत्कृष्ट प्रभावना प्रकट करने के लिये सदैव रथोत्सव मेला आदि महोत्सव करनेवाली, और सिद्ध भूमियो की यात्रा प्रतिष्ठादि के द्वारा अपने जीवनको कृतकृत्य माननेवाली। और प्रमाद रहित, धार्मिक कार्यों में तत्पर रहनेवाली थी। इनको आदि लेकर और भी बहुत से गुण चेलना रानीमें थे। २४। २५। २६। २७। २८। २९। ३०

अर्थ–प्रतिपदके चद्रमाके समान आल्हाद करनेवाली और सुखोको प्रदान करनेवाली ऐसी अपूर्व स्त्रीको पाकर श्रेणिक महाराज पूर्व भव के सातिशय पुण्यके योग से उसके साथ मनोहर भोगोंका सेवन करता था। ३१ ॥

अर्थ—चेलना महारानी और श्रेणिक महाराजने पूर्व पुण्यके उदयसे सुखमें निमग्न होकर अपना व्यतीत

एव राज्य प्रकुर्वाण सावद्यादिविवर्जितम् । यावदास्ते सुखेनैव उदतं शृणुथापरम् ॥ ३३ ॥
अथैकदा सभामध्ये आनंदरसनिर्भरं । वनपाल समागत्य भूपं नत्वा व्यजिज्ञपत् ॥ ३४ ॥
राजेन्द्र शृणु मे वाच विपुलाद्रौ जिनाधिराट् । महावीरो गुणैर्युक्त समायात शुभोदयात् ॥ ३५ ॥
तस्य प्रभावत सर्वे सिंहा नागा दुराशगा । मातंगा मृगधेन्वाद्या संजाता भद्रमानसा ॥ ३६ ॥
वसन्तर्तु विना सर्वे नगा पुष्पफलोत्करं । भूपितास्तृप्तिकर्तारं आसन्नेनमनोहरा ॥ ३७ ॥

होता हुआ काल भी नही जाना । परतु समस्त प्रकार की कामनाओ को पूर्ण करनवाला श्रीजिनेंद्र भगवान्के धर्मका यथावत् पालन करनेमें यत्किंचिन्मात्र भी प्रमाद नही रक्खा ॥ ३२ ॥

अर्थ— इस प्रकार श्रेणिक महाराज सावद्य प्रवृत्ति से रहित, सुखपूर्वक राज्य शासनको नीतिपूर्वक पालन कर रहे थे उस समय एक नवीन बात हुई वह श्रवण करना चाहिये । ३३ ॥

अर्थ—अथानतर— एक दिवस श्रेणिक महाराज सभामें विराजे हुए थे कि वहापर आनदसे हर्षित एक वनमाली आया और महाराजको नमस्कार कर प्रार्थना करने लगा ॥ ३४ ॥

अर्थ— हे राजेंद्र ! मेरे वचनोको कृपा कर श्रवण कीजिये । आपके पुण्यके उदयसे विपुलाचल पर्वतपर अनंत गुणोके विकासमे परमोत्कृष्ट पदको प्राप्त ऐसे देवाधिदेव श्री महावीर प्रभु पधारे है ॥ ३५ ॥

अर्थ—उनके प्रभावसे दुष्ट अभिप्रायवाले ऐसे सिंह हाथी मृग गाय आदि क्रूर प्राणी अपना २ स्वाभाविक वैर भाव तजकर भद्रपरिणामी होगये है ॥ ३६ ॥

अर्थ—हे राजेंद्र ! और भी बहुतसे चमत्कार होरहे है । वसंत ऋतुके विना ही समस्त वनावलि फल फूलोसे पल्लवित हो गई है । तृप्तिको करनेवाली और नेत्रोको प्रिय ऐसी वनराजकी अपूर्व शोभा हो गई है । ३७ ॥

इत्याद्याश्चापरा शोभा या जाता वर्णिता मया । सा खलु मगधाधीश महदानंददायका ॥ ३८ ॥
वनाधिप इति धृत्वा तस्थौ चोपायनं पुर । तस्यैव कथयित्वा च मोदवृंदेन स तदा ॥ ३९ ॥
मगधेशोऽपि तस्मै च दत्वा वै पारितोषिकम् ॥ स्वागे स्थित पुन स्थानादुत्थायासौ मुदा कृती ॥ ४० ॥
यद्दिशि आगतो वीर तद्दिशि नम. अभ्यघात् । परोक्षा हि नतिर्लोके मतं सद्दर्शनोपमम् ॥ ४१ ॥
पश्चात्स्वनगरे भेरीमानदरसपूरिताम् । दापयित्वा वरैर्लोकैः स्वस्ववाहनभूषितै ॥ ४२ ॥

अर्थ– हे मगधाधीश ! इस प्रकार आनंदके देनेवाली अनेक प्रकारकी शोभा जो मैने वर्णन की है वह वनमें हो रही है । ३८ ॥

श्री भगवान् महावीर स्वामीका विपुलाचल पर्वतपर पधारनेका शुभ समाचार निवेदन कर और उनके प्रभाव से विना ऋतुके फले फूले हुए फलफूलकी भेट रखकर खडा हो गया ॥ ३९ ॥

अर्थ—वह मगधेश्वर श्रेणिक महाराज उस वनपालको अपने शरीर परके समस्त वस्त्राभूषणोको प्रदान कर अत्यत आनंदके साथ अपने सिंहासनसे उठा ॥ ४० ॥

अर्थ—जिस दिशाकी तरफ महावीर स्वामी पधारे हुए थे उस दिशाकी तरफ मुख करके श्रेणिक महाराजने वीर प्रभुको नमस्कार किया। सो ठीक ही है, क्योकि परोक्ष नमस्कार भी लोकमें सम्यग्दर्शनके समान माना गया है।

भावार्थ — परोक्ष नमस्कार करनेसे विशेष श्रद्धा प्रतीत होती है । विना विशेष श्रद्धाके परोक्ष नमस्कार हो नही सकता। इसी लिये वीर प्रभुको परोक्ष नमस्कार करना विशेष सम्यग्दर्शनके समान बतलाया है।

अर्थः— फिर श्रेणिक महाराजने परम आनदकी देनेवाली ऐसी घोषणा अपने नगरमें दिलवाई और समस्त नगरनिवासियोको वीर प्रभुकी वदनाके लिये चलनेको कहा । नगरनिवासी अपने २ वाहनो पर चढकर तथा

प्रयुक्तो वीरयात्रार्थं स प्रियो भव्यभावयुक् । पुष्पदीपादिद्रव्यौघै सपत्नो नागवाहन ॥ ४३ ॥

आतोद्यै सकला काष्ठा रंजयन् पूजनोद्यतैः । चचाल नगरात्तस्य ससैन्य इव देवराट् ॥ ४४ ॥

आरात् वीरजिनेंद्रस्य सरण ममवादिकम् । दृष्ट्वा गजात्समुत्तीर्य राज्यांकं च निराकरोत् ॥ ४५ ॥

पद्भ्या सकलभव्यौघैः सार्द्धं तन्मस्तकोपरि । गत्वा श्रीजिनस्थानस्य दत्ता प्रादक्षिणा मुदा ॥ ४६ ॥

पश्चाद्धि द्वारमार्गेण प्रवेशमकरोत्स च । भूत्यावलोकन चक्रे वीरराजस्य राजराट् ॥ ४७ ॥

वस्त्राभूषणोंसे मब प्रकार अलकृत होकर महाराज श्रेणिक के साथ वीर प्रभुकी वंदना करनेको चले ॥ ४२ ॥

अर्थः— श्रेष्ठ भावोसे हर्षित महाराज श्रेणिक वीर प्रभुकी पूजाके लिये रत्नोके थालोंमें पुष्प-दीप आदि मनोहर सामग्री लेकर और हाथी पर बैठकर चला ॥ ४३ ॥

अर्थ—अपने प्रभावसे समस्त दिशाओंमें प्रकाश करता हुआ वह श्रेणिक महाराज सेना महित और पूजनकी सामग्री महित गमन करता हुआ देवेन्द्रके समान शोभाको प्राप्त हुआ ॥ ४४ ॥

अर्थ—श्री वीर भगवान्के समवसरण को समीप आया देखकर श्रेणिक महाराज अपने हाथीसे नीचे उतरा और उसने समस्त राज्यचिन्हों का परित्याग किया ॥ ४५ ॥

अर्थ—महाराज श्रेणिक सपूर्ण भव्यो के साथ २ अपने मस्तकको विनय से नवाकर समवसरण में पैदल ही गये । और बडे हर्षसे श्रीजिनेन्द्र भगवान् के स्थान की प्रदक्षिणा दी ॥ ४६ ॥

अर्थ—महाराज श्रेणिक ने फिर द्वारमार्गसे समवसरण में प्रवेश किया और वहां पर समवसरण की महान दिव्य विभूतिको आश्चर्यके साथ देखा ॥ ४७ ॥

टीप—महान विभूतिके स्वामी मडलीक राजा श्रेणिकने वीर प्रभूके समोसरणकी विभूतिको बडे आश्चर्यसे देखा । वीतराग

मानस्तंभादिस्तूपाना विभोर्भूतिं व्यलोकयन्। तत सोपि ददर्शाग्रे चेलनाचित्तरंजकी । ४८ ॥
सभाद्वादशमध्यस्था गंधकुटी मनोहराम्। पश्चात्तस्योपरि दृष्टा त जिन भवनाशकम् ॥ ४९ ॥

अर्थ —चेलना महारानीके चित्तको रंजन करनेवाले श्रेणिक महाराजने समवसरणमें सबसे प्रथम मानस्तभ और स्तुपादिकों की दिव्य विभूतीको देखा और फिर, । ४८ ॥

अर्थ — बारह सभाके मध्य मनोहर गधकुटी पर विराजमान और जन्ममरणरूप संसारको नाश करनेवाले ऐसे श्री वीरभगवानको देखा ॥ ४९ ॥

सर्वज्ञ श्रीवीर भगवान्के अवलोकनको छोडकर विभूतिको देखनेका कारण क्या ? इस प्रश्नका समाधान यह है कि एक तो वीर प्रभुकी विभूति दिव्य थी जो राजा महाराजा और चक्रवर्तीके भी नहीं हो सक्ती है। इतनी महाविभूतिके धारक अवश्य महान पुरुष हैं, इस प्रकार का ज्ञान श्रेणिक महाराजको उत्पन्न हुआ। जो बात मनुष्योंमे आसाधारण है वह बात श्रीवीर प्रभुमें है इस लिये वीर प्रभु जगतके प्रभु हैं। दूसरे—साधारण जनता विभूति आदि के देखने में स्वाभाविक रूपसे उत्सुक रहती है। कितने भव्य परिणामी भगवानकी विभूतिको देखकर तथा उससे भगवानकी लोकोत्तर महिमाको जानकर सम्यग्दृष्टी हुए हैं और फिर भगवान्के गुणोमे आसक्त हुए हैं। मंदिरोंमे आज चमर छत्र भामंडल आदि महान शोभा की जाती है उसका भी एक यही अभिप्राय है कि ससारी जीव दिव्य संपदाको देखते हुए श्रीजिनेंद्र भगवानका स्वरूप भी देखते हैं और उससे आत्मकल्याण करते हैं। जो लोग कहते हैं कि मदिरों में छत्र चमरादि विभूतिकी क्या जरूरत है। वीतराग प्रभुको वह क्यों चाहिये ? उनको जिनधर्मकी महिमाको प्रकट करनेका तरीका मालुम नही है और भगवानका समोसरण कैसा था सो भी मालुम नहीं है।

सिंहविष्टरमध्यस्थ तप्तकांचनभास्वरम् । तुर्यास्यभूषितं शुद्धं सार्वं नेत्रमनोहरम् ॥ ५० ॥
वर्द्धमानं महादेवं मानमायादिवर्जितम् । वागात्मभाग्यातिशयसंपन्न च निरंजनम् ॥ ५१ ॥
कोट्यादित्याधिकतेज कामद मोहभजकम् । सर्वदेवाधिदेवं वै शकर शरणार्थिनाम् ॥ ५२ ॥
इन्द्रोरगनरेन्द्राद्यै सेव्यांघ्रि तामसापहम् । प्रातिहार्यादिभूत्योपलक्षित तारकं वरम् ॥ ५३ ॥
ईदृश लोकपालेशं भूमिपालो हृदि स्फुट । प्राप्तानंद प्रदत्वाहि त्रिप्रमा च प्रदक्षिणाम् ॥ ५४ ॥
वस्वंगविधिना त च नत्वा इज्या च तस्य वै । कृत्वाष्टशुभद्रव्यौघै पापालिं नाशितुं स च ॥ ५५ ॥

अर्थ—सिंहासनपर विराजे हुए तपाये हुए सुवर्णके समान दिव्य कांतिके धारक, महान देवोंके भी अधिदेव, चतुर्मुख श्रीवर्द्धमान भगवान् देखे। जिनके मान मायादि एक भी विकार नहीं था, जो दिव्यध्वनि शुद्ध आत्मा और अपूर्व पुण्योदयसे अत्यंत सुशोभित थे। जो समस्त प्रकारके दोपोंसे रहित परमविशुद्ध तथा समस्त जीवोंके हितकारक थे। जिनके चार मुख थे। नेत्रोंको तृप्तिकारक अतिशय मनोहर थे। जो करोडो सूर्योंसे भी अधिक तेजस्वी समस्त प्रकारकी कामनाको प्रदान करनेवाले, मोहका नाश करनेवाले, शरणार्थी जनोंको सर्व प्रकारके सुखोंको प्रदान करनेवाले, इंद्र धरणेन्द्र नरेंद्र आदि महान पुरुषोंसे पूजित, मोहरूपी गाढ अंधकारको सहसा नाश करनेवाले, प्रातिहार्यादि दिव्य विभूतिसे सुशोभित, ससारसे तारक और जगतके ईश थे। ऐसे श्री वीर प्रभुको देखकर श्रेणिक महाराज अपने मनमें अतिशय प्रसन्न हुआ और भगवान्की तीन प्रदक्षिणा दी। ५०–५४ ॥

अर्थ—श्रेणिक महाराजने श्री वीर प्रभुको अष्टांग नमस्कार किया। और पापोंके नाशके लिए उत्तम और पवित्र अष्टद्रव्यसे भगवान्की पूजा की ॥ ५५ ॥

समारेभे पुनस्तस्य स्तवनं कर्तुमादरात । पूर्वार्हौघं कृत यत्तन्नाशार्थं चाग्रहानये ॥ ५६ ॥
तुभ्य नम सकललोकहितंकराय। तुभ्य नम सकलकर्मविनाशकाय तुभ्यं नम· सकलभूतसुतारकाय। तुभ्यं नमो जिनवरेंद्र सुखाकिताय।५७
तुभ्यं नम सकलदोषविवर्जिताय । तुभ्य नम सकलमर्मप्रदर्शकाय।। तुभ्य नम परमसेवकतारकाय। तुभ्य नमो रतिपतेर्मदनाशकाय ॥५८
तुभ्य नमोऽखिलकषायविवर्जिताय। तुभ्य नमोऽखिलभवोदधिशोषणाय॥ तुभ्य नम परमकेवलज्ञानदाय। तुभ्यं नम परमदेवजिनेश्वराय।५९

अर्थ-महाराज श्रेणिकने पूर्वके पापोका प्रक्षालन करनेके लिए और आगामी होनेवाले पापोकी शांतिके लिए श्री वीरप्रभुका स्तवन करना प्रारंभ किया ॥ ५६ ॥

अथ-हे वीर प्रभो ! समस्त जीवोके आप हितकारक हो इसलिए आपको नमस्कार है । समस्त कर्ममल के नाश करनेवाले हो एददर्थ नमस्कार है । समस्त प्राणियोके संसार समुद्रसे तारक हो इसलिए नमस्कार है । और चंद्रमाके ममान सुखको प्रदान करनेवाले हे जिनचंद्र, आपको नमस्कार है ॥ ५७ ॥

अर्थः— हे वीर प्रभो, आप समस्त प्रकारके दोपोसे सर्वथा विनिर्मुक्त है एतदर्थ आपको नमस्कार है । हे वीर, आप समस्त पदार्थोमें सारभूत (समस्त पदार्थोका मर्म) आत्माके प्रकाशक हो इसलिये नमस्कार है। हे भगवन् ! आप अनन्य भक्त सेवकोके शीघ्रही ससारसे तारक हो एतदर्थ नमस्कार है । और कामदेवके मदको नाश करनेवाले हो इसलिये आपको नमस्कार है ॥ ५८ ॥

अर्थः— हे भगवन्, आपने चारो प्रकारके (क्रोध, मान, माया, लोभ) कषायोको नाश किया है एतदर्थ नमस्कार है। चार प्रकार नरक तिर्यंच मनुष्य देवगति रूप ससारसमुद्रको शोपण कारक होनेसे नमस्कार है । परम केवलज्ञानके प्रदान करनेवाले हो इस लिये नमस्कार है । हे जिनेश्वर, हे परम देव, आपको नमस्कार है ॥ ५९ ॥

तुभ्य नम सकलदर्शनधारकाय। तुभ्य नम सकलज्ञानप्रकाशकाय॥ तुभ्य नम सकलवीर्यसुधारकाय। तुभ्यं नम सकलशर्मभराधिकाय।६०
तुभ्यं नम सकलसत्त्वहितंकराय। तुभ्य नमो दशसुधर्मविवर्द्धकाय॥ तुभ्य नम सकलपापविनाशकाय। तुभ्य नम सकलतत्त्वप्रकाशकाय॥
तुभ्य नम सकलव्यर्तिविनाशकाय। तुभ्यं नम सकलभूषणभूषकाय॥ तुभ्यं नम सकललोकविभासकाय। तुभ्यं नम परमपूज्यनिरंजनाय
तुभ्यं नमो हतप्रमादजिनाग्रिमाय। तुभ्य नम परमदेवमुनीश्वराय॥ तुभ्य नम परमशातपदस्थिताय। तुभ्य नमो वसुगुणाकितशर्मदाय॥
इत्याद्यनेकगुणव्यूहयुक्त त्वा वीरवीरेशमह नमामि॥ सुरेन्द्रभूतिर्गणनायकोऽपि क्षमो हि नो वक्तुमहो गुणान् ते॥ ६४॥

अर्थ—हे जिनेश! आप अंनत दर्शनके धारक हो इस लिये आपको नमस्कार है। अनत ज्ञान के प्रकाशक हो इस लिये नमस्कार है। अनत वीर्यके धारक हो इस लिये नमस्कार है। और हे जिनराज! अनत सुखके स्वामी होनेसे आपको नमस्कार है॥ ६०॥

अर्थ—हे प्रभो! आप सकल जीवोके हित करनेवाले दश प्रकार उत्तमक्षमादि धर्मके बढानेवाले है, समस्त प्रकारके पापसमूहो के नाश करनेवाले है। सकल तत्त्वोके प्रकाश करनेवाले हैं। इसलिये आपको नमस्कार है। ६१॥

अर्थ—समस्त प्रकारकी पीडाके नाशक—समस्त प्रकारके भूषणोसे विभूषित समस्त लोकके प्रकाशक—समस्त दोषोसे रहित परमपूज्य हे वीर प्रभो! आपको वार वार नमस्कार है। ६२॥

अर्थ—समस्त प्रकारके प्रमादोके निरवशेष नाशक होने से जिनवर पदको प्राप्त, केवलज्ञान प्राप्त होनेसे मुनीश्वर पदके धारक, वीतराग होने से परम शांत अवस्थाको प्राप्त, और आठ प्रकारके गुणो से युक्त होनेसे समस्त प्रकारके सुखोके प्रदाता परम देवाधिदेव हे वीर! आपको नमस्कार है॥ ६३॥

अर्थ—इत्यादि अनत गुणोके समूहसे सुशोभित हे वीर प्रभो! आपको मै नमस्कार करता हू। हे वीर!

गुणान् जिनाधीश कथं हि मंद शक्नोमि ते वक्तुमहो सुरार्च्यः ॥ शरण्ययोग्यं मयि नाथ दीने दया कुरूत्तारक तारय त्वम् ॥६५॥ जनार्दनो वा खलु ब्रह्मणो वा शिवस्तथा केवलनामयुक्ता. । वारं बहु दृष्ट दयोज्झितो वै त्वं नो कदाचिदपि वीक्षितोऽपि ॥ वरं न याचे सविधे तवापि त्रिलोकराजस्य जिनेंद्रदेव। किंतु हृदि त्वद्गुणसततिर्हि मेस्तु सदा चिन्मय आशिषा ते ॥ ६७ ॥ पूत्कारमेव शृणु वीरनाथ करोमि देव सदयो भव त्वम् । अन्योहि देवो भवनेषु नास्ति त्वत्सदृशो दोषविकारहीन ॥ ६८ ॥

आपके समस्त गुणो का वर्णन करना मुझसे अशक्य है क्योकि समस्तविद्याके पारगामी इन्द्र गणधर देव भी आपके समस्त गुणोको कहने के लिये असमर्थ हैं ॥ ६४ ॥

अर्थ--हे जिनाधीश ! आपके गुणोका गान करनेमें मै मंदबुद्धि सर्वथा असमर्थ हू। भला जिन गुणोका गान इंद्र भी नही कर सक्ता उनका मै कैसे करू ? मात्र एक यही प्रार्थना है कि हे नाथ, मुझ दीन-अनाथको शरण योग्य बनाइये और हे तारक, मुझे ससारसमुद्रसे पार करिये ॥ ६५ ॥

अर्थ--हे भगवन् ! जगतमें विष्णु ब्रह्मा -शिव शकर आदि जितने देव हैं वे केवल नाम मात्र से ही विष्णु ब्रह्मा--शिव कहलाते है-उनमें ब्रह्मा विष्णुके गुण नही है। दयारहित मैने उनको अनेक बार देखा परतु कुछ भी लाभ नही। परतु हे भगवन ! आप कभी देखे नही ॥ ६६ ॥

अर्थ— हे स्वामिन्, जिनेंद्रदेव, त्रिलोकके नाथ, आपके समीप मै कुछ वर नही मागता हू। किंतु हे चिदानद, मेरे हृदयमें आपके आशिर्वाद से आपके समस्त गुण विराजमान रहें ॥ ६७ ॥

अर्थ— हे स्वामिन् वीर प्रभो ! अब मै अपने भव भवके दारुण दुखसे अत्यंत क्लेशित होकर दीनताके साथ पुकार करता हू। हे प्रभो ! अब तो मेरी प्रार्थना को सुनिये। और मुझपर दया कीजिये। क्योकि ससारमें आपके समान दोष और विकारसे रहित अन्य कोई देव नही है। ६८ ।

अतो जिनाधीश क्षय कुरु मे पापस्य, मोक्षस्य पद प्रदेहि । सतारिता पापकलंकमग्ना ये चांजनाद्याश्च नरा त्वया च ॥

इत्थ स चेलनाकात स्तुत्वा वीरं गणाधिपं ॥ गौतमादीन् मुनीन्नत्वा नृकोष्टेपु ह्युपाविशत् ॥ ७० ॥

वीतरागमुखोद्गीता वाणीं संसारतापहाम् । समाप परम मोदं श्रुत्वा श्रेणिकभूमिराट् । ७१ ॥

पुन प्रश्नमिति चक्रे सर्वभूतहितासये । स्वात्मनोऽज्ञाननाशाय तत्वाना च प्रकाशकम् ॥ ७२ ॥

तीर्थाधिप महावीर सशयो मे प्रवर्तते । तस्य त्वं नाशकर्ता स्या किंचित्पृच्छामि मे वद ॥ ७३ ॥

पंचमे कीदृशा भूता का चेष्टा कीदृशी क्रिया । भविष्यति कथं तेहि संज्ञस्यति नवाच ते ॥ ७४ ॥

अर्थ —हे जिनाधीश ! इसलिये मेरे पापोका क्षय करिये और अनंत सुखोंका स्थान ऐसा मोक्ष पद प्रदान कीजिये । क्यो कि आपने अजन आदि अनेक पापीजन संसार समुद्र से पार कर दिये ॥ ६९ ॥

अर्थः— इसप्रकार चेलना महारानीका स्वामी महाराज श्रेणिक गणोके अधिपति श्रीवीर भगवानका स्तवन कर और गौतम गणधर देव एव अन्यान्य मुनीश्वरोको नमस्कार कर मनुष्यके कोठेमें बैठा ॥ ७० ॥

अर्थः— श्रेणिक महाराज संसारके समस्त पापसमूहको नाश करनेवाली ऐसी श्री वीतराग देवके मुखकमलसे प्रकट हुई जिनवाणीको सुनकर परम आनदको प्राप्त हुआ ॥ ७१ ॥

अर्थ — फिर श्रेणिक महाराजने समस्त जीवोके हितके लिये तथा अपने अज्ञानको नाश करनेके लिये और समस्त तत्वोको जाननेके लिये नीचे लिखा प्रश्न किया । ७२ ॥

अर्थ – हे तीर्थाधिप ! हे महावीर प्रभो ! मेरे हृदयमें कुछ सदेह हो रहा है आपही उसके नाश करनेवाले हो इसलिये उस सदेहको दूर करनेके लिये मैं कुछ पूछना चाहता हू । दयाकर मुझसे कहिये ॥ ७३ ॥

अर्थ—हे वीर प्रभो ! पंचमकालमें जीव कैसे होगें । उनकी कैसी चेष्टा होगी । उनकी कैसी क्रियाएं होगी ।

इति मे संशयो वीर हृदि हि वर्त्ततेनराम् । नाशोऽस्य त्वदृते स्वामिन्नन्यो देवो क्षमो नहि ॥ ७५ ॥
वदतावर वीरेश तारक कल्मषापह । संशयस्य तिरस्कारं कुरु तीर्थाधिराट् प्रभो । ७६ ॥
इति प्रश्ने तदा वीरो दिव्येन ध्वनिना जनान् । मोदयन् सकलान् वक्तु वीरराट् स प्रचक्रमे ॥ ७७ ॥
शृणु त्व भाविर्तीर्थेश वर्णन पञ्चमस्य वै । समासख्या तथा चेष्टामायु काय क्रिया नृणाम् ॥ ७८ ॥
पचमाभिधकालस्य अब्दसख्या नराधिराट् । दुःखदा त्व च जानीहि सहस्रभूकरप्रमाम् ॥ ७९ ॥

उनके आचरण कैसे होगे । उनके विचार कैसे रहेंगे । उनको सुबोध प्राप्त होगा या नही ? सो सर्व खुलासा कहिये ॥

अर्थ—हे वीर प्रभो ! मेरे हृदयमें यही संदेह जम रहा है । हे प्रभो ! आपके विना अन्य किसीसे उसका नाश नही हो सक्ता । क्योकि आपके समान त्रिलोकका ज्ञाता सर्वशक्तिशाली अन्य कोई देव नही है । ७५ ॥

अर्थ— हे वदतावर ! हे वीरेश हे ससार तारक हे पाप नाशक हे तीर्थाधिराट् हे सर्वज्ञ, मेरे उक्त संशयको दूर करिये ॥ ७६ ॥

अर्थः— श्रेणिक महाराजके इस प्रकार प्रश्नोको सुनकर श्री वीर भगवान् समस्त द्वादश सभाको हर्षित करते हुए दिव्य ध्वनिके द्वारा उत्तर कहने लगे ॥ ७७ ॥

अर्थः— हे मगधेश श्रेणिक महाराज, हे भावि तीर्थेश ! पचम कालमे उत्पन्न होनेवाले मनुष्योकी चेष्टा धर्माचरण विचार आयु काय और उनकी क्रियायें तथा वर्ष प्रमाण कहता हू उसको सावधान होकर श्रवण कर ॥७८॥

अर्थः— हे राजन् ! पंचम काल २१ हजार वर्षका है । वह अतिशय दुःखकर है । इस श्लोकमें (अब्द संख्या का अर्थ वर्षोंकी संख्या और सहस्रभूकरप्रमां का अर्थ २१ हजार है । ॥ ७९ ॥

१—भू का अर्थ पृथ्वी है जो एक है, कर हाथोंको कहते है जो दो होते है । तथा अंकाना वामतो गति । संख्या बाई ओरसे लिखी जाती है । इस हिसाबसे भू कर का अर्थ २१ होता है । तथा सहस्र साथमें होनेसे इक्कईस हजार अर्थ होता हे ।

तावत्प्रमाच षष्ठस्य पुन षष्ठस्य तत्प्रमाम् ।। पचमस्यापि भो भूप ! बुद्धस्व खलु तत्प्रमाम् ॥ ८० ॥

मुनिहस्तप्रमा काया हायनं प्रतिहानिका ।।नो भविष्यंति यस्मिन् वै केवलाढ्या मुनीश्वरा ॥ ८१ ॥

यस्मिन् काले भविष्यंति मूता ये पापमडिता चलंचित्ता क्रियाभृष्टा मिथ्यामार्गस्य पोषका ॥ ८२ ॥

अर्थ— हे राजन् इक्कीस हजार वर्षका ही फिर छठा काल होगा. अवसर्पिणीके छठे कालके बाद फिर भी इक्कीस हजार का छठा काल उत्सर्पिणी का आवेगा। उसके बाद उत्सर्पिणीका पंचम काल भी २१ हजार वर्षका आवेगा। इस प्रकार ये चारो ही काल इक्कीस इक्कीस हजार वर्षके होंगे ॥ ८० ॥

अर्थ— हे राजन् ! पचम कालमें मनुष्योका शरीर ७ सात हाथका ऊंचा होगा। वह भी प्रतिवर्ष घटता ही जायगा। और उस पचम कालमें केवलज्ञानके धारक मुनीश्वर उत्पन्न नहीं होगें। भावार्थ—पचमकालमें उत्पन्न हुए मनुष्योको केवलज्ञान नहीं होगा। हां चतुर्थ कालमें जन्म लेकर पचम कालमें केवलज्ञान उत्पन्न कर सक्ता है। ८१ ॥

अर्थ—जिस पचम कालमें उत्पन्न हुए मनुष्य बडे पापी होगे। जिनका मन बडा चपल होगा। उनके आचरण बडे भ्रष्ट होगे। उनके विचार और उनकी बुद्रि मिथ्यामार्गको ही पुष्ट करने वाली होगी ॥ ८२ ॥

१—मर्कटस्य सुरापान तस्य वृश्चिकदशकम्। तस्यापि भूतसचारो यद्वा तद्वा भविष्यति ॥

भावार्थ—मर्कट–बदरका मन बडा चपल होता है। यदि उस बंदरको शराब (मदिरा) पिलादी जावे तो फिर क्या कहना। बंदर का चपल मन सौगुण अधिक चपल हो जायगा। और फिर मदिरापान किये हुवे बदरको विच्छूओंसे कटवा दिया जाय तो फिर उसके मनकी चपलताका क्या ठिकाना ? फिर उस पर एक भूत लगा दिया जाय तो चपल बंदर जो न कुछ करै वही गनीमत है। ठीक इसी प्रकार कुशिक्षासे चचलचित्त मनुष्योंको नेता पदवी मिलजाय तो वे स्वयं तो क्रियाभृष्ट होते ही हैं और सारी समाजको क्रियाभृष्ट पापी बना डालनेका प्रयास करते हैं। ऐसे देभी चंचलचित्त नेता कदाचित् धर्मका भेष धारण कर लेवें

अन्नकीटा कुरूपाढ्या वीर्यहीना मदोद्धता । मिथ्यामार्गरता क्रूरा देवगुर्वादिनिंदका ॥ ८३ ॥

भावार्थ---पंचम कालके मनुष्योको पापाचरणकी नीति प्यारी लगेगी। और पापाचरणको सदाचार वतलायेंगे। ऐसी राजनीतिके कानून बनाये जायगे जिनसे पापोकी वृद्धि हो। मनुष्य अपने पापोको पोषण करनेके लिये ऐसे ग्रन्थो की रचना करेंगे जिन में भगवानकी पवित्र आज्ञाके विरुद्ध अनेक प्रकारकी मलिन वातोका संग्रह किया जायगा। जिनसे वे स्वयं भ्रष्ट होंगे और धर्मात्मा भाइयोको भ्रष्ट करेंगे तथा मिथ्यामार्गकी पुष्टि करेंगे।

अर्थ— पचमकालके मनुष्य अन्नके कीडे होगे, कुरूपी होगे वीर्यहीन होगें, । तो भी मदोन्मत्त होगे। मिथ्या मार्गमें रत होगे। क्रूर परिणामी और देवगुरु आदि पूज्य पुरुषोके निंदक होगे ॥ ८३ ॥

तो फिर उसका कुछ भी ठिकाना नहीं रहता। समस्त धर्मशास्त्रकी पवित्र आज्ञा पर पानी फेर कर अपनी मनमानी कल्पनाका धर्मशास्त्र बनाकर दुनियाको ठगत है। लोगोंको भ्रष्ट करते हैं। खोटे उपदेश द्वारा मिथ्यामार्ग बढाते है और अपने धर्मकी, अपने धर्मशास्त्रकी, अपने गुरुओंकी निंदा (अवर्णवाद) कर खुश होते है।

१—पंचम कालके मनुष्यों के उत्तम संहनन और श्रेष्ठ संस्कारोंका अभाव होनेसे मन और शरीरकी कमजोरी इतनी अधिक होगी कि उनसे तपश्चर्यादि उत्तम आचरण (उपवासादिक) नहीं हो सकेंगे। इतनाही नहीं बल्कि उपवासादि पवित्र कर्मोंका निषेध करेगें। स्वय अन्नके कीडे होंगे। शक्तिहीन होनेपर भी बडे मदोद्धत्त होंगे। धर्मकार्यों में स्वतंत्र विचार फैलायेंगे और अपने अभिमान से मिथ्यामार्गको वढायेंगे। तथा देवशास्त्रगुरुकी निंदा करेंगे—कोई देवको सर्वज्ञ नहीं मानेगा। कोई अष्टद्रव्य से पूजाका निषेध करेगा, कोई जिनदेवकी मूर्तीको अस्पृश्य शूद्रोंसे पूजा प्रक्षालन करनेका उपदेश देगा। कोई शास्त्रोंकी समालोचना अपने स्वतन्त्र विचारोंसे युक्ति और आगमविरुद्ध करेंगे। और इस बहाने से अपना मतलब बनायेंगे। अपनी निज बुद्धिको आचार्योंकी बुद्धिसे उत्तम मानेंगे। मुनियोंके सत्यस्वरूपकी निंदा करेगें। उनमें मिथ्या अवर्णवाद लगायेंगे और धर्मके स्वरूपमें

शिवविष्णुगरा ब्रह्मसेवाभक्तिपरायणाः । सर्वोत्कृष्टमतं स्वस्य त्यक्त्वा चान्यमते रता ॥ ८४ ॥
संसारार्णवसंमग्ना मोहमग्ना दुराशयाः । निर्दया वैरसयुक्ताः स्वस्यैव पक्षनाशकाः ॥ ८५ ॥
आर्त्तरौद्रे सदा लीना निर्विचारा क्रियोज्झिता । निःशीला निस्त्रपा दुष्टा दिवानिशिपभक्षका ॥ ८६ ॥

अर्थ– पचमकालके मनुष्य–अपने सर्वोत्कृष्ट और पवित्र जैन धर्म को छोडकर अन्यमतके शिव विष्णु ब्रह्मा और कुगुरुओंकी सेवामें लग जांयगे ।

भावार्थ—पचम कालके मनुष्य सत्य और असत्यकी परीक्षा रहित होंगे । जिससे उनको हिताहितका विचार नही होगा । वे सत्य जैन धर्मको छोड देंगे और मिथ्या धर्मको ग्रहण करेंगे ॥ ८४ ॥

अर्थ–पंचमकालके मनुष्य संसार रूपी समुद्रमें ही निमग्न होगे, मोहमें निमग्न होगे और दुष्ट अभिप्रायको अपने हृदयमें धारण करेंगे । निर्दय होगे । वैरको धारण करनेवाले होगे । तथा अपने धर्मका अपने आप नाश करनेवाले होगे ।

भावार्थ–पचमकालके मनुष्य ससारके बढानेमें ही अपना धर्म समझेंगे । और ससारकी उन्नति मानेंगे । हृदयमें बडे भयंकर दुष्ट अभिप्राय रखेंगे । तथा जैनी भाई ही अपने जैन धर्मका नाश स्वतः करेंगे ॥ ८५ ॥

अर्थ - पंचमकालके मनुष्य–आर्त रौद्र ध्यानमें ही लवलीन रहेंगे । विचार रहित होगे । क्रिया रहित होगे । शील रहित होगे । लज्जा रहित होगे । दुष्ट होगे । और रात्रि दिवस भक्षण करनेवाले होगे ।

भी इसी प्रकार मिथ्या अवर्ण वाद लगायेंगें । धर्मकी पवित्रता नष्ट करेंगे । विवाहादिक धार्मिक क्रियाओंको व्यवहार कार्य बतलाकर शीलव्रतकी महिमाको नष्ट करेंगे । विधवाविवाह करेगे करावेगें । जाति पातिका लोप करेंगे । सदाचारकी क्रियाएं नष्ट कर शूद्रोंके साथ खानपान करायेगे । इस प्रकार पचमकालमें अनेक प्रकार देवशास्त्रगुरुओंकी निंदा कर मिथ्या मार्ग बढायेंगे ।

कंदमूलाशना चर्मआज्यभक्षणतत्परा । जंतुनिकायभूताना घातकाः कर्मवर्जिता । ८७ ॥
द्वाविंशतेरभक्षाणा भक्षका ज्ञानवर्जिता । आत्मशसे कृताभ्यासा परनिंदनचातुरा ॥ ८८ ॥

भावार्थ— पंचम कालके मनुष्योंमें सदाचार संस्कार-धर्म दान पूजादि शुभ क्रिया और भोजनपानादि उत्तम आचरणोका विचार नहीं रहेगा । धर्मका भेप धारण कर अधर्मको बढानेवाले होगे।जो निर्लज्ज होकर विधवाविवाहादि अधर्म फैलायेंगे । और जैनधर्मको धारण कर जैनधर्मके विषयमें ही दुष्ट अभिप्राय रखेगें ।

अर्थ— पचमकालके मनुष्य कदमूल आदि अभक्ष्यभक्षण करनेवाले होगे । चर्ममें रखे हुए घृत आदि अपवित्र पदार्थके सेवन करने वाले होगे। छह प्रकारके जीवोके घातक होगे । तथा धर्मकर्म और चारित्रसे रहित होगे ।८७।

अर्थ— हे राजन् ! पचमकालके मनुष्य बाईस अभक्षके सेवन करने वाले होगे । धार्मिक श्रेष्ठ ज्ञानसे रहित होगे । जिनको अपनी आत्माके प्रशसन का ही लक्ष्य बना रहेगा, और धर्मातमा बनकर दूसरो की मिथ्या निंदा करनेमें बडे चतुर होगें ॥ ८८ ॥

---

१ दर्शन मोहनी कर्मके तीव्र उदयसे जीवोंको श्रेष्ठ ज्ञान नहीं होता है । यद्यपि उनको ज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशम से मिथ्याज्ञान अधिक होता है । भव्यसेन मुनि ग्यारह अगका पाठी था तोभी उसको दर्शन मोहनी कर्मका उदय होनेसे उसको विवेक नहीं था—हिंसक व्यापार करनेमें उसको जरा भी ग्लानि नही हुई । इसी प्रकार वर्तमान समयमे लोगों को कुज्ञान अधिक होता है । परंतु सत्यज्ञान नहीं होता । जिससे वे अपने कुज्ञानके मदमे मदमाते होकर मदिरापान करते है, मास भक्षण करते हैं, । होटलों में अभक्ष पदार्थोंका भक्षण करते है । बजार की अपवित्र वस्तुओंका सेवन करते हैं, नीच और म्लेच्छ लोगोंके साथ खाते हैं । ऐसे लोग जूता पहनकर खाते है । जिनको अपनी आत्माका स्वत विश्वास (श्रद्धान) नहीं परंतु ढोंगी धर्मात्मा बनकर सच्चे धर्मात्मा गृहस्थ और विद्वानोंकी निंदा करते हैं मुनि आर्यिका और श्रावक श्राविका आदि चतुर्विध संघकी निंदा करने मे बडे चतुर होते है ।

किंचिद् द्रव्यं च सप्राप्य मानाद्रिमस्तके स्थिता । विभूतिहानिमालोक्य सदा शोके रता. खलु ॥ ८९ ॥

जिनवाक्यैर्विहीनागा स्ववाक्यपोषणे रता । मनोभिमतसलीना पाखंडमतधारका ॥ ९० ॥

साधुगुणविहीनागा पैशून्या मानधारका ॥ पूजका कुपरस्थाना कुत्वना न्यायवर्जिता ॥ ९१ ॥

अर्थ—पचमकालके मनुष्योंके पुण्य कर्मके उदयसे कुछ धन प्राप्त हो जावे तो वे फिर मानके पहाड पर बैठकर सच्चे धर्मात्माओंकी निंदा करायेंगे और पापकर्मके उदयसे कदाचित धनकी हानि होगई तो सदैव शोकमें आर्तरौद्र ध्यान करेंगे ॥ ८९ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज ! पचम कालके मनुष्य श्रीजिनेन्द्र भगवानके सत्य और प्रामाणिक वचनों की आज्ञाका पालनेवाले नहीं होंगे । उनका श्रद्धान श्रीजिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें नहीं होगा । परतु अपने असत्य और कल्पित वचनोंको जनतामें सत्य बतलायेंगे । तथा अभिमानसे अपने ही वचनोंकी पुष्टि करेंगे । अथवा कल्पित वचन गढकर नवीन मतका प्रचार करेंगे। और अनेक प्रकारके ढोंग फैलाकर अतमें मिथ्यामार्गकी पुष्टि करेंगे ।

अर्थः— हे राजन् ! पचमकालमें ऐसे साधु और भेषधारी ब्रह्मचारी होंगे जिनमें अपने पदके योग्य गुणोंका

---

१ पचमकालके कितने ही ऐसे भी मनुष्य होंगे जिनका जिनवाणीमें अतरग श्रद्धान सर्वथा नहीं होगा तो भी वे अपनेको बडे चतुर और धर्मनेता कहकर अपने मिथ्या वचनोंको सिद्ध करेंगे । जिससे उनका स्वार्थ सिद्ध हो । तथा मनगढत जैनमतके समान नवीन मत स्थापित करेंगे । जिससे उनका मतलब सिद्ध होता हो वही उनका धर्मशास्त्र होगा । वे लोग अपने स्वार्थ और विषय कषायकी सिद्धिके लिये श्रीजिनेन्द्रभगवानके वचनोंका अर्थ भी उलटा ही करेंगे तथा सत्य और यथार्थ अर्थको छिपाकर सदा अनीति और असदाचार ही फैलावेंगे.

मतिहीना वसुहीना दानेज्याव्रतविच्युताः । सातहीना गुणैर्हीना दम्भयुक्ताऽक्षपोषका ॥ ९२ ॥

अभाव होगा । वे लोग अपने स्वार्थके लिये चुगली करेंगे । अभिमानको धारण कर धर्मका नाश करेंगे । तथा मिथ्यादृष्टि नीच आदिकी वे लोग पूजा करेंगे । न्याय मार्गका परित्याग करेंगे । और बहुत बकवाद कर दंभ फैलायेंगे ॥९१॥

अर्थ—पचमकालके मनुष्य बुद्धिहीन, द्रव्यहीन, दान—पूजा व्रत आदि रहित, सुख रहित, गुण रहित, दांभिक और केवल इन्द्रियोंके पुष्ट करनेवाले होंगे ।

---

१ वर्तमान जैन समाजमें कितने ही दंभी श्रावक ऐसे भी हैं कि जो किसी न किसी बहानेसे जिनेन्द्र भगवान की पूजा को ही उठा देना चाहते है । उनका इतना ही दुष्ट अभिप्राय नहीं किंतु भगवानकी मूर्ति तक को माननेको तैयार नहीं है उनमें कितनेही तो दान देना नहीं चाहते। और स्वतः दान न देकर दूसरोंकी दानकी परिपाटी मढते मुनिनिंदा—धर्मनिंदा शास्त्रनिंदा आदि निंदाओंके द्वारा पूज्य पुरुषोंके महत्वको गिराकर मिथ्या मार्ग अथवा अपात्रमें दान दिलाकर वाहवाही लूटना चाहते है ।

२ वर्तमान समयमे यह होरहा है । कितने ही मनुष्य धर्मका भेष धारण कर लेते है परतु उनमें अपने पदके योग्य गुण नहीं होते है । गुणोंका रहना दूर रहा किंतु उनके जैन धर्मका पूर्ण श्रद्धान भी नहीं होता है । तो भी वे लोग अपने स्वार्थ-की सिद्ध और विषय कषायका पोषण करनेके लिये अनेक प्रकार धर्मके ढोंग फैलाते हुए देखे जाते है । परस्पर चुगली कर धर्मकी निंदा कराते है और अपने मिथ्याभिमानको पुष्ट करनेके लिये अधर्म और अनीतिकी वृद्धि करते है । ऐसे दंभी और मायाचारी लोग भोले लोगोंको अपने चुंगलमें फसा कर अधर्म कराते हैं । मिथ्या मार्गको बढाते है ।

समाजमे आज अधर्म और अनीतिकी वृद्धि ऐसे ही ढोंगी पाखडी और विषय कषाय सेवन करनेवाले लोगोंसे होरही है । धर्मका नाश करनेमें ही इनको शांति मालूम होती है । यह सब पंचमकालकी बलिहारी है ।

तैरुगन्य तथा डिंगुसामुद्रजाद्यनेकधा । वस्तुविषयमलीना दयाव्रतविवर्जिता ॥ ९३ ॥
वञ्चारम्भरताश्चैव परवञ्चनचातुराः । राज्ञः सेवाकरा कृष्यारम्भारणतत्पराः । ९४ ॥
परेषां दुःखदा नीचा क्रमाधर्माशवर्जिता । क्षत्रियाश्च द्विजा वैश्या स्वस्वधर्मविवर्जिता ॥ ९५ ॥
इत्यवगुणस ता मनुजा वा स्त्रियोऽपि च । अनुक्रमेण सर्वे ते मगधेश्वर निश्चयात् ॥ ९६ ॥

भावार्थ--पंचमकालके ऐसे भी श्रावक बहुत होंगे जिनसे भगवानकी पूजा करना– दान देना– और व्रत पालन करना आदि एक भी पुण्य कर्म नहीं होगा। दाम्भिकरूपसे वे अपना जीवन विषय–कषायोंकी पुष्टिमें ही व्यतीत करेंगे । ९२ ॥

अर्थ-पंचमकालके मनुष्य अतिशय लोभके कारण जीवोंकी हिंसाका विचार नहीं कर तैल, लाख मछली, चर्बी, हाड आदि कुत्सित पदार्थोंका व्यापार करेंगे–जिनको दयाका जरा भी विचार नहीं होगा । ९३ ॥

अर्थ – हे राजन्! पंचमकालके मनुष्योंके बहुतसा आरंभ होगा । ये लोग अपनी चालाकीमें भोले लोगोंके ठगनेमें बडे निपुण होंगे । कितने ही तो राजाकी सेवा करेंगे और कितने ही खेती आदि हिंसक आरम्भक करनेमें ही तत्पर होंगे ॥ ९४ ॥

अर्थ –हे राजन् पंचमकालके मनुष्य दूसरोंको दुःख देनेवाले बडे नीच होंगे। उनके आचरण धर्मके अंशरहित होंगे । पंचमकालके क्षत्रिय अपने क्षत्रिबलको खो बैठेंगे । ब्राह्मण अपने पवित्र कर्म और श्रेष्ठ आचार विचारको भूल जायगे । वैश्य नीतिका त्यागकर अनीति पथसे धन संचय करेंगे । उच्च वर्णोंमें धर्मकी मर्यादा नष्ट हो जायगी ॥९५॥

अर्थ–हे मगधेश्वर श्रेणिक महाराज पंचमकालके मनुष्योंमें तथा स्त्रियोंमें इत्यादि अनेक प्रकारके दुर्गुण क्रमसे बढते जांयगे । ९६ ॥

नीचा हि राज्यभोक्तार कुलजा. सत्त्ववर्जिता । कृपणास्तेपि तस्मिंश्च भविष्यति न सशय ।। ९७ ।।
जिनधर्मस्य हानिर्हि समये समये घना । भविष्यति च उद्योतो खद्योतवत् नरेश्वर ॥ ९८ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालमें नीच मनुष्य, जिनके धार्मिक सस्कार व विचार नही है और जो सदाचार की पवित्र नीतिको मान्य नहीं करते हैं, राज्य करेंगे जिससे प्रजामें सदाचार और नीतिका लोप हो जायगा। उच्च कुलीन क्षत्रियोमें बल (क्षात्र धर्म) नहीं रहेगा। अथवा वे कृपण और लोभी होजायंगे जिससे वे प्रजाको लूट लूट कर अन्याय और अधर्म फैलायेंगे ॥ ९७ ॥

अर्थ– हे राजन् ! पंचमकालमें जैन धर्मकी हानि समय समयपर बहुत होगी । परन्तु फिर भी कभी कभी खद्योतके समान जैन धर्मका उद्योत होता रहेगा ॥ ९८ ॥

---

१ पंचमकालमे यद्यपि अन्यमतावलंबियोंसे और मिथ्यामार्गी जैन भाइयोसे भी जैन धर्मकी समय २ पर बहुतसी हानि होगी। जैन राजाओंके अभाव होजानेसे लोग निरंकुश बनेंगे, अपने आप ही अपने धर्मकी हानि करेंगे और खुश होंगे। परन्तु फिर भी कभी २ मुनियोके प्रतापसे और भव्य विद्वानोंके प्रभावसे जैन धर्म खूब प्रभाव प्रकट करेगा और वह पंचमकालके अतपर्यत नियमसे रहेगा। जो लोग यह कहते है कि यदि जैनधर्मकी रक्षा करना है तो विधवाविवाह–जातिपाति लोप और विजातीय विवाह चालू कर देना चाहिये अन्यथा पचास वर्षमें जैनधर्मका सर्वथा अभाव हो जायगा। ऐसी मिथ्या भीति बतलाते है वे लोग अपने विषय कषायकी पुष्टीके लिये धोका देते हैं और समाजको भ्रममे डालते है। परंतु विचारशील मनुष्योंको यह दृढ श्रद्धान है कि जैनधर्म पचमकालके अंत पर्यंत नियमसे रहेगा। और मुनि और विद्वानोंके द्वारा खूब उन्नति भी करेगा। कितने ही मनुष्य यह

कुकुला द्रव्यभोक्तारो न्यायहीनाश्च भूमिपा । एधिष्यत्येव म्लेच्छानामुद्योत प्रति वासरम् ॥ ९९ ॥
शीलहीना भविष्यति वामास्तस्मिन्मदोद्धता । त्यक्त्वा च स्वपतिं दासं भोक्ष्यति कालदोषत ॥ १०० ॥
लक्षकोटिषु शीलाढ्या नारी ह्येका नराधिराट् । शुद्धशीलधरा नापि भविष्यति न संशय ॥ १०१ ॥
पंचमाभिधकालस्य स्त्रियोऽपि मगधेश्वर । भविष्यति रता नूनं भडगानेषु निस्त्रपा ॥ १०२ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पचमकालमें नीच पुरुषोके घर पर लक्ष्मी बढेगी । राजा लोग न्यायरहित हो जांयगे और म्लेच्छ लोगोका साम्राज्य जन धन कनक आदि सपत्ति प्रति दिन बढती रहेगी ।

अर्थ—हे राजन ! पचमकालकी स्त्रियां भी शीलभ्रष्ट होगी । धन कुशिक्षा और जवानी से मदमाती बनेंगी तथा काल दोषसे अपने सुदर पतिको छोडकर नोकर लोगोके साथ कुकर्म करेंगी । १०० ॥

अर्थ—हे राजन् ! पचमकालकी लाखो करोडों स्त्रियोमें एक स्त्री शीलवती होगी । और शुद्ध शीलका पालन करनेवाली तो होंगी ही नही ।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य (शीलव्रत) नवकोटिसे पालन किया जाता है । नवकोटिसे शील पालन करनेवाली स्त्रियां कम होगी जिनकी सीताके समान अग्निमें शीलकी परीक्षा होसके । परतु कायसे शीलको पालन करनेवाली स्त्रियां बहुत होगी । यह नही है कि शीलको धारण करने वाली स्त्रियोका पचमकालके अंत तक अभाव हो जावे । शीलका सर्वथा अभाव किसी कालमें भी नही होता है । हा कुशिक्षा और अज्ञानतासे उनका अधिकांश भाग भ्रष्ट हो जायगा ।

अर्थ—हे मगधेश्वर ! पचमकालकी स्त्रियां लाज रहित होकर भड गीत गानेमें तत्पर हो जायगी ॥ १०२॥

भी कहते हैं कि शुद्ध वंश और शुद्ध रजवीर्यसे उत्पन्न हुए मनुष्योका शीघ्र ही अभाव हो जायगा, उनको भी इन जैन वचनोंका दृढ श्रद्धान करना चाहिये । शुद्धवश-शुद्ध जाति और शुद्ध वर्णका अभाव कभी किसी कालमें सर्वथा नहीं होता है ।

प्रभूणा गानविद्यासु लज्जाधारणचातुरा । विवाहे चान्यरसे वा त्यक्त्वा लज्जा च स्वेच्छया ॥ १०३ ॥
भंडगानं च पित्रोर्वा सान्निध्ये च नृणां तथा । विनीष्यति कुलस्त्रीणां शीलरत्नंच दुर्लभम् ॥ १०४ ।
नष्टं तु भंडरागेण व्रतदानक्रियाफलम् ॥ तीर्थयात्राफलं सर्वं जपादिकं च भो नृप ॥ १०५ ॥
भंडरागेण ना वामा षंडत्वं कमते तथा । विधवा यौवने स्याद्धि नानादुःखाभोगका ॥ १०६ ॥
ये ये दुःखश्च जायन्ते स्त्रीणां दौर्भाग्यकादयः । ते ते सर्वेऽपि भो भव्य भंडरागस्य कारणम् ॥ १०७ ।

अर्थ—हे राजन् ! पंचम कालकी स्त्रियोंको श्रीजिनेंद्रदेव (भगवान्) के गुण गाने में लाज आवेगी। और विवाहादिक दिवसों में कुत्सित गान स्वेच्छापूर्वक करेंगी उस समय लाज सब जाती रहेगी। १०३ ॥

पंचमकालकी स्त्रियां अपने माता पिताके सामने भी कुत्सित गान गायेंगी। और जन समूह में भी गायेंगी इसलिये उनका दुर्लभ शीलरत्न किस प्रकार रह सकता है। भावार्थ—प्रायः कुत्सित गानेवाली स्त्रियां अपने बडोंके सामने ही भ्रष्ट हो जायगी। १०४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश देते हैं कि हे राजन् ! इस कुत्सित गानके फलसे इन स्त्रियोंका व्रत—दान आदि पवित्र आचरण सब नष्ट हो जायगा। तथा तीर्थयात्रा जप तप आदि सर्व व्यर्थ जायगा ॥ १०५ ॥

अर्थ—इस भंडरागसे स्त्री और पुरुष दोनों ही नपुंसक हो जायगे और स्त्रियां यौवन अवस्थामें ही नाना दुःखोंका प्रदान करनेवाले वैधव्यको प्राप्त हो जाया करेंगी ॥ १०६ ॥

अर्थ—हे भव्य ! दुर्भाग्यके प्रदान करनेवाले जो जो दुःख स्त्रियोंको प्राप्त होते हैं वे सब भंडरागके गानके फलसे ही होते हैं ॥ १०७ ॥

अतो भो ललना यूयं भंडरागस्य सर्वदा । त्यागमेव कुरुध्वं वै केवलानर्थहानये ॥ १०८ ॥
कुलोत्तमं च संप्राप्य भंडरागस्य या वधू । गानं करोति वैवाहे सा मता चंडकामिनी ॥ १०९ ॥
यदीच्छा गानस्य ताह्नि गायतु नन्दये । मंगलाद्या शुभा गीता प्रभोर्गुणमयास्तथा ॥ ११० ॥
नेमिनाथस्य वा चान्ये आदिदेवस्य वा शुभाः । विवाहस्यैव तेषां हि विवाहमंगलाप्तये ॥ १११ ॥
गूढच्छंदं तथा गद्यं वरा प्रहेलिका पुनः । पठथ कुरुथ चोच्चं प्रश्नोत्तरमहो स्त्रियः ॥ ११२ ॥
भंडरागे कुतो धर्मो धर्महीने कुतः सुखम् । अतस्त्यक्त्वा मदं यूयं गायथ जिनसद्गुणान् ॥ ११३ ॥

अर्थः— इसलिये हे स्त्रियो, तुम केवल अपने अनर्थोंको दूर करनेके लिये इस भंडरागके गानेका सर्वथा परित्याग करो ॥ १०८ ॥

अर्थः— उत्तम कुलको प्राप्तकर जो स्त्री विवाह आदि शुभ मांगलिक कार्योंमें भंडरागका गान करती है, वह स्त्री चंडकामिनीके समान है ॥ १०९ ॥

अर्थः— हे स्त्रियो ! जो तुमारी इच्छा गान करनेकी हो तो श्रीजिनेंद्र भगवान्के मंगलगान और शुभ गीतोंको खुशीसे गाओ । जिससे पुण्यकी प्राप्ति हो और पाप कर्मका नाश हो ॥ ११० ॥

अर्थः— इसलिये स्त्रियोंको विवाहादि शुभ मंगलीक अवसर पर श्री देवाधिदेव आदिनाथ भगवान् या नेमिनाथ भगवान् आदि पुण्य पुरुषोंके विवाह आदिके शुभ और मंगलीक गीतोंको गाना चाहिये ॥ १११ ॥

अर्थः— गूढ छंद–गद्य–पद्य–प्रहेलिका आदि शुभ और पवित्र धार्मिक गीतोंको पढो । और धार्मिक प्रश्नोत्तरोंको आत्मकल्याणके लिये खूब करो ॥ ११२ ॥

अर्थः— इसलिये भंडरागोंके गानेमें धर्म कहां है और धर्मके विना सुख कहां ? अतएव सुखकी प्राप्तिके

प्रभोर्गुणानुवादाच्च जायते मानसे मुद । पापहानिर्यशो लोके पुण्यस्य संतति खलु ॥ ११४ ॥
प्रभोर्गुणानुवादेन समं पुण्य न भूतले । चापरं स्वर्गराजोहि सदा गायंति तद्गुण ॥ ११५ ॥
भंडरागस्य या नार्यो त्याग कुर्वंति ता पुन । दिवि सौख्यं च सप्राप्य लभते चाक्षय पदम् ॥ ११६ ॥
भडरागप्रभावेन हत्वा शील पुनश्च ता । श्वभ्रे दुःखमनेकं हि प्राप्नुवंति न सशय ॥ ११७ ॥
द्वयोर्हि रागयोर्भेद्याः फल ज्ञात्वा सुखाप्तये । मा शृणुध्वमहो तं च भडरागं कुदु खदम् ॥ ११८ ॥

लिये श्रीजिनेन्द्र भगवान्के सद्गुणोका गान करना चाहिये। और कुत्सित गानका नाद छोड देना चाहिये ॥ ११३ ।

अर्थ —भगवान्के परमोत्कृष्ट और पवित्र गुणानुवादके गान करनेसे मनमे अतिशय हर्ष होता है । जिससे पापकी हानि यशकी प्राप्ति और पुण्यकी वृद्धि होती है ॥ ११४ ॥

अर्थ—प्रभुके गुणानुवादके समान अन्य किसीमें पुण्य नही है। स्वर्गके देवगण भी पुण्यकी प्राप्तिके लिए प्रभुके गुणोंका गान करते है ॥ ११५ ॥

अर्थ— भंडरागका जो स्त्रियां परित्याग करती हैं वे स्वर्गमें अपूर्व सुखको प्राप्त होती है । और क्रमसे अक्षय पदको प्राप्त होती हैं ॥ ११६ ॥

अर्थ—भंडराग से कितनी ही स्त्रियां अपने पवित्र शीलरत्नका नाश करती है और फिर उससे नरकके दुःखोको प्राप्त होती है ॥ ११७ ॥

अर्थ— धार्मिक पवित्र गीत-और कुत्सित भडराग दोनो प्रकारके गीतोके शुभाशुभ फलको जानकर सुखकी प्राप्ति के लिये धार्मिक गीतोंका गान करना चाहिये और भंडराग को दु खकारी समझकर नहीं गाना चाहिये । तथा श्रवण भी नहीं करना चाहिए ॥ ११८ ॥ (६८)

यस्मिन् काले नराधीश नरा नार्यो घना खला । भद्रा हि स्वल्पसंख्याश्च क्रियाव्रतधरा वरा ॥ ११९ ॥
शिथिलाचाराश्च केचित् केचिदाचारवर्जिता । केवलाभिधसपन्ना यस्मिन् वै श्रावकाः खलु ॥ १२० ॥
आचारधारका केचित् तेषा निंदा भविष्यति । कालाते जिनधर्मोय यत्र कुत्रैव स्थास्यति ॥ १२१ ॥

अर्थ—हे राजन् ! जिस पचमकालमें प्रायः बहुतसे स्त्री पुरुष दुष्ट अभिप्रायवाले और धर्मसे बहिर्भूत होगे । उत्तम व्रत तथा उत्तम पवित्र श्रावककी क्रियाओको पालन करनेवाले भद्र परिणामी (सरल परिणामी) विशुद्ध हृदयवाले स्वल्प संख्यामें होगे ।

अर्थ— हे राजन् उस पचमकालमें कितनेही मनुष्य शिथिलाचारी होगें तथा आचार रहित होगें । उस पंचमकालमें श्रावकजन केवल नामधारी जैनी होगे । इन दोनो श्लोकोका अभिप्राय यह है कि कुशिक्षा और व्यामोह से मनुष्यों में मायाचारी और पापिष्ठता बढ जायगी । जिससे उनके परिणाम सदैव दुष्ट रहेंगे । इस अज्ञान और दुष्टता से वे अपने स्वार्थ और विषय कषायोंको सिद्ध करने के लिये सदाचार पर पानी फेरेंगे । धार्मिक मर्यादा-का नाश करेंगे । पवित्र आचरणोंमें शिथिलता करेंगे और उपदेशोके द्वारा करावेंगे जिससे शीलव्रत सयमचारित्रमें लोग शिथिल होते जायगे । परिणामोंसे सरलता नष्ट हो जायगी । और कदाचार बढता जायगा । सदाचार और धर्मकी मर्यादाकी पुष्टि करने वाले सच्चे धर्मात्मा भद्र परिणामी मनुष्य बहुत ही स्वल्प संख्यामें रह जांयगे । श्रावकगण केवल नाममात्रके जैनी रह जायगे । ११९।१२०

अर्थ–हे राजन् पंचम कालमें श्रीजिनदेवके आगमानुमार आचारका पालन करने वाले सच्चे धर्मात्मा भाइयोंकी कुशिक्षित लोग निंदा करेंगे । तथा हे राजन ! पचमकालके अंतमें यह जिन धर्म कही कहीं पर ही स्थिर रहेगा।१२१॥

द्रव्ययुक्ता नरा केचित्स्वस्मनि हर्षपूरिता । मनिष्यं त्यमानुष्यं गणिष्यंति तृणोपमम् ॥ १२२ ॥

धनाधान्ते गृहे स्वस्य दासीदासान् कुलोज्झितान् ॥ रक्षयंति पानार्थं स्वादार्थं च खलाशया ॥ १२३ ॥

शूद्रलोकस्य य धाम्नि रक्षंति ते कथं मता । खानपानादि कर्माणि श्रावकास्तत्समा खलु ॥ १२४ ॥

अर्थः— हे राजन् ! पंचमकालमे धनिक लोगोमें अभिमान बढ जायगा जिससे वे अपने धनके हर्ष में गहले बन जांयगे । और अन्य मनुष्योका तृणके समान समझेंगे । १२५ ॥

अर्थः— हे राजन् ! पचमकालमें वे धनिक लोग अपने धनके मदमें अंधे होकर विचार रहित हो जायगे । जिमसे वे अपने गहमें नीच और अकुलीन नोकर चाकरोको रखगे । और उनके हाथमें भोजनपान करेंगे । जिस समय कुसगति या कुशिक्षामे धनवान लोगोकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है उस समय उनका विचार भी गंदा हो जाता है । उन्हे हिताहितका विवेक नहीं रहता जिमसे वे धर्म और सदाचारकी पवित्र मर्यादाका विचार नहीं कर अपने घरमें नीच मनुष्योको (दासदासी) रखकर उनके हाथका भोजन करने लगजाते है ।

नीचमनुष्योके हाथका भोजनपान करना धर्मशास्त्रकी पवित्र आज्ञासे विरुद्ध है और सदाचारका लोप करने वाला है । जो लोग नीच मनुष्योके हाथका भोजनपान करते है वे जैन नहीं है । उनके धर्मकी श्रद्धा नहीं है । अतएव वे नाममात्रके ही जैन है ।१२३॥

जो लोग अपवित्र साधनोके साथ समुद्रयात्रा कर नीच लोगोंके हाथका अपवित्र और अभक्ष्य भोजन कर अपनेको सम्यग्दृष्टी बतलाते है व श्रीजिनेन्द्र भगवानके आगमके श्रद्धानी नहीं है । तथा जो लोग ऐसे नीच पुरुषोके हाथका अभक्ष्य भोजन कर अपनेको पंच अणुव्रतधारी बतलाते है वे बनावटी जैनी है ।

अर्थ—जो धनिक लोग अपने गृह पर शूद्रलोगोसे खान पान आदि धार्मिक क्रियायें कराते है वे श्रावक शूद्रके समान ही है ।

भावार्थ —भोजन पान आदि केवल व्यवहार मार्ग नहीं है कि जिस तिस प्रकार शुद्ध अशुद्धका विचार नहीं कर नीच लोगोंका भोजन पान कर लिया जाय। परतु भोजन पानकी क्रियाको धार्मिक सदाचार (चारित्र) की पवित्र और उत्कृष्ट क्रिया माना है। मुनीश्वर भोजन पानकी क्रियाके समय भी विशुद्ध भावोंमें सातवें गुणस्थानको प्राप्त होते है। और इसालिए ही वे शुद्ध और विधिपूर्वक भोजन करते है। श्रावक लोगोंके भोजन पानकी क्रियाकी विधि जिनागममें बतलाई है। अतएव यह विधि जिनाज्ञा रूप होनेसे धार्मिक ही मानी गई है। जो मनुष्य धार्मिक भोजन पान विधिका जिनागमकी आज्ञाके विरुद्ध बतलाते हैं और शूद्रोंके हाथका भोजन पान करते है वे जैन धर्मकी आज्ञा न मानने के कारण जैन धर्मसे रहित समझने चाहिए।

जो लोग मुसलमान भंगी चमार म्लेच्छ आदि नीच मनुष्यो को नाम मात्रका जैन बनाकर उनके हाथका भोजन करना चाहते है और उनसे कन्या का विवाह कराना चाहते हैं वे जैन मतकी पवित्र आज्ञा से पराङ्मुख है। क्यों कि जिनागममें बतलाया है कि शूद्र–भंगी चमार आदि नीच गोत्र कर्मके उदयमे उत्पन्न हुये मनुष्य चाहे जैन-मतको अपने आत्मकल्याणके लिये भले ही पालन करें परतु उनके हाथका भोजन पान व कन्या दानादान आदि व्य-वहार "मुनिधर्म" और "सज्जाति" का लोप करनेवाला है। जैन धर्मको तिर्यच घोडा गधा आदि सभी पशु पाल सक्ते हैं परतु उनके साथ मनुष्य घास नहीं खाने लगते। धर्मका पालन करना आत्मकल्याणके लिये है। परतु भोजनपान और कन्याव्यवहार यह सज्जातीयता की रक्षा करनेकेलिये है। यदि सज्जातिकी रक्षा न की जाय तो मुनि धर्म और श्रावक धर्म दोनो में से एक भी स्थिर नहीं रह सकेगा।

शूद्राणां न विवेकोऽस्ति मरणे जन्मनि रजो— । मद्यमांसादिभक्षणे न रोमणि तु पात्रगे ॥ १२५ ॥
यत्र नास्ति क्रियाशुद्धिः क्रियालेशोऽपि नास्ति च । यतो धर्मस्य रक्षार्थं पालनीया क्रिया ॥ १२६ ॥

अर्थ— शूद्र लोगोंके जन्म–मरण–और ऋतुधर्मपालनका तथा सूतक पातकका विवेक नहीं होता । तथा मद्य मांस आदि अभक्ष्यका भक्षण करनेमें विवेक नहीं होता है तथा रोम (कंबल पर भोजन पान करना) चाम आदि मलिन पदार्थ पर भोजन करनेमें विवेक नहीं होता है । इसलिये शूद्रके हाथका भोजन पान करना आगमविरुद्ध है ।

भावार्थ— सोलह संस्कार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्णमें ही होते हैं। जिन जीवोंमें सोलह संस्कार नहीं उनके मोक्ष मार्ग भी नहीं है । भोगभूमिके जीव कितने उत्तम होते हैं परंतु उनमें सोलह संस्कार नहीं होते अतएव वे मोक्षके अधिकारी नहीं होते हैं । सौधर्म इन्द्र ग्यारह अंगका धारण करनेवाला और सम्यक्त्वी तथापि सोलह संस्कार नहीं होनेसे मोक्षका अधिकारी नहीं है । इसी प्रकार शूद्र लोगोंमें सोलह संस्कारोंका अभाव होता है तो फिर वे शूद्र लोग जिनधर्मको पालन कर लेनेपर भी मोक्षके अधिकारी किस प्रकार हो सकते हैं ? त्रिवर्ण (ब्राह्मण--क्षत्रिय- वैश्य) में ही संस्कार होते हैं इस लिये त्रिवर्ण में ही मोक्षमार्गका अधिकार है । यदि शूद्रों (जिनके संस्कार नहीं हैं) के हाथका भोजन पान त्रिवर्णमें कराया जाय और कन्यादान आदि व्यवहार धर्म चालू कर दिया जाय तो त्रिवर्णके संस्कारोंका लोप होजायगा । और संस्कारके लोप होनेसे मोक्षमार्गका लोप होजायगा । इसलिए शूद्र जैनधर्मको धारण कर लेवे तो भी उसके साथ रोटी बेटी व्यवहार नहीं करना चाहिए ॥ १२५ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंके (शूद्र लोगोंके) क्रियाकी शुद्धि नहीं है तथा जिनके संस्कारादि धार्मिक क्रियाएं नहीं हैं उनके साथ खान पान आदि व्यवहार नहीं करना चाहिए । अतः धर्मकी रक्षाके लिए हे भव्य

ते सर्वे पानचूर्णादि कार्यं स्वम्यों नैव च । हस्तेन निर्विवेका हि करिष्यति मदोद्धता ॥ १२७ ॥
खाद्याखाद्यस्य भेदो हि नैव तेषां मतो निशि । धनाढ्या हि क्रियाहीना निर्द्रव्याश्च क्रियारता ॥ १२८ ॥
भविष्यति गृहे तथा स्त्रियोऽपि मदमर्दिताः । क्रियाकर्मोज्झिता मूढा परासुयरता सदा ॥ १२९ ॥
पचाक्षपोषणे लीना धर्ममार्गविवर्जिताः । स्वात्मशसे कृताभ्यासा मिथ्यात्वपथसेविका । १३० ॥

जीवो, आगमोक्त उत्तम और पवित्र क्रियाओंका पालन करो अर्थात् भोजन पान आदि पवित्र क्रियाएं शूद्रके हाथसे मत कराओ । अन्यथा शुद्ध क्रियाओंका पालन होना अशक्य है ॥ १२६ ॥

अर्थः— उस पचमकालमें विवेक रहित और मदोन्मत पुरुष ही खानपीने पीसने पानी भरने आदि घरके कामोंको अपने हाथसे नही करेंगे । अर्थात् ऐसे लोग शूद्रोंसे ही सब काम करावेंगे ॥ १२७॥

अर्थ—जो धनिक लोग शूद्रके हाथका भोजन पान करते हैं उनके खाद्य और अखाद्यका विचार सर्वथा नही होता है । वे लोग रात्रिमें भोजन करते हैं । इस लिये कितने ही धनाढ्य (कुशिक्षित-और कुसंगति में लगे हुए) क्रियाहीन होते है । और निर्द्रव्य (गरीब) लोग क्रियावान होते है ॥ १२८ ॥

अर्थ— क्रियाहीन धनिक लोगोंकी स्त्रिया भी मतवाली बनकर-खान पानकी विशुद्ध क्रियाओंसे रहित होगी । मूर्खिणी होगी तथा दूसरोंसे ईर्षा द्वेष करनेवाली होगी ॥ १२९ ॥

अर्थ— धनवानों की कुशिक्षिता स्त्रियें पाचो इंद्रियोंके विषयोंको पुष्ट करनेमें रात्रि दिवस मग्न रहेंगी । धर्ममार्गसे रहित होगी । जिनको अपनी आत्माका भी विश्वास नही होगा । केवल मिथ्यात्व मार्गका ही सदैव सेवन करेंगी ॥ १३० ॥

स्वस्य हस्तेन किंचिच्च गृहकार्यं क्रियोद्भवं । न करिष्यति ना भूप मदमात्सर्यसंभृता ॥ १३१ ॥
शूद्रहस्तेन तत्सर्वं भाद्रमासे व्रतेषु च । नून कारापयिष्यति अन्नपानादिजा क्रिया ॥ १३२ ॥
निंद्यं स्यात् सर्वमासेषु न्यादपानादिकं खलु । शूद्रकरेण संस्पृश्यं सदाचारविनाशकम् ॥ १३३ ॥
मद्यमांसमधूना यदशनाद्दोषो जायते । व स्याच्छूद्रहस्तसंकित्वस्तुभक्षणतो बुधा ॥ १३४ ॥

अर्थः— मद और ईर्षा द्वेषसे भरी हुई धनवानोंका कुशिक्षिता स्त्रिया अपने गृहके खानपान और आचार विचारकी धार्मिक क्रियाओंको अपने हाथसे बिलकुल नही करेंगी ॥ १३१ ॥

अर्थः— हे राजन! धनवानोकी कुशिक्षिता स्त्रिया भाद्रपद मास (पर्युषण पर्व) और व्रतोके दिवसोमे भी भोजनपान शूद्रके हाथसे करायेगी। उनको पवित्र व्रतोकी मर्यादा और पवित्र विधिका भी विचार नहीं रहेगा ।१३२।

अर्थः— भोजनपानकी क्रिया और विशुद्ध खानपानकी सामग्री शूद्रके हाथसे कराना सदा ही निंद्य है क्यो कि उससे सदाचार समूल नष्ट हो जाता है ॥ १३३ ॥

अर्थः— हे विद्वानो, जो दोष मद्य मास और मधुके सेवन करनेसे उत्पन्न होता है वही दोष शूद्रके हाथसे सबंध किये हुए पदार्थोंके भक्षण करनेसे होता है।

भावार्थः— शूद्रलोग मद्य मास और मधुका सेवन करते है। उनके हाथोमें उन मलिन और अस्पृश्य पदार्थोंका सस्कार बना रहता है। यदि उस शूद्रके हाथसे स्पर्श किये हुए भोजनपानका सेवन किया जाय तो उस वस्तुके सेवन करनेमें मद्य मांस भक्षण करनेका दोष अवश्य ही लगेगा। क्यो कि शूद्रके हाथोका असर अपने भोजनपानमें अवश्य ही आयेगा।

ये पुन शूद्रहस्तस्य भाद्रमासे व्रतपु च । चूर्णोदकाज्यं खादति ते नरास्तत्समा मता ॥ १३५ ॥

शूद्रश्रावकभेदो हि दृश्यत व्रतपालनात् । शूद्रोऽपि श्रावको ज्ञेयो निर्वन सोपि तत्सम ॥ १३६ ॥

श्वपचो जिनधर्मेण कथित. श्रावकोत्तम· । भूपपुत्रोऽपि सप्रोक्तो त विना श्वपचसम ॥ १३७ ॥

श्वल्को व्रतयोगेन देवत्वे जायते खलु । देवो ह्यधर्मदोषेण श्वयोनौ भो बुधोत्तमा ॥ १३८ ॥

वर्चस्वे भूमिपालोपि कीटत्व लभते खलु । कीटोपि व्रतलेशेन भजते गतिमुत्तमाम् ॥ १३९ ॥

अर्थ—जो पर्युषण पर्व और व्रतादि पुण्य दिवसोंमें भी शूद्रके हाथका आटा पानी और घी आदि भोजन पान सामग्रीका सेवन करते हैं वे शूद्रोंके समान ही माने गये हैं ॥ १३५ ॥

अर्थ—शूद्र और श्रावकमे यदि भेद है तो मात्र इतना ही है कि शूद्रके सोलह सस्कारके अभावमे व्रतोंका पालन-भोजन पान आदि धार्मिक क्रियाओंका पालन नही होता है और श्रावकमें होता है। जो श्रावक अपने भोजन पान आदि धार्मिक व्रत क्रियाओंको भूलजावे-नही करे तो वह शूद्रके समान ही है ॥ १३६ ॥

अर्थ—यदि चाडाल जिनधर्मकी आज्ञाके अनुसार जैन धर्मका धारण करता है तो वह श्रावकोत्तम माना जाता है। और जो राजपुत्र होकर भी जिनधर्मकी आज्ञाके अनुसार नहीं चलता तो वह चांडालके समान माना जाता है ॥ १३७ ॥

अर्थ—हे उत्तम बुद्धिमानो, देखो सम्यग्दर्शनादि व्रतो के धारण करने से कुत्ता भी देव हो जाता है और पाप कर्म करनेसे देव भी कुत्ता हो जाता है। इसलिये हे बुद्धिमानो ! जिन क्रियाओंसे सम्यग्दर्शन स्थिर रहे ऐसी व्रतादि धार्मिक क्रियाओंका पालन करो ॥ १३८ ॥

अर्थ—पापसे राजा भी कीडा (कीटक) हो जाता है। और धर्मसे कीट भी देव हो बनजाता है ॥ १३९ ॥

अतो भो मज्जना यूयं मा कुरुध्वं कदाचन । मानप्रमादमात्सर्यं यदीच्छा शर्मसंतते ॥ १४० ॥
मानेन बहवो नष्टा रावणाद्या नरोत्तमा । संप्राप्य परम दुःख गतास्ते नरकावनौ ॥ १४१ ॥
मान दुर्गतिकारण बुधजनैर्हेय च निंद्यं खलु । मानाद्धि राचरेऽभगे न्धमुखो रामेण वै नाशित ॥
स्वस्यैवाखिलदुःखशोकनिचय संप्राप्त वै निघ्नता । त्याज्यं ज्ञाननिकेतन बुधजनास्त त्वि जहीध्व हेन ॥ १४२ ॥

अर्थ हे भव्य जीवो ! जो सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा है तो जिन धार्मिक आचरणोके पालन करनेसे सम्यग्दर्शन की स्थिरता होती है ऐसे पवित्र आचरणोके पालन करनेमे मान या आलस मत करो और मात्सर्य मत करो । १४० ।

अर्थ— धार्मिक चारित्रका यदि सत्ता और धनके अभिमानसे लोप किया जाय तो रावण आदि महान पुरुषोके समान नरकादिकके भयानक दुःख भोगने पडेंगे । भावार्थ- हम बडे हैं हम राजा हैं हम धनवान हैं इस प्रकार अभिमान मे आकर यदि हम धार्मिक पवित्र आचरणोका पालन नही करेंगे तो हमारी अवश्यही दुर्गति होगी । रावण ने अपने राजसत्ता और बलके अभिमानसे ही शील जैसे पवित्र धार्मिक आचरणको नष्ट करना चाहा इस लिये ही वह दुःख को प्राप्त हुआ । अतएव धार्मिक क्रियाओको कभी नही छोडना चाहिये । १४१

अर्थ—मान दुर्गतिका कारण है, विद्वानोको छोडने योग्य है और निंद्य है । मानसे ही विद्याधरोका ईश

१ इन तीन श्लोकोंका मतलब यह है कि सम्यग्दर्शनके प्रभावसे कुत्ता—कीटक—और चाडाल आदि नीच पर्यायको धारण करनेवाले प्राणी भी देवादि शुभ गतिको प्राप्त होते हैं । जो जीव सम्यग्दर्शन सहित चाडाल हों तो भी मरकर देवपर्यायको प्राप्त होते हैं व्रत और सम्यग्दर्शनका माहात्म्य ही ऐसा है ।

अन्नादिशोधने पानगाल्ने न्यादपाचने । प्रमार्जने महयत्न कर्तव्यमजसा खलु ॥ १४३ ॥
ह्यशोध्य शाकपुष्पं च विद्वान्न नवनीतक । दधितक्रद्विदलान्न त्याज्य व्रतात्तये सदा ॥ १४४ ॥
हट्टचूर्णाज्यहिंगु च चर्मतैल दयात्तये । न ग्राह्यं सर्वदा भव्यै कदमूलोत्करं खलु ॥ १४५ ॥
यत्नेन जायते धर्मो विना यत्नेन नो खलु । अत सर्वत्र कार्येषु दयाभावो विधीयते ॥ ४६ ॥

रावण राम लक्ष्मणके द्वारा नाशको प्राप्त हुआ अथवा अपने आप ही दुःखोको प्राप्त होकर नाशको प्राप्त हुआ और अतमें नरकादिक दुखोका पात्र हुआ । इसलिए भव्य जीवोको मान करना छोड देना चाहिए ॥ १४२ ॥

अर्थ—अन्नादिक पदार्थोके शोधन करनेमें प्रमाद नही करना चाहिए। पानी छानना और भोजनपान आदि चौकेकी क्रियामे महान् सावधानी और यत्न रखना चाहिए ! भोजन बनाना पानी छानना-सडे हुए धान्यको बीन छानकर आटा बनाना शरीर और वस्त्रको शुद्धकर रसोई घर (चौका) मे जाना चौकाको शूद्रादि लोगोसे स्पर्श न कराकर स्वतः उसको साफ करना आदि बातोमे प्रमाद नहीं करना चाहिए । क्योकि यह सब सोलह सस्कारका फलरूप धार्मिक चारित्र है । जो मनुष्य इस विषयमे प्रमाद कर अन्यथा करता है या दूसरे शूद्रादि लोगोसे यह कार्य कराता है वह धर्ममार्गसे भ्रष्ट समझा जाता है ॥ १४३ ॥

अर्थ—बिना शोधे पदार्थ पुष्पादि खानेके पदार्थ सडा घुना हुआ अन्न, लौनी (मक्खन) और दही छाछ के साथ चना मूग आदि द्विदलको व्रतकी शुद्धताके लिए ग्रहण नही करे ॥ १४४ ॥

अर्थः— अपने चारित्रको शुद्ध रखनेके लिये व दयाधर्म पालन करनेके लिये बजारका आटा, अशुद्ध बजारका घी, हींग, चाममें रखा हुआ तेल और कंदमूल आदि पदार्थ सर्वथा ग्रहण नही करना चाहिये । १४५ ॥

अर्थः— अपने सयम और पवित्र चारित्रकी रक्षाके लिये भोजनपानको यत्नाचारसे शोधकर सेवन करो।

वस्त्राणां धोवनं चापि गालितेन जलेन च । कर्तव्यं व्रतरक्षार्थं दया सर्वेषु ह्युत्तमा ॥ १४७ ॥
यच्चित्ते हि दया नास्ति स पुमान् राक्षससम । अतो भव्या सदा कार्या सर्वभूतेषु सत्कृपा ॥ १४८ ॥
दयासमो न धर्मोऽस्ति क्षमातुल्यं तपश्च न । दानसमं न भूषास्ति त्रयस्ते मोक्षदायका ॥ १४९ ॥
कुलजा बुद्धिहीनाश्च संभविष्यंति कुकुला । भूपते बुद्धिवेत्तारः स्वस्वधर्मेण वर्जिता ॥ १५० ॥
जैनादिषडमता ख्यातास्तेषां मध्ये नरेश्वर । भविष्यंति घना भेदा स्वस्वमतिविकल्पत ॥ १५१ ॥

अशोधित अन्नपानका सेवन मत करो । क्योंकि यत्नपूर्वक शोधनेसे ही उत्तम प्रकारसे धर्मका पालन होता है, विना यत्नके नहीं । इसलिये समस्त कार्योंमें दया रखनी चाहिये ।, १४६ ॥

अर्थः— व्रती पुरुषोंको अपने वस्त्र भी छने हुए पानीसे धोना चाहिये क्योंकि उसके विना दयाधर्मका पालन होना अशक्य है । जिनके यत्नाचार पूर्वक आचार विचार है उनके ही दयाधर्मका पालन होता है ॥ १४७ ॥

अर्थः— जिन मनुष्योंके मनमें दया नही है वे राक्षसके तुल्य हैं । इसलिये हे भव्य जीवो ! सब जीवोंपर दया करनी चाहिये ॥ १४८ ॥

अर्थः- दयाके समान अन्य धर्म नही है । क्षमाके समान अन्य तप नही है । दानके समान अन्य कोई भूषण नही है । संसारमें दया, क्षमा और दान ये तीनो मोक्षके प्रदान करनेवाले रत्नत्रय है ॥ १४९ ॥

अर्थ— इस पंचमकालमें कुलीन पुरुष बुद्धिहीन होंगे । और कुकुलीन राजाओंके मन भावते होंगे । तथा धर्मसे रहित होंगे । १५० ॥

अर्थ— हे राजन् ! पंचमकालके षट मतके धारक मनुष्य होंगे । तथा जैन मतमें भी विपरीत मत अपनी २ मन की कल्पनासे गढकर श्वेतांबरादिक बहुत भेद होंगे । जो अपनेको जैन मतके धारक बतलायेंगे परंतु उनका मत मिथ्या मत के समान तीव्र मिथ्यात्वसे परिपूर्ण होगा । १५१ ॥

धार्मिकाणा भविष्यति हानिस्तु समय पति । गुरोर्निंदा करिष्यति श्रावका व्रतवर्जिता । १५२ ।।

अर्थ— उस समय धर्मात्मा पुरुषोंकी हानि होगी । और व्रत रहित । (असदाचारी) श्रावक गण ही अपने धर्मगुरुओंकी निंदा करेंगे । मिथ्या अवर्णवाद लगायेंगे । १५२ ।

टीप —कुशिक्षित और असदाचारी लोगोंसे सच्चे धर्मात्मा पुरुषोंकी बड़ी भारी हानि होगी । वे लोग अपने विषय कषाय की पुष्टिके लिये और अपने कुशिक्षाके मिथ्याभिमानसे धर्मात्माओंको सब प्रकारके कष्ट देंगे । निर्दयतासे कार्य करेंगे । वात्सल्य और बंधुत्व भावनाको मूलका अपने धर्मका सत्यानाश करनेके लिये सच्चे धर्मात्माओंको शत्रु मानेंगे । तथा वीतराग— सर्वथा निरपेक्ष-परम पवित्र सर्व प्रकारके दोषसे विरहित और सब प्रकारकी आशाको छोडकर ज्ञान ध्यानमें लीन रहनेवाले धर्मगुरु (मुनि—आचार्य—ऐलक आर्यिका) की ये व्रत और चारित्रविहीन श्रावक निंदा करेंगे । तथा निर्लज्जताके साथ निंदा करते हैं । ये लोग स्वयं पापी, सदाचार रहित, कुशिक्षासे विषयोंका पोषण करने वाले और क्रियाहीन पापिष्ठ होंगे सच्चे धर्मात्मा और धर्मगुरुका चारित्र–विचार–एवं मनकी भावना अत्यंत पवित्र और उत्तम होगी । उसको भी ये लोग सहन नहीं कर सकेंगे, उनकी इच्छा रहेगी कि यदि सच्चे धर्मात्मा पंडित और धर्मगुरु हमारे मतके अनुकूल हो जावें तो हम समस्त समाजमें अपने विषय कषायोंकी प्रवृत्ति करा सक्ते हैं । विधवाओंका धरेजा कराकर सहज रीतिसे कुमार्गका प्रचार कर सकते हैं । तभी समाजमें विषय कषायोंकी सिद्धि होगी । ऐसी कुत्सित धारणा से ही ये लोग सच्चे गुरु और सच्चे धर्मात्माओंसे पापकी प्रवृत्ति कराना चाहेंगे । परंतु अपने जीवनकी परवाह नहीं करनेवाले धर्मगुरु और सच्चे धर्मात्मा ऐसे धर्मविरुद्ध पापोंकी प्रवृत्ति कभी नहीं करेंगे । बस ऐसेही कारणोसे ये धर्मात्माओंकी हानि और धर्मगुरुओंकी निंदा करेंगे ।

सहस्राद्धेषु वर्षेषु नाशो धर्मस्य वा पुन । भविष्यंति पुनर्वर्षैर्मार्गजैनप्रभावका ॥ १५३ ॥
भद्रबाहुस्तथा सूरा जिनसेनऋषीश्वर । समतभद्रयोगीन्द्रो बौद्धमातगसिंहम: ॥ १५४ ॥
इत्याद्या वरयोगीन्द्रा वर्तयिष्यंति निश्चयात् । दिगावामधरा पूज्या देवमानववृंदत: ॥ १५५ ॥
पश्चादंभ्रमुनिजायाप्रमाब्दे मगधेश्वर । कुदकुदाभिधो मौनी भविष्यति सुरार्चित ॥ १५६ ॥

अर्थ— हे राजन् इस पचमकालमें–५०० पांचसौ वर्ष व्यतीत होनेपर क्रमसे धर्मकी हानि होती जायगी। और पांचसौ पाचसौ वर्षोंमें जैन धर्मका माहात्म्य अतिशय प्रभावनाके साथ बढेगा। भावार्थ, हजार वर्पके आधे भागमें क्रमसे जैनधम घटता चला जायगा। और उत्तरार्द्ध भागमें जैन धर्म क्रमसे बढता जायगा। किसीको यह नही समझना चाहिये कि अब जैनधर्म बढेगा ही नही। यह बात त्रिलोक प्रज्ञप्तिसे मालुम होती है कि हजार वर्ष व्यतीत होनेपर एक कलकी होगा जो धर्मका नाशक होगा। और आगेके पाचसौ वर्ष व्यतीत होनेपर एक उपकलकी मुनि होगा जो धर्मका स्थापन करनेवाला होगा। बस इनके योगसे धर्मकी हानि और वृद्धि होगी ॥ १५३ ॥

अर्थ–हे राजन् परम दिगबर, (निर्ग्रंथ)–देव–मानवोसे पूज्य, बौद्धादि मतरूपी हाथियोको सिंहके समान नाश करनेवाले, पूर्ण योगी ऐसे भद्रबाहु जिनसेन समतभद्र आदि अनेक मुनीश्वर जैन धर्मके स्थापक होगे। १५४। १५५ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! हमारे (श्रीवीरनिर्वाण सवतसे) चारसौ सत्तर वर्षके बाद देवोसे पूजित कुदकुद स्वामी नामके यतीश्वर होगे ॥ १५६ ॥

---

१ अभ्रका अर्थ आकाश है और आकाशसे संख्यामें शून्य लिया जाता है तथा मुनिशब्दसे सात सख्या ली जाती है। और जाया शब्दसे चार संख्या ली जाती है। इस प्रकार 'अकाना वामतो गति' इकाई दहाई वाई ओर लिखी जाती है। इस न्यायसे ४७० वर्ष होते हैं।

मुनेस्तस्य शृणुध्वंच वृत्तमानंददायकम् । एकाग्रमनसा भूप कर्मेन्धनहुताशनम् ॥ १५७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! उन कुंदकुंद स्वामीका आनंद प्रदान करनेवाला वृत्तांत एकाग्र मनसे श्रवण करो जिस पवित्र वृत्तांतके श्रवण करनेसे कर्मरूपी इंधन भस्मीभूत हो जाता है ॥ १५७ ॥

१ हमारे पास (ऐलक पन्नालाल दिगंबर जैन सरस्वती भवन मुंबईमे) एक गुटका है जिसमे श्री कुंदकुंद भगवानका जीवन हिंदी भाषामे लिखा है। वह यहांपर उपयोगी होनेसे अविकल रूपसे अक्षरशः रखते है। सं. (वीर संवत्) ४७० की सालमें वारा नगरमें श्री कुंदकुंद मुनिराज थे । तिनका व्याख्यान करिये है। सेठ कुंद और कुंदलता सेठानी के पांचवा स्वर्ग का देव चयकर गर्भमें आये तिस दिनसे सेठ का नाम प्रख्यात भया। नव महीने पश्चात् पुत्रजन्म भया। तिस समय स्वेतांबर आम्नाय विशेष होय रही थी। दिगंबर आम्नायमें कुछेक विक्षेप पड गया था । एक जिनेन्द्रचंद्र मुनिराज रामगिरी पर्वत पर रहें। ताके दर्शन सेठजी करवो करे सो याके पुत्र आठ वर्षका हुआ और श्रीजिनेन्द्रचंद्रमुनिका आयुकर्म नजीक आया। कुमार कुंदकुंद नित्य मुनिके दर्शनार्थ आया करता था। सो पूर्व संस्कार से कुंदकुंद कुमार दीक्षा लेता भया। आचार्य तो देवलोक सिधारे और कुंदकुंद मुनिने आचार्योंका मार्ग विशेष जाण्या नाही सो अपने गुरु स्थापना के निकट ही ध्यान करते भये। इनके ध्यानके प्रभावसे सिंह व्याघ्रादिक शांतभावको प्राप्त भये। श्रीस्वामीके ऐसा ध्यान प्रगट भया। तीन ज्ञानके अगोचर श्री सीमंधर स्वामी पूर्वले विदेहक्षेत्रके तीर्थंकर तिनका ध्यान स्वामी ने शुरू किया। आदिमें समवसरणकी रचना विधि पूर्वक चित्तरूपी महलमें बनायी। ताके बीच गंधकुटी रची। और वारह सभा सहित रचना बनाय, सिंहासन ऊपर चार अंगुल अंतरीक्ष श्रीमंधर स्वामीको विराजमान देखकर श्री कुंदकुंद मुनि नमस्कार करता भया। वे ही समयमे श्री सीमंधर भगवानने मुनिराजको धर्मवृद्धि दीनी। तदि चक्रवर्ती आदि महतपुरुषोंके बडो विस्मय उत्पन्न भयो। अभी कोई इन्द्र देव या मनुष्य कोई भी आया नहीं। और स्वामीने धर्मवृद्धि दीनी ताका कारण कहा। तदि महापद्म

चक्रवर्ती आदि सब ही राजा उठ कर स्वामीको नमस्कार कर पूछते भये। सो सर्वज्ञ देव या धर्म वृद्धि आप कौनको दीनी। ये वचन सुनकर स्वामीने दिव्यध्वनिमें व्याख्यान किया कि हे महाराज! भरतक्षेत्रके आर्यखंडमें रामगिरी पर्वत पर श्री कुन्दकुन्द मुनि तिष्ठे हैं उनने अभी मन वचन कायकी शुद्धताकर मुझे नमस्कार किया तदि धर्मवृद्धि दीनी। ऐसा वचन स्वामीका सुनकर सब लोगोंके अचरज हुओ। सो भगवान आपकी दिव्यध्वनि पहले हमने सुनी थी कि भरतक्षेत्रादिकके दशक्षेत्रमें धर्मका मार्ग नहीं। पाखंडी हैं। जैनधर्मको नाममात्र जानता नहीं। विपरीत मार्ग चालेगा पाखंडी लोगोंकी मान्यता ज्यादा होगी। गुरुद्रोही लोग हो जायगे। अकल्पित अंग जानेंगे। अनेक पाखंड चलेंगे। जिनराजका मार्ग आगिया समान कहीं कहीं दिखेगा। पाखंडीके मठ जगह जगह (जागा जागा) पायेगा। व्यन्तरादि देवनिका चमत्कार प्रति भासेगा। सब धर्मको छोड करि सर्व ही लोग उन्मत्त मार्गमें बसेगे। अब ऐसा ऋद्धिधारी मुनिराजका नाम सुना सो हमारे बडो आश्चर्य है। तदि केवली वर्णन करते भये—ऐसे मुनिराज विरले होते हैं। आगियाका चमत्कारवत होते रहेंगे। आर्यखंड में वे स्वर्गगामी देवका जीव है। या सभामें रविप्रभ नामका देव है इनका यह अगले भवका भाई है। ऐसा शब्द होते ही दोय देव श्रीभगवानके निकट आये। नमस्कार कर सकल व्याख्यान पूछते भये। और मुनिराजका दर्शन करने वास्ते रामगिरी पर्वतपर आवते भये। ता समय रात्रि थी। तदि मुनिराजको नमस्कार कर बैठ गए। मुनिराज बोले नहि। मुनिके शिष्य वहांपर विना ध्यान तिष्ठते थे तिनका दर्शन भया उनसे ही वार्तालाप हुआ। देव कही श्री सीमंधर स्वामी इनको धर्मवृद्धि दीनी। तदि हम यहां आए। और स्वामी बोलते नहीं सो हम भगवानके समोसरणमें पीछे जावा हैं [जाते हैं] या कहकर देव भगवानके समोसरणमें गए। और प्रभातका समय भया। तदि प्रभातका समय भया देख सर्व शिष्यनने नमस्कार किया। और रात्रिका सर्व संबंध श्री सीमंधर स्वामी संबंधी सर्व विधिपूर्वक मालुम किया। और कही, दो देव आपके दर्शन करनेको आया। आपके दर्शन कर पीछे ही समोसरण सभामें गया। ये समाचार सुनिकर

श्री कुदकुंद मुनि विशेष, आनदकू प्राप्त भया । और चोडेमें ऐसा शब्द प्रकाशते भये कि अब श्रीसीमधर स्वामीका दर्शन साक्षात् करेंगे तदि आहार आदिक लेवेगे । या कहकर स्वामी फिर मौन धारण करी । ध्यानमे मग्न भये । ऐसा ध्यान आवे जदी वैसा कारण होय । फिर दो चार दिनमे चित्तकी स्थिरतासे ऐसा ही ध्यान प्रकट भया । अर समोसरण बनाया । और साक्षात श्रीसीमधर स्वामीको नमस्कार करता भया । ये ही समय फिर धर्मवृद्धि भगवान की हुई और प्रश्न भया । भगवान् कही जो देव गया छा (था) सो पाछा आया । अब उसको नियम हुआ कि दर्शन विना सर्व त्याग है । तदि देवा कही गो स्वामी वे आये नहीं । तब भगवान आज्ञा करी तुम वे समय गए । देव पूछते भये वे समय कौनसा ? तब भगवान कही । यहा रात्रि होय है वहा दिन होय है । वहा रात्रि है यहापर दिन है । सूर्यका गमन ऐसा है । सो तुम वहा दिवसमे जाओ तो उनका आगमन होवेगा । ऐसा वचन सुन कर वे दोनों मध्यान्ह समय आये । मुनिराजका दर्शन हुआ । परस्पर वचनालाप हुआ । देव हाथ जोड नमस्कार कर विनती करी । आप विमानमे विराजो । सीमधर स्वामी का दर्शन करो । या बात सुनकर प्रसन्न हुए । आप विमानमें विराजे । आकाश मार्ग जायता स्वामीके सामायिकका समय आगया तो सामायिक करते वखत पीछी हाथसे गिर पडी अर पवनका वेग अत्यंत लागा । तब स्वामी कही हमारा गमन नही । क्योंकि मुनिराजका बाना विना मुनिराज पिछाणा नहीं जाय । तब देव पीछी ढूडनेका बडा यत्न किया । पीछी पाई नहीं । तब गिद्ध पक्षीके पख वहा पर पडे हुए देवोंने देखे । उनको अति कोमल देव पीछी बनाय श्री मुनिराज को सोंपी । तदि आप कोमल जान अर धर्मकार्य करने निमित्त अंगीकार करी । फिर आगे गमन किया । इस हेतुसे गृद्धपिच्छाचार्य नाम पड गया । विदेह क्षेत्रमे जाय पहुचे । श्रीसीमधर स्वामीका समोसरण मानस्तभकी विभूतिको देखकर प्रसन्न हुए । आप अंतरग की शुद्धता धार विमान से उतर भगवान के समोसरण मे प्रवेश किया । श्री सीमंधर स्वामी की तीन प्रदक्षिणा करी । नमस्कार किया स्तुति करी । अहो तुम्हारी महिमा अगम है । अगोचर है । आप

सकलवस्तु सदैव देखो हो। आप जगत गुरु हो। परमेश्वर हो। आपके नामसे अनेक जन्मके पाप विलय होगए हैं। आप केवल ज्ञानी सर्व प्रतिभासी हो। आप पूज्य हो। आप ब्रह्म हो। महेश हो। परब्रह्म रूप हो। चतुर्मुख हो। गणधरादिक देव तुम्हारे गुनगान करते थक गए, हमारी कहा सामर्थ्य। आज हमारा शरीर सफल भया। आज हमारी मोक्ष भई माने है। इत्यादि स्तुति कर पश्चात देव इनको भगवानकी गंध कुटीकी कटनीपर चढ़ावते भये। वहांके मनुष्योंका शरीर ५०० धनुषका और ये सात (७) हाथके। इस कारणसे उस समय चक्रवर्ती आयो। गंधकुटीपर नजर गई। तब कुंदकुन्द मुनिको अपनी हथेलीमें उठाय विचार करता भया। यह कौनसा आकार है। इस क्षेत्रमें तो आकार कभी देखा नहीं ऐसा आकार कहांसे आगया। ऐसा आकार कौनसा है। तब चक्रधर भगवानको पूछता भया हे जिनेन्द्र! यह मनुष्यके आकारका कौनसा जीव है। तब भगवानकी दिव्यध्वनि हुई। ये भरतके मुनिराज हैं। तुम यहां किस कारण पूछा। ये आपके दर्शन निमित्त आये हैं। ऐसा शब्द सुनकर चक्रधर प्रसन्न होय मुनिराजको कटनीपर विराजमान किये। नमस्कार करता भया। और मुनिराजका नाम एलाचार्य प्रगट किया। और भगवानकी आज्ञा भई इनको सकल संदेहका निवारणेवाला सिद्धान्त सिखलावो और ग्रंथ लिखावो। अब कुंदकुंद मुनिके जो संदेह था सो भगवानके पाससे सब निवारण किया। निःसंदेह भया। एक दिन चक्रधर विनंती करी। आप आहार करने निमित्त उठगे। तब आप कही योग्यता नाहीं। कारण यहां जब दिन है तब हमारे क्षेत्रमें रात्रि है। इस वहांका उपजा अन्न आहार कैसे अंगीकार करें। सात दिवस तक मुनिराज वहांपर (विदेह क्षेत्रमें) निराहार रहे। भगवानकी दिव्यध्वनि सुनकर तृप्त रहे। क्षुधा बाधा न देती भई। चार शास्त्र लिखाये। अर्थात् नाम ये ह. — मतानुसार निर्णय ८४०००, सर्वशास्त्र ८२०००, कर्म प्रकाश ७२०००, न्याय प्रकाश ६२००० ऐसे चार ग्रंथ लेकर भगवानसू आज्ञा मांगी। देव विमानमें बैठालकर रामगिरी पर्वतपर आये। देव अपने स्थानको गये। अब सब ही आज्ञा मानते भये। अगणित प्राणियोंको धर्ममार्गमें लगाया। लाखों प्राणियोंने स्वेताम्बर धर्म छुडाय दिगंबर

भारतेस्मिन् पुरे वारे ख्याते भव्यनृभिर्मिते। कुदाव्हो भव्यभावाढ्य श्रेष्ठी श्रेष्टगुणान्वित ॥ १५८ ॥
कुदा शीलसुभूषाढ्या भविष्यति शुभा प्रिया। तस्य धर्मरतस्यैव नाम्ना स्त्री तिलकोपमा ॥ १५९ ॥
तस्य कुक्षौ सुरै पूज्य कुदकुंदाभिध सुत। भविष्यत्यग्रधमस्यं वर्द्धनैकदिवामणि ॥ १६० ॥
निधनाब्दे स कौमारे पूर्वसंस्कारयोगत। जिनचद्रमुने पार्श्वे जातरूपं ग्रहिष्यति ॥ १६१ ॥
शब्दालंकारकाव्यादीन् सन्निधे स्वगुरा. स च। तथा हि मुनिमार्ग च ज्ञात्वा वै नूतनऋषि ॥ १६२ ॥

अर्थ—हे राजन! इस भरत क्षेत्रमें भव्य नीतिमान राजासे शासित और प्रसिद्ध वारा नगरमे भव्यात्मा, अनेक श्रेष्ठ गुणोसे विभूषित कुद नामका एक प्रसिद्ध सेठ होगा ॥ १५८ ॥

अर्थ—हे राजन्! उस सेठ की स्त्री का नाम कुदलता होगा। जो शीलवती-अतिशय मनोहर अपने पति की प्रिय और तिलक के समान हृदय हारिणी होगी। १५९ ॥

हे राजन्! उस कुद नामके प्रसिद्ध धर्मात्मा सेठ की महाशीलवती स्त्री कुदलता के कूखसे मुख्य दिगबर जैन धर्मको बढाने के लिए सूर्यके समान, देवो से पूजित और दिव्य शक्तिके धारक श्री कुदकुद नामके पुत्र रत्न उत्पन्न होगे। १६० ॥

अर्थ—हे राजन्! वह कुदकुद आठ वर्षीय बालक पूर्वभवके पुण्योदय से [राम गिरि पर्वतपर] श्रीजिनचद्रमुनीश्वर के पास नग्न दिगबर भगवती जिनदीक्षाको धारण करेंगे ॥ १६१ ॥

अर्थ– हे राजन! वे कुदकुद नामके बालयती अपने गुरुके समीप-शब्दशास्त्र [व्याकरण] काव्यशास्त्र और

किये। धर्ममार्ग प्रवर्त्ताया। हजारो व्रती भये। हजारोको मुनि कुदकुद स्वामीका चमत्कारसे ससारसे वैराग्य हुआ और दीक्षा धारण की। कितने ही राजाओंने जैनधर्म स्वीकार स्वामीकी आज्ञा पाली। कुदकुद स्वामीके सघमे ५९४ मुनियोंकी सख्या होगई।

धरणीभूषणाद्रौ च ध्यानं स्वर्मोक्षकारणम्। धरिष्यति महाभीमे स्वाध्यायाय ह्यात्मवित् ॥ १६३ ॥
हृत्पंकजे यतिः सोपि ध्यानज्ञः स्मरसोवशी। श्रीसीमंधरदेवस्य प्राचिदिग्नायकस्य च ॥ १६४ ॥
यथाविधि नराधीश समवनस्तस्य मोदभृत्। कृत्वा च रचनां पश्चात् गंधकुट्याः मनोहराम् ॥ १६५ ॥
संस्थाप्य परया भक्त्या तदोपरि मनोहरम्। हरिविष्टरं महोत्तुंगं नानाशोभासमन्वितम् ॥ १६६ ॥
तदोपरि जिनाधीश सीमंधरमथा पहम्। महाकार्यं मनोज्ञं च निस्सही निस्सही पुन ॥ १६७ ॥

अलकार शास्त्र आदि शास्त्रोंका अभ्यास करेंगे। इस प्रकार मुनिमार्ग [यत्याचार] को भी जान लेंगे।

अर्थ–हे राजन् ! इस लिये अब उनका विद्याभ्यास का होना बंद हो जायगा और आत्माके ज्ञाता वे अपना समय महाभयानक—धरणी भूषण (रामगिरी) नामक पर्वत पर अपने पापोंको नाश करने के लिये स्वर्ग मोक्ष का कारणभूत ऐसा उत्कृष्ट ध्यान लगायेंगे। १६३ ॥

अर्थ–कामदेवको वश करनेवाले और ध्यानकी खूबीको जानने वाले वे यति श्री कुंदकुंद स्वामी अपने हृदय कमलमें यथाविधि समवसरणकी रचना कर उसमें एक मनोहर गंधकुटीकी रचना करेंगे। उस गंधकुटीपर अनेक प्रकार की शोभासे युक्त महोन्नत और सर्वांग सुंदर ऐसा दिव्य सिंहासन स्थापन करेंगे। उस सिंहासनपर समस्त प्रकारके पापपंकको दूर करनेवाले त्रिलोकके ज्ञाता सर्वज्ञ महा मनोज्ञ अनंतगुणोंके स्वामी श्री जिनेंद्र भगवान पूर्वविदेहके नायक श्रीसीमंधर स्वामीको बडी भक्ति से स्थापन करेंगे। फिर तीन बार निस्सही निस्सही निस्सही ऐसा शब्दका उच्चारण करेंगे। १६४। १६५। १६६। १६७ ॥

जय त्रीणि इति प्रोच्य त्रिधा वै प्रदक्षिणा । साष्टांगविधिना पश्चात् नमस्कार करिष्यति । १६८ ॥
तदा हि धर्मवृद्धिं च दास्यति तत्र भूमिराट् । चक्रवर्त्यादयो भूपा श्रुत्वा तां हर्षदायकाम् ॥ १६९॥
प्राप्स्यंते विस्मयं पश्चाच्चक्री चानम्य तं जिनम् । कोपि नात्र समायातो दत्ता कस्मै त्वया प्रभो ॥ १७० ॥
इत्युत्तरं तदा तस्मै सीमधरजिनाधिराट् । दास्यति मगधाधीश तस्य संदेहहानये ॥ १७१ ॥
तस्याश्च कारणं सर्वं धर्मप्रभावकं शुभम् । एकाग्रमनसा त्वं च सार्वभौमाधिराट् शृणु ॥ १७२ ॥
अस्मिन् सार्द्धद्वयद्वीपे क्षेत्राः सति मनोहराः । खमुनिसोमसंख्याढ्या भव्याभव्यनृभिर्भृताः ॥ १७३ ॥

अर्थः— फिर वे कुंदकुंद मुनि तीन वार जय जय शब्दोंका उच्चारण कर तीन प्रदक्षिणा देंगे । फिर विधि पूर्वक अष्टांग नमस्कार करेंगे और उधर विदेह क्षेत्रमें सीमधर स्वामीकी दिव्यध्वनिमें धर्मवृद्धि होगी । उस धर्मवृद्धिको श्रवण कर चक्रवर्ती आदि अनेक राजा और सभाके देव मनुष्य आश्चर्यको प्राप्त होंगे । उसी समय चक्रवर्ती प्रभु श्री सीमधर स्वामीको नमस्कार कर प्रश्न करेगा कि हे स्वामिन् इस समय समवसरणकी द्वादश सभामें कोई भी देव मनुष्य नहीं आया है । आपकी दिव्यध्वनिमें धर्मवृद्धि किसके लिये खिरी ? ॥ १६८ । १६९ । १७० ॥

अर्थ —उस समय प्रभु सीमधर स्वामीने चक्रवर्ति आदि महान पुरुषोंके संदेहको दूर करनेकेलिये कहा ।१७१

अर्थ —भगवान् श्रीमधर स्वामीने कहा कि धर्मका शुभ प्रभावका उत्पादक उस धर्मवृद्धि का कारण हे सार्वभौम चक्रेश्वर ! सावधान मनसे श्रवण कर । १७२ ॥

अर्थ—ढाई द्वीप क्षेत्रमें कर्म भूमिके १७० एक सौ सत्तर मनोहर क्षेत्र है जिनमें भव्य अभव्य बहुतसे मनुष्य रहते हैं ॥ १७३ ॥

स्वस्तुचंद्रक्षेत्रेषु समय शाश्वतो मत । वृद्धिह्रास कदा नास्ति शाश्वत पुरुषोत्तम ॥ १७४ ॥
धर्मो हि शाश्वतो यत्र नो कुदेव कुलिंगिन । नान्यत्र ननमन्यद्धि वीतरागमतान्तरम् ॥ १७५ ॥
समय पंक्तिक्षेत्रेषु वृद्धिह्रासयुत सदा । वर्तन सऋतुभेदेन स स्वामी प्राह तान् प्रति ॥ १७६ ॥
भोगभूमिगते तत्र वृषभादिजिनेश्वरा । अतीता मादृशा गर्ते त्वत्तुल्या पुरुषोत्तमा ॥ १७७ ॥
अधुना पचम कालस्तत्रैव वर्तत खलु । मत्यादिज्ञानहीनांगा मर्त्या कुज्ञानमडिता ॥ १७८ ॥
श्रावकाश्च क्रियाहीना यत्याचारपराङ्मुखा । मुनीश्वरा नराधीश ज्ञास्यन्ते यत्र निश्चयात् ॥ १७९ ॥

अर्थ—उनमें १६० एकसौ साठ तो ऐसे क्षेत्र हैं जो सदा सर्वदा शाश्वते रहते हैं, जिनमें कालचक्रके द्वारा परिवर्तन (घटती बढती) नहीं होता है। जिन क्षेत्रोंमें सदा तीर्थंकर परमदेव शाश्वते विराजमान रहते हैं। ॥१७४॥

जिस विदेह क्षेत्र (एक सौ साठ क्षेत्र) में कुदेवोंका प्रकाश सर्वथा नहीं है न कुलिंगी गुरु ही किसी भी कालमें होते हैं। वहा पर सदैव एक जिनधर्म ही शाश्वता धर्म रहता है। अन्य धर्म नहीं रहता। १७५ ॥

अर्थः— श्रीसीमंधर स्वामीने चक्रवर्ती आदि भव्य जीवोंको कहा कि भरत और ऐरावतमें छह समयके कारण वृद्धि और ह्रास होता है। १७६ ॥

अर्थः— भरत और ऐरावतमें भोगभूमिका चक्र नष्ट होनेपर वृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकर मेरे समान पुरुषोत्तम होगये। और तेरे (चक्रवर्तीके) समान चक्रवर्ती भी होगये ॥ १७७ ॥

अर्थः— हे चक्रिन्! इस समय भरतक्षेत्रमें पचमकाल प्रकट हो रहा है। जिससे वहांके जीव बुद्धिहीन और कुज्ञानी हो रहे हैं ॥ १७८ ॥

अर्थ—हे चक्रधर! पचमकालमें वहांके श्रावक क्रियाहीन होंगे तथा वहांके यतियोंमें यत्याचारका परिज्ञान नहीं होगा ॥ १७९ ॥

यत्र भूपा हि धर्मस्य नाशका वा द्विजा खला । वर्तते भो धराधीश कालदोषप्रभावत ॥ १८० ॥
ह्यधुना जिनधर्मस्य धारक स्वर्गजो मुनि । कुंदकुंदसमाख्यातो ध्यानमात्रपरिग्रह ॥ १८१ ॥
धरणीभूषणाद्रौ हि ध्यानलीनो हि मा स च । भक्तिपूर्वं कृतो भूप नमस्कारस्ततो मया ॥ १८२ ॥
धर्मवृद्धि प्रदत्ता हि तस्मै शुद्धात्मने वरा । इति श्रुत्वा सभालोकाश्चक्रवर्त्यादयो घना ॥ १८३ ॥
महद्धर्षं च संप्रापु कृत्वा च विस्मय हृदि । ह्यधुना भारते क्षेत्रे ऋषि स्याच्चेदृशो महान ॥ १८४ ॥
देवेंद्रा निर्जरा सर्वे भूमिशाश्च यतीश्वरा । स्वकरौ कुड्मलीकृत्य तस्मै कुर्नेति तदा ॥ १८५ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पचमकालमें भरतक्षेत्रके राजा गण ही धर्मके नाशक होगे । और ब्राह्मण लोग जैन धर्मका द्वेष करनेवाले क्रूर स्वभाव वाले होगे ॥ १८० ॥

अर्थ—चक्रधर, इस पचम कालके भरत क्षेत्रमें अब भी स्वर्गसे अवतार लेनेवाले, जिन धर्मके धारक ध्यान मात्र परिग्रहको धारण करनेवाले महा प्रभावशाली कुंदकुंद नामके मुनिने धरणी भूपण नामके पर्वतपर ध्यानमें संलीन होकर मेरा (सीमंधर स्वामीका) एकाग्र मनसे चितवन किया है और भक्तिपूर्वक मुझे (सीमधर भगवानको) नमस्कार किया है । अत एव मेरी दिव्यध्वनिमें स्वभावरूपसे उस शुद्धात्मा कुदकुंद मुनिराजको धर्मवृद्धि प्रकट हुई है । श्रीसीमधर स्वामीसे इस बातको सुनकर द्वादश सभा मे स्थित संपूर्ण भव्यजीव आश्चर्यको प्राप्त हुए । और विचार किया कि अब भी भरत क्षेत्रमें ऐसी दिव्य विशाल शक्तिके धारक महान तपस्वी मुनि है ? तत्काल ही समस्त इन्द्र–देव–मनुष्य–और चक्रवर्ती आदि राजाओने कुन्दकुन्द मुनिराजको अपने दोनो हाथ जोडकर भक्तिपूर्वक नमस्कार किया ॥ १८१ । १८२ । १८३ । १८४ । १८५ ॥

प्रभो केनाप्युपायेन तस्य चागमनं भवेत् । तदा श्रीमज्जिनाधीश. कारणं ध्वनिनावदत् ॥ १८६ ॥
रविकेतुस्तथा चंद्रकेतुर्द्वौ निर्जरौ वरौ । पूर्वमित्रे मुनीन्द्रस्य प्रेषणीयौ तदा भवेत् ॥ १८७ ॥
चामरौ पूर्वसंबंध श्रुत्वा नत्वा जिनेश्वरम् । आगमिष्यतो राजेन्द्र तदानयनसिद्धये ॥ १८८ ॥
आयास्यतश्च तौ रात्रौ दृष्ट्वा मौनीश्वर वरम् । ध्यानमग्न महाशांतं नत्वा तत्पादपंकजम् ॥ १८९ ॥
ब्रूयुर्वे नैव रात्रौ च ध्यानस्था हि यतीश्वरा । स्थित्वा कियत्प्रमं कालं पश्चात्तत्रैव यास्यत ॥ १९० ॥

अर्थ–सीमधर स्वामीको उसी समय किसीने पूछा कि हे प्रभो ! उन मुनिराजका आगमन यहांपर किसी प्रकार हो सक्ता है ? तब सीमधर स्वामी ने दिव्यध्वनिके द्वारा कहा,

अर्थः— हे राजन् ! इस सभामें बैठे हुए रविकेतु और चंद्रकेतु नामके दो देव श्रीकुंदकुंद मुनिराजके पूर्व भवके मित्र है । (अर्थात् कुंदकुंद मुनिराजका जीव स्वर्गसे चयकर आया है सो स्वर्गके दो देव जो सीमधर स्वामीकी सभामें बैठे हुए है वे दोनो ही उनके मित्र है ।) ये दोनो उनको यहा पर ला सक्ते है ॥ १८७ ॥

अर्थ– वे दोनो देव अपना संबंध श्रवण कर तत्काल ही श्रीसीमंधर स्वामीको नमस्कार करेंगे और वे धरणीभूषण पर्वतपर उनको (कुंदकुंद स्वामीको) लेनेके लिए आवेंगे ॥ १८८ ॥

अर्थ–वे दोनो देव रात्रिमें वहांपर (कुंदकुंद मुनिराजके पास) आवेंगे उस समय वहा शांत मुनिराज मौनमें स्थित ध्यानमें संलग्न होगे । वे देव उन मौनी मुनीश्वरके चरणकमलको नमस्कार कर कुछ कालपर्यंत बैठेंगे ।१८९॥

अर्थ-मुनीश्वरोके रात्रिमें नियमसे मौन व्रत होता है । अत एव कुंदकुंद स्वामीके भी मौन व्रत होगा । और वे मौन व्रत सहित ध्यानमें लवलीन होगे । इसलिए देवोको यह मालुम होगा कि मुनीश्वर बोलते ही नही । अब यहांपर बैठे बैठे क्या करेंगे; चलो पीछे चलेंगे, ऐसा विचार कर वे दोनों ही देव वहासे पीछे चले आएगे ।

प्रभाते तस्य शिष्या हि कथयिष्यति रात्रिजम् । निर्जरौ द्वौ समायातौ स्वामिन् ते दर्शनाय वै ॥ १९१ ॥
अस्यावा पूर्वजौ मित्रे कथयित्वा च तौ गतौ । सीमंधरसभास्थानादागतौ वै तदाश्रये ॥ १९२ ॥
तदास्मात्सर्ववृत्तात श्रुत्वा योगीश्वरोऽपि स । करिष्यत्येव तत्रोच्चैर्दुर्घट नियम तदा ॥ १९३ ॥
यावन्मे दर्शनप्राप्ति न २ वेतस्य निश्चयात् । वेदप्रमस्य न्यादस्य त्याग स्यान्नात्र संशय ॥ १९४ ॥
निर्जरौ तौ समागत्य तत्रापृच्छच्य जिनेश्वरम् । ज्ञात्वा तत्कारणं भूप चायास्यत पुनश्च तौ ॥ १९५ ॥
अत्र रात्रिर्दिवा तत्र रवेभ्रमणत खलु । विपर्यय च जानीहि सदा नैवात्र संशय ॥ १९६ ॥

अर्थ—हे राजन् ! प्रातःकाल श्री कुदकुद स्वामीके शिष्य, स्वामीसे रात्रि के समयमें देवोके आनेका जो वृत्तांत हुआ था उसे कहेंगे । और यह भी कहेंगे कि वे देव श्रीसीमंधर स्वामीकी द्वादश सभामेंसे आये थे । आपके पूर्व भवके मित्र थे । और आपके दर्शनके लिये आये थे । परतु आपको मौनी देखकर पीछे चले गये ॥ १९२ ॥

अर्थः—अपने शिष्योसे उपर्युक्त वृत्तातको सुनकर श्री कदकुंद स्वामी तत्काल " जबतक मुझे श्रीसीमधर स्वामीका प्रत्यक्ष दर्शन न होगा तबतक मेरे चारो ही प्रकारके भोजनका सर्वथा त्याग है । " इस प्रकारका बडा भारी दुर्घट नियम करेंगे । १९३ । १९४ ॥

अर्थ— हे राजन् ! उधर देव पीछे लौटकर सीमधर भगवानके समव सरणमें जांयगे और वहांपर श्रीसीमंधर स्वामीको नमस्कार कर पूछेंगे कि हे स्वामिन् वे मुनिराज यहांपर क्यो नही आये ? स्वामीजी अपनी दिव्यध्वनि द्वारा कहेंगे कि— ॥ १९५ ॥

अर्थ— हे देवगण ! कुन्दकुन्द स्वामी मौनस्थ क्यो रहे और तुह्मारे साथ क्यो नही आये, इसका कारण यह है कि जब यहांपर दिवस होता है तब वहांपर [भरतक्षेत्रमें] रात्रि होती है । क्योकि सूर्य के भ्रमणसे कालका परि-

वासरे तौ समागत्य नत्वा तत्पादपंकजम् । प्रकथ्य सर्ववृत्तातं तदग्रे तौ च स्थास्यत ॥ १९७ ॥
तदविमाने समासद्य यास्यति स मुनीश्वर । केवलं धर्मकार्यार्थ पूर्वपुण्येन प्रेरित ॥ १९८ ॥
भूधॆरान् जिनसद्माढ्यान् नानाश्चर्यान् मुनिश्च स ॥ चकार गमनं चाग्रे पश्यन् हि सकला महीम् ॥ १९९ ॥
विमोरास्थानमाराच्च दृष्ट्वा यानाच्च तै सह । उत्तीर्योनंदसंयुक्तो विवेश शर्मदायकम् ॥ २०० ॥

वर्तन होता है। इस लिये रात्रिमे मुनि बोले नही और तुह्मारे साथ आये भी नहीं। समय की विपरीतता ही इसका स्थूल कारण है ॥ १९६ ॥

अर्थ—फिर वे देव दिवसमें (भारतमें जब दिवस था) आयंगे और मुनिराजको नमस्कार कर और सर्व वृत्तांत कहकर स्वामीके सामने बैठ जांयगे ॥ १९७ ॥

अर्थ-वे कुंदकुद स्वामी उन देवो के विमान में बैठकर विदेह क्षेत्र जायगे-वे मुनिराज पूर्व पुण्यसे प्रेरित होकर केवल धर्म काय की सिद्धिके लिये ही विदेह क्षेत्रको विहार करेंगे ॥१९८ ॥

आगे ग्रंथकार उस कथनके अनुसार स्वय वर्णन करते है ॥

अर्थ-कुदकुद स्वामीने विमानमें से हिमालयादि पर्वतो पर विचित्र शोभायुक्त कृत्रिम जिन मंदिरो को देखते हुए और सपूर्ण पृथ्वीकी विचित्र शोभाको देखते हुए आकाशमे विहार किया ॥ १९९ ॥

अर्थ—श्रीसीमंधर तीर्थकर का समोसरण समीप आया हुआ देखकर श्री मुनि कुंदकुद उन दोनो देवोके साथ विमान से नीचे उतरे और उन्होने सुख देने वाले समोसरण में प्रवेश किया ॥ २०० ॥

सदने नंददे तस्य चकार सुरनिर्मिते । यातायातनृभिर्युक्तेऽच्युतोपमविराजिते ॥ २०१ ॥
निस्सही त्रीणि त्व नाथ जय त्रीणि दयापते । इत्यादिशुभशब्दौघान् कुर्वन् वै यतिराट् वरान् ॥ २०२ ॥
तप्तहाटकसादृश्यं सभाद्वादशमंडितम् । महाकायं महातेज शाम्यरूपमनौपमम् ॥ २०३ ॥
जातरूपधरं धीरमनिमेष निरामयम् । दात सार्वं मनोहार निराभरणभास्वरम् ॥ २०४ ॥
प्रातिहार्यादिभूत्योपलक्षित रागवर्जितम् । वसुचद्रमहादोषवर्जिताग निरौपमम् ॥ २०५ ॥
पद्मासनसमासीनं शतेन्द्रपूजित वरम् । वेदाग्न्यतिशयैर्युक्त कोटिमार्तंडयुतप्रभम् ॥ २०६ ।
तारक हारक शुद्ध सीमंधरं जिनेश्वरम् । ईदृशं सर्ववेत्तार हरिविष्टरसस्थितम् ॥ २०७ ॥

अर्थ—वह सीमंधर स्वामी का समोसरण अतिशय आनद का प्रदाता देवो कर निर्माण किया हुआ और मनुष्योके आवागमन से खचाखच भरा हुआ स्वर्गके समान शोभा देरहा था ॥ २०१ ॥

अर्थ – मुनि कुदकुद स्वामीने समोसरणमें निस्सही निस्सही निस्सही इस प्रकार तीन वार शब्दोको उच्चारण कर जय जय जय शब्दोको बोलकर प्रवेश किया । २०२ ॥

अर्थ—तपाये हुवे सुवर्णके समान देदीप्यमान शरीरको धारण करनेवाले, द्वादश सभासे विभूषित, विशाल काय से मडित, महातेजस्वी, साम्यरूप, अनुपम, जातरूप, (दिगंबर) धीर वीर, नेत्रोके टिमकार रहित रागरहित, दांत, सर्व जीवोके हितकारक, मनोहर, विनाही आभूषणो के सुशोभित, सूर्य सें भी अधिक प्रभावाले, प्राति-हार्यादि विभूतिसे मडित, रागरहित अठारह दोषरहित, निरुपम, पद्मासनं विराजे हुए सौ इन्द्रों से पूजित, चौतीस अ-तिशय युक्त, संसारके तारक, महा मनोज्ञ, परमविशुद्ध, सर्व तत्वोको जाननेवाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनत चतुष्टय मंडित, सिंहासन पर विराजे हुए, शरणार्थी पुरुषोको सुखके करनेवाले, मुक्ति कांताके पति, भव्योको सिद्धि प्रदान करनेवाले,

मा ल्भ्रमचर्यस्थ शंकरं शरणार्थिनाम् । मुक्तिकातावरं सिद्धं भव्याना सिद्धिकारकम् । २०८ ॥
सभाद्वादशगर्भस्थं तत्र सकलनंददम् ॥ सार्द्धत्रिकरदेहाढ्या वेदाननविभूषितम् ॥ २०९ ॥
चतुरंगुलमस्पृष्ट भ्राजमान महोज्वलम् । स मुनि कुंदकुंदाख्यो ददर्श तं मुदान्वित ॥ २१० ॥
ततामध्योर्ध्व अधोद्भ तचिंतो मुनीश्वर ॥ त्रींश्च प्रदक्षिणा भावात् ददौ स्वपापहानये ॥ २११ ॥
कृतार्थं मन्यमान स्व धन्य च प्रभुदर्शनात् । जातोऽस्मि कर्मनिर्मुक्त स मुनिर्मोदनिर्भर ॥ २१२ ॥
साष्टागेन महानदात नत्वा तत्पादपंकजम् । स पुन कर्तुमारेभे स्तव तस्य तदाशये ॥ २१३ ॥

बारह प्रकार की सभाके मध्य विराजे हुए, संपूर्ण जीवो को आनद प्रदान करनेवाले, अपने हाथसे साडे तीन हाथके शरीरकी ऊंचाईको धारण करनेवाले, चार मुखवाले, सिंहासन पर चार अंगुल अतरीक्ष विराजमान, महाउज्वल, परमशात, निर्विकार, ऐसे श्री सीमंधर स्वामीको कुंदकुंद भगवानने देखा ॥ २०३।२०४।२०५।२०६।२०७।२०८।२०९।२१० ॥

अर्थ—मुनिराज श्री कुंदकुंद स्वामी का शरीर ७ हातका था और विदेह क्षेत्रमें पाचसौ धनुष्यका शरीर होनेसे मुनिराज को विचार हुआ कि मै इतने उच्च विशाल कायके मनुष्योके मध्य किस प्रकार प्रदक्षिणा दू । कदाचित किसीके नीचे दब गया तो ? इस विचारसे मुनिराज ऊर्ध्व अधः (नीचे) और मध्य क्षेत्र को देखा फिर उन्होने भावोसे पाप के नाश करनेके लिये तीन प्रदक्षिणा दी ॥ २११ ॥

अर्थ प्रभु श्री सीमंधर स्वामीके दर्शन से अपने को कृतकृत्य मानते हुए मुनिराज कुंदकुंदने अपनेको धन्य माना और हर्षसे प्रफुल्लित होकर अपने को कर्म रहित समझ लिया ॥ २१२

अर्थ—भगवान् श्री सीमंधर स्वामीके चरणकमलोंको महान हर्षसे साष्टाग नमस्कार कर भगवानके गुणोकी प्राप्ति के लिये भक्तिसे प्रभुका स्तवन प्रारंभ किया । २१३ ॥

भव्याम्भोजरवे त्वं हि जय नंद जिनाधिराट् । दयाधीश नमस्तुभ्यं त्राहि मां शरणागतम ॥ २१४ ॥
वीतराग महादेव नमस्तुभ्य चिदात्मने । निर्विकार जिनाधीश पूज्यपाद नमोस्तु ते ॥ २१५ ॥
भवसिंधोर्महावीर तारय तारक प्रभो । त्वदृते क समर्थोस्ति भवदुःखविघातने ॥ २१६ ॥
द्रव्याढ्योऽपिच निर्द्रव्यं करोति स्वात्मसदृश । त्वत्तुल्यं मां जिनादित्य किं न करोषि दीनराट् ॥ २१७ ॥
मिथ्यात्वतमसो नाश कुरु कर्मारिणा विभो । शुद्धरत्नत्रयप्राप्तिर्भवतु तव दर्शनात् ॥ २१८ ॥

अर्थ – हे भव्यकमलोंको प्रकाश करनेके लिये सूर्य ! जयवंत हो । नंद, चिरनंद, हे जिनाधिराट् हे दयाधीश आपको नमस्कार है । हे प्रभो मुझ शरणागतकी रक्षा करो ॥ २१४ ॥

अर्थ — हे वीतराग ! हे महादेव ! हे चिदात्मा सीमंधर स्वामी, आपको नमस्कार है । हे निर्विकार, हे जिनाधीश, हे पूज्यपाद आपको नमस्कार है ॥ २१५ ॥

अर्थः — हे महावीर सीमंधर देव ! हे तारक प्रभो ! मुझे संसारसमुद्रसे पार करो । आपको छोडकर अन्य कोई भी संसारके दुःखोंका नाश करनेके लिये समर्थ नहीं है ॥ २१६ ॥

अर्थः— लोकमें ऐसा देखा जाता है कि धनाढ्य लोग अपनी भक्ति करनेवालेको अपने समान धनवान बनालेते हैं । तो हे प्रभो, हे दीनानाथ । आप मुझ दीनको अपने समान क्यों नही बनाते ? ॥ २१७ ॥

अर्थः— हे विभो ! मिथ्यात्व अंधकारका नाश करो । और कर्मरूपी शत्रुओंका भी नाश करो । हे प्रभो आपके पवित्र दर्शनसे शुद्ध रत्नत्रयकी प्राप्ति हो ॥ २१८ ॥

८

तिष्ठामि चेति सङ्कल्प्याथातिष्ठत् तत्र योगिराट् । तस्मिन्नेव वरे काले चक्री आयातवान् खलु ॥ २३० ॥

वंदनावसरे चक्री दृष्ट्वा तं च करे मुदा । गृहीत्वाऽचिंतयच्चित्ते कोयं कोयमहो खलु ॥ २३१ ॥

नग्नो व कुण्डिकाकेकीपिच्छेन मंडित वरम् । एतादृशो मया कापि न दृष्ट सकलावनौ ॥ २३२ ॥

पुरुषाकारसंयुक्त तुच्छकायोऽपि सुंदर । सन्निवे वीतरागस्य स्थान किं कारण महत ॥ २३३ ॥

मनसि चेति मं गत्वा भूमिराट् स जिनेश्वर । नत्वा स्तुत्वा पुन प्राप्यत् चित्तद्वापरहानये ॥ २३४ ॥

त्रिकालज्ञ दयाधीश कोयं भो भूतभाविवित् । चेदृशोहि मया भूतो नेत्र दृष्ट क्वचिदपि ॥ २३५ ॥

तदेत्थमाह भो चक्रिन् मेघगंभीरया गिरा । शृणु पूर्वं हि यत्प्रोक्त सोस्ति भारतजो मुनि ॥ २३६ ॥

अर्थ—श्री सीमधर स्वामीकी वदना करते समय स्वामी की वेदीके नीचे बैठे हुए कुंदकुंद मुनिको देखकर और कौतुकसे अपने हाथ पर रखकर यह कौन है यह कौन है ? इस प्रकार हर्षसे विचार करने लगा।

अर्थ—मुनिराज कुंदकुंद स्वामीको अपने हाथमें रखकर चक्रवर्तीने विचार किया कि यह नग्न है और कमंडलू तथा मयूर पीछी लिए हुए है। ऐसा जीव तो मैंने सारे संसारमें नही देखा। यह देखो यह पुरुषाकार है परन्तु अत्यंत तुच्छ काय है तो भी देखनेमें परमसुंदर है। यह श्री भगवानके समवसरणमें कहांसे आया ? और यहापर आनेका कारण क्या है ? चक्रवर्तीने ऐसा अपने मनमें विचार कर और श्रीजिनेन्द्रदेव श्रीसीमधर भगवानको नमस्कार कर अपने सदेहको दूर करनेके लिए पूछा ॥ २३२ ॥ २३३ ॥ २३४ ॥

अर्थ—हे त्रिकालज्ञ ! हे दयाधीश हे भूतभाविवित् ! यह मेरे हाथपर रखा हुआ कौनसा प्राणी है। ऐसा प्राणी तो मैंने कभी कहींपर देखा नहीं है ।२३५॥

अर्थ—तब स्वामी सीमंधरने मेघ समान गंभीर वाणीसे कहा कि हे चक्रधर सुन । प्रथम जिसको मैंने

विभोर्वाचमिति श्रुत्वा भूमीशोऽपि तदा मुदा । भक्त्या तत्पादपद्माग्र नत्वा तुष्टो बभूव स ॥ २३७ ॥
मुहुर्निरीक्षण कृत्वा पश्चात्त स्वामिन पुर । मोदेन स्थापयामास तुच्छकायभयात्त च ॥ २३८ ॥
वीतरागमुखोद्गीतामनेकान्तमयीं वराम् । सिद्धातगर्भिता शुद्धा भेदाभेदकरा घनाम् ॥ २३९ ॥
नयभेदप्रयुक्ता च सर्वभाषामयीं तथा । त्रिकालकथका चैव पुरुषार्थप्रपादकाम् ॥ २४० ॥
इत्याद्यनेकभेदाढ्या दिव्यवाणीं च स मुनि । श्रुत्वा हृदि घनानंदमाप तत्समये वरे ॥ २४१ ॥
पुन प्रश्नमिति चक्रे स्वामिन् तीर्थाधिराट् प्रभो । मिथ्यान्धतमोनाशैकदिवामणि कृपाधिराट् ॥ २४२ ॥

दिव्यध्वनि द्वारा धर्मवृद्धि दी थी वही यह भरतक्षेत्रका मुनिराज है ॥ २३६ ॥

अर्थः— भगवान श्री सीमधर स्वामीके वचनोंको सुनकर चक्रधर अतिशय प्रसन्न हुआ । और कुदकुद मुनिके चरणकमलोको वारंवार नमस्कार कर परम हर्षको प्राप्त हुआ । मुनिराजको पुन पुनः (वारवार) निरीक्षण कर और ये अत्यत लघु काय है, गिर पडे तो दब जायगे ऐसे भयसे उसने स्वामीकी वेदीके नीचे हर्षसे रख दिया ॥ २३८ ॥

अर्थः— श्रीवीतराग-परम देव श्रीसीमंधर स्वामीके मुखसे प्रकट हुई, अनेकातमयी, परमोत्कृष्ट, परम सिद्धातके रहस्यको प्रकट करनेवाली, परम विशुद्ध, अनेक भेद प्रभेदोसे विभूषित, नयप्रमाणसे युक्त, समस्तभाषामयी, त्रिकालवर्ती पदार्थोंके स्वरूपको एक साथ प्रत्यक्ष प्रतिभास करनेवाली, परमपुरुषार्थके स्वरूपको यथावत् प्रकाशित करनेवाली समस्त प्रकारके दोषोसे रहित और परम आनदको प्रदान करनेवाली ऐसी (दिव्य ध्वनि रूपी) जिनवाणीको सुनकर वे कुदकुद मुनीश्वर अपने मनमें अत्यंत हर्षको प्राप्त हुए ॥ २३९, २४०, २४१ ॥

अर्थ—कुंदकुंद मुनिराजने फिर नीचे लिखे हुये प्रश्न श्री सीमंधर स्वामी से किये—

हे स्वामिन् । हे तीर्थाधिराट् हे प्रभो हे त्रिकालज्ञ हे मिथ्यात्वांधकारनाशक हे ज्ञानके सूर्य

षण्मते च भविष्यंति भेदा. स्वमतिकल्पिता । ऋतुरंध्रप्रमा भव्य स्वस्वमतस्य नाशका' ॥ २५६ ॥
केचित् भूताश्च पाखंडा । भाविभूताश्च केचन । विप्राहि जैनधर्मस्य करिष्यंति विनाशनम् ॥ २५७ ॥
भो भव्य भ्रातुर्मोहाच्च कृष्णाग्रजन्मना खलु । वलभद्रेण यज्जातमुदतं सकलं शृणु ॥ २५८ ॥
किमनर्थं च मोही न करोति धर्मनाशकम् । मोहेन वहवो नष्टा सत्युक्ता हि मानवा ॥ २५९ ॥
भ्रातुर्विख्यातिसिद्ध्यर्थमिति क्षितौ प्रवचना । कृता च तेन लोकस्य प्रतारणार्थमेव हि ॥ २६० ॥
किं कृत व्योमयानस्थो भूत्वा कृष्णसमं खलु ; सुरूपं सांगनायुक्तं दध्रे नेत्रमनोहरम ॥ २६१ ॥

अर्थ —हे भव्य षट्मतो मे भी अपने अपने मनकी कल्पना से प्रत्येकमें साठ साठ भेद हो जायगें। वे अपने २ मूल मतके नाशक होगे ॥ २५६ ॥

अर्थ—-कितने ही तो पाखंडी होगये । और कितने पाखंड मतको भविष्यमे फैलायेंगे । और ब्राह्मण लोग जैन धर्मका नाश करनेवाले होगे ॥ २५७ ॥

अर्थ—हे भव्य अपने छोटे भाईके मोह मे कृष्णके वडे भाई वलदेव के जीवने जो घोर मिथ्यात्वकी उत्पत्ति की उस नात को श्रवणर कर ॥ २५८ ॥

अर्थ—-मोही मनुष्य धर्मके नाश करनेवाले कितने अनर्थोंको नही करता है । अरे ! मोहके प्रभाव से वडी २ शक्तिके धारक और महान ज्ञानसपन्न मनुष्य भी नष्ट हो जाते है ॥ २५९ ॥

अर्थ—उस वलदेवके मोही जीवने अपने छोटे भाई कृष्णकी प्रसिद्धिके लिये जो प्रपच रच कर संसारको धोखा दिया वह विचारणीय है ॥ २६० ॥

अर्थ—हे भव्य ! वलदेवके जीवने अपने भाईकी प्रसिद्धिके लिये स्वर्ग में से आकर और विमानमें बैठकर

स्वस्य रूप च लोकानामग्रे हि मायया युतम् । दर्शयित्वा पुन सर्वानित्याह सुमतिच्युतान् ॥ २६२ ॥
सर्वशोभासमायुक्त मोहवान स खलु सुर । दर्शयन्नतिशयान् लोके रम्य प्रत्यक्षमजसा ॥ २६३ ॥
शृणु व सकला लोका मद्वाक्य शातदायकम् । एकाग्रचेतसा शुद्ध श्रवणाच्छिवदायकम् । २६४ ॥
अद्य प्रभृ'ततो गर्थ प्रत्यक्षरनेन सस्थित । अस्मिन् लोके पुनश्चाह शृणुध्वं यन्मयोदितम् ॥ २६५ ॥
कलियु स्य द षेण कलौ नास्मिन्न प्रत्यक्षत । मानवा मे स्थितिं नैव अप्रत्यक्षेण निश्चयात् ॥ २६६ ॥
अतो यूयं मा नित्य जप व मकलार्थदम् । पूज्यनाश जगत्पूज्य पूजयध्व च सर्वथा ॥ २६७ ॥

अपना स्वरूप देखने माया (विक्रियासे) मे कृष्णके समान बनाया और वह सुदर स्वरूप स्त्रीसहित और नेत्रों को प्यारा महा मनोहर बनाया ॥ २६१ ॥

अर्थ—उस बलदेवके जीवने कृष्ण के स्वरूपमें (जो मायासे अपना कृष्णका रूप बनाया था) लोकोंके सामने मायापूर्ण दिखलाकर मतिभ्रष्ट जीवोंसे कहा । इसके प्रथम सपूर्ण शोभायुक्त मोही उस बलदेवके जीवने (देवने) समस्त लोगोंको बडे चमत्कार बतलाये जिससे लोग उन चमत्कारों (जो देवने विक्रिया से झूठे किए थे) को सत्य समझकर फस जाय । और प्रत्यक्ष भी अपना स्वरूप दिखलाकर लोगोंको फसानेका प्रपंच किया । इन सब बातोंसे विचारे भोले भाले जीवोंको मिथ्यात्वमें अनत ससार बध कराया और सत्य मार्गसे धोखा दिया । उस बलदेवके जीवने मायामयी कृष्णके रूपसे लोगोंको कहा कि हे जीवलोको ! मेरे वचन सुनो जिससे मोक्षकी प्राप्ति आप लोगोंको होगी । हे लोगो आज तक तो मैं अपना प्रत्यक्ष रूप दिखलाकर सत्यधर्म (जो मोहसे विक्रिया द्वारा कल्पित और महान अनर्थका करनेवाला) प्रकट किया परंतु अबसे मैं प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होऊंगा कलिके दोषसे

भक्तिगगादिगानौवैः यात्रा कुरुथ मे सदा । महते किमपि नास्ति मा कुरुध्वं परा क्रियाम् ॥ २६८ ॥

कर्तास्मि पूर्णब्रह्माहं शंकरोऽस्मि जनार्दन । तारकोऽस्मि नराणा च पालकोऽस्मि धरातले ॥ २६९ ॥

गगाया मृतकस्योच्चै अस्थीनि भो नरोत्तमा । गतिकर्तास्मि सर्वस्य क्षेपणीयानि निश्चयात ॥ २७० ॥

मत्तीर्थे मृतकस्यैव पिंडादिकारा क्रियाम् । करिष्यंति न च तेषा भविष्यत्यसुखं कदा ॥ २७१ ॥

स्नान मर्त्याश्च मत्तीर्थे तर्पण पूजन जपं । करिष्यति भजिष्यति मल्लोक ते . संशय ॥ २७२ ॥

ऐसा होना स्वाभाविक है परतु आप लोग मुझमें विश्वास कर परोक्ष रूपसे मान्यता करें । इसलिए आप मेरा ध्यान करें जप करें और मुझे ईश्वर समझकर पूजन करें । मेरी पूजा करनेसे सपूर्ण सिद्धि प्राप्त होगी । भक्तिसे मेरा गान करें । मेरी यात्रा करें । मुझको छोडकर आप लोग अन्य किसीको नही मानें। जो कुछ करना हो सो सो सब मेरे कहे अनुसार करें ।

अर्थ.— इस धरातलमें मै ही सर्व जगतका कर्ता हू । मै ही पूर्ण ब्रह्म हूं । मै ही शकर हू । मै ही जनार्दन हूं । मैं ही तारक हू । और मै ही मनुष्योका पालक हू ॥ २६९ ॥

अर्थः— मृतक पुरुषोंकी अस्थिया (हाड) गगानदीमें बहानी चाहिये । यो जो ऐसा करेंगे तो मै उनकी सद्गति करूगा ॥ २७० ॥

अर्थः— जो पुरुष मेरे तीर्थमें मृतकोका पिंडदान आदि क्रिया करेगा उसको कभी भी दुःख नहीं होगा ॥ २७१ ॥

अर्थः— जो मनुष्य मेरे तीर्थमें स्नान करेगा, तर्पण करेगा, पूजन करेगा, जप करेगा, मेरा भजन करेगा मैं उसको निःसदेह वैकुठवास करा दूगा ॥ २७२ ॥

पुन. स्वमायया तेन गंगाद्यास्तीर्था स्थापिता । दर्शितातिशयास्तत्र मोहनीयोदयाच्च वै ॥ २७३ ॥
स मोही भ्रातुर्नामाकमयुक्ता सकला महीम् । कृत्वा जगाम स्वस्थान तद्धेतु विद्धि निश्चय त् ॥
तत प्रभृ तित सर्वे मूढलोकोत्कराः खलु । मिथ्यामार्ग च स्वीचक्रुः प्रत्यक्षफलदर्शनात् ॥ २७५ ॥
पतत्येव यथा गर्ते एकोऽपि नर्णको ऊनु । तदनुमारत सर्वे उर्णकास्तत्र निश्चयात् ॥ २७६ ॥
तथा मिथ्यात्वगर्ते हि पतिता प्रतिवर्जिना । एकस्यैव प्रयोगेन मूर्खाणा लक्षण परम् ॥ २७७ ॥

अर्थः— फिर उस बलदेवके जीवने अपनी विक्रिया ऋद्धिसे मायामयी गगादि तीर्थोंका स्वरूप दिखलाकर उनको स्थापित किया और अतिशय दिखलाकर लोगोंको उसकी सत्यता प्रकट की। सच है कि मोहनीय कर्मके उदयसे जीव कितने मायाचार नहीं करता है ? और कितनी प्रवचना नहीं बनाता है २७३ ॥

अर्थ—उस महा मोही और पापी बलदेवके जीवने अपने भाईके मोहसे भाईका नाम समस्त पृथ्वीपर प्रकट किया और फिर वह देव (बलदेवका जीव) अपने स्थानपर गया। हे भव्य (कुन्दकुन्द मुनि), भारतमें मिथ्यात्व तासे ही प्रकट हुआ। तभीसे असत्य एव कल्पित मत (जिसमें जीव हिंसादि पापोंका विचार नहीं है) प्रचलित हुआ ॥ २७४ ॥

अर्थ—हे भव्य तबसे ही मूढ अज्ञानी लोगोने प्रत्यक्ष चमत्कार (देवकी मायामयी विक्रिया) देखकर मिथ्यामार्ग स्वीकार किया ॥ २७५ ॥

अर्थ—हे भव्य जैसे एक भेड गड्ढे में गिर पडे तो बहुतसी भेडें विना विचारे ही उस गड्ढेमें गिर पडती हैं। उसी प्रकार प्रथम किसी भोले वेसमझ मनुष्यको बलदेवके जीवने अपनी विक्रियासे चमत्कार बतलाया उसपर विचार न कर उसको सत्य समझकर उस मिथ्याकल्पित बातको उसने सत्य माना और उसके देखा देखी

पक्तिक्षेत्रेपु सर्वेपु कालदोषप्रभावत । भवन्ति चेदृशा मार्गा मिथ्यात्वसमभृता ॥ २७८ ॥
जिनः मता भव्य ! भवति स्वल्पसंख्यया । मानवाश्चेतरे क्रूरा मिथ्यात्वपालका घना ॥ २७८ ॥
जिनागमस्य शास्त्राणि चाब्धौ सक्षिपितानि ते । दुष्टलोकैः ततो जैन दृश्यन्ते ... ॥ २७९ ॥
वरसेनयतीन्द्रेण रचिता धवलादय । विद्यन्ते नृनं तत्र जैनाशिवपुरे वरे ॥ २८० ॥
मिथ्या वर्धपका भूपा विप्राणा पूजकास्तदा । सर्वलोका तदाधीना अत ... जिनाल्पा ॥ २८२ ॥
अन्य मनुष्योंने विचार न कर उसी बातको स्वीकार किया । इससे समझना चाहिए कि अज्ञानी जीव गतानुगतिक होते हैं । सच बात तो यह है कि मूर्ख जीवोंका यही लक्षण है कि जो बिना विचारे एक के सहारे गमन करें । २७६ ॥ २७७ ॥

अर्थ—भरतक्षेत्रमें काल दोपसे ऐसे ही कुमार्ग उत्पन्न होंगे । जो मिथ्यात्वको बढाएगे और जिनमें सत्यता नही होगी ॥ २७८ ॥

अर्थः— भरतक्षेत्रादि क्षेत्रोंमें पंचम कालके प्रभावसे जैनधर्मके धारक स्वल्प संख्यामें होंगे । परंतु मिथ्यात्व के पालन करनेवाले क्रूर बहुसंख्य मनुष्य होंगे ॥ २७८ ॥

अर्थः - जिनागमके शास्त्रोंको दुष्ट लोग द्वेषके कारण समुद्रोंमें प्रक्षेपण कर देंगे । इसलिये जैनशास्त्र बहुत ही कम संख्यामें देखनेमें आयेंगे ॥ २७९ ॥

अर्थः —श्री आचार्य वर्य श्रीधरसेन मुनीन्द्रके रचाये हुए धवल—जयधवल—महाधवलादि महान ग्रंथ अब भी जैनपुर (मूडविद्री) में विराजमान है ।

अर्थः— महामिथ्यात्वके पोषक ऐसे ब्राह्मणलोगोंके पूजक राजा लोग होगये । राजाके आधीन इतर

वेदकाले नृपा जैनास्तदा प्रजापि तत्समा । तदाहि जैनधर्मोयं चाद्भुतत्वेन दृश्यते ॥ २८३ ॥

प्रतिवर्षं च म्लेच्छानामुदयस्तत्र हानिर्वै । भविष्यति च धर्मस्य प्रकाश कुत्रचिदपि ॥ २८४ ॥

ह्यतीतानागतात् वर्तमानजातसर्ववस्तुत । नि संदेह मुनेश्चित्त चकार स जिनेश्वर । २८५ ॥

पश्चाद्धि चाभवदेवं प्रभोर्ध्वनिर्मनोहर । सिद्धांताना रहस्य चागारयनगारजाः क्रिया । २८६ ॥

अथाप्येनंहि योगीन्द्र सर्वसिद्धांतसूचकान् । ग्रंथाश्च लेखयित्वा वै प्रेषणीयं ततः परम् २८७ ॥

प्रजा होती है सो प्रजा भी राजाके समान ही मिथ्यात्वी ब्राम्हणोकी उपासक वन गई इसलिये जैन मदिर स्वल्पसंख्यामें होते चले गये ॥ २८२ ॥

अर्थः— चौथे कालमें राजा भी जैनी थे और इसी लिये प्रजा भी सब जैनधर्मको धारण करनेवाली थी । इसीकारण उससमय यह धर्म बडी अद्भुत उन्नति करता हुआ दिखलाई पडता था ॥ २८३ ॥

अर्थः— हे भव्य ! भरतक्षेत्रमे पचम कालमें म्लेच्छोका उदय प्रति दिवस बढेगा इसलिये धर्मकी हानि नियमसे होगी । परतु इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्मका लोप हो जायगा । कही २ पर धर्मका महान उज्वल प्रकाश पचम कालके अत पर्यंत नियमसे रहेगा । मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका रूप चतुःसघ रहेगा २८४

अर्थ—इस प्रकार त्रिलोकज्ञ श्रीसीमधर स्वामीने अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा भगवान कुदकुद मुनिके भूत-भविष्य और वर्तमान वस्तुओसे उत्पन्न हुए सर्व सदेह को निवारण किया ॥ २८५ ॥

अर्थ—फिर प्रभु श्रीसीमधर स्वामीकी दिव्यध्वनि सिद्धांतोका रहस्य प्रकट करनेवाली और गृहस्थ-मुनियोंके चारित्रका स्वरूप प्रकट करनेवाली हुई ॥ २८६ ॥

अर्थ—समस्त सिद्धांतके रहस्यको प्रकट करनेवाले सिद्धांत ग्रथ लिखाकर योगीश्वर कुदकुद स्वामीके

इत्याख्य जिनेन्द्रोऽपि घोषमाप दयार्द्रधीः । प्रमोध्वनिमिति श्रुत्वा सर्वे चानंदनिर्भराः । २८८ ॥
समाप्य परमं मोदं सोऽपि योग श्वमस्तदा । तस्थौ तत्र सभास्थाने पठनार्थं समग्रधी ॥ २८९ ॥
एकदा भूमिराट् चक्रे आहारार्थं मुनि प्रति । पुरे वै प्रार्थना स्वामिन् विहारं कुरु पावनम् ॥ २९० ॥
सोऽप्याह त्वं न किं विद्धि अत्रहि योग्यता न मे । न्यादस्य भो नराधीश । श्रुत्वेत्याह पुनश्च स ॥ २९१ ॥
मुने मे कारण ब्रूहि तस्य द्वापरहानये । तदावदत् मुनिरेव शृणु त्व दानवत्सल ॥ २९२ ॥

साथ भेजना चाहिए ।

अर्थ— इस प्रकार श्रीजिनेन्द्र भगवान की घोषणा दिव्यध्वनी के द्वारा श्रवण कर समस्त भव्य जीव आनंद को प्राप्त हुए ॥

अर्थ—भगवान् श्रीसीमधर की दिव्य ध्वनिको सुनकर मुनि कुंदकुंद भी अतिशय आनद को प्राप्त हुए । और ग्रथ पढनेकी इच्छासे गणधरो के समीप सभास्थानमे बैठे ॥ २८९ ॥

अर्थ— एक समय विदेह के चक्रवर्ती ने मुनि कुद कुद से आहार के लिये नगर मे पवित्र विहार करने की प्रार्थना की ॥

अर्थ—मुनि कुदकुद ने कहा कि हे राजन् ! आप क्या नही जानते है कि यहां पर मेरी भोजन पान (आहार ग्रहण करने की) योग्यता ही नही है ॥ २९१ ॥

अर्थ— हे मुनीश्वर ! मेरे सदेहको दूर करने के लिये आप दया कर कहिये कि यहा पर आपकी आहारकी योग्यता क्यो नही है ? मुनि ने कहा कि हे दानवत्सल राजन् इसका कारण सुन ।

मत्क्षेत्रे ह्यधुना रात्रि त्वत्क्षेत्रे ह्यधुना दिवा । भारतजोप्यहं न्यादं कथ कुर्वेऽत्र दोषदम् ॥ २९३ ॥
इत्युत्तरं मुनीन्द्रो हि ददौ तस्मै सहासधी । सोपि चक्री मुनीन्द्रस्य धैर्यं दृष्ट्वा मुद गत ॥२९४॥
प्रशस्य वचनौधैस्त नत्वा स्वस्याकमासवान् । सस्मरन् तद्गुणग्राम शुद्धसम्यक्त्वधारकः ॥ २९५ ।
कुदकुंदयतींद्रोपि प्रभोः पादाब्जषट्पदः । सद्व्रती शुद्धधी वाडमी स्मरवारणसिहम ॥ २९६
पपाठ सर्वसिद्धातसूचकान् सन्निधिः गुरो । ग्रथान् बुद्ध्यनुसारेण जैनमार्गप्रवृद्धये ॥ २४७ ॥

अर्थ— हे राजन् मेरी जन्म भूमि भारत है वहां पर ही यह जिनदीक्षा मैने ग्रहण की है। वहां पर इस समय रात्री है। यद्यपि उस समय यहां पर दिवस है परतु मेरे हिसाव से रात्री है। इसप्रकार मे रात्रिमे भोजन कर नही सक्ता—क्योकि मुनिचर्यामें यह सवसे भारी दूषण है।

अर्थ—इसप्रकार मुनि कुंदकुदने उस चक्रीको आहार ग्रहण नहीं करनेका कारण कहा जिसको सुनकर और मुनीश्वर की धैर्यता को देखकर चक्री परम हर्षको प्राप्त हुआ ॥

अर्थ—फिर सम्यक्त्वके धारक उस चक्रवर्तीने मुनि कुद कुद स्वामी को अपने अक (गोदी) मे रखकर उत्तम वचनो के द्वारा स्तवन किया और उनके गुणो का स्मरण कर नमस्कार किया ॥ २९५ ॥

अर्थ—प्रभुके चरण कमलो में भ्रमर के समान श्रेष्ट व्रतके धारक शुद्ध बुद्धि के धारक वाड्मी और कामदेव रूपी हाथीको वश करनेके लिये सिह समान।

अर्थ–ऐसे उन कुदकुंद मुनिने गुरु गणधरके समीप सिद्धांत ग्रथोंका अध्ययन अपनी बुद्धिके अनुसार जैनमार्गकी वृद्धिके लिये किया।

सप्ताहानि प्रमाणानि भो भव्या धर्मधी क्षमी । वशी दमी तपस्वीच जिनागमप्रकाशक ॥ २९८ ॥
मोदभाक् शुद्धवाक् तत्र निराहारेण स मुनि । तस्थौ हि धर्मवृद्ध्यर्थं पूर्वपुण्योदयात्खलु ॥ २९९ ।
पूर्वपुण्येन जीवाना कार्यसिद्धिश्च सर्वदा । भोभव्या शिवाप्त्यर्थं कुरुध्व पुण्यकारणम् ॥ ३०० ।
पुण्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणामभिषेकपुरस्सरा । पूजा च पात्रदान च तीर्थयात्रादय तप ॥ ३०१ ॥
इत्याद्यनेकभेदा हि पुण्याना सति निश्चयात् । यदिच्छा शिवस्थानस्य कुरुध्व पुण्यसततिम् । ३०२ ॥
विदेहक्षेत्रभूमि क भरतस्याचला क हि । पुण्योदयेन सर्वाच करस्था इव दृश्यते ॥ ३०३
दुर्घट च प्रदूरं च दु प्राप्य वस्तु यत् खलु । तत् सर्वं पुण्यभाजाच स्वयमेवोपजायते ॥ ३०४ ॥

अर्थ-हे भव्य धर्मबुद्धिवाले, इन्द्रियोको वश करनेवाले, महा तपस्वी-शात जितेन्द्रिय-जिनागमके प्रकाशक, परम आनदी विशुद्ध वचनोके कहने वाले ऐसे कुद कुद मुनि वहा पर (विदेह क्षेत्र मे) सात दिवस पर्यंत निराहार रहे। इसमे एक पूर्वभवका पुण्य ही प्रधान कारण है। २९८ । २९९ ।

अर्थ-हे भव्यजीवो पूर्वभवके पुण्य से ही जीवोको समस्त प्रकारके कार्य अनायास ही सिद्ध होजाते है। इस लिये मोक्ष की प्राप्तिके लिये पुण्य कारणो को सपादन करो । ३०० ॥

अथ—हे भव्यजीवो ! श्रीमज्जिनदेवकी पचामृताभिषेक पूर्वक पूजा करना, पात्र में दान देना, तीर्थयात्रा करना, गुरुसेवा करना, जैन धर्म की रक्षा के लिये जैन धर्म के अतरग शत्रुओका नाश करना आदि अनेक कारण पुण्य प्राप्ति के है। जो मोक्ष जानेकी इच्छा है तो पुण्य कार्योंको करो ॥ ३०१ । ३०२ ॥

अर्थ—हे भव्य ! कहा तो विदेह क्षेत्र ? और कहां यह भारत क्षेत्र का धरणीभूषण पर्वत ? कहा श्रीसीमधर तीर्थंकर और कहां पचमकालीन कुदकुद मुनि। परंतु पूर्व पुण्योदय से सब कुछ होता है। जो वात अत्यत दुर्लभ है वह भी

नागा चाश्वा बुद्धेर्योगो रम्याः पुत्रा द्रव्यं धान्यम् । कौशल्यं कौ नित्यं शर्म जायत वै कर्मोद्रेकात् ॥ ३०५

हिरण्यप्राप्तिता तथैव ह्यात्मशुद्धता । गुरुप्रसन्नता तथा निधेर्मनेच मान्यता ॥ ३०६ ॥

विदुषो मैत्री सुस्वनता विधुसमभा धर्मप्राप्तिः सुन्दरदेहश्चास्मिन् लोके सुपुण्य विना नैवाप्ता. स्युः ॥ ३०७ ॥

ज्ञात्वेत्थं भो बुधा नित्यं सर्वशर्मप्रदायकम् ॥ दानपूजाभिषेकाद्यं कुरु च धर्मसंततिम् ॥ ३०८ ॥

स मुनि कुन्दकुन्दाख्यो सत्याचारस्य सूचकम् । प्रशस्य शिवप्राप्त्यर्थं मिथ्यापथविहानये ॥ ३०९ ॥

अपने हाथ पर रखी हुई के समान दीखती है । दुर्घट, दुष्प्राप्य और असमंजस परंतु भी पूर्व पुण्योदयसे सिद्ध होती है ।३०३ । ३०४ ॥

अर्थ—हाथी-घोडे-उत्तमबुद्धि, आज्ञाकारी पुत्र, द्रव्य धन-धान्य-कुशलता और सुख पूर्वपुण्योदय से सर्व प्राप्त होता है । ३०५ ॥

अर्थ—सुवर्णकी प्राप्ति आत्माकी विशुद्धता गुरुकी प्रसन्नता और लोकमें मान्यता यह सब बात पूर्व पुण्योदयसे होती है ॥ ३०६ ॥

अर्थ—विद्वानो से मित्रता, सुस्वरता, चन्द्रसमान कांति, सुंदर देह और धर्मकी प्राप्ति; बिना पुण्यके नहीं होती है ॥ ३०७ ॥

अर्थ—इस प्रकार जानकर हे विज्ञ पुरुषो! सदैव सुख का प्रदान करने वाली और पुण्य की उत्पादिका ऐसी जिनेन्द्र भगवान्की पूजा अभिषेक पूर्वक करनी चाहिये । यह सबसे महान पुण्यका कारण है । ३०८ ।

अर्थ—मिथ्या मार्ग का नाश करने के लिये, और गुरुके बतलाये हुए मार्गकी वृद्धि के लिये सत्याचार के

गुरूपदिष्टमार्गेण कृत्वा स्वहृदि धारणाम् । अथागमनसिद्धयर्थं गतिं चक्रेच शुद्धधीः ॥ ३१० ॥
स्वकरौ कुड्मलीकृत्य त्रिप्रमा वै प्रदक्षिणां । सीमन्धजिनेन्द्रस्य दत्वा संसारहानये ॥ ३११ ॥
वस्त्वङ्गेन पुनर्नत्वा चोत्थाय प्रार्थना वगम् । चक्रे विभोर्हि सान्निध्ये महदानंदसभृत ॥ ३१२ ॥
जिनादित्य जिनाधीश धर्मचक्राधिराट् प्रभो । निर्विकार निरातंक ते पदाब्ज नमाम्यहं ॥ ३१३ ॥
कर्मदावाग्निमेघाय पापाद्रिभजने पवे । भवादुद्धारय वीर मा दीन शरणागतम् ॥ ३१४ ॥
त्वां विना क क्षमो देव दातु मोक्षदं वरम् । तूर्णं च देहि त्रस्तोस्मि भवदु खात् कृपापर ॥ ३१५ ॥

बढानेवाले ग्रथ को मोक्षकी प्राप्तिके लिये गुरु से हृदय में धारण कर कुंदकुंद मुनिने वहांसे अपने देशमें आनेका विचार किया ॥ ३०९ ॥ ३१० ॥

अर्थ—उस समय कुंदकुंद मुनिने अपने दोनो हाथोको कुड्मलाकार (कमलाकार) बनाकर अपने भालपर रखा और भक्तिसे सीमधर प्रभुको तीन प्रदक्षिणा दी। अष्टांग नमस्कार कर और प्रभुके सामने खडे होकर महान आनंदके साथ प्रार्थना की। ३११ । ३१२ ॥

अर्थ— हे जिनसूर्य ! हे जिनाधीश ! हे धर्मचक्राधिराट हे निर्विकार हे निरातंक हे पापाद्रिभजकपवे पापरूपी पर्वतको नाश करनेके लिए वज्रके समान, हे वीर, आपके चरणकमलको नमस्कार है। मुझ दीन शरणागतका संसारसमुद्रसे उद्धार करो ॥ ३१४ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र आपके विना मोक्षपद देनेको कौन समर्थ है। इसलिए हे कृपापर भवके दुःखोसे मुझे छुडाओ ।

रागद्वेषादिषु मग्ना ह्येते सर्वे दयोज्झिता । कापट्यपूरिता देवा सावराः सांगनाः खलाः ॥ ३१६ ॥
तस्करा धर्मरत्नस्य चानंतभवदायकाः । भवाब्धितारका न स्युः तेहि मग्नाः परान् कथम् ॥ ३१७ ॥
तारकस्त्वं हि लोकेस्मिन् नान्यो देवश्च नास्ति वै । वीतरागादृते जीवा नो तरंति कचिदपि ॥ ३१८ ॥
आशिवं ते सदा भक्तिरस्तु मे चेतसि सदा । शुद्धदृग्ज्ञानवृत्तस्य प्राप्ति पुरुषार्थदा वरा ॥ ३१९ ॥
आराधनाविधानेन मरण कर्मनाशदम् । चित्तशुद्धि जिनाधीश जिनचंद्र भवापहा ॥ ३२० ॥
भट्टारक गुणाधीश चानंतगुणसागर । पूज्य पूज्येश तीर्थेश नमोऽस्तु तव प्रभो (?) ॥ ३२१ ॥

अर्थ—ये मिथ्यात्वी पाखंडी देव रागद्वेषसे पूर्ण दयासे रहित धर्मरत्नके चोर अनंतभवके वर्द्धक—महान पापाचारी, स्त्री परिग्रह और पापारंभसहित और भी अनेक दूषण सहित, ससारसमुद्रसे कैसे तार सक्ते हैं। जो स्वंय ससारसमुद्रमें डूब रहे हैं वे दूसरोंको क्या तार सकते हैं॥ ३१६, ३१७ ॥

अर्थ—हे सीमंधरस्वामिन् आप ही ससारके तारक हो। आपके सिवाय अन्य किसी भी देव मे यह शक्ति नहीं है। वीतराग अरहत भगवान को छोडकर अन्य देवों में ससारसमुद्र से तारने की कभी भी शक्ति नहीं है। ३१८

अर्थ—हे प्रभो आपकी मुझे यही शुभ-आशीर्वाद हो कि मेरे चित्तमें आपकी भक्तिभावना निरतर बनी रहे। परमपुरुषार्थको प्रदान करने वाली—शुद्ध दर्शन-शुद्धज्ञान-और शुद्ध चारित्रकी प्राप्ति भी सदैव बनी रहे ॥३१९॥

अर्थ-हे जिनाधीश आराधनाकी विधिसे कर्मोंका नाश करनेवाला मेरा उत्तम मरण हो, मेरा मन सदैव पवित्र और सरल बना रहे जिससे मैं ससारका नाश कर सकूं ॥ ३२० ॥

अर्थ-हे भट्टारक हे गुणाधीश हे अनंतगुणसागर हे त्रिलोकपूज्य हे तीर्थेश आपके चरणकमलको

सर्वज्ञ सर्वदर्शी त्वं सार्वं शांत. शमी दमी । करस्थामलवल्लोकं भवान् पश्यन्नपि प्रभो ॥ ३२२ ॥
तथापि न श्रमस्य चाल्पमात्रापि दृश्यते । भवानत खलु लोके सर्वदर्शी च कथ्यते ॥ ३२३ ॥
ते नमोस्तु विदोषाय चिन्मयाय नमोस्तु ते । गुणभूषाय ते वीर मे नमोस्तु सदात्मने ॥ ३२४ ॥
ते नमोस्तु विमानाय विरागाय नमोस्तु ते । भक्तिभव्यजन्तूनानां तारकाय नमोस्तु ते ॥ ३२५ ॥
मात्सर्यमदमुक्ताय शूरवीराय ते नम । आबालब्रह्मरूपाय शिवरूपाय ते नम ॥ ३२६ ॥

नमस्कार है। प्रभो आप सबके जाननेवाले सर्वज्ञ हो—सबके देखनेवाले सर्वदर्शी हो। सबके हित करनेवाले हो। परम शांत हो, जितेन्द्रिय हो, मनको वश करने वाले हो। आप समस्त जगतके त्रिकालवर्ती पदार्थोंको और उनकी अनंतानंत पर्यायोंको एक साथ ही हाथके आंवलेके समान प्रत्यक्ष अवलोकन करते हो तो भी आपको रंचमात्र भी श्रम नहीं होता है। इस प्रकारकी अद्भुत शक्तिसे ही आपको सर्वदर्शी कहते है। ३२१ । ३२२ । ३२३ ॥

अर्थ—हे भगवन् आप दोषरहित है इसलिए नमस्कार है। चिद्रूप स्वरूप भगवन् आपको नमस्कार है। गुणोंके भूषण आपको नमस्कार है। हे वीर शुद्धात्मन् आपको नमस्कार है। हे प्रभो मानरहित-परम वीतराग—आपके लिए नमस्कार है। हे प्रभो आप भक्तिमान जीवोंको संसारसमुद्रसे तारनेवाले हो इसलिए आपको नमस्कार है। हे प्रभो आपमें मात्सर्य नहीं है। अभिमान नही है। क्रोध नहीं है। विकार नही है इसलिये नमस्कार है। हे प्रभो आप शूर हैं, परम वीर हैं, आबाल ब्रह्मरूप हैं। शिवस्वरूप है, योगीश्वर हैं इसलिये नमस्कार है। ३२४, ३२५, ३२६.

भूयुर्भे ते गुणा॰ सर्वे चात्मनि मोहकर्मण । नाशो वै स्मरभूपस्य नैरोग्यं सर्वदा तनौ ॥ ३२७ ॥
स्वर्गराज्यस्य वाछा न मे हृदि सर्वदा प्रभो । त्वं तिष्ठ नास्ति किंतु वै सर्वपापाश्रितोऽद ॥ ३२८ ॥
पुनर्भूयात् प्रभो स्वामिन् दर्शनं ते मनोहरम् । त्वदाधीनं कुरु मेह्रि ते नमोस्तु जिनेश्वर ॥ ३२९ ॥
स पुनर्जिनपादाब्ज मुहुर्नत्वा गणाधिपान् । सर्वयोगीश्वरान् भक्त्या लेभे तदाशिषो मुनि ॥ ३३० ॥
गृहीत्वा तै प्रदत्तानि पुस्तकानि यतीश्वर॰ । धर्मार्थं न च शर्मार्थं सिद्धांतसूचकानि वै ॥ ३३१ ॥
प्रयत्नेन विमाने हि धृत्वा चारुह्य तौ सह । तस्माद्धि चाभ्रमार्गेण चचालामदमोदभृत् ॥ ३३२ ॥

हे प्रभो ! उपर्युक्त आपके समस्त गुण मेरी आत्माको प्राप्त हो । तथा इस कामके राजा दुष्ट मोहनीय कर्मका नाश हो । मेरे शरीरकी निरोगता हो । जिससे मैं तपश्चरण कर रत्नत्रयकी प्राप्ति करू।

हे प्रभो ! स्वर्गके राज्यकी प्राप्ति हो मेरे मनमें ऐसी इच्छा नहीं है। किंतु हे प्रभो ! आप सदैव मेरे मनमें वास करें एक यही मेरी इच्छा है। जिससे मै अपने पापोंका नाश कर सकू ।

हे प्रभो अब एक यह प्रार्थना है कि आपका परम पवित्र दर्शन पुनः पुनः हो। और मुझको अब अपने आधीन रखिये। हे जिनराज ! आपको नमस्कार है।

इस प्रकार मुनि कुंदकुंदने बडी भक्तिसे वार २ श्री सीमंधर स्वामीके चरणकमलोंको नमस्कार कर, और गणधर देव तथा अपर समस्त मुनीश्वरोको नमस्कार कर उनकी शुभ आशिषको तथा यतीश्वरोके द्वारा प्रदान किये हुए सिद्धांतके ग्रंथोको ग्रहण कर और प्रयत्नसे विमानमें बैठकर उन देवोके साथ आकाश मार्गसे अत्यंत हर्षपूर्वक विहार किया ॥ ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३१. ३३२ ॥

क्षणेन तौ मुनींद्र त तत्स्थाने चित्तनददम् । स्थापयित्वा प्रणम्योच्चैर्लब्ध्वा तदाशिषं मुदा ॥ ३३३ ॥
प्राप्याज्ञा पुन स्वस्थाने गतौ तद्गुणचिंतकौ । सम्यग्दृग्धारकौ मित्रे परोपकारकारकौ ॥ ३३४ ॥
पश्चाच्छ्रीकुंदकुंदाख्यो धराया सकलार्थवित् । लेखवारप्रपूज्यत्वात् विख्यातत्वं च जातवान् ॥ ३३५ ॥
सर्वमिथ्यात्वदावाग्निर्जैनसिद्धांतवारिणा । शम चकार सर्वत्र स भव्यः शुभबोधक ॥ ३३६ ॥
तदोपदेशमासाद्य तदा भव्याः सुखाप्तये । दानं वा पूजन यात्रामभिषेकादिमत्क्रियाम् ॥ ३३७ ॥
जिनदेवस्य बिंबाना प्रतिष्ठाच मनोहराम् । श्रीमज्जिनालयस्यापि जीर्णस्योद्धारणं तथा ॥ ३३८ ॥

अर्थः— उन दोनो देवोंने मुनीश्वर कुंदकुंदको, चित्तको आनंदप्रद ऐसे उनके स्थानमें पहुचाकर उनको बडी भक्तिसे नमस्कार किया तब मुनीश्वरने उनको धर्मवृद्धि रूप आशिर्वाद दिया उसको ग्रहण कर और मुनीश्वरोंके गुणोका स्मरण करते हुए सम्यग्दर्शनके धारक-परोपकार करनेवाले वे दोनों देव अपने स्थानको गये ॥ ३३३, ३३४ ॥

अर्थ – उसके बाद श्री कुंदकुंद स्वामी इस पृथ्वीतलमें-समस्त पदार्थों के जानने वाले देवोंसे पूजित सर्वत्र प्रसिद्ध होगये ॥ ३३५ ॥

अर्थ—उसके बाद प्रचंड ज्ञानके धारक श्री कुंदकुंद मुनीश्वरने सर्व प्रकार की मिथ्यात्व रूपी अग्निका जैनसिद्धांतरूपी जलसे नाश किया ॥ ३३६ ॥

अर्थ—भगवान् कुंदकुंद मुनीश्वर के उपदेश के प्रभावसे कितने ही भव्यजीव सुखकी प्राप्ति के लिये मुनि आर्यिका आदि सत् पात्रो में दान करने लगे । श्री अरहंत भगवान् की पूजा करने लगे । और विवाहादि श्रेष्ठ क्रियाओको यथागम पालने लगे । अपरिमित धनादिक के व्ययके द्वारा श्रीमज्जिनेन्द्र के बिंबों की प्रतिष्ठा और

चक्रुः इत्यादि ते सर्वे महदानदनिर्भरा । तदा जैनेन्द्रधर्मस्योद्योतश्च अभवन् महान् ॥ ३३९ ॥
धर्मस्योद्धारणं तेन कृतं चास्मिन् कलौ खलु । जयत्वसौ मुनीन्द्रो वै मोहमातंगकेशरी ॥ ३४० ॥
तदातिशयमावीक्ष्य बुधा केचिच्च तत्क्षणे । त्यक्त्वा संसारजं सौख्यं जगृहुर्मुनिसंयमं ॥ ३४१ ॥
नंद्याद्यास्तस्य संजाताः शिष्या बुद्ध्यब्धिपारगाः ॥ संबोधार्थं चतुर्दिक्षु भव्याना तानसौ मुनि ॥ ३४२ ॥
प्राहिणोत्तेपि चानम्य गुरो पादौ जगन्नुतौ । प्रकट जिनधर्मं हि चक्रु सर्वे मुनीश्वरा. ॥ ३४३ ॥
तदाहि प्रकटो वासीत् जिनधर्म क्षितौ खलु । सिद्धातान् प्रकटं चक्रे पुनः सोपि यतीश्वर ॥ ३४४ ॥

महान् उत्सव कराने लगे । प्राचीन जिनमंदिरो का जीर्णोद्धार करने लगे । और रथोत्सव आदि विविध प्रकारके उत्सव करने लगे । व्रत तपादिकोके द्वारा जिनधर्मकी प्रभावना बढाने लगे । इस प्रकार श्री कुदकुंद मुनीश्वर के प्रभावसे जैन धर्मकी महिमा अतिशय प्रकट हुई । यो कहना चाहिये कि उस समय का ही उद्धार मुनीश्वर ने करादिया । ऐसे दिव्य महिमाके धारक स्वामी कुदकुद मुनि जगत्में सदैव जयवत रहो ॥ ३३७ । ३३८ । ३३९ ॥ ३४० ॥

अर्थ– उस समय कितने ही भव्यजीवोने उनके सदुपदेशसे ससार की विचित्र दशाका विचार कर मुनिदीक्षा धारण की ॥ ३४१ ॥

अर्थ–श्री कुदकुंद मुनीश्वरके मुख्य नंद्यादि शिष्य हुए जो बुद्धिमें बडे पारगामी थे । उनको मुनीश्वरने भव्यजीवोके सबोधन करनेके लिये पृथ्वीतलमें भ्रमण कराया और सर्वत्र जैन धर्मकी स्थापना कराई ॥ ३४२ ॥

अर्थ– शिष्योने अपने गुरुके पवित्र चरण कमलोको नमस्कार कर सर्वत्र जिनधर्मका प्रचार किया ॥ ३४३ ॥

अर्थ–उस समय समस्त ससारमें जिन धर्म प्रकट हुआ । और उन्होंने जिनसिद्धान्त ग्रंथोको प्रकट किया ॥ ३४४ ॥

अते समयमारं च नाटकं च शिवार्थदम् । पंचास्तिकायनामाढ्य वीरवाचोपसंहिताः ॥ ३४५ ॥
आद्य प्रवचन चैव अत्यस्थं सारसंज्ञकम् । संबोधार्थं च भव्याना चक्रे सत्यपदार्थदम् ॥ ३४६ ॥
यत्याचाराभिध ग्रथ श्रावकाचारमजसा । ध्यानग्रथ क्रियापाठ प्रत्याख्यानादिसद्विधीन् ॥ ३४७ ॥
प्रतिघनाहोनाशार्थं प्रतिक्रमणसंयुत । मुनीनाच गृहस्थाना चक्रे सामायिक तदा ॥ ३४८ ॥
जिनेन्द्रस्नानपाठं च स्नपनार्थं जिनस्य वै । यस्याकरणमात्रेण प्राप्नुवति सुरै प्लवम् ॥ ३४९ ॥
प्रभूणा पूजन चापि तेषा गुणविभूषितम् । स्तवन चित्तरोधार्थं रचयामास स मुनि ॥ ३५० ॥
पूजाविधिस्तथा स्नानविधिर्विस्तारत खलु । ग्रथेषु निर्मितस्तेन सर्वभूतहितासये ॥ ३५१ ॥
इत्यादिमकथान् ग्रथान् चेलकातसुधर्ममाक् करिष्यति प्रभावार्थं जनधर्मस्य धर्मधी ॥ ३५२ ॥

अर्थ—श्रीकुंदकुंद मुनीश्वरने समयसार ग्रथ अतमें बनाया। चौरासी पाहुड ग्रथोकी रचना की । सबसे प्रथम प्रवचनसार बनाया जिसमे भव्योका आत्माका सत्य २ ज्ञान होता है। एक श्रावकाचार भी ग्रंथ बनाया। भगवान कुदकुंद स्वामीने विदेहमें यत्याचार और सर्व सिद्धांत ग्रथोका अध्ययन किया था तदनुसार उस यत्याचार की तथा गृहस्थोके आचार की प्ररूपणा करनेवाले श्रावकाचारकी रचना की । प्रतिक्रमण—और क्रिया पाठ ग्रथ निर्माण किया । मुनि और श्रावकोके पापोकी शांतिके लिये वह प्रतिक्रमण और सामायिक पाठ बनाया । अभिषेक पाठ बनाया । जिससे प्रभुका अभिषेक करनेमे महा पुण्य की प्राप्ति हो । विस्तार से अर्हत भगवानकी पूजा करनेकी विधिका ग्रथ बनाया । स्तोत्रो की रचना की । जिनमे प्रभुके अनेक गद्य पद्य सुरस स्तवन थे। जिनसे मनका निरोध हो ऐसे ध्यानके ग्रथ बनाये ।

इत्यादि बहुतसे ग्रंथ बनाये । मुनिधर्मके प्रकाश करने वाले ग्रंथ भी बनाये । जिससे श्री जिनेंद्रके धर्मकी

स यतीन्द्र स्वधर्मवृद्धयर्थं विहारं च करिष्यति । तदावनौ नराधीश भव्यबोधार्थमञ्जसा ॥ ३५३ ॥
भव्यान् संबोधयन् धर्मं देशनाभानुना कौ । मिथ्यांधतमसं सैव हनिष्यति भवाब्धितः ॥३५४ ॥
गिरिनारिगिरौ वृत्तं तस्य वक्ष्ये बुधोत्तम शृणुष्व धर्ममार्गस्य वर्द्धकं धर्मिणो मुदा ॥ ३५५ ॥
श्रीनेमिजिनेन्द्रस्य यात्रार्थं स मुनीश्वरः । एकदा धर्मवृद्धयर्थं चकार गमनं सुधी ॥ ३५६ ॥

अपूर्व महिमा प्रकट हुई । जैन धर्मकी प्रभावना हुई, तथा विद्वानोंमें जैन धर्मका चमत्कार हुआ । और जगतमें जैन धर्मकी मान्यता रही ॥३५२॥

अर्थ—हे नराधीश ! कुन्दकुन्द मुनीश्वर धर्मकी सिद्धिके लिये समस्त पृथ्वीमें विहार करेंगे ।

अर्थ—श्रीकुन्दकुन्द स्वामी अपने वचन किरणोंके द्वारा जीवोंमें धर्मका प्रचार करते हुए मिथ्यांधकारका समूल नाश करेंगे और जैन धर्म के द्वारा जगतके जीवोंको संसार से पार करेंगे ॥ ३५४ ॥

अर्थः कुन्दकुन्द स्वामीने श्रीगिरनारि पर्वत पर जो चमत्कार बतलाया था और धर्ममार्गकी वृद्धि की थी उसका वृत्तान्त हे राजन् श्रेणिक श्रवण कर ।

अर्थ—एक दिवस श्री कुंदकुंद स्वामी एक महान संघका निर्माण कर श्री गिरनारी पर्वतपर श्री नेमिनाथ भगवानके निर्वाण भूमिको यात्रा करनेको पधारे ×।

× इस चतुर्विध संघके विषयमें जैन धर्मके अनेक ग्रंथोंमे प्रमाण मिलते हैं । यहां पर दो तीन प्रमाण जो शोलवीं शताब्दीमें बनाए गए हैं एक प्राचीन गुटका से उद्धृत कर नीचे देते हैं । यह गुटका ईडरके प्रसिद्ध भंडारमें श्री संभवनाथके चैत्यालयमें विराजमान है गुटका पर सं० १६०५ लिखा है ।

(त्रैविद्य विद्येश्वर तर्कपट्टेश्वर–सिद्धातप्रकाशक श्री मुनि कुंदकुंद (पद्मनंदी) का शुक्लाचार्य श्वेतांबर साधूके साथ वाद हुआ उसकी गुजराती भाषामें कविता।)

दीली सिंहासन ईश मूलसंघी मुनिराजे। परम पुनीत अजीत पद्मनंदी मुनि गाजे ॥
सघ चतुर्विध सहित गिरनारी आये। ध्वजा ढोल नीशान बाजते भविमन भाये ॥ १ ॥
ताही समय बहु वैभव साथे साथे। स्वेतांबर सघ त्या आवो शुक्लाचार्य साथे ॥
मिथ्याभिमानमा मद माते थइने। पहुच्या गिरिवरपर चउसंघे लइने ॥ २ ॥
मूलसघी मुनि कहे प्रथम अमो पूजा करसुं। तब स्वेतांबर कहे अमो वलि पहला करसुं ॥
यह विधि हुवो विवाद तदा सौ एम बोले। आदि दिगबर धर्म एहने नहि को तोले ॥ ३ ॥
तब स्वेतांबर कहे अमो बडा पहला उपज्या। वली दिगबर .. पाछेथी निपज्या ॥
तब विद्यासागर कहे ग्रथ संभालो आपणा। ... . ॥ ४ ॥
यह विध बहु विवाद हुओ पण कोई न हारे। पद्मनंदी मुनिराय तदा पण ऐम विचारे ॥
शास्त्रवाद नहि यहा तो मंत्रवाद सुखकारे।. . ... ॥ ५ ॥
नेमि जिनेश्वरतणी यक्षिणी गोमुखराणी। ते कहे सो निरधार करो जो निर्मलवाणी ॥
आदि अनादि संघकरी पहेला तमो मानवा। श्रीविद्यासागर कहे और उपाधि जाणवा ॥ ६ ॥
यह विधि विचार निरधार करी यति सूरी सघे। मनमा धरी आनंद पूजवा जिनवर मनरंगे ॥
ममारी अंबिका भुवनवेगे पहोची जई तबे। प्रबल प्रताप पद्मनंदि मुनिवर कहे ते हवे ॥ ७ ॥

भो स्वेताबर साभलो जग अबा पूछो जई । विद्यासागर गुरु कहे फिर मनमें बहु दुरसई ॥ ८ ॥
आदि दिगंबर धर्म अवर कही उपाधि । जो कहो तो बोलावो देवी आराधी ॥
तव मुनिवर धीर वीर थई मदिरमा पेठा । पद्मवदन मुनि पद्मनंदि पद्मासन बेठा ॥ ९ ॥
तर्जी मान ध्यान धीर धरे चिते मुनिवर तदा । श्रीविद्यासागर कहे अबा प्रकटी हवे तदा ॥
सुदर सुदर रूप धरी शृंगार बनावी । पद्मनदी मुनिराय शीक महातपथी आवी ।
सकलपघसु कहे श्रावका अविचल एवुं । आदि अनादि धर्म दिगंबर छे एवुं कहेवुं ॥ ११ ॥
यह त्रिक वचने कहु अविका अति उजलु । श्रीविद्यासागर कहे सर्व सघे तवे साभल्यु ॥ १२ ॥
लज्जित थईने तवे स्वेताबर त्याथी नाठो । सर्व सभा माहि वलि तेने खाधो चाटो ॥
तव मुनिवर धरि धीर नेमि जिनभुवने आव्या मुनिवरना गीत तदा सौ मगल बहु गाव्या ॥ १३ ॥
संघ तवे अतिप्रचुर वाजित्र वहु हर्षे बाजे । नादे गडगडे भरीया गिरि अंबर गाजे ।
बिरद भाट बोले भला जय जय सुर उचरे । मूलसंघ तिह समे अतिप्रमोद मनमा धरे ॥ १४ ॥
आदि दिगबर धर्म सत्य स्वेताबरे जाण्यो । पाछलथी भयो श्वेताबर एवु सहु मान्यो ॥
सकल संघ सणगार सारस्वत गच्छ भुमावो । बलात्कार गण सार अपार महिमा सौ गायो ॥ १५ ॥

एवुं भला सहु जण कही बहुप्रकारे स्तुति करी ।
श्रीविद्यासागर गुरु कहे दिगंबर कीर्ति विस्तरी ॥ १६ ॥

धन्य धन्य दिगबर धर्म धन्य गिरिवर गिरनारी । यदुवशी जगपति धन्य श्रीनेमिकुमार ॥
यक्षिणी जग अबा धन्य अनुपम देवी । पद्मनंदि मुनि धन्य वाणी अमृतसम छे जेवी ॥ १७ ॥

साकं नस्य (तेन) घना भव्या प्रचेलु सागना खलु। मुन्यर्यिकाश्च यात्रार्थं भवभ्रमणहानये ॥ ३५७ ॥
तस्मिन् चतुर्विधे सघे दिगम्बरधरा नरा। सप्तशतप्रमा ज्ञेया मुनयो बुधसत्तमैः। ३५८।
द्विगुण. गार्गिकास्तस्मात् ह्येकसाटी परिग्रहा। तपसा कृशगात्रा॥ ज्ञेया तत्वविदावरैः॥ ३५९॥

अर्थ—मुनि कुंदकुंद स्वामीके साथ बहुत से भव्य श्रावकगण, अनेक श्राविकाए—मुनि और आर्यिकाएं यात्राके लिये चले॥ ३५७॥

उन्हीं—उन कुंदकुंद स्वामीके चतुर्विध संघमें ७०० सातसौ निर्ग्रंथ दिगंबर जैन मुद्राके धारक मुनि थे। एक साडी मात्र परिग्रहको धारण करनेवाली, तपके द्वारा शरीरकी क्षीणता को प्रकट करनेवाली, और तत्वोको

(टीप)— समकित शोभता देवी जिनवरतणा प्रकट करी।
विद्यासागर कहे कीर्ति दिगम्बर तणी अति विस्तरी॥
संवत् सौलसोनोम अधिक वेदे कर जाणजो। कार्तिक मासतणो शुभ्र शुभ पक्ष वखाणो॥ १८॥
उत्तम तिथी त्रयोदशी वार रविवार विराजे कारजा वर नगर दिगंबर सिंहनु गाजे॥
चंद्रप्रभ भवने रही अभयनंद मुनिवरे। श्री विद्यासागर कहे रासासा नच उच्चरे॥ १९॥

१—यह कथा एक गुटकामें (जो ऐलक पन्नालाल दि० जैन स० भवन मुम्बई में है।) लिखी है उसकी नकल यहां
॥ ।—

कल सघ सहित श्री गिरनारजीकी यात्रावास्ते चाले, और श्वेताम्बरियोंका संघ भी यात्रा गिरनारजीको गया।
की गणना—चौरासी गच्छके जती १२ हजार, ओसवालादि श्रावक दो लाख बावन हजार और चाकर पियादा
श्री गिरनारजीके नीचे अपने २ सघ मे मुकाम करते भये। तदि श्री कुंदकुंद आचार्यजीका संघ ऊपर चढने

मालासहस्रसंख्याश्च श्राद्धाश्च व्रतपालकाः । द्विगुणा श्राविका ज्ञेयास्तस्मिन् वै वृषमत्तमै ॥ ३६० ॥
एवं चतुर्विधे संघे कुन्दकुन्दो यतीश्वरः । संयुक्तः क्रमतः प्राप्त ऊर्जयन्तवने वरे ॥ ३६१ ॥

जाननेवाली चौदहसौ १४०० आर्यिका थी। व्रतोंको पालन करनेवाले जिनागमके दृढ श्रद्धानी ऐसे पैंतीस हजार ३५००० श्रावक, और ७०००० सत्तर हजार श्राविकायें थी। उन सबके साथ अपने २ नोकर चाकर सिपाई पयादे तथा सब प्रकारके साधन गाडी घोडे आदि थे । ३५८ । ३५९ । ३६० । ३६१ ॥

लगा । तब स्वेतांबर लोगोंका हलकारा अगाडी गमन नहीं करने दिया और कही पहली यात्रा हमारी होवेगी । पीछे तुमारी होगी । यह समाचार सुनकर सब ही पाछा आय गया और आचार्यसो विनती करी । हे नाथ ! ये स्वेतांबरी बहुत और अपना संघ थोडा सो यात्रा कैसे होयगी ? तदि आचार्य आज्ञा करी तुम उनसे कहो-तुमारे हमारे कुछ बैर तो नहीं । और जो तुम अपने मनका आडंबर राख्या चाहो तो अखवरू आवो । जो जीतेगा पहलो यात्रा करेगा । अब यात्रा तुम भी नहीं करोगे । ऐसा वचन होता थका दोनों संघका वाद ठहर गया । जो जीत सो यात्रा पहली करणी । दिगंबरियोंके स्वामी कुंदकुंदाचार्य और स्वेतांबरियोंके मालिक शुक्लाचार्यजी । सो इनके कितने ही दिन तक वादविवाद हुआ । एक दिन शुक्लाचार्यजीने मंत्रप्रयोगसे कुंदकुंद स्वामीका कमंडलमें मच्छी कर दीनी । और संन्यासू कोई नाहिं नहीं—ये मुनी है परंतु इनका आचरण धीवरकासा है। ऐसी बात सुणके कोई श्रावक कही स्वामी कमंडलुमें काई छे । स्वामी नहीं कमंडलुमें कमलके फूल है। स्वामी दिखावो-सो कमंडलु ओंधो कर्यो सो कमलके ढेर होगये ; और स्वामीका चौथा नाम पद्मनंदी (कमल—पद्मके आनंदी) प्रकट हुआ । कुंदकुंदाचार्यने शुक्लाचार्यके वस्त्र सब उडा दिये और सब जती लोगोंके बैटना और वस्त्र उडा दिये । सबको नग्न कर दिया । चादर नीचे और पींछी ऊपर । इस तरह चादर चादरपर पीच्छिका होगई । चादरके ताई पीछी छूटने लगी । और यती लोग रोने लगे । ऐसा चमत्कार स्वामी बतलाया । तब श्वेतांबर बोले कि ऐसी धूर्तविद्यासे वाद नहीं होता

स्वस्वस्थाने स्थितिं चक्रुः तेहि तद्दर्शनोत्सुका । मार्गस्य श्रपनाशार्थं शृणुध्वमपरा कथाम् ॥ ३६२ ॥

तत्रैव नेमियात्रार्थं सघो वै श्वेतवाससाम् । महान् ड्मिभेन संपन्न आगतश्च नवोदयः ॥ ३६३ ॥

अर्थ—समस्त संघने अपने अपने डेरा लगाकर गिरनार पर्वतकी तलहटीमें मार्गश्रमको दूर करनेके लिये निवास किया । इतनेमें वहांपर एक दूसरी कथा हुई वह श्रवण करना चाहिये । ३६२ ॥

अर्थ—वहांपर (श्री गिरनारी पर्वतकी ततहटीमें) श्री नेमिनाथ भगवानकी यात्रा के लिये श्वेतांबरियोंका एक नवीन महान संघ बडे आडंबरके साथ आया ॥ ३६३ ॥

है । अव हम कहते हैं कि ये पाषाणमई सरस्वती की प्रतिमा है । यह अपने मुंहसे कहे सोई प्रथम यात्रा करे । तब शुक्लाचार्यने अनेक प्रयत्न किये, प्रतिमा नहीं बोली । तद स्वामी आय कमंडलु पिच्छिका हाथमें लेकर श्रीसीमंधर स्वामीको नमस्कार कर के पीच्छिका सरस्वतीके शिर पर धरी । आप प्रकट कहते भये कि हे देवि ! अब तुम सत्य वचन का प्रकाश करो । तब देवी गर्जना रूप तीन बोल प्रकट बोली “आदि दिगंबर ! आदि दिगंबर ! आदि दिगंबर !! गर्भका बालकनत है चिन्ह जाके ।” तदि दिगंबर सप्रदाय सत्यरूप प्रतीति भई । श्वेतांबर फिर उस प्रतिमाको बुलवाना शुरू किया । तदि देवी कही तुम बारह वर्ष तक भी झगडा करो । हमने एक सत्य था सो ही कहा । तब श्वेतांबरोंमेंके सैकडों शिष्य भये । और प्रथम यात्रा श्रीकुंदकुंदाचार्यका संघ करता भया । और श्रीगिरनारी पर्वतपर जिन मंदिर की प्रतिष्ठा सबसे प्रथम हुई । तदि मूलसंघ —बलात्कार गण–श्रीकुंदकुंदाम्नाय (वंश) प्रकट हुआ । बडे शिष्य नंदी मुनिराजके ताई आचार्य पद दिया । सो उनकी आम्नाय आजतक प्रसिद्ध है । आचार्य कुंदकुंद स्वामीने अनादि कालसे प्रचलित सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप यज्ञोपवीत विधान सर्वत्र प्रकाशित किया और जैन धर्मकी प्रभावना प्रकट की । अतमें आप वारा नगरमें आये और एकमास प्रथमही निमित्त ज्ञानसे अपना मरणका निश्चय कर संन्यास धारण किया और पांचवे स्वर्गमें देव हुए ।

तस्मिन् संघे बुधैर्ज्ञेया दंडपात्रविमंडिताः । शुक्लाशुकधरा वृद्धा यतयो नामतो मता· ॥ ३६४ ॥
यक्षव्यंतरदेवीनां साधने एव चचव· । खबेदकरसंख्याढ्या पोषका स्वतनो रसैः । ३६५ ॥
तदाज्ञापालका ज्ञेया द्विलक्षप्रममानवाः । धनोत्करधराः तस्मिन बुधैस्तत्त्वार्थवेदिभि ॥ ३६६ ॥
नानानिशयसंपन्ना यतयस्ते मदोद्धता । ख्यापयन्तो मत स्वस्य दर्शयत् विभव महान् (?) ॥ ३६७ ॥
एवं सकलसंघेन गिरनारिवने शुभे । वासं चक्रुश्च तत्रोर्मानाद्रिशिरसि स्थिता· ॥ ३६८ ॥
पूर्वागतश्च य. संघ पूजयित्वा जिनेश्वरान् । कुंदकुंदयतीन्द्रं त ह्यग्रे कृत्वा चचाल स ॥ ३६९ ॥
गानवाद्यादिसद्घोषान् कुर्वन् नृत्यादिसत्कला । सघलोकाश्च ते चेलु संघस्याग्रे मुदान्विता ॥ ३७० ॥

अर्थ —स्वेतांबर संघमें दंड और पात्रोंसे सुसज्जित और सफेद वस्त्र धारण करनेवाले वहुतसे यती थे परतु उनमें यतियोका एक भी गुण नही था—नाम मात्रके वे यती थे । ३६४ ॥

अर्थ—वे स्वेतांबर यती केवल यक्ष-यक्षिणियो के आराधक, अपने शरीरके पोषण करनेमें ही दत्तचित्त ऐसे दोसौ चालीस थे । ३६५ ॥

अर्थ—उस स्वेतांबर सघमें उन यतियोकी आज्ञा पालन करनेवाले दो लाख श्रावक थे जो धनके मदमें मस्त थे । ३६६ ॥

अर्थ—स्वेतांबर साधु अनेक अतिशयो (चमत्कार) से सपन्न और अपने मंत्र तंत्रके मदसे मदोद्धत थे जो अपने मतकी प्रसिद्धि श्रावकों का वैभव दिखलाकर करते थे । इस प्रकार श्वेतांवर संघ गिरनारीके शुभ वनमें आकर वास करने लगा । उन लोगोंको अपना वडा घमड था ॥ ३६७ । ३६८ ॥

अर्थ—सबसे प्रथम आया हुआ श्रीकुंदकुंद भगवान का संघ, नगर (जूनागड) के मंदिरों की पूजा कर

न्यषेधि समये तस्मिन् श्वेतवासधरैः खलैः । पूर्वं यात्रा करिष्याम वयमस्य च सोद्धत ॥ ३७१ ॥
अस्मक सर्वत पूर्वो मत सकलविश्रुत । अत. सर्वेषु वृद्धाश्च वयं नान्ये धरातले ॥ ३७२ ॥
इत्युद्धतमया वाचं श्रुत्वाच श्रावकास्तदा । नत्वा गणपति तथा तूर्णमागत्य तत्र वै ॥ ३७३ ॥
या श्रुता कथिता वार्ता तन्मुखात् सा मुनीशिन । ताच श्रुत्वा मुनीन्द्रोपि सविचार्य स्वचेतसि ॥ ३७४ ॥
वसुपालाभिव श्राद्धमेकमाहूय तत्क्षणे । शिक्षा दत्वा शुभालापैः प्रषितस्तान् पति तदा ॥ ३७५ ॥

और पर्वत [श्रीगिरनार] पर श्री कुदकुद स्वामीको अग्रेसर बनाकर वंदना करनेके लिये चला। सघमें तीर्थयात्राकी उमंगसे गान वाद्य आदि विविध प्रकार के महोत्सव हो रहे थे ॥ ३६९ । ३७० ॥

अर्थ—उमी समय उन श्वेताम्बर लोगोंने उस दिगम्बर सघको तीर्थयात्रा करने से रोका—और कहा कि सबसे प्रथम हम लोग यात्रा करेंगे। क्यो कि हमारा मत सबमे पूर्वका है—प्राचीन है। हमारे मतकी सर्वत्र प्रसिद्धि है। इस लिये सबसे प्रथम यात्रा करनेका हमारा हक्क है। इस प्रकार उद्धत और अनीतिके वचनोको सुनकर कितने ही श्रावक गण शातिसे किसी प्रकार की कलह अपनी तरफ से किये विना ही मोन सहित गणपति कुदकुद स्वामी के समीप आये ॥ ३७१ । ३७२ । ३७३ ॥

अर्थ—श्वेतांबर लोगोसे तीर्थयात्रा रोकनेके विषय मे जो वार्तालाप हुई थी वह [illegible] आचार्य श्री कुंदकुद मुनिको आकर कहदी। उसको सुनकर स्वामीजीने अपने मनमें विचार किया और [illegible] यात्रा पूर्ण हो इस इरादे से आचार्य महाराजने सेठ वसुपाल को सब प्रकार की शिक्षा देकर श्वेताम्बर सघके पास भेजा ॥ ३७४ । ३७५ ॥

सोपि तत्रैव गत्वा च तानाह शृणुथ अहो। समाधिना वचासि मे भो श्वेतवसनाकिता ॥ ३७६ ॥
सत्याख्या सर्वलोकेषु मान्या स्यात् नात्र संशय । वाणीं यूयमपि मत्या वदथ इतरां च मा ॥ ३७७ ॥
विश्रुत चास्ति सर्वत्र दैगंबरमतो ह्ययं। प्रत्यक्ष जिनबिंबेषु यूयं पश्यथ निश्चयात् ॥ ३७८ ॥
नग्न इत्यभिधेय च पूज्य स्य त्सकलेश्वरै। नग्नत्वात् सिद्धस्थानस्य प्राप्ति स्यान्नान्यतः कदा ॥ ३७९ ॥
वृषभादिजिनेन्द्राश्च गृहाश्रमे गता न किम्। मोक्षे तेपि यदा जाता तदा नग्ना सुरै स्तुता ॥ ३८० ॥
वचनाडंबरेणाल सर्वमतशिरोमणिम्। दैगंबरमत यूयं जानीथ निश्चयाच्च भो ॥ ३८१ ॥

अर्थ— उस वसुपाल सेठने श्वेतांबर संघके मुखिया लोगोंसे जाकर कहा कि हे श्वेतांबर भाइयो! जो आप मेरे समाधिके (परस्पर एकताके) वचन सुनिये। संसारमें सत्य बात मान्य होती है और सत्यका ही सर्वत्र विजय होता है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। इसलिए आप भी सत्य २ कहिये मिथ्या कहनेमें कुछ भी लाभ नही है। क्या आप नही जानते हैं कि दिगंबर मत सबसे प्राचीन है। संसारमें सर्वत्र दिगम्बर मतकी प्राचीनता प्रसिद्ध है। यह बात आप लोग जिनबिंबोंको देखकर प्रत्यक्ष निश्चय कर सक्ते है। और समस्त राजागण नग्न दिगम्बरोंकी ही पूजा करते हैं। नग्न होने से ही मोक्षकी प्राप्ति होती है आप ऐसा मानते हैं। यदि नग्न दिगंबर के भेषसे मोक्ष नहीं होती तो वृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकर गृहका परित्याग कर नग्न दिगंबर होकर दीक्षा ग्रहण क्यो करते? वस्त्रादि परिग्रह सहित घरमें ही मोक्षको प्राप्त हो जाते? परंतु जब उन्होने परिग्रहका त्याग किया तब ही देवोंसे पूजित हुए और मोक्षके अधिकारी बने। अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है। संसारमें समस्त सर्वोत्कृष्ट शिरोमणी मत दिगंबर जैनमत है। ऐसा आप समझें। कदाचित् आप अपने मतको ही उत्तम समझते हो और आप

शक्ति स्याद् यदि युष्माक विशेषा वादकर्मणि । तर्हि आगच्छथ यूय तन्निकटे शीघ्रमेवहि ॥ ३८२ ॥
अस्माक चैव युष्माकं वादोस्तु तत्र ये खलु । तत्रैव दर्शन तस्य करिष्यति प्रनिश्चयात् ॥ ३८३ ॥
नेष्यंति तेहि तीर्थस्य पूर्वं वै वादकर्मणि । सज्जा भवथ तस्यार्थमत. श्वेताशुधारका· ॥ ३८४॥
इत्युक्त्वा वसुपालाख्यो क्षोभयित्वाच तान् खलान् । आगत्य सर्ववृत्तात गुरवे समचीकथत् ॥ २८५ ॥
सर्वसघेन सयुक्त कुंदकुदमुनीश्वर ऊर्जयंतसमोपेहि । गत्वाऽस्थाच्च प्रदीप्तवान ॥ ३८६ ॥
तेपि तत्रैव ह्यागत्य तस्थुः वादार्थमेवच । जल्पयंत्येव ते मूर्खाः परस्परमहो तदा ॥ ३८७ ॥

लोगोको अपने मतका अभिमान है तो अपने मतकी प्राचीनता एव उत्कृष्टता सिद्ध करनेके लिये हमारे पूज्य आचार्य कुदकुदस्वामीसे वाद कर निश्चय कर लीजिये। यदि आप लोगो में शक्ति है तो अवश्य ही वादके लिये तैयार होजाओ। इस वादमें जो जीतेगा वही प्रथम यात्रा करेगा—पूजा करेगा और तीर्थकी वदना करेगा। इस लिये अब आप लोगों को अपनी शक्ति गुरु कुदकुंद स्वामीके निकट शीघ्र चलकर प्रकट करनी चाहिये। इस प्रकार निर्णय कर और समस्त श्वेतांबरियोको क्षोभ कर वह वसुपाल अपने संघ में आया और समस्त वृत्तात आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीसे ज्यो का त्यो कह दिया। ३७६ । ३७७ । ३७८ । ३७९ । ३८० । ३८१ । ३८२ । ३८३ । ३८४ । ३८५ ॥

अर्थः—तदनतर मुनि कुन्दकुन्द स्वामी समस्त सघसहित ऊर्जयत (गिरिनार) पर्वत के समीप जाकर वाद के लिये स्थित हुए ॥ ३८६ ॥

अर्थ—उसी समय श्वेताबर सघ के मुखिया लोग अपने आचार्य और यतियोके साथ परस्पर अपने आप ही अपनी महिमाको गाते हुए वाद करनेके लिये वहां पर जहां श्री दिगम्बर जैन सघ कुन्दकुन्द स्वामीके पास बैठा था आये। ३८७॥

क्रियन्मात्रा इमे नग्ना सर्वातिशयवर्जिता । अहमेको हि भो स्वामिन् जेतु हि सकलान् क्षम ॥ ३८८ ॥

एव सर्वे मदोन्मत्ताः तस्मिन्नवसरे खलु । ब्रुवत्येव मन कल्पात् स्व स्व प्रति गुरु खला ॥ ३८९ ॥

तदा सनद्ध वादार्थ प्रयोगै मत्रतत्रमि । अन्यैतिशयैस्तैच आजग्मुर्मुनिसन्निध ॥ ३९० ।

दिशाम्बरगणाच यतिराट् हरिसहश । शुशुभे संघमध्येच परमतेभघातने ॥ ३९१ ॥

शुभ्रदासोघगणाच मध्ये वै वारणोपमः । शुक्लाचार्यतिनाम्नाभात् केवलेनैव नो गुणै ॥ ३९२ ॥

द्वयोस्तत्रैव संजातो वादो वादार्थनदयो । चमत्कारकरो लोके सिंहमातंगतुल्ययो ॥ ३९३ ॥

अर्थ–उसमें से कितने ही यति लोग मिथ्याभिमानमें चूर होकर कहने लगे कि हे स्वामिन् समस्त प्रकार के अतिशय रहित ये नग्न दिगंबर कितने हे ? मैं अकेला ही इन सबको जीतने में समर्थ हूं। ॥ ३८८ ॥

अर्थ––इस प्रकार अपने अभिमानमें मदोन्मत्त वे स्वेतावरी यतिलोग अपना अपना अभिमान अपने २ गुरुओको बतलाते हुए वहांपर आये ॥ ३८९ ॥

अर्थ—उस समय वादकेलिये सुसज्जित होकर, तथा मत्रतन एव अन्य चमत्कार के घमडको प्रकट करते हुये वे मुनिराज कुदकुद स्वामीके समीप आये ॥ ३९० ॥

अर्थ––उस समय दिगबर जैन यतिराट् कुदकुद स्वामी सकल सघके मध्य परमतरूपी हातियोको नाश करनेके लिये सिंहके समान शोभाको प्राप्त होरहे थे ॥ ३९१ ॥

अर्थ––श्वेतांबर मतके मुख्य आचार्य हाथीके समान बलके धारण शुक्लाचार्य नामके यति वाद करनेके लिये तयार हुवे। शुक्लाचार्य नाममात्रके शुक्लाचार्य थे। परतु गुण शुक्लाचार्य नहि थे ॥ ३९२ ॥

अर्थ––शुक्लाचार्य और कुदकुद स्वामीका प्रत्येक शास्त्रमें चमत्कार करनेवाला सिंह और हाथीके समान वाद हुआ । ३९३ ॥

या या प्रश्न वलिस्तेन कृता च स्वामिन प्रति । क्षणेन छेदिता सर्वा मुनिना तेन तत्क्षणे ॥ ३९४ ॥
यथा वार्द्धेन्दुबाणेन अन्यद्बाणोत्करा खलु । क्षणेन क्षयता याति निष्ठुरा देहभेदका ॥ ३९५ ॥
तथा हि मुनिवाक्येन तस्य वचनसतति । क्षयमगात् क्षणेनैव शक्तिमतस्य (?) वै तदा ॥ ३९६ ॥
स तदा निर्जितस्तेन स्याद्वादमतवादिना । चुकोप सावरीयुक्त तस्योपरि सिताशुक ॥ ३९७ ॥
कमडलजले तेन मायया स्वस्य तत्क्षणे । मीनानुजा कृताश्चैव मुनेस्तस्य दयावते ॥ ३९८ ॥

अर्थः - शुक्राचार्यने जो जो प्रश्न आचार्य श्री कुदकुद स्वामीसे किये उनका समाधान स्याद्वाद सप्त भंगीके द्वारा तत्काल ही एक क्षणमात्रमे किया ॥ ३९४ ॥

अर्थः— जिस प्रकार चंद्रबाणसे समस्त बाणोके समूह एक क्षण मात्रमें नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार आचार्य कुंदकुद स्वामीकी सप्तभग स्याद्वाद वाणीसे शुक्राचार्यके समस्त प्रश्न उसी समय क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते थे । सच है शक्तिशाली जीवोकी महिमा ही विलक्षण होती है । प्रभु कुदकुद स्वामी श्वेताम्बर शुक्राचार्यके प्रश्नोका समाधान तत्काल ही क्षणमात्रमें कर देते थे ॥ ३९५ । ३९६ ॥

अर्थः— इस प्रकार समस्त शास्त्रोंके वादविवादमें स्वेतांबर शुक्राचार्य स्याद्वाद विद्यापति श्री कुदकुद स्वामी से हार गया । तब शास्त्रोंके ज्ञानमें अपनी गति न देखकर सांवरी मत्रकी शक्तिके बलसे स्वामीके प्रति क्रोध किया । और मंत्रके चमत्कारके द्वारा स्वामीको परास्त करना चाहा ॥ ३९७ ॥

अर्थः— मत्रकी प्रबल शक्तिसे शुक्राचार्यने परम दयालु—अहिंसा महाव्रतके प्रतिपालक स्वामिके कमंडलूमें मछलियां उत्पन्न कर दी ॥ ३९८ ॥

नेत्रनिमेषतः स्वस्य सेवकाना खलेन वै । दर्शित. स तथा तेपि मुदमापु. खलात्मकाः ॥ ३९९ ॥
मुर्नि प्रत्याह कश्चिन्ना किमस्ति भो मुने तव । कमडलाविति श्रुत्वा स प्रत्याह मुनीश्वर ॥ ४०० ॥
पृच्छ स्वस्वगुरुं त्वच स चादिमतधारकः । मुनेर्वाचमिति श्रुत्वा गुरु पृष्टश्च तेन वै ॥ ४०१ ॥
आचख्यत् मानयोगेन प्रत्यक्षमेव स कुधी । पश्यथ भो नरा यूयमय जीवस्य भक्षक ॥ ४०२ ।
निर्दयस्य एवं श्रुत्वा इत्थ स यतिराट् तदा । नत्वा सीमंधर देवं करे धृत्वा कमडलुम् । ४०३ ॥
अधोमुख चकार तं सर्वेषा सन्निधे खलु । तस्य मानविनाशार्थं जिनधर्मप्रवृद्धये । ४०४ ॥

अर्थ--शुक्लाचार्यने अपने इस चमत्कार को [मछली कमडलमें करदी] अपने शिष्योको नेत्रके इशारेसे बतलाया जिससे वे दुष्ट बडे प्रसन्न हुए ॥ ३९९ ॥

अर्थ—शुक्लाचार्यके उन शिष्यो मेंसे एक मनुष्य ने स्वामीजीको पूछा कि हे मुने आपके कमडलू में क्या है ? इस प्रश्नके उत्तर में स्वामी ने कहा कि तू अपने गुरुसे पूछ । क्यो कि वह आदि मतका धारक सर्वदर्शी है । मुनिके वचनों को सुनकर उसने अपने गुरु शुक्लाचार्य से पुछा ॥ ४००।४०१ ॥

अर्थ—शुक्लाचार्य अपने मंत्रके बलसे कमडलू में मछलियां उत्पन्न हुई समझकर बडे अभिमानके साथ कहने लगा । अरे मनुष्यो! देखो देखो यह मुनिका वेप धारण करने वाला जीवोका भक्षक है (क्योकि इस के कमंडलु में मछली हैं ॥ ४०२ ॥

अर्थ–निर्दयी श्वेताम्बर शुक्लाचार्य के ऐसे दुष्ट वचनोको सुनकर स्वामी कुन्दकुन्द मुनिने सबसे प्रथम श्री सीमधर स्वामीको नमस्कार किया और अपना हाथ अपने कमडलू पर रक्खा । तत्काल ही श्वेतांबर और दिगम्बर संघके समस्त मानव समाजके समक्ष, शुक्लाचार्यका मान मर्दन करनेके लिये और जैनधर्मकी सत्य प्रभावना प्रकट करने

पद्मपुष्पोत्करा. तस्मात् पेतु तस्मिन् क्षणे शुभाः । तेषामामोदतस्तत्र भ्रमराश्चागता खलु ॥ ४०५ ॥
तदातिशयमावीक्ष्य कुदकुंदतपोनिधे । सघलोकाश्च ते सर्वे मुदमापुश्च्युतोपमम् ॥ ४०६ ॥
पद्मनद्यभिधानेन मुनेस्तस्य तदा नरा । इति चक्रुस्तुतिं सर्वे अयं हि सार्थनाममृत ॥ ४०७ ॥
तस्मिन् काले मुनींद्रस्य प्रख्यातिशयदर्शनात् । म्लानवक्त्रास्तदा जाता स्वेतवासोधराश्च ते ॥ ४०८ ॥
पद्मनंदीति सन्नाम्ना स मुनिः समये तदा । आसीद्विख्याततत्र दिगम्बरविभूषितः ॥ ४०९ ॥
पुनस्तत्र तयोरासीत् वाद सकलसाक्षित । शुक्रेन मत्रयोगेन मुने पिच्छि धृता च खे ॥ ४१० ॥

के लिये कुन्दकुन्द स्वामीने वह कमडलु ओधा कर दिया जिससे उस कमडलुके मुख में से पद्म (कमल) के फूलोका ढेर नीचे गिर पडा । जिसकी मनोहर और दिव्य सुगधीसे भोरा आगये । यह अद्भुत चमत्कार देखकर समस्त मानव अतिशय हर्षको प्राप्त हुए । और स्वामी कुन्दकुन्द मुनिके अतिशय से अत्यत आश्चर्यको प्राप्त हुए । समस्त संघमें हर्ष हुआ । उसी समय स्वामीका नाम पद्मनदी प्रसिद्ध किया (क्योकि स्वामीके चमत्कार से कमडलूमें पद्म होगये अतएव पद्मनंदी नाम रखा) और सार्थक इस नामसे ही प्रभुका स्तवन समस्त सघने किया।४०३।४०४।४०५।४०६।४०७॥

अर्थ—उस समय मुनि कुन्दकुन्दका यह लोकोत्तर चमत्कार देखकर समस्त स्वेतांबर लोगोका काला मुख होगया । ४०८ ॥

अर्थ—उस समय कुदकुदस्वामी पद्मनंदीके नाम से समस्त ससारमें प्रसिद्ध होगये । और उनका दिव्य अतिशय भी सर्वत्र प्रकट होगया ॥ ४०९ ॥

फिर भी स्वामी और शुक्राचार्य में मात्रिक वाद हुआ । शुक्राचार्यने अपने मंत्र बलसे स्वामीकी पीछी उडाकर आकाशमें रखदी ॥ ४१० ॥

मुनिना तस्य शुक्लस्य गात्रादुत्तार्य तन वै । वस्त्र तस्य समीपे हि स्थापितं चैव तत्क्षणे ॥ ४११ ॥
एव तत्र महान् वाद संजातश्च द्वयो खलु । सागता स्वामिसान्निध्ये तत्रैव सस्थिताच वै । ४१२ ॥
पुनर्धर्मप्रकाशार्थं तं प्रत्याह यतीश्वर । भो यदि चादिधर्मोस्ति ते तर्हि वचन शृणु । ४१३ ॥
पाषाणनिर्मिता मूर्ति इमा च भारतीं खलु । पकटीकुरु त्व तूर्णं विलम्ब मा भजस्व वै । ४१४ ॥

अर्थ—कुदकुद स्वामीने शुक्लाचार्य श्वेतांबर यतियोके वस्त्र उनके शरीरपर से उडाकर आकाशमें स्थापित कर दिये । और उनको नग्न दिगंबर उसी क्षणमें बना डाला । ४११ ॥

अर्थ—और कुन्दकुन्द स्वामीकी पीछी (जो शुक्लाचार्यने आकाशमें उडाई थी) उनके पास आगई । परन्तु उन दोनोमें परस्पर मात्रिक वादविवाद अतिशय चमत्कारी हुआ । और स्वेताम्बर यतियोके वस्त्र आकाशमें उडा देनेसे (मत्र द्वारा भगवान कुदकुद स्वामीने उडा देनेसे) उनको वडा ही नीचा देखना पडा ॥ ४१२ ॥

अर्थ—फिर भी यतीश्वर कुंदकुंद भगवानने अपने दिगंबर मतकी अतिशय प्रभावना प्रकट करनेके लिए स्वेतांवर यति शुक्लाचार्यसे कहा कि जो तुमारा धर्म आदिका है तो हमारे वचनोको श्रवण करो ॥ ४१३ ॥

अर्थ—हे स्वेतांवर शुक्लाचार्य जो तेरेमें शक्ति है और जो तू अपने धर्मको आदि धर्म मानता है तो यह सामने पर्वत पर (गिरनारी पर्वतपर) पाषाणकी सरस्वती देवीकी मूर्ति है उसको प्रकट कर—उससे ही कहलादे कि कौनसा आदिधर्म है । जो पत्थरकी सरस्वती की मूर्ति अपने मुहसे कह देगी वही धर्म आदि धर्म समझा जायगा । इसलिए शीघ्र ही इस पत्थरकी मूर्तिसे कहलाइये । देरी न करिये । ४१४ ॥

कथयिष्यति यस्योच्चैरियमाद्यमतं खलु। पूर्वा तस्यैव यात्राच भूयात् वै नात्र सशय ॥ ४१५ ॥
मुनेर्वाक्यमिति श्रुत्वा स शुक्लश्चाह तं प्रति। एवमस्तु हृदि ध्यात्वा प्रयोगमत्रतत्पर ॥ ४१६ ॥
तदैव भारतीं नत्वा शुक्लपाषाणनिर्मिता। गिरिस्था सोमरू गव्या तस्यैवावद न्निति ॥ ४१७ ॥
सत्यवाणीं महादेवि वद त्व कस्य स्यात् खलु। सुराच्यमत्रयोगेन मताद्य शुक्लचेलभृत् ॥ ४१८ ॥
इत्थ श्रुत्वापि सा देवी नाह सकलदर्शकान्। तदा शुक्लस्य वक्त्राब्ज श्यामत्वमगमत् खलु ॥ ४१९ ॥

अर्थ—जो तुमने शुक्लाचार्य, इस पत्थरकी देवीके मुखसे कहला दिया तो आप सबसे प्रथम यात्रा करें ॥ ४१५ ॥

इस प्रकार श्री आचार्य कुदकुंद स्वामीके वचनोको श्रवण कर शुक्लाचार्य अपने मनमें बहुतही प्रसन्न हुवा और उसने कहा कि एवमस्तु—ऐसाही हो, ऐसा कहकर वह शुक्लाचार्य अपने मंत्रके आराधन करनेमें तत्पर हुवा।४१६।

अर्थ—उसी समय वह शुक्लाचार्य सफेद पत्थरकी मूर्तिको स्वेतांबर मत प्राचीन है ऐसा कहलानेके लिये देवीके सामने मंत्राराधन करनेके लिये बैठा ॥ ४१७ ॥

अर्थ—हे महादेवी सरस्वती तू सत्यवाणीके द्वारा प्रकट कर कि स्वेतांबर मत आदिका है। इस प्रकार देवीसे कहलानेके लिये उस यतीने सुराच्यं मत्रके द्वारा सरस्वती देवीकी आराघना की ॥ ४१८ ॥

अर्थ—इस प्रकार शुक्लाचार्यके मंत्रके प्रयोग द्वारा वचनोको सुनकर भी वह देवी समस्त दर्शकोकें समक्ष कुछ भी नही बोली तव तो शुक्लाचार्यका मुह एक दम काला पड गया। ४१९ ॥

स मुनि कुंदकुन्दाख्यस्तस्मिन्नवसरे खलु । करे धृत्वा वरा पिच्छि नत्वा सीमंधरं जिनम् ॥ ४२० ॥
तस्माद्धि भारतीमाह इत्थ तूर्णेन मोदभृत् । कथय कथय क्षिप्रं सत्यवाणीं जिनास्यजे ॥ ४२१ ॥
इति श्रवणमात्रेण अश्मजा साच भारती । मेघवत् गर्जनारूपा वाणीमचीकथच्च सा ॥ ४२२ ॥
ऊर्ध्वाधोमध्यलोकेषु ह्ययं दैगंबरो मत । विख्यातो नात्र सदेहश्चात्र वै शिवदायक ॥ ४२३ ॥
अस्मादन्ये मता ये हि स्वस्वमतिविकल्पजा । ते हि ससारदा ज्ञेया शिवदा न कदाप्यहो ॥ ४२४ ॥

अर्थः — जब शुक्लाचार्यसे पाषाणकी देवी नहीं बुलाई गई तब मुनि कुदकुद स्वामी अपने हाथमें श्रेष्ठ मयूर पीछी लेकर और सीमधर स्वामीको भाव भक्तिसे नमस्कार कर उस पाषाणनिर्मित सरस्वतीकी मूर्तिके समक्ष उपस्थित होकर बोले। हे देवि तू सत्य २ प्रकाशन कर कि आदि मत दिगबर है या स्वेतांबर[१] मुनि कुदकुद स्वामीके इस प्रकार वचनोको सुनकर उस पत्थरकी मूर्तिने मेघकी गर्जनाके समान गंभीर वाणीसे कहा ॥ ४२२ ॥

अर्थ—अधोलोक ऊर्ध्वलोक मध्यलोक इन तीनो लोको में यह एक दिगबर मत ही प्रसिद्ध है। और उस मत से ही मोक्षकी प्राप्ति होती है इस लिये इसमें सदेह नही कि आदि मत दिगबर ही है । इस मतके सिवाय अन्य जितने मत हैं वे अपनी २ बुद्धिसे कल्पित आधुनिक है—सर्वज्ञप्रणीत नही है। और उनके सेवन से ससारकी वृद्धि

१—कुदकुदोग्रणी येनोर्जयतगिरिमस्तके । सोवदत्तादृदिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ ॥ पाडवपुराणे ।
पद्मनदी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी । पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥ सकलकीर्ति ।
कुदकुदमुनीन्द्रेण चोर्जयंतगिरौ किल । पाषाणनिर्मिता देवी वादिता वादकर्मणि । नेमिचन्द्रगुरु ।

मत आद्यश्च सर्वेषा दैगंबरमत स्वयं। त्रिवारं चैव भो शुक्र इति प्रोक्ताच सा तदा ॥ ४२५ ॥

वंद्यो वै निर्जराधीशै माननीयो मुनीश्वरै । सातद सर्वजीवाना दोषोत्करविवर्जित ॥ ४२६ ॥

शंकरः तारकः पूज्य त्रिषु लोकेषु चोत्तम । संकल्प त्यजथ यूयं मौनमाप सरस्वती ॥ ४२७ ॥

केवलाभिरयुक्ताना यतीना सर्वदेवता । पलायिताश्च तस्मादि तत्प्रभावाच्च श्चानरत ॥ ४२८ ॥

ही होती है। मोक्षकी प्राप्ति कदापि नहीं होती । इस लिये आदि मत दिगंबर मत ही है। आदि दिगंबर ! आदि दिगंबर ! आदि दिगंबर ! ! इस प्रकार तीन बार देवीने उच्चारण किया। हे शुक्लाचार्य सुन, इस प्रकार देवीकी गर्जना होते ही स्वेतांबर के समस्त यति और सघके समस्त मनुष्य तथा शुक्लाचार्य एकदम लज्जित होगये। और सर्व प्रकार अपनी हार मानते भगे। ४२४ ॥

अर्थ—हे शुक्लाचार्य दिगंबर जैन मतही देव इन्द्र आदि महान पुरुषों से वंदनीक है। मुनीश्वरो से मान-नीय है। समस्त जीवो को सुखका प्रदान करने वाला है। समस्त प्रकार के दोषों से रहित है। कल्याण करनेवाला है। संसारसे तारक है। परम पूज्य है। तीन लोकमें उत्तम है। इसलिये सब प्रकार के संकल्पोको छोडकर एक दिगंबर जैन मतका आराधन करना चाहिये। यही सर्व श्रेष्ठ आदि मत है। इतना कह कर वह पत्थर की सरस्वती की मूर्ति चुप (मौन) होगई ॥ ४२७ ॥

अर्थ—श्वेतांबर यतियो के आराधन किये हुये समस्त देवता गण सरस्वतीके प्रभाव से पलायमान होगये जिससे उनका समस्त अभिमान मिट्टीमें मिल गया ॥ ४२८ ॥

दिगंबरस्य पक्षेहि जयमासीच्च तत्क्षणे । निपक्षात् सर्वदा स्याद्धि जयोस्य सर्वभूतले ॥ ४२९ ॥

समीपे केशरी सिंहे[२] किं कर्तु च क्षमा गजा । तत्शब्दाद्धि पलायते प्रत्यक्षेण न संशय ॥ ४३० ॥

तस्मिन्नवसरे तत्र एवमासीत् भयोत्कर । तेषां विपक्षहस्तिना स्वस्य मदविनाशनात् ॥ ४३१ ॥

तदा स यतिराट् सार्क चतुर्विधगणैर्वरै । श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य चकार दर्शन मुदा । ४३२ ॥

अर्थ–उसी समय शुक्राचार्य आदि श्वेतांबर यतीगण सर्व प्रकार मुनि कुन्दकुन्द स्वामीसे हारकर समस्त सघसे तिरस्कारित हुए। दिगंबर मतका विजय हुआ। सो ठीक ही है। विपक्षके नाश होनेपर विजय ही होता है।

अर्थः— केसरी सिंहके सामने गज कितनी देर पर्यंत ठहर सक्ते हैं? केशरीकी गर्जना मात्रसे ही भयभीत होकर प्रत्यक्ष भाग जाते हैं इसमें कोई संदेह नहीं। इसी प्रकार केशरी मुनि कुंदकुंद स्वामीसे भय खाकर श्वेतांबर गज भाग गये ॥

अर्थः— उस समय श्वेतांबर यतियोका यही हाल हुआ । कुंदकुंद मुनि रूपी केशरीसे अपने २ मदको छोडकर सब भाग गये ॥ ४३१ ॥

अर्थः— उस समय सबसे प्रथम दिगंबर जैन सघ अपने समस्त चतुर्विध सघ सहित श्री गिरनारी पर्वतपर श्रीमान नेमि जिनेश्वरकी वंदना करनेको गया। और अतिशय हर्षके साथ प्रभु श्री नेमिनाथ जिनराजके दर्शन लिये ॥ ४३२ ॥

१–पद्मनंदियतीन्द्रेण चोर्जयंतगिरौ किल। संशयिमतसवादे वादिता येन चाश्मजा।

संघसहित श्री कुन्दकुन्द मुनि, वंदन हेत गये गिरनार। वाद पर्यो तहां संशयिमतसों साक्षी वदी अविकाकार ॥

सत्यपथ निर्ग्रंथ दिगम्बर कही सुरी तह प्रगट पुकार। सो गुरुदेव वसो उर मेरे विघनहरन मंगल करतार

तत्रैव स्थापयामास स मुनि धर्मवर्द्धक । सरस्वत्यभिधं गच्छ सार्थनामयुतं खलु ॥ ४३३ ॥
बलात्कारगण शुद्ध तत्रैव स मुनीश्वर । स्थापयामास सर्वस्य साक्षितो धर्मवृद्धये ॥ ४३४ ॥
स्वस्य नामकृतो वंश शिष्याश्च स्वस्य ये खलु । आम्नायं कृतवान् तेषा नद्याद्यानदकारकं ॥ ४३५ ॥
सर्वसघेषु मुख्योय श्रीमूलसघनायक । अद्यप्रभृतितो यूय भजध्वं च ह्यत इम ॥ ४३६ ॥
इमे सर्वत्र लोकेषु जाता विख्याततता खलु । जिनधर्मे परा प्रीतिं नरा भेजुश्च ते तदा ॥ ४३७ ॥
स मुनि सिद्धभूमेश्च तै साकं दर्शन मुदा । कृत्वा स्वस्थानमागत्य चकार तप सग्रहम् ॥ ४३८ ॥

अर्थः— वहांपर ही कुदकुद स्वामीने सरस्वती नामका गच्छ स्थापन किया । क्योकि सरस्वती नामकी पत्थरकी मूर्तिसे आदि दिगंबर मत बुलवाया था । यह सार्थक नाम था । और वहापर बलात्कार गण स्थापित किया । समस्त संघकी साक्षीसे यह कार्य धर्मकी वृद्धिके लिये किया ॥ इसी प्रकार अपने नामसे अपने शिष्योकी आम्नाय कायम की । और उस आम्नायको नद्यादि महर्षियोने स्वीकार किया । समस्त सघमें यह मूल संघ मुख्य है । दिगंबर जैनोमें इस सघ की मुख्य मान्यता है (श्री मूल सघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे कुदकुदाम्नाये इत्यादि पाठ अब भी प्रायः कितनीही प्रतिमाओपर लेखमें मिलता है)। यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध होगई। और कुंदकुंद स्वामीका यश सर्वत्र प्रकट हुआ । जैनधर्ममें सबकी उत्कृष्ट भावना हुई ॥ ४३३ । ४३४ । ४३५ । ४३६ । ४३७ ।

अर्थ— श्री कुंदकुंद स्वामी श्री गिरनारी पर्वतकी (सिद्धभूमि) वंदनाकर अपने तपस्थान धरणी भूषण पर्वतपर वापिस आये ॥ ४३८ ॥

एकदा ध्यानकालेहि तस्यायात् वक्रता मुने । ग्रीवा तत्रैव स्वचित्ते विचारं कृतवान् सच ॥ ४३९ ॥
केन वै कारणेनैव इयमासीच्च वक्रता । तदाभवत् पुरस्तस्य ब्राम्ह्या वाणी मनोहरा ॥ ४४० ॥
अकाले जैनसिद्धाता नो योग्या पठने खलु । युष्माकं तद्धिदोषेण इय जाताच वक्रता ॥ ४४१ ॥
भारत्या वचन श्रुत्वा इत्थ मुनीश्वरस्तदा । स्वात्मनो निंदा परमा चकार स्वात्मसिद्धये ॥ ४४२ ॥
पुनस्तद्दोपनाशार्थं नत्वा सीमधर जिनम् । तस्यैव ह्यकरोत्स्तोत्र तदा तस्या. प्रमोदये (?) ॥ ४४३ ॥
अवक्रता तदा ताच आप सापि गता तदा । स्वस्थाने वक्रग्रीवाख्यामस्य कृत्वा मुदान्विता ॥ ४४४ ॥
अनेन कारणेनैव तृतीयाभिधजातवान् । तस्य सर्वमुनीन्द्रेषु तस्मिन्नवसरे बुधा ॥ ४४५ ॥

अर्थ—एक समय ध्यान कालमें मुनि कुदकुद स्वामी धरणी भूषण पर्वतपर विराजे हुए थे कि इतनेमें उनकी ग्रीवा (नार) स्वयमेव वक्र (टेढो) होगई । स्वामीने उस वक्रताका कारण अपने मनमें विचारा परंतु रोगादि कोई भी ऐसा कारण मालुम नही हुआ कि जिससे मानलिया जाय कि अमुक कारण से ग्रीवा वक्र हुई है । मुनि इस बातके विचारमें ही थे कि उनके सामने एक मनोहर ब्राह्मी (सरस्वती) की वाणी हुई । उस वाणीसे प्रगट हुआ कि हे मुने आपने अकालमें जैन सिद्धांतोका अध्ययन किया है उस पातकके फलसे वक्र ग्रीवा हो गई है । ऐसे वचनोको सुनकर कुदकुद स्वामीने अपनी आत्माकी निंदा की ॥ ४३९ । ४४० । ४४१ । ४४२ ॥

अर्थः—भगवान कुंदकुद स्वामीने ग्रीवा की वक्रता के दोष को दूर करनेके लिये श्री जिनेन्द्र सीमधर स्वामीको नमस्कार कर और उनकी ही स्तुति बडी भक्तिसे प्रेम सहित की जिससे तत्काल ही वह ग्रीवा जैसी की तैसी अपने स्थानमें आकर सरलरूप होगई । वक्रता मिट गई । इस कारण से स्वामीका तीसरा नाम वक्रग्रीव समस्त मुनि संघमें प्रसिद्ध होगया । ४४३ । ४४४ । ४४५

तदाप्रभृतितः स्वामी वाणीं सिद्धांतमण्डिताम् । कालेहि प्रतिपसंच पपाठ नैव तद्विना ॥ ४४६ ॥
अकाले ये पठिष्यंति मोक्षशास्त्रादिकान् खलु । तिर्यंचयोनिषु तेहि यास्यंति नात्र संशय ॥ ४४७ ॥
शिवनंदियतीन्द्रैकः सिद्धाताकालपाठनात् ॥ ह्रदेऽभूच्च महामत्स्य तपसालंकृतोऽपि च ॥ ४४८ ॥
कालाकालस्य मर्यादां ज्ञेया वै मूलग्रंथतः । बुधै विस्तारतस्तत्र वर्णना च कृता खलु ॥ ४४९ ॥
एलाचार्यो ह्यय नामो विदेहक्षेत्रतो बुधैः । ज्ञेयस्तस्य वै विख्यात आसीच्च सकलावनौ । ४५० ॥
पिच्छिका पतिता यानात तस्य ध्यानयुतस्य वै । गृद्धस्य पिच्छिका दत्ता देवैर्गी तत्क्षणे शुभा ॥ ४५१ ॥
एतत्कारणतस्तस्य नामासीत्सकलक्षितौ । बुधोत्तमाश्च गृद्धादिपिच्छाचार्यतिविश्रुतं ॥ ४५२ ॥

अर्थ—उस समय से श्री कुन्दकुन्द स्वामी जैनसिद्धांतरूपी जिनवाणीको कालमें ही पढने लगे। फिर कभी भी उनने अकाल में अध्ययन नहीं किया। ४४६।

अर्थ—अकालमें जैनसिद्धांत (मोक्षशास्त्र) का पाठ करते हे वे लोक तिर्यंच योनिमें उत्पन्न होते हैं। इसमें संदेह नहीं है। ४४७

अर्थ—बडे भारी तपस्वी शिवनंदी नामके एक मुनीश्वर अकालमें जैनसिद्धांतका पाठ करनेसे तिर्यंच योनिमें बडे मच्छ उत्पन्न हुए ॥

अर्थ—काल और अकालका स्वरूप जैनागम से जानना चाहिये। ग्रंथ बढ जानेके कारण यहांपर नहीं लिखा ॥ ४४९ ॥

अर्थ—विदेह क्षेत्रमें सीमंधर स्वामीके समोसरण में चक्रवर्ती ने एलाचार्य (लघु शरीरको एला कहते हैं)

एवं पंचाभिधानेन स मुनिः सकलार्थवित । आसीत् विख्याततया पूज्यः विपक्षविजयात्सुरैः ॥ ४५३ ॥
अश्मजा वादिता येन भंगमाशा. खलाशया । स्वेतम्वासोधरा' क्रूरा तस्मै श्रीमुनये नमः ॥ ४५४ ॥
सीमंधरजिनेन्द्रस्य येनाप्तं दर्शनं शुभम । प्राचीनपुण्ययुक्तेन तस्य पादौ नमाम्यहम् ॥ ४५५ ॥
अस्मिन् कलौ मुनीन्द्रेण तेनैव रचना कृता । शास्त्रादीनामहो भव्या तस्मै नमोस्तु सर्वदा ॥ ४५६ ॥
कुदकुंदसमश्चास्मिन् काले मिथ्यात्वसंभृते । नाभून्नैव पुनश्चात्र भविष्यति सुनिश्चयात् ॥ ४५७ ॥

नाम रखा। विदेहकी यात्राके समय विमानमें ध्यान मे बैठे हुए स्वामीकी पीछी विमानमेंसे गिरजानेसे देवोंने गृद्धकी पीछी बनाकर दी इसलिये गृद्धपिच्छाचार्य नाम प्रसिद्ध हुआ। ४५० । ४५१ । ४५२ ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रुतज्ञानसे समस्त पदार्थोंको जाननेवाले कुद कुंद स्वामी पांच नामोसे प्रसिद्ध हुए थे। तथा देवोंसे पूज्य हुए थे ॥ ४५३ ॥

अर्थः— जिसने पत्थरकी देवीको बुलवाया और दुष्ट आशयवाले क्रूर ऐसे स्वेतांबरियोंसे वादविवादमें विजय प्राप्त की ऐसे कुंदकुद स्वामीको नमस्कार हे ॥

अर्थः— जिन कुंदकुंद स्वामीने पूर्व पुण्योदयसे विदेह क्षेत्रमें सीमधर स्वामीके शुभ दर्शनोका लाभ लिया उनके चरणकमलको नमस्कार है । ४५५ ॥

अर्थ — जिन कुन्दकुन्द स्वामीने ८४ पाहुड आदि ग्रंथोका निर्माण कर जगत्में महान उपकार किया उनको सर्वदा नमस्कार है ॥ ४५६ ॥

अर्थः— कुदकुद स्वामीके समान महापराक्रमशाली जैनधर्म के उद्योतक इस कलिकालमें न हुए और न भविष्यमें होगे ॥

धन्या सा जननी लोके यस्या कुक्षौ सुरै स्तुत । अभूद्ई ईदश पुत्रो मिथ्याघतम पूषण ॥ ४५८ ॥
कुदकुंदमुनीन्द्रस्य तस्यैवाह करोमि वै । स्तवनं चित्तरोधार्थं नित्यादसो विनाशकम् ॥ ४५९ ॥
कुदकुदमहमाद्यमाव्ह जन्मसमुद्भवम् । वंदे कुदसमं देहं तत्वदाप्ताय केवलम् ॥ ४६० ॥
द्वितीयं पद्मनंद्याख्यं पद्मातिशयदर्शकम् । वंदे पद्मसमनेत्र विपक्षाद्रौ पविसमम् ॥ ४६१ ॥
तृतीय वक्रग्रीवाख्य ध्यानमग्नसुरै स्तुतम् । वंदेऽह ध्यानसिद्ध्यर्थं दिशाम्बरधरं वरम् ॥ ४६२ ॥
एलाचार्याभिध तुर्यं सीमधरस्य दर्शकम् । तद्धि साहससिद्ध्यर्थं वदेह सर्वदा मुदा ॥ ४६३ ॥

अर्थः— देवोमे पूजित और जगत मान्य कुदकुद स्वामी जिस माताकी कूखसे उत्पन्न हुए वह माता धन्य है । जिसके प्रभावसे मिथ्यात्व रूपी घोर निबिड अधकार नष्ट हुआ ॥ ४५८ ॥

अर्थः— मै अपने चित्तको वश करनेके लिये और नित्यके पापोकी शांतिके लिये कुदकुन्द स्वामीका स्तवन करता हू ॥ ४५९ ॥

अर्थ— कुद कुद स्वामीके पांच नाम प्रसिद्ध थे । जिनमें से प्रथम कुद कुद यह नाम जन्मका नाम था सेठ कुद और सेठानी कुदलताने अपने पुत्रका नाम कुदकुद रखा था । दूसरा पद्मनंदी यह नाम कमडलूमेंसे पद्मके फूलोके ढेरोका अतिशय प्रकट करनेसे प्रकट हुआ । तीसरा वक्रग्रीव यह नाम—अकालमें जैन सिद्धांतोका पाठ करनेके दुष्परिणामसे उनकी ग्रीवा स्वयमेव वक्रताको प्राप्त होजानसे वक्रग्रीव नाम प्रसिद्ध हुआ । चौथा एलाचार्य यह नाम— विदेह क्षेत्र में सीमधर स्वामी के समोसरणमें चक्रवर्ती ने इनको एला (इलायची) के समान लघुकाय देखकर प्रकट कियाथा । इनका साहस और शक्तिकी सीमा विशेष देखकर चक्रवर्तीने एलाचार्य नाम रक्खा था ॥ ४६३ ॥

पंचमाभिधसंयुक्तं गृद्धपिच्छेन भूषितम् । पिच्छाचार्यंच गृद्धान्तं वदेमृतभुजैस्तुत ॥ ४६५ ॥

वसुंधराया मुनिसत्तमोऽय पचैव (?) नाम्ना कलित सुबुद्धि । जातोहि वदे तमह त्रिशुद्धया विख्याततता भो बुधसत्तमा वै ।

इमानि वरनामानि कुंदकुंदमुनेश्च ये । प्रातश्चोत्थाय नित्य वै पठिष्यति नरा कलौ ॥ ४६७ ॥

अस्मिन् भक्त्या प्रयास्यंति दिवि शर्माब्धिसभृते । ते शिवे क्रमतो भव्या सदा शर्मविभूषिते ॥ ४६८ ॥

अस्य प्रभावत सर्वे विषमादिज्वरास्तथा । व्यतरा राक्षसा क्रूराः सर्वे यात्येव नाशताम् ॥ ४६९ ॥

अर्थ—पाचवा नाम गृद्धपिच्छ यह विदेहकी यात्राके समय विमान में बैठे हुए ध्यानमें मग्न थे उस समय विमानसे पिच्छी (मयूरपिच्छी) नीचे गिर पडी । जब इनका ध्यान पूर्ण हुआ तब पीछी गिर जानेके समाचार देवोंसे कहे और यह भी कहा कि विना पीछीके गमन नहीं होगा । तब देवोने पीछी तलाश की । परंतु वह मयूर पीछी नही मिली । तब गृद्धके कोमल पंख पडे हुए देखकर देवोंने उनकी पीछी बनाकर दी और उस पीछी पर से इनका नाम गृद्धपिच्छाचार्य सिद्ध हुआ ।

इस प्रकार पाच नाम कुदकुद स्वामी के समस्त जगतमें प्रसिद्ध हुए । इस प्रकार समस्त प्रकारके दिव्य अतिशयोसे सुसपन्न, महान प्रभावशाली, समस्त विद्याओ के पारगामी ऐसे कुदकुद भगवानको नमस्कार है । जो मनुष्य प्रात काल इन नामोका स्तोत्र पाठ करता है सो उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ ४६७ ॥

अर्थ—इस कुदकुद स्वामीके स्तोत्रको जो मनुष्य भाव भक्ति से पढते हैं उनको समस्त सुखोंका निधान स्वर्गका सुख प्राप्त होता है । और क्रमसे मोक्ष भी होतो है । इस स्तोत्र के प्रभावसे विषमज्वर आधि व्याधि और समस्त प्रकार की उपाधि स्वयमेव शांत हो जाती है । व्यतर राक्षस और क्रूर पिशाचादिको की बाधा नष्ट होजाती है ।

काकोदरा महाक्रूरा सद्य प्राणहरा हि ये । नहि चास्य प्रभावेन करिष्यति भयं नृणाम् ॥ ४७० ॥
धनाप्तिर्नार्थते पुंसा पुत्राप्तिर्नात्र संशय । स्तोत्रस्य पठनात् भव्या सर्वसिद्धिः सुखास्पदा ॥ ४७१ ॥
इत्थ स प्रकटं कृत्वा धर्ममार्गं जगन्नुतं । पश्चात् स्वपुरबाह्यस्थवने च नंदनोपमे ॥ ४७२ ॥
स्वायुषहि तदा ज्ञात्वा मासमात्रंच स मुनि । समाध्ययसिद्ध्यर्थमाजगाम सुबोधवान् ॥ ४७३ ॥
प्राशुके तत्र भूमौ स स्थित्वा ह्यनुक्रमात मुनि । जेमनं चोदक क्षीर तत्याज चित्तशुद्धये ॥ ४७४ ॥
पश्चाद्धि सर्वमाहार त्यक्त्वा साहसकारक । नत्वा सीमधरं देवं तस्थौ स कर्महानये ॥ ४७५ ॥

काकोदर जलोदर आदि भयकर रोग भी स्वयमेव शमन होजाते है। धनके चाहनेवाले को धन मिलता है और पुत्रार्थी को पुत्रकी प्राप्ति होती है। इस स्तोत्र से समस्त सिद्धि वृद्धि–और नित नये मगलों की प्राप्ति होती है। ४६८। ४६९। ४७०। ४७१ ॥

अर्थ—इस प्रकार कुदकुद स्वामी जैनधर्मको समस्त पृथ्वीतल में विस्तार कर फिर अपने बारा नगरके उद्यानमें धरणी भूषण पर्वतके उद्यानमे) वापिस आये ॥ ४७२ ॥

अर्थ–वहापर कुंदकुद स्वामीने जब अपनी आयु एक महिनाकी अवशेष रहगई थी ऐसा अपने निमित्त ज्ञानसे जान लिया तब चतुर वे मुनि समाधिमरणके लिये तैयारी करने लगे। ४७३ ॥

अर्थ–वहांपर धरणीभूषण पर्वतपर एक प्राशुक स्थानमें बैठकर और चित्तकी शुद्धिके लिए क्रमसे चार प्रकारके आहारोका परित्याग किया ॥ ४७४ ॥

अर्थ—फिर चार प्रकारके आहारको सर्वथा छोडकर कर्मके नाश करनेके लिये अपने मनमें सीमधर स्वामी को नमस्कार किया। ४७५।

परिचर्यां तदा चक्रु तच्छिष्या स्वगुरो पुर । तथासमाधिसिद्ध्यर्थं पाठं सिद्धांतसूचकम् ॥ ४७६ ॥
चतुराराधनापाठं हस्तपादादिमर्दनम् । मंत्रराजस्य श्रवणं सर्वपापाद्विभंजकम् ॥ ४७७ ॥
यच्छ्रवणादलर्काद्या दिवमापु सुखाङ्कितम् । तिर्यंचोप्यंजनाद्याश्च पापचरक्रियोद्यता ॥ ४७८ ॥
तारेता तरति ये भव्यास्तरिष्यतिहि केवलम् ॥ अनेन मंत्रराजेन नान्योपायोहि प्राणिनाम् ॥ ४७९ ॥
शयने चासने मार्गे विपिने चाद्रिमस्तके । सुखे शाते तथा दुःखे येन जपतु भो बुधा. ॥ ४८० ॥
नैव विस्मरणीयं च मंत्रराज कदाप्यहो । दातु हि शिवशर्माणं क्षमो नैवापरो बुधा ॥ ४८१ ॥

अर्थ—कुन्दकुन्द स्वामीके नयाचार्यने अन्य शिष्य वर्गोंको प्रभुकी परिचर्या करनेकी प्रधान आज्ञा दी। कितने ही शिष्य सिद्धांत शास्त्रोंका पाठ करते थे। कितने चार आराधना का स्वरूप निरूपण करते थे। कितने ही णमोकार महामंत्र श्रवण कराते थे। कितने उनके मलमूत्रका प्रक्षेपण करते थे। कितने पदमर्दन आदि वैयावृत्य करते थे। णमोकार महामंत्रका श्रवण करनेसे समस्त पापोंका नाश होता है। श्वान आदि तिर्यंच जीवोंको भी मंत्रके श्रवण मात्रसे स्वर्गकी प्राप्ति हुई है। अंजन चोर आदि पापी जीव भी सद्गतिको प्राप्त हुए है॥ ४७६।४७७।४७८ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव ससार समुद्रसे तिरगये, तिरते है अथवा तिरेंगे वे सब एक एक णमोकार मंत्रके प्रभाव से ही पार हुए है। ससार से पार होनेका इससे अन्य कोई दूसरा उपाय नही है॥ ४७९ ॥

अर्थ—सोनेमें बैठनेमें मार्गमें मकरमें पर्वतपर—सुख दुःख आदि सर्वत्र इस णमोकार मंत्रका जाप करना चाहिये॥ ४८० ॥

अर्थ—इस महामंत्रको कभी भी भूलना नहीं चाहिये। क्योकि इसके सिवाय अन्य कोई भी मोक्षके सुखोको प्रदान करनेके लिये समर्थ नहीं हैं।॥ ४८१ ॥

महिमा मन्त्रराजस्य इत्थं ज्ञात्वा शिवाप्तये । जपंतु सर्वदा भव्या इमं सकलशर्मदम् ॥ ४८२ ॥
कुदकुंदमुनीन्द्रश्च विमोह. तत्वधी शमी । विभो पादारविंदेहि धृत्वा स्वचित्तमंजसा ॥ ४८३ ॥
निर्विकल्पो नि कषाय चायुरंते वशी दमी । एकाग्रमनसा तस्थौ स्मरन् पंचपदावलिम् ॥ ४८४ ॥
शुष्कगात्रोपि स योगी धीरवीराग्रणी खलु । नाभजत् मनसि क्लेशं स किंचिदपि शिवाप्तये ॥ ४८५ ॥
ततोहि सन्निधे काले चागते स यतीश्वः । पद्मासन गृहीत्वाहि सतस्थौ शुद्धमानस ॥ ४८६ ॥
अर्हद्भ्य सर्वसिद्धेभ्य आचार्येभ्यो नमोस्तुवै । पाठकेभ्यस्तथा योगीश्वरेभ्य सर्वदाहि मे ॥ ४८७ ॥

अर्थ—इस महामंत्रराजकी इस प्रकार अद्भुत महिमा जान कर मोक्षकी प्राप्तिके लिये भव्यजीवोको सदैव जपना चाहिये। जिससे सर्व सुखोंकी प्राप्ति हो ॥ ४८२ ॥

अर्थ— भगवान कुदकुंद स्वामी समाधि मरण के समय मोह रहित होगये । समस्त तत्त्वोके वेत्ता, शांत निःकषाय इन्द्रियोका विजय करने वाले, परमसाहसी, मनकी चपलता को वश करनेवाले और निर्विकल्प दशाको प्राप्त होकर श्री सीमंधर स्वामीके चरणकमलोको हृदयमें धारण कर केवल पच णमोकार मत्रका स्मरण करते हुए ध्यान में स्थिर हुए। ४८३ । ४८४

अर्थ—भगवान कुंदकुद स्वामीका शरीर ध्यान और तपके प्रभावसे शुष्क होगयाथा तोभी धीर-वीर परम साहसी अपने मनमें जरा भी सकोचको नहीं प्राप्त हुए। और परम शातिसे आत्मज्ञानमें लवलीन होगये । ४८५ ॥

अर्थ—भगवान कुदकुद स्वामीका जब मरण काल अतिशय समीप आगया तब प्रभु अपना पद्मासन लगाकर मन वचन कायकी शुद्धि कर निःशल्य होकर ध्यानमें निमग्न हुए । प्रभुने 'नमो अर्हद्भ्य, नमः सिद्धेभ्यः। नम आचार्येभ्यः, नम पाठकेभ्य, नमः सर्वसाधुभ्यः' इस प्रकार मंत्रोंकेद्वारा अपनी आत्मामें पंच परमेष्ठी की

त्रिशुद्ध्या देवदेवेशं सीमंधरमघापहम् । पुन पुन ननाम च तत्पदाप्तये केवलम् ॥ ४८८ ॥
नमोस्तु चेति अर्हद्भ्य ध्यानमग्नस्तदा मुनि । त्यक्त्वा समाधिना प्राणान् दिवमाप सुखास्पद ॥ ४८९ ॥
नानर्द्धिमंडिता तत्र भुक्त्वा वै शर्मसंततिम् । स मुनिस्तुर्यकाले च यास्यति मोक्षधामनि ॥ ४९० ॥
कुद कुंदसमुज्वल सुविमलो ध्यानादिभि शुद्धधी । सत्तपसा कृशता गतोपि न भजेत् दुर्मानस स कदा ॥
भव्याभोजदिवाकर सुरनुत षड्जीवरक्षाकर । बुद्ध्या गी पतिसद्दृशो हि यतिराट् स पातु नो व सदा ॥४९१॥
प्राप्त येन जिनेश्वरस्य सुखद पुण्योदयात्पुण्यदम् । पूर्वाख्ये वरसुदरे सुविमले सीमधरस्याजसा ॥

स्थापना कर तीन प्रकार की शुद्धिसे जगद्गुरु देवाधिदेव सीमधर स्वामीको उनके पदकी प्राप्तिके लिये वारंवार नमस्कार किया और प्राणांत समय नमोऽर्हद्भ्य ऐसा कहकर एकाग्रमनसे ध्यानमें मग्न होगये । इस प्रकार अपने स्वरूपमें लीन होकर शांतिसे प्राणोंका परित्याग किया और स्वर्गमें देव पर्याय को प्राप्त हुए ॥ ४८६ । ४८७ । ४८८ । ४८९ ।

अर्थः— वहांपर (स्वर्गमें) अनेक प्रकारकी ऋद्धियोसे सपन्न समस्त प्रकारके सुखोको भोगकर भगवान कुंदकुद स्वामीका जीव आगामी चतुर्थ कालमें नियमसे मोक्षको प्राप्त होगा ॥ ४९० ॥

अर्थ–कुदकुंद स्वामी सदैव निर्मल भावके धारक थे वडेही पवित्र थे और समस्त प्रकारके दोषोंसे रहित थे । ध्यान आदि उत्तम कार्योंसे जिनका ज्ञान परमपवित्र होगया था । तपसे जिनका शरीर कृप था तो भी अत्यत कठिन तप धारण करनेपर भी जिनके परिणामोंमें कभी संक्लेश नहीं होती थी । भव्य जीवरूपी कमलोंके लिये सूर्य, छह प्रकारके जीवोकी दया पालनेवाले, बुद्धिमें बृहस्पति से भी अतिशय गरिष्ट ऐसे कुंदकुंद स्वामी सदा हमारी रक्षा करो ॥ ४९२ ॥

अर्थ—कुंदकुंद स्वामीने अतिशय पवित्र और सर्वोत्तम ऐसे पूर्व विदेहक्षेत्रमें पूर्व पुण्योदयसे महान

सर्वाशर्मविनाशकं शिवकरं सद्दर्शन मोदद ॥ क्षेत्रे शर्मनिकेतने वरवुधा पुण्याच्च किं दुष्करम् ॥ ४९२ ॥
पुण्य पापविनाशकं भवहरं पुण्यं पर मगलम् । पुण्य श्रीजिनस्नानपूजनभव पुण्य च रागोज्झनम् ॥
पुण्यं सिद्धिप्रदायकं मुनिनुतं पुण्याय नित्य नम । ज्ञात्वेत्थं वुधसत्तमा ह्यनुदिन पुण्य कुरुध्व खलु ॥ ४९३ ॥
कालेऽस्मिन् मुनिवृंदपूजितपद श्रीकुदकुदाभिध जातो धर्मपकाशको वरमति मिथ्याद्रिनाशे पवि ॥
कौमारे हि धृता महासुखकरा जैनेंद्रदीक्षा मुदा । वीर शूरतमो महासुखकरो न पातु संसारत ॥ ४९४ ॥
पुण्यस्यैव फलं जिनागमविदा ज्ञात्वा महाशर्मणे । त्यक्त्वा पापक्रिया महादु खकरा ससारबीजाकुराम् ॥

पुण्यका प्रदान करनेवाला समस्त पापोका नाश करनेवाला, समस्त सुखोको देनेवाला अपार आनदका कारण ऐसा सीमधर भगवान् का पवित्र दर्शन किया। ठीक है पुण्यसे सब बातें साध्य होजाती है ॥ ४९२ ॥

अर्थः— पुण्य ही पापका नाश करनेवाला है। संसारका उच्छेद करनेवाला है। पुण्य ही परम मंगल है। पुण्य समस्त सिद्धियोका देनेवाला है, मुनियो से भी पूज्य है। अरहत परमात्माका पचामृत स्नान पूजन-जप-गुण स्मरण-और भक्तिसे महान दिव्य पुण्य की प्राप्ति होती है। अथवा सामायिक-जप-तप-ध्यानके द्वारा रागादिक दुष्टभावोका परित्याग करनेसे भी पुण्य प्राप्त होता है। ऐसा पुण्य बुद्धिमानोको सदा सचय करते रहना चाहिये। इस कालमें मुनियोसे पूजित, श्रेष्ठ धर्मके प्रकाशक, उग्र ज्ञानके धारक, मिथ्यात्वरूपी पर्वतोके भेदक, और धीर, वीर, परमसाहसी, सुखके प्रदान करनेवाले और कुमार कालमें ही अतिशय कठिन जिनेंद्र दीक्षाको धारण करनेवाले ऐसे कुन्दकुन्द मुनि हमारी इस ससारसे रक्षा करो ॥ ४९४ ॥

अर्थ-इसलिये जिणवाणीसे पुण्यको ही समस्त वस्तुओसे दुर्लभ और सर्वोत्कृष्ट समझकर ससारकी बीजभूत समस्त दु खोको प्रदान करने वाली ऐसी पापक्रिया का परित्याग करो। तथा ध्यान-संयम- सदाचार—चारित्र

ससारातपनाशक सुविमलै· ध्यानादिसत्कर्मभि । त पुण्यं ह्यघनाशक मुनिनुत चागोकुरुध्व सदा ॥ ४०.५ ॥
पुण्यात् सिद्धपदे व्रजत्यनुदिन योगीश्वरा पावने । क्षतातीतसुशर्मवृदनिचिते क्षोभादिकर्मोज्झिते ॥
पुण्यात्सुसुतभासिता वरगुणैर्युक्ता मनोनदका । भवेत्थ नरसत्तमा सुविमल पुण्य कुरुध्व सदा ॥ ४९६ ॥
इत्थं श्रेणिक भूप सर्वगदितं वृत्तं मया तेऽखिलम् । पापौघस्य विनाशक सुविमल श्रीकुदकुंदस्य वै ॥
नित्ते त्व कुरु धारण च मनस· शुद्ध करं नंदद । अग्रे धर्मविवर्द्धक वरसुरै पूज्यं च पूज्योदयम् ॥ ४९७ ॥

आदि उत्तम पुण्यक्रियाओ का पालन करो। जिससे ससारका नाश हो। और पापोका क्षय हो। यह ऐसा पुण्य मुनियोसे भी पूज्य है इसलिये ऐसा पुण्य सदा करते रहना चाहिये ॥ ४९५ ॥

अर्थ—पुण्यसे ही मोक्षपदकी प्राप्ति होती है। योगीश्वर भी पुण्यकी प्राप्तिके लिए जप तप करते है। पुण्यसे अनतसुख निर्विघ्नतापूर्वक होता है। पुण्यसे पुत्र–राज्य–धन धान्य आदि विभूति होती है, अनेक गुणोकी प्राप्ति होती है और मनको आनद होता है। इसलिए हे भव्यजीवो, पुण्यको नित्य ही संपादन करो। ४०.६ ॥

अर्थः— हे श्रेणिक महाराज ! अत्यत पवित्र, समस्त पापोका नाश करनेवाला, धर्मको बढानेवाला, देवोसे पूज्य, पूज्य पुरुषोके उदयको प्रगट करनेवाला और आनदका प्रदाता ऐसा कुदकुद स्वामीका सक्षिप्त जीवन चरित्र कहा है। उसको भावभक्तिसे श्रवण कर आत्मकल्याण करना चाहिये ॥ ४९७ ॥

नदाद्या ये करिष्यति जिनधर्मप्रभावनाम् । ततो भूप सुयोगीद्रा धर्मस्योद्धारणे क्षमा ॥ ४९८ ॥
अथापरं शृणु भूप पंचमसमयस्य वै । वृत्तात भाविकं वक्ष्ये सर्वचितासमाधिना ॥ ४९९ ॥
श्रावकाणा मता भूप जिनसेवासुशर्मदा । पट्क्रिया नित्यपापस्य घातार्थमघरोधका ॥ ५०० ॥
पूर्वं श्रीमज्जिनेन्द्रस्य कर्तव्य कल्मपापहम् । अभिषेक वरं शुद्धे पचामृतरसैर्घनै ॥ ५०१ ॥
पयेक्षुरससर्पिर्भिर्दुग्धदधिरसोत्करै । स्वर्णरचितकुंभस्थै नेत्रानन्दकरै वरै ॥ ५०२ ॥
एभीरसर्जिनेद्रस्य स्नान कुर्वंति ये नरा । प्राप्नुवन्ति खलु ते च स्वर्णाद्रौ निर्जरोत्करं ॥ ५०३ ॥

अर्थः—हे राजन् ! इसके बाद जैनधर्मकी प्रभावना धर्मका उद्धार करनेमें समर्थ ऐसे नंदाचार्य आदि महर्षिगण करेंगे ॥ ४९८ ॥

अर्थः—हे राजन् ! अब मैं पचमकालमें होनेवाले वृत्तातको कहता हूं। एकाग्र मनसे श्रवण कर । ऐसा महावीर स्वामीने राजा श्रेणिकसे कहा ॥ ४९९ ॥

अर्थः—हे राजन् ! श्रावकोकी पट्क्रियायें परमावश्यक होती है। इसलिये उनका स्वरूप जानना परमावश्यक है ॥ ५०० ॥

श्रावको की समस्त क्रियाओमें से मुख्य क्रिया जिनेन्द्रपूजन है। इस क्रियासे समस्त प्रकारके पाप एक क्षण मात्रमें नाश हो जाते है। और सर्व प्रकारके सुख अनायास ही स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। अभिषेकपूर्वक ही पूजन होती है। क्योंकि पूजन का प्रारंभ अभिषेक पाठ से ही होता है। पूजन के पच अंगोमें से तीन अग तो अभिषेक के प्रारभमें ही करने पडते हैं। इसलिये पूजन का अर्थ अभिषेकपूर्वक पूजा है। अभिषेक पचामृत रसों से होता है।

पश्चादेलागरुं समारककोलकुङ्कुमैः । कर्पूरादिवरै द्रव्यै आमोदापूरिताबरै ॥ ५०४ ॥

नीराजनविधिं पश्चात् चाज्ञानहानये प्रभो । पुरो हुताशनीयं च सर्वसंपत्तिकारकम् ॥ ५०५ ॥

गृहस्थानामहो भूप सर्वासु च क्रियासु वै । कथितो वीतरागस्य चाभिषेकविधिर्महान ॥ ५०६ ॥

दिविहि निर्जरा पूर्वं करवा स्नान प्रमोदुदा । पश्चात्सकलसंपत्तिमगीकुर्वंति ते खलु । ५०७ ॥

दुग्धाद्यैर्नु स्नपनं जिनस्तेर्निं त्यं भव्य प्रति । शुद्धैः नेत्रमनोहरैः सम्यकैः पापालिनाशाप्तये ॥

सबसे प्रथम जलका अभिषेक जिन प्रभु का किया जाता है। फिर क्रमसे इक्षुरस घृत दुग्ध दधि सर्वौषधि आदि रसोसे स्वर्णके कुंभोसे करना चाहिए। जो मनुष्य इस पञ्चामृत से श्रीजिनदेवका अभिषेक करता है वह देवोसे अभिषेक किया जाता है। फिर एला (इलायची-अगर गंधसार चंदन ककोल [शीतलचीनी] कुंकुम कपूर आदि सुगंधी द्रव्योसे अभिषेक करना चाहिए। सबसे पीछे कलशाभिषेक करना चाहिए। गंधलेपन पुष्पवृष्टि आदि कर नीराजन आरती करना चाहिए। यदि इस क्रमसे पूजा की जाय तो सर्व संपत्ति प्राप्त होती है। हे राजन् यह अभिषेककी मुख्य क्रिया श्रीजिनागममें प्रतिपादन की है। इसलिए यह आगमोक्त क्रिया सब क्रियाओंमें श्रेष्ठ है। ५०६ ॥

अर्थ—देवलोक स्वर्गमें उत्पन्न होते ही सबसे पहले भगवान्का अभिषेक करते हैं और फिर स्वर्गकी संपदा को स्वीकार करते हैं। ५०७ ॥

अर्थ—हे भव्य जीवो जो आप सुखकी प्राप्ति चाहते हो तो श्रीजिनेन्द्र भगवानकी प्रतिबिंबका नित्यप्रति दुग्ध दधि आदि मनोहर और पवित्र द्रव्योसे अभिषेक करना चाहिये। पापोका नाश इस पचामृत अभिषेक से एक-

१-द्रव्ये इति पाठ

अखडाक्षतसदोहै शुभै नेत्रमनोहरै । चाक्षयपदसिद्ध्यर्थमर्चनीयो जिनेश्वर । ५१७ ॥
कुन्दाब्जजातिबकुलैरन्यै पुष्पोत्करै वरै । पूजनीयौ विभो पादौ मकरध्वजनाशये ॥ ५१८ ॥
शाल्योदनैस्तथा सर्वपक्वान्नव्यञ्जनोत्करै । क्षुधातकविनाशार्थं पूजनीयो जगत्पतिः ॥ ५१९ ॥
शतसहस्रदीपैर्गव्यमिश्रितवर्तिजै । उद्योतो जिनपादाग्रे कर्तव्यो मोहहानये ॥ ५२० ॥
पञ्चस्यादिद्रव्यतोरत्नधूपस्य धनजये । दहन जिनपादाग्रे कर्तव्यं कर्महानये ॥ ५२१ ॥
कदम्बाम्रनारङ्गनीराजादनफलकदवकै ढौकनीयौ प्रभो पादौ शिवशर्मफलाप्तये ॥ ५२२ ॥

अर्थः—जो भव्य जीव अखड अक्षतो के मनोहर शुभ्र पुजोसे भगवानकी पूजा करता है उसको अक्षय पदकी प्राप्ति होती है ॥ ५१७ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव नोगरा बकुल जई जाही आदि सुगंधित पुष्पोमे भगवानके पवित्र चरण कमलोकी पूजा करता है वह कामदेवके मदका नाश करता है ॥ ५१८ ॥

अर्थः— जो भव्य जीव नैवेद्य घी, शक्करमें पकाये हुए नाना प्रकारके व्यजनोमे श्रीजिनराजकी पूजा करता है वह क्षुधा रोगका नाश करता है ॥ ५१९ ॥

अर्थ–जो भव्यजीव हजारो लाखो घीके महान दिव्य दीपक से भगवान के पवित्र चरणकमलोपर प्रकाश करता है वह मोहनीय कर्मका नाश करता है।

जो भव्यजीव अगर तगर आदि सुगधी द्रव्योसे बनाई हुई धूपमे श्रीजिनेन्द्र भगवानके पवित्र चरण कमलोकी पूजा करता है वह कर्मोंका नाश करता है ॥ ५२१ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव केला आम्र द्राक्ष विजोरा नीबू आदि फलोंके द्वारा भगवानके पवित्र चरण कमलो

अष्टभेदैर्वरैर्द्रव्यैर्दूर्वादर्भैश्च सर्षपै । अर्घं कृत्वा पुनः पादौ पूजनीयौ विभोर्मुदा ॥ ५२३ ॥

जय नंद दयाधीश तारय तारक प्रभो । इत्यादिशब्दभिकरं चानर्घ्यपदसिद्धये ॥ ५२४ ॥

एकैकद्रव्यतो भूप सुखमाप्ता घना जना । तेषां नामानि वक्तुं क क्षमोस्ति मादृशं विना ॥ ५२५ ॥

तथापि शृणु चाष्टाना नामानि सुखदानि च । वच्मि सक्षेपतो भूप फल चापि फलाप्तये ॥ ५२६ ॥

भारते गुर्जरे देशे तस्मिन् स्तंभपुरे वरे । सोमिलोऽभूच्च भूदेवस्तस्य सोमाभिधा प्रिया ॥ ५२७ ॥

की पूजा करते है वे मोक्षके सर्व सुखको प्राप्त होते हैं ॥ ५२२ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव अष्टद्रव्य और दूर्वा दर्भ सरसौं आदि मंगलीक द्रव्योसे भगवान् के चरण कमलो का अर्घ उतारता है वह कर्म नाश करता है ॥ ५२३ ॥

अर्थ—हे प्रभो ! जय जय जय ! नद नद नद, तारय तारय तारय, हे तारक हे दयाधीश ! इत्यादि मगलीक शब्दोके द्वारा गुणगान करें ॥ जिससे मोक्षपदकी प्राप्ति हो ।

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज, जिन भव्य जीवोंने भाव भक्तिसे प्रभुकी पूजा एक भी द्रव्यसे की है वे परम सुखको प्राप्त हुए है । उनके नाम कहनेको मेरे विना (महावीर प्रभुके समान) अन्य कोई भी समर्थ नही है ॥ ५२५ ॥

अर्थः— हे राजन् ! तो भी उनमेंसे कितने ही भव्योके सुखद नामोको कहता हू । जिससे पूजाके फलमें विशेष रुचि हो ॥ ५२६ ॥

अर्थः— भरतक्षेत्रके आर्य खडमें गुर्जर देशमें एक खभात (स्तभपुर) नामका नगर प्रसिद्ध था । जिसमें सोमशर्मा नामका एक क्रियाकांडमें निपुण और समस्त वेदोंका पारगामी ब्राह्मण था । उसकी स्त्रीका नाम सोमा था । दोनो ही वेदधर्ममें बडे कट्टर थे ॥ ५२७ ॥

सापि मृत्वा सुपुण्येन श्रीधराभिन्नभूभने । श्रीदेव्याया सुता जाता कुमश्रीरप्सरोपमा ॥ ५४० ॥
तत्रैव सापि मोदेन चकार स्नानं प्रभो । प्रतिघस्त्रं च दुग्धाद्यै पूजनं वसुद्रव्यत ॥ ५४१ ॥
अंते समाधिना मृत्वा परमेष्ठिमनतत्परा । सा गता तेन स्वर्गेऽपि अग्रे यास्यति निर्वृति ॥ ५४२ ॥
भो भव्या पश्यथ यूयं सत्फलं स्नानस्यवै । प्रत्यक्षं शर्मकर्तारं कुरुध्वं स्नानं प्रभो ॥ ५४३ ॥
नार्या मर्त्येन येनैव कृतं जिनपदाब्जयो । लेपनं च तयो वक्ष्ये संबंधं चंदनादिभिः ॥ ५४४ ॥
अस्मिन् खगाचले शुभ्रे खगवारविभूषिते । औदीच्याया च श्रेण्यान्त तस्मिन् रत्नादिसंचये ॥ ५४५ ॥

श्री जिनदेवका अभिषेक किया और वह अतिशय हर्षको प्राप्त हुई ॥ ५३९ ॥

अर्थ—सोमश्री श्री जिनेन्द्र भगवानका एक कुंभके जलमे अभिषेक करने के फलसे मर कर श्रीधर राजाकी रानीके कुमश्री नामकी पुत्री उत्पन्न हुई। और उसने वहा भी भगवान का अभिषेक किया। पंचामृत अभिषेक प्रति दिन किया। आठो द्रव्योसे पूजन की। अतमे समाधि मरण धारण कर पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान करती हुई शरीर छोड कर स्वर्ग मे देव हुई। और वहामे चय कर मोक्ष जायगी। ५४०। ५४१। ५४२ ॥

अर्थ—हे भव्यजीवो! आपने श्रीभगवान्‌का पंचामृतसे अभिषेक करनेका फल प्रत्यक्ष ही देखा—सोमश्रीको कैसा उत्तम सुख प्राप्त हुआ। इसलिये सर्व सुखकी प्राप्तिके लिये नित्य ही जिनेंद्र प्रभूका स्नान करना चाहिये ॥५४३॥

अर्थ—जो स्त्री पुरुष श्री जिनचरण कमलोपर सुगंधित चंदनादि द्रव्योसे लेप करता है उसकेलिये कथा कहता हूं। ५४४ ॥

अर्थ—इस विजयार्ध पर्वतपर उत्तर दिशामें एक रत्नसंचयपुर नामका नगर है। ५४६ ॥

पुरे आसीत् धराधीशो मणिशेखरनामभाक् । तस्य वामाऽभवत् साध्वी नाम्ना शुभमती सुधीः ॥ ५४६ ॥
सम्यक्त्वरत्नसम्पाढ्या गुर्वाज्ञापालका शुभा । पत्युर्भक्तिकरा नम्रा प्रभो पूजनतत्परा ॥ ५४७ ॥
तस्योदरे सुर कश्चित् सम्यग्दृष्टि जिनार्चकः । स्वर्गातश्च दीप्त्याढ्य पूर्वपुण्योत्करोदयात् ॥ ५४८ ॥
तत्प्रभावाच्च तस्या हो दोहलोजनि सुंदरः । अष्टापदगिरीन्द्रस्य यात्रा करोमीति हृदि ॥ ५४९ ॥
पंचामृतरसैस्तत्र करोमि स्नपन प्रभो । तथा काश्मीरकर्पूरगंधसारादिभि खलु ॥ ५५० ॥
जिनपादाब्जयो लेप सदा सौरभ्ययुक्तयो । पूज्ययोः सुरवृन्दाद्यैस्तत पूजा जलादिभि ॥ ५५१ ॥
ध्यात्वेति सह भूपेन सा गत्वा तत्र भूधरे । व्योमयानसमारूढा नत्वा तत्र जिनाधिपान् ॥ ५५२ ॥
पुनः संस्नाप्य सद्भक्त्या दुग्धद्रव्यादिसद्रसैः । विलेपन चकार सा सुगंधै कुंकुमादिभिः ॥ ५५३ ॥

अर्थ-इस रत्नसंचयपुर नगरका राजा मणिशेखर नामका विद्याधर था। और उसकी रानी शुभमती थी। यह रानी सम्यग्दृष्टी थी। गुरुकी आज्ञा पालनेवाली थी। पतिसेवामें तत्पर और जिनेन्द्र भगवानकी सेवामें लवलीन थी। पूर्व पुण्योदय से उसके गर्भमें भगवानकी पूजा करनेवाले सम्यग्दृष्टि एक पुण्यात्मा देवने अवतार लिया ॥ ५४६ । ५४७ । ५४८ ॥

अर्थ-उस पुण्यात्मा देवके प्रभावसे शुभमती सतीको दोहल हुआ कि कैलाश पर्वतकी यात्रा करूं। और कैलाशपर जाकर श्रीजिनेंद्र देवका पञ्चामृत अभिषेक करू। तथा सुगंधित द्रव्यसे परम पवित्र प्रभुके चरण कमलोका लेप करू। फिर अष्टद्रव्यसे पूजा करू। ऐसा विचार कर वे दम्पती विमानमें बैठकर कैलाशको गये और वहांपर प्रभु की दिव्य प्रतिमाओका पचामृत रससे अभिषेक किया और कुंकुमादि सुगंधी द्रव्यों से प्रभुके चरण कमलो पर विलेपन किया ॥ ५५३ ॥

पश्चाद्दिज्या च गानं च स्तवनं तद्गुणोद्भवम् । कृत्वा पुनः चचालासौ तस्माच्च स्वपुरं प्रति ॥ ५५४ ॥
तावत्तद्गह्वरस्थानात् निःसृतो गंधदुस्सहः । जनैः सोढुमशक्योपि दुष्टैर्जातजुगुप्सके ॥ ५५५ ॥
आघ्राय तं च दुर्गंधं तया पृष्टः पतिस्तदा । अस्मिन्नामोदसंयुक्ते वने हि नंदनोपमे ॥ ५५६ ॥
दुर्गंधः कुतस्त स्वामिन् आयातो देहदुःखदः । कथय सत्वरं भूप कारणं मम शातद ॥ ५५७ ॥
श्रुत्वा इत्याह तां भूपः शृणु त्वं प्राणवल्लभे । कश्चिद्योगीश्वरो ह्यत्र दृश्यते ध्यानतत्परः ॥ ५५८ ॥
मलाविलो महाधीरस्तस्य देहस्य योगतः । आगतश्च प्रिये चायं दुर्गंधो नात्र संशयः ॥ ५५९ ॥

अर्थ—फिर उस विद्याधरने श्रीजिनेन्द्र भगवानकी अष्ट द्रव्यसे भक्तिपूर्वक पूजा की, भगवानका गान किया, स्तवन किया और प्रभुके गुणोका स्मरण किया । फिर वहांसे (कैलाशसे) अपने नगरको आनेका विचार किया ॥ ५५४ ॥

अर्थ — उसी समय पर्वतकी एक गुफामे से अत्यंत दुस्सह दुर्गंध ऐसा निकला कि जिसको निर्विचिकित्सा अगके पालनसे रहित (सम्यग्दर्शन विहीन) जीव सहन करनेको सर्वथा असमर्थ हो ॥ ५५५ ॥

अर्थः— उस दुर्गंधको सूघते ही शुभमतिने अपने पति विद्याधरसे पूछा कि हे स्वामिन् इस परम सुगंधित नंदन वनके समान महान उत्कृष्ट वनमे शरीरको दुःख देनेवाली यह दुर्गंध कहासे आई ? हे प्रभो मुझे सुख देनेवाला इसका कारण कहिये ॥ ५५७ ॥

अर्थः— अपनी धर्मपत्नी शुभमती रानीके ऐसे वचनोको सुनकर विद्याधरने कहा कि यहांपर कोई योगीश्वर अतिशय तपस्वी महान् मलसे पूर्ण हो रहा है और यह दुस्सह दुर्गंध उसीके शरीरसे आ रही है इसमें संदेह नही है ॥

पते वाचमिति श्रुत्वा सा गत्वा तस्य सन्निधे । ददर्श तत्तनु दीप्त तपसा कृषता गतम् ॥ ५६० ॥
व्याप्तागं स्वेदमलौघे ध्यानमग्न निरवरं । कायोत्सर्ग स्थितं सौम्य चिद्रात्मरससभृतम् ॥ ५६१ ॥
ईदृगस्य मुनीन्द्रस्य किंचिच्चकार सा हृदि । तस्मिन् काले जुगुप्सा च दृष्ट्वा सर्वार्थनाशकाम् ॥ ५६२ ॥
पश्चात्प्रासुकनीरेण पक्षाल्य तत्तनुंच सा । चकार लेपन तस्य कृष्णागुर्वादिजै रसै ॥ ५६३ ॥
मुनिं नत्वा तकौ पश्चात् स्तुत्वा स्वपुरमागतौ । शृणु त्व चान्यवृत्तातं यज्जातं तत्र कोज ॥ ५६४ ॥
लेपजातसुगंधेन तदा मत्ता मधुव्रता । लग्नाश्चागत्य देहस्य मुने. सहस्रश प्रमा ॥ ५६५ ॥

अर्थ—अपने स्वामीके ऐसे वचनो को सुनकर वह शुभमती रानी शीघ्रही मुनि समीप गई । और परम दै-दीप्यमान तपसे कृषितशरीर ऐसे दिव्य मुनिको देखा । जिनके शरीरमें स्वेद (परसेव) के कारण मल बहुत होगया था । तो भी ध्यानमें लवलीन थे । कायोत्सर्ग स्थिर थे । शांत थे । और अपने चैतन्य परमानद रसका पान करने में दत्तचित्त थे ॥ ५६० । ५६१ ॥

अर्थ—ऐसे परमध्यानी और शरीर से सर्वथा मोह रहित मुनीश्वरको देखकर प्रथम तो उस रानीने अपने मनमें समस्त प्रकार के अनर्थोंको करनेवाली किंचित जुगुप्सा (ग्लानि) की । फिर तत्कालही प्रासुक और पवित्र जल से मुनीश्वरके शरीर को प्रक्षालकर अगर तगर आदि सुगधी द्रव्यो का सुगंधित लेप किया ॥ ५६२ । ५६३ ॥

अर्थ—मुनीश्वर को नमस्कार कर और स्तुति कर वे दंपति (विद्याधर व रानी) अपने नगरमें आये । इसके वाद वहां पर दूसरी कथा वनी वह सुनो । उस सुगधी लेपकी सुगधसे मुनीश्वर के शरीर पर हजारो भ्रमर आकर लिपट गये । ५६४ । ५६५ ॥

चैतन्यजडरूपे च पश्यन् भिन्नत्वमंजसा । आत्मन्येव तदा तस्थौ स मुनिः धीरभावयुक् ॥ ५६६ ॥
नात्यजत् आत्मनो ध्यानं तदा घोरोपसर्गके । वायुना किं नगाधीशः प्रचलत्येव निश्चयात् ॥ ५६७ ॥
तदोपसर्गे संजाते स यतिरात्मवेदक । स्थिरोऽभवत् शिवाकांक्षी आत्मनि मेरुवत् क्षयी ॥ ५६८ ॥
मुने देहात् पलं सर्वमश्नंति शोणित तकाः । तथाप्येप मुनिश्चित्ते न चचाल स्वध्यानत ॥ ५६९ ॥
एव पक्षपमे घस्रे याते स भार्ययान्वित । पूर्वोक्तश्चाययौ तत्र यात्रार्थं खचरेश्वर ॥ ५७० ॥
नो दृष्ट स यतिश्चात्र सा चाह स्वपतिं प्रति । क गत स मुनि स्वामिन् अस्माभि पूजितश्च य ॥ ५७१ ॥

अर्थ — वे धीर वीर मुनीश्वर आत्मा और शरीरको सर्वथा भिन्न भिन्न विचार करते हुए अपने आत्म विचारमे लवलीन होगये ॥ ५६६ ॥

अर्थः— यह घोर उपसर्ग आनेपर भी मुनिराजने अपना ध्यान नहीं छोडा। सच है कि मेरुपर्वत कही वायुसे कंपित होता है ? ॥ ५६७ ॥

अर्थः — इस प्रकार भ्रमरोका घोर उपसर्ग आनेपर भी वे मुनीश्वर अपने आत्मीक ध्यानसे रच मात्र भी चलायमान नही हुए। मेरुके समान अडोल रहे ॥ ५६८ ॥

अर्थः— मुनीश्वरके शरीर का सर्व मांस और रक्त भ्रमर (भोरा) भक्षण करने लगे परन्तु मुनिराज अपने ध्यानसे रच मात्र चलचित्त नहीं हुए ॥ ५६९ ॥

अर्थ–इस प्रकार यह घोर उपसर्ग पंद्रह दिवसपर्यंत रहा। पंद्रह दिवस बाद वही विद्याधर और शुभमती रानी कैलाश गिरीकी वदनाके लिए पनः वहांपर आए ॥ ५७० ॥

अर्थ–शुभमती रानीने अपने स्वामी विद्याधरसे पूछा कि जिन मुनीश्वरकी हमने प्रथम पूजा की थी,

सर्वत्रालोकनां चक्रे श्रुत्वा राज्ञ्युदितं वच. । स खगो भ्रमरैर्युक्तं ददृशाग्रे मुनीश्वरम् ॥ ५७२ ॥
प्रियामाह खगाधीश पश्य पश्य दयोज्झिते । त्वया भक्त्या कृतो लेप स्तत्रानिष्टस्तु जातवान् ॥ ५७३ ॥
सापि श्रुत्वा पते. वाच दृष्ट्वा योगीश्वर तदा । आत्मनः परमां निंदा चकार खचरप्रिया । ५७४ ॥
निर्घाटितास्तत· सर्वे तया षट्पदसंचया । तदा ध्यानप्रभावेन स लेभे केवलोदयम् ॥ ५७५ ॥
समाययु· सुरेन्द्राश्च तस्य पूजार्थमञ्जसा । कृत्वा पूजा जिनेन्द्रस्य तस्थु तत्रैव भावत ॥ ५७६ ॥

लेप किया था सो वे यहांपर दीखते नहीं है कहांपर गए ॥ ५७१ ॥

अर्थ—शुभमती रानीके कहनेसे विद्याधरने मुनीश्वर को सर्वत्र देखा, तब भ्रमरो से आच्छादित उसी स्थान पर मुनीश्वर को देखा।

अर्थ—हे वल्लभे हे निष्ठुरे! देख देख तेंने मुनीश्वर को भक्ति से सुगंधी पदार्थों का लेप किया परतु विना बिचारे हुए कार्यका कैसा अनिष्ट परिणाम हुआ है। ५७३ ॥

अर्थ—शुभमती रानीने अपने स्वामीके ऐसे वचनोको सुनकर और मुनीश्वर का घोर उपसर्ग देखकर अपनी घोर निंदा की। ५७४ ॥

अर्थ—शुभमती रानीने उन समस्त भ्रमरोंको दूर किया। उपसर्ग के निवारण होते ही ध्यानके प्रभावसे चार घातिया कर्मोंका नाश हुआ और मुनीश्वर को केवलज्ञान प्रकट हुआ ॥ ५७५ ॥

अर्थ—उसी समय मुनिराजके केवलज्ञानकी पूजा करनेके लिये देवगण आये और भगवानकी पूजा कर वहांपर धर्मोपदेश श्रवण करनेके लिये ठहरे ॥ ५७६ ॥

तावदवधिनेत्रेण पूर्वोक्त खचरेश्वर । तस्या. पति. गत स्वर्गे ज्ञात्वा तस्या सुदुःसक ॥ ५९० ॥
आजगाम सुरस्तत्र तस्याग्रे सकल स्वकं । वृत्तातं पूर्वजं निंद्य कथयामास मोदत ॥ ५९१ ॥
पुन इत्याह त्व भावात सप्ताहानि प्रमाणिच । पचामृतामै शुद्धै जिनाना स्नपन कुरु ॥ ५९२ ॥
तत काश्मीरकर्पूरगंधसाग्जसद्रसै । जिनाना शुद्धभावेन पादयो लेपन कुरु ॥ ५९३ ॥
अनेनैव प्रयोगेण त्वत्तनौ शातता खलु । भविष्यति प्रिये नात्र सदेहमाकुरुष्व भो ॥ ५९४ ॥
इत्याख्याय सुरो दक्ष स्वस्थानंन गतस्तत । तच्छ्रुत्वा सापि तत्सर्व चकार स्वस्य शातये ॥ ५०५ ॥

अर्थ—– हाय ! हाय ! पापिनी मैंने पूर्वभवमें ऐसा कौनसा भयकर पाप किया होगा कि जिसके फल से यह दारुण दुःख मुझे प्राप्त हुआ । ऐसा विचार मदनावली अपने मनमें कर रही थी कि उसी समय पूर्वभवके स्वामी विद्याधरका जीव (जो विद्याधरकी पर्याय से स्वर्गमें देव हुआ था) स्वर्गसे मदनावलीके पास आया। मदनावलीके जीवने पूर्व भवमें मुनिनिंदा की थी और उसके फलसे ही यह रोग होगया है ऐसा मुनिनिंदा करनेका समस्त पूर्वभव का वृत्तात उस देवने बतलाया ।

अर्थ—उस देवने फिर कहा कि हे मदनावलि ! तू सात दिवस पर्यंत भावोसे श्री जिनदेवका पचामृत रस से अभिषेक कर और पवित्र सुगधित केशर-कर्पूर-चदन आदि पदार्थों के रस से श्रीजिनदेवके पवित्र चरण कमलोंका लेप कर तो ऐसा करनेसे तेरी यह दुस्सह व्याधि शीघ्रही शमन हो जायगी । इसमें जरा भी सदेह नहीं। ऐसा कहकर वह देव अपने स्थानको गया और मदनावलीने वह सब विधि समस्त सांगोपांग की । ५९२ । ५९३ । ५९४ ।

अर्थः—– मदनावलीने अपने रोगकी शांतिके लिये तीनो काल पचामृतसे श्रीजिनदेवका अभिषेक किया और सुगंधी पदार्थोंके रससे प्रभुके पवित्र और सुगधित चरणोपर लेप किया। इस प्रकार करनेसे उसकी देह अत्यंत सुगधित

त्रिकाले सा जिनेन्द्राणामभिषेक विधानत । चक्रे च पादयोर्लेपं नित्यं सुगधजै रसै ॥ ५९५ ॥
एवच क्रियमाणे हि तस्या देहोऽभवन्महान् । सुगधाढ्यश्च सर्वेषा प्रिय स्नानप्रभावत ॥ ५९६ ॥
प्रतिघस्त तत सापि चकार घनमोदत । अभिषक जिनेंद्राणा पादयो लेपन तथा । ५९७ ॥
काललब्ध्या तत सापि, लात्वा दीक्षा जगन्नुताम् । दुर्धरं च तपस्तेपे कर्मवृंदारिहानये ॥ ५९८ ॥
अन्ते सन्यासमादाय विशुद्धमनसा तप -- । प्रभावात् सा निहत्याशु स्त्रीलिंगं निंदितं बुधै ॥ ५९९ ॥
समाप पचमे नाके देवत्व शर्मसंभृते । धर्मेत शिवसंप्राप्ति का कथा नाकसद्मन ॥ ६०० ॥
सोमरो दिव्यसौख्यानि प्रभुज्यति स सर्वदा । पुण्यधर्मप्रभावेन धर्मतो दुर्घट च किम ॥ ६०१ ॥

तथा सुदर होगई ॥ ५९४ ॥ ५९५ ॥

अर्थः-- तदनतर वह मदनावली हर्षके साथ प्रति दिवस श्रीजिनदेवका पचामृताभिषेक करने लगी। और सुगधी द्रव्योसे जिनेंद्र चरणोका लेप करने लगी। काललब्धि प्राप्तकर वह मदनावली श्रीभगवती जिनेंद्रदीक्षाको धारण कर दुधर तपश्चरण करने लगी। अतमें विशुद्ध भावोसे सन्यास धारण कर स्त्रीलिंगको छेद पाचवें स्वर्गमें देव हुई। सच है धर्मसे सब कुछ होता है। जब मोक्षकी प्राप्ति धर्मसे होती है तो स्वर्गकी प्राप्ति में क्या आश्चर्य ?

अर्थ-वह देव स्वर्गके दिव्य सुखोको प्राप्त हुआ। सो ठीक ही है क्योकि धर्मके प्रभावसे कोई भी कार्य दुर्घट नहीं रहता। ६०१ ॥

तस्माच्च्युत्वा स्वकालांते नरजन्म शुभे कुले । संप्राप्य सयमं धृत्वा मोक्ष शिवसिद्धये ॥ ६०२ ॥
यास्यति कर्मनिर्णाशात सिद्धस्थानेच्युतोरमे । शुनि भो मगधाधीश तत्रापि सर्वपूजितम । ६०३ ॥
भो भव्या श्रीजिनेन्द्रस्य पादयोश्च प्रलेपनात् । सुखमाप्ताच सा राज्ञी प्रत्यक्ष खलु पश्यत ॥ ६०३ ॥
चदनस्य प्रलेपेन सुखमाप्ता घना जना । लेपनीयौ जिनपादौ ततश्चंदनकुकुमै ॥ ६०४ ॥
शुक: कीरी जिनेन्द्रस्य पादाग्र धृत्मजसा । शालिकण पून तौहि गतौ स्वर्गे मनोहरे ॥ ६०५ ॥
यास्यत क्रमतो मोक्षे बुधा नित्य जिनोत्तमम । पूजयन्त्र वरै शुद्धैरक्षतैरक्षतासये ॥ ६०६ ॥
पुष्पौघै कुंदपद्मौर्घ विभो पूजा कृता यत । लीलावत्यभिधा श्रेष्ठश्रेष्ठिन्या प्रतिवासरम् ॥ ६०७ ॥

अर्थ-वह देव स्वर्ग से चयकर मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर और जिनेन्द्र भगवानकी पवित्र दीक्षाको धारण कर मोक्षको प्राप्त होगा। हे श्रेणिक महाराज यह सब महिमा भगवान पर चदन चढानेके पुण्यके फल की है। भगवानके चरणकमलोंकी चदन से पूजा करने का महान् फल है। ६०१। ६०२॥

अर्थ—हे भव्य जीवो! श्रीजिनेंद्र देवके पवित्र चरण कमलोंपर चदनका लेप करनेके फलसे मदनावली ने प्रत्यक्ष फल प्राप्त किया। भगवानके चरण कमलपर चदनका प्रलेप करनेसे बहुत से जीव सुखको प्राप्त हुए है इस लिये चंदन से पूजा नित्य ही करनी चाहिये॥ ६०३। ६०४॥

अर्थ—एक तोता दपती तोताके जोडा) ने श्रीजिनेन्द्र भगवानके पवित्र चरण कमलोंकी अक्षत के कणोंसे बडी भक्तिपूर्वक पूजा की। उसके फलसे वे दोनों स्वर्ग को प्राप्त हुए। और क्रमसे मोक्षको प्राप्त होंगे। इसलिये भव्य जीवों को शुद्ध अक्षतोंसे श्री जिनेन्द्र देवकी पूजा नित्यही करनी चाहिये॥ ६०५। ६०६॥

अर्थ--श्रीजिनेन्द्र भगवानके पवित्र चरण कमलोंकी कुंद-पद्म चमेली गुलाब आदिके फूलोंसे पूजा कर

दिवि साच गता ह्यग्रे मोक्षं यास्यति निश्चयात् । अतो भव्या जिनेन्द्राश्च पूजयध्व सुपुष्पत ॥ ६०८ ॥
हालिकाभिधवैश्यो यत्गुरुदेशात् कृतीति वै । नियमं एकग्रासेन पूजयिष्यामि वै जिनम् ॥ ६०९ ॥
सोपि नृपार्चितो जात तत्फलेन पुनश्च स । दीक्षा जैनेश्वरीं धृत्वा दिवि देवोऽभवत्खलु ॥ ६१० ॥
मोऽमर स्वर्गतश्च्युत्वा लप्स्यति मोक्षमक्षयम् । कुर्वंतु सर्वदा भव्या नैवेद्यै पूजन प्रभो ॥ ६११ ॥
जिनपादारविंदाग्रे नांशार्थं मोहकर्मण । यत् खलु शुद्धभावेन दीपस्योद्योतनं कृतम् ॥ ६१२ ॥
धूपश्रीकन्यका जाता दिवि देवागनापि सा । चाग्रे यास्यति मोक्ष हि अनुक्रमाच्च सा सुरी ॥ ६१३ ॥

लीलावती नामकी सेठानीने स्वर्ग पद प्राप्त किया और क्रमसे मोक्षको जायगी । इस लिये भव्य जीवोको भगवान जिनेंद्र देवकी फूलोसे पूजा नित्य करना चाहिये ।

अर्थः— एक मुनीश्वरके धर्मोपदेशसे हालिक नामके एक अतिशय दरिद्र वैश्यने श्रीजिनेंद्र भगवानके पवित्र चरणकमलोके समक्ष एक ग्रास मात्र चढानेका नियम लिया था । उस पुण्यके प्रभावसे उसका उसी पर्यायमें समस्त दरिद्रताका दुःख दूर होगया और राजासे पूजित हुआ । अतमे मरकर वह स्वर्गमें देव हुआ । और आगे वह मोक्षको नियमसे प्राप्त होगा । इसलिये भव्य जीवोको भगवान जिनेंद्र देवकी पूजा नैवेद्यसे प्रतिदिन करनी चाहिये ॥ ६०९ । ६१० । ६११ ॥

अर्थः— मोहनीय कर्मका नाश करनेके लिये श्रीजिनदेवके समक्ष शुद्ध भावोसे दीपकोंका उद्योत अवश्य ही करना चाहिये । धूपश्री नामकी कन्याने दीपकी पूजाके फलसे स्वर्गमें देवांगनाकी पर्याय प्राप्त की । और क्रमसे मोक्षको भी प्राप्त करेगी ॥ ६१२ ॥ ६१३ ॥

विनयधरो नाम्नेति श्रेष्ठिपुत्रश्च शुद्धधी । धूपपूजाप्रभावेन तुर्यकल्पेऽमरोभवत् ॥ ६१४ ॥
सोपि यास्यति भो भव्या ह्यनुक्रमात् शिवास्पदं । पूजयध्वं जिनेंद्रं वै धूपव्यूहै शिवाप्तये ॥ ६१५ ॥
रूपिणी नामत ख्याता दरिद्रवणिजात्मजा । केलाम्रादि फलौघ च सा जिनाग्रे फलाप्तये ॥ ६१६ ॥
धृत्वा इत्याह भो स्वामिन् देहि मोक्षफल च मे । कृत्वा प्रतिदिनं चैव मृत्वा समाधिना तत ॥ ६१७ ॥
आद्ये स्वर्गेमरो जातश्चाग्रे मोक्ष गमिष्यति । फलेज्याफलतो भव्या किं न स्यात् शर्मसंतति ॥ ६१८ ॥
एकैकद्रव्ययोगेन पूजयित्वा जिनाधिपम् । संप्राप्ता शर्मनिकरं नराश्च बहवो भुवि ॥ ६१९ ॥
विष्णुभट्टो द्विजश्चैको वसुद्रव्यैर्जिनं मुदा । पूजयित्वा दिवि चाद्ये संजातो देवराट् खलु ॥ ६२० ॥

अर्थः— विनयंधर नामके एक सेठके पुत्रने शुद्ध भावोसे श्रीजिनेंद्र भगवानकी धूपसे पूजा की । उसके फलसे वह चौथे स्वर्गमें देव हुआ । और वहासे चयकर क्रमसे मोक्षको जायगा । इसलिये हे भव्य जीवो धूपसे भगवानकी पूजा महान फल देनेवाली है । इसे प्रति दिन करो ॥ ६१४ ॥ ६१५ ॥

अर्थ—मोक्षफलकी इच्छासे रूपिणी नामकी एक दरिद्र वणिकपुत्रीने केला आम–नारगी–नीबू आदि उत्तम फलोसे श्री जिनेन्द्र भगवानकी पूजा की उसके फलसे वह मर कर स्वर्गमें देव हुई । और फिर वहासे चयकर मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर मोक्षको प्राप्त होगी । फलोकी पूजा से भव्यजीवोको समस्त प्रकार के सुख प्राप्त होते है ।

अर्थ—एक एक द्रव्यसे ही भावभक्ति पूर्वक श्रीजिनेन्द्र देवकी पूजा करनेवाले बहुतसे भव्य जीव उत्तम सुख को प्राप्त हुए है ।

अर्थ—विष्णुभट्ट नामक एक ब्राह्मणने श्रीजिनेन्द्र देवकी आठ द्रव्योंसे पूजा की थी उसके फलसे वह इन्द्रपद को प्राप्त हुआ था ।

भेकाद्या शुद्धभावेन जिनपूजात्तमानसा । तेपि स्वर्गं गता भव्या अत कुर्वंतु ता सदा ॥ ६२१ ॥
पूजा ये नरसत्तमा सुविधिना कुर्वंति ते निश्चयात् । इन्द्रस्यैव खगेन्द्रपन्नगपते भूतिं समाप्याशु वै ॥
यास्यंत्येव शिवास्पद मुनिनुतं नाशादिकर्मोज्झितं । मत्वेत्येव बुधोत्तमा जिनपते इज्या कुरुध्व च भो ॥ ६२२ ॥
अनेन विधिना भूप कलौ मूढाश्च ये नरा । करिष्यंति जिनेन्द्राणा पूजा नैव मदोद्धता ॥ ६२३ ॥
तस्मिन् तदुद्भवा क्रूरा सुबोधलववर्जिताः । वचनोत्थापका स्वस्यागमस्यैव प्रतिश्चयात् ॥ ६२४ ॥
अंगपूर्वा नराधीश स्थास्यंति मत्पर खलु । पक्षत्तुसोमवर्षांते प्रत्याष्टहीनतश्च ये ॥ ६२५ ॥

अर्थ—मेंढक आदि क्षुद्र पर्याय के धारक जीवोने भावोकी विशुद्धिसे श्रीजिन देवकी पूजा की और स्वर्गादिक उत्तम पदकी प्राप्ति की । इसलिये भगवान जिनेन्द्र देवकी पूजा सदा करते रहना चाहिये । ६२१ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव भव्य भावोसे विधिपूर्वक श्रीजिनेंद्र भगवानकी पूजा करते हैं वे निश्चय से इन्द्र धरणेन्द्र आदि की महान् दिव्य विभूतिको प्राप्त होते हैं । वे भव्य जीव मुनियोसे पूज्य और समस्त प्रकारके कर्मोसे रहित ऐसी मोक्षको प्राप्त होते हैं । इसलिये भव्य जीवोंको भगवानकी नित्य पूजन करनी चाहिये ॥ ६२२ ॥

अर्थ—हे राजन् शास्त्रोकी उपर्युक्त विधिसे जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवानकी पूजा नहीं करते हैं वे मदोद्धत उसी भवमें क्रूर और हठग्राही बन जाते है उनका सम्यग्ज्ञान नष्ट हो जाता है । जो आगमके वचनोका उत्थापन करता है उसका क्या हाल नहीं होता । ६२३ । ६२४ ॥

अर्थ—श्रीसर्वज्ञ देव महावीर स्वामीने राजा श्रेणिक से कहा कि हे राजन् मेरे निर्वाण होनेके बाद एकसौ बासठ वर्ष पर्यंत अंगपूर्वोका ज्ञान पूर्ण रूपसे रहेगा ।

चाग्रे धर्मप्रकाशार्थं करिष्यति मुनीश्वरा । ग्रथाना सकलानाच पर्णेषु रचना खलु ॥ ६२६ ॥
हायन प्रति तस्मिन् वै मुनिमार्गस्य हानिता । भविष्यति शरीरस्य हीनसहननाश्च वै ॥ ६२७ ॥
जिनधर्मात् भविष्यति भूदेवा भूमिपास्तदा । सुबोधवर्जिताश्चास्य निंदकाश्च परान्मुखा ॥ ६२८ ॥

अर्थ—इसके बाद मुनीश्वर गण निःस्वार्थ और पवित्र वृत्तिसे धर्म प्रकाशनके लिये श्रीजिनदेवकी ही वाणी को ताड पत्र पर लिखकर ग्रथोकी रचना करेंगे।

अर्थ—इसके बाद क्रमसे प्रतिवर्ष मुनिमार्गकी हानि होती जायगी। पचम कालमें हीन सहनन होनेसे सिंह वृत्तिके चारित्रको धारण करने वाले विरले ही होगे। ६२७॥

अर्थ—हे राजन्! पचम कालमें राजा और ब्राह्मण जिनधर्मसे परान्मुख हो जांयगे। उनमें सम्यग्ज्ञानका अभाव हो जायगा जिससे वे उलटे जैन धर्मके निंदक बन जायगे॥ ६२८ ॥

---

१ धर्मकी स्थिति और वृद्धि के कारण राजा धर्मगुरु और निर्ग्रंथ ऋषिगण माने है। राजा यदि नीतिवान सदाचारी और सत्य धर्ममें तत्पर है तो प्रजा भी राजाके समान नीतिमान सदाचारी और धर्ममें तत्पर होगी। यथा राजा तथा प्रजा। वर्तमान समयमें राजाओंमें धर्मवासना—नीति—और सदाचारका अभाव होगया तो प्रजा भी वैसी होगई। ऐसे कायदे कानून बन गए जिनसे अधर्म फैलाया जासके—हिंसा की जासके—व्यभिचारमें धर्म कायदा कानूनसे होने लग गया। इसी प्रकार धर्मगुरु ब्राह्मण गृहस्थाचार्योंके अभाव होनेसे (ब्राह्मण लोगोंने जैनधर्म छोड देनेसे) सोलह संस्कार और उत्तम आचरणोंका अभाव होगया नीति प्रतिदिन उठने लग गई। ब्राह्मणोकी देखा देखी अन्य प्रजा भी धर्मसे परान्मुख होगई। निर्ग्रंथ ऋषियोका अभाव होनेसे धर्मका मूल ही नष्ट होगया। लोगोने धर्ममें मनमानी कल्पना करली और ऋषिगणोंके अभावके कारण उपदेश न होनेसे जैनसंख्या का अभाव हुआ। नवीन जैन बनते नहीं, जो हैं सो अन्य धर्म स्वीकार करने लगे।

अतो मुनिपदस्यैव धारका पुरुषाः कलौ । तुच्छा जानीहि त्वं भूप यथा भूपास्तथा प्रजाः ॥ ६२९ ॥
आदिवीरस्य पुत्रेण रचिता ब्राह्मणाश्च ये । जिनधर्मप्रकाशार्थं पूज्या. सर्वेषु चोत्तमाः ॥ ६३० ॥
जिनधर्मविनाशाय तेच जाता बुधोत्तमाः । दुष्टकालप्रदोषेण न दोषः कस्यचिद् भुवि ॥ ६३१ ॥
तुर्यकाले समा सर्वे वैश्याश्च क्षत्रिया द्विजा । खलु चैकेव चेष्टाढ्या जिनधर्मप्रसेवकाः ॥ ६३२ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक उपर्युक्त कारणो से मुनिपदके धारक वीर पुरुषो की सख्या स्वल्प होगी । सो ठीक ही है जैसा राजा वैसी प्रजा होती ही है ।

अर्थ—हे श्रेणिक—श्रीआदिप्रभु भगवान ऋषभ देव के पुत्र भरत चक्रवर्तीने जिन ब्राह्मणोकी स्थापना धर्मकी वृद्धि और धर्मकी पवित्रता स्थिर रखनेकेलिये की थी—इसीलिये जिन ब्राह्मणो को पूज्य माना था और सर्व वर्णोंमें श्रेष्ठता प्राप्त हुई थी वे ही ब्राह्मण जैनधर्मके नाशक—निंदक—और द्वेष करने वाले हो जायगे। यह सब कालका ही दोष है। इसमें किसी का अपराध नहीं। ५३० । ६३१ ॥

अर्थः— चौथे कालमें समस्त वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणोंकी एक समान क्रिया—आचरण और धार्मिक प्रवृत्ति थी । इसलिये सब एक ही जिनधर्मके सेवन करनेवाले धार्मिक थे ॥ ६३२ ॥

---

१ धर्मकी वृद्धि और पवित्रताकी स्थिरता रखनेवालों में मुख्य मुनिराजही होते है । वे एकसाथ हजारो जीवो से अधर्म छुडाकर सबको धर्म मार्गमे लगा सक्ते है । ऐसी सामर्थ्य गृहस्थमें नहीं होतीं है—परतु कालके दोपसे अपने धर्मभाई ही मुनियो की निंदा कर मुनिधर्म का उठाने का प्रयत्न करेंगे । मुनियोमे मिथ्या अवर्णवाद लगावेंगे । इन कठिनाइयों से मुनि धर्मका अभाव होगा । और मुनि धर्मके अभाव होनेसे जैनधर्मकी भी अत्यत हानि होगी ।

अस्मिन् भूपा द्विजाः सर्वे प्रामाश्चैकत्वता खलु । केवलच स्थिता वैश्याश्चैकाश्चास्य प्रपालका ॥ ६३३ ॥
अतो हि श्रीजिनेन्द्रोक्तो धर्मोय दृश्यते च वै । अल्पसत्त्वस्य दृष्टात शृणुथ यन्मयोदितम् ॥ ६३४ ॥
कंठीरवो यथा मत्तवारणावारसंक्षयम । क्षणेनैकेन सकुर्यात एकश्च नात्र संशय ॥ ६३५ ॥
स च आम्रनगस्थाना फलानामदनेषु च । नो क्षम कारण किं तु विपक्षत्वात् बुधा खलु ॥ ६३६ ॥

अर्थः— हे राजन् ! पचम कालमें तो समस्त ब्राह्मण एव राजा गण विधर्मी क्रियाभ्रष्ट और सदाचार विहीन होगये । एक केवल वैश्य ही जिनधर्मके प्रतिपालक रह गये ॥ ६३३ ॥

अर्थः— हे राजन् ! इसी लिये यह सर्वोत्कृष्ट जैनधर्म इस पचम कालमें अल्प सत्त्वधारक जीवोंमें ही देखा जाता है । इसका दृष्टात बतलाते है— ॥ ६३४ ॥

अर्थः— हे राजन् ! महाविक्रमशाली सिंह अकेला ही समस्त गजोंको मार कर शीघ्र ही भगा देता है । इसमें कुछ भी संदेह नही है । सिंहकी शक्ति सर्वोपरि और सर्वोत्कृष्ट है । तो भी वह पर्वतपरके आम्रके फलोको तोडनेके लिये समर्थ नही है । इसका कारण क्या है ? इसका कारण यही है कि उसके पक्ष (पख) नही है । यद्यपि कौआ शक्ति रहित है और जातिसे हीन है । तथापि वह पक्ष वा पंखोंको धारण करनेवाला है । इसलिये अर्थात् केवल पक्ष धारण करनेसे ही वह कौआ उन पर्वतके आमके फलोको खानेमें समर्थ हो जाता है । अभिप्राय यह है कि फल एक सर्वोत्तम पदार्थ है । उसको पक्षधारी पक्षी ही खा सकते हैं। पक्ष रहित होनेसे सबसे अधिक बलवान सिंह भी उनको नहीं खा सकता । इसी प्रकार मोक्ष भी एक सर्वोत्तम पदार्थ है । उसको वही पा सकता है जिसके भगवान अरहत देवका पक्ष है । जिसके अरहत भगवानका पक्ष नही है, उनके वचनोंमें जिसका श्रद्धान नहीं है उसे कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती । इसलिये मोक्ष प्राप्त करनेके लिये भगवान

धनाक्षश्च शक्तिहीनाश्च तथापि पक्षभाक् खलु । स्याद्धनेषु तेषा च जातिहीनोपि स क्षम ॥ ६३७ ॥

धर्मस्यनतश्च ससारे पक्षः स्यात यस्य दृश्यते । महत्त्वं च तस्यैव तद्वते अमहत्वता ॥ ६३८ ॥

अरहत देवके वचनोका पक्ष अवश्य रखना चाहिये। भगवान अरहंत देवके वचनोका श्रद्धान करना ही मोक्षका मूल कारण है ।

अथवा समुदाय शक्तिसे जातिहीन मनुष्य अपने ऐसे कार्य निकाल लेते है । जो समुदाय शक्ति रहित उत्तम जाति वालोसे भी नही हो सकें। परंतु इसमें बडप्पन नही है । बडे २ शक्तिशालियोको नीचा दिखा देते हैं ॥ ६३५ ॥ ६३६ ॥ ६३७ ॥

अर्थ – हे राजन् कलिकालमें इस ससारम जिसके पक्षमें बहुतसी सख्या है वह अपना बल प्रकट करेगा उसका महत्व प्रकट होगा । और जिनके पक्षमें सख्या स्वल्प हे वे सर्वांग शक्तिशाली होने पर भी अपना महत्व प्रगट नही कर सकेंगे । अपना जैन धर्म यद्यपि ससारमें सर्वोत्कृष्ट है सर्वोत्तम है पवित्र है सदाचार से परिपूर्ण है परतु राजाओका पक्ष न रहने से कमजोर होगया है। इसी प्रकार मुनिवर्गका पक्ष जा से कम होनेलगा तबसे उसका महत्व छुपता जाता है । इसलिये जो लोग धर्मका महत्व प्रगट करना चाहते हैं उनको धर्मगुरुओकी आज्ञा शिरोधार्य कर धर्मके रहस्य जाननेवाले सच्चे विद्वान त्यागियो की पक्षमें रह कर अपने धर्मकी रक्षा और वृद्धी करनी चाहिये । जो सुधारक मुनिगण और विद्वानोंको सत्य और आगमोचित पक्षको छोडकर धर्मके बहाने अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते है और धर्मकी पवित्रता विधवाविवाह, जाति पांति लोप और विजातीय विवाह आदि धर्मविरुद्ध कारणोसे नष्ट करना चाहते है उनको विचार करना चाहिये कि इस प्रकार पक्षभेद कर देनेसे धर्मका सत्यानाश ही होगा । समुन्नति नहीं ॥ ६३८ ॥

मित्रकालेच अस्यैव पालका धारका नृपा । प्रजा सर्वा द्विजा सर्वे अत सर्वेषु भो बुग ॥ ६३९ ॥
उत्तमता च ह्यस्यैव अन्यस्य न्यूनता खलु । तद्दृते ननु विज्ञेयं विपरीतस्य कारणम् ॥ ६४० ॥
ततो धर्मप्रकाशार्थं सर्वेषोकस्य माक्षिनः । नूतना स्थापना लोका करिष्यति च नास्तिन ॥ ६४१ ॥

अर्थः — चतुर्थ कालमें इस जैनधर्मके प्रतिपालक राजा और ब्राह्मण आदि सभी प्राणी थे। इसलिये इसका डंका सर्वत्र अविच्छिन्न रूपसे बजता था ॥ ६३९ ॥

अर्थः — यह धर्म सर्वोत्कृष्ट है। त्रिलोक पूजित है। और सर्व मान्य है। और धर्म इस धर्म (जैनधर्म) से सब बातोंमें अधम है। परन्तु जैनधर्मका पक्ष मुनियोंके सदुपदेशके विना समस्त जीवोंको मिलना कठिन है। इसलिये इस जैनधर्मके पालन करनेवालोंकी संख्या कम होगई है। इसलिये मुनिधर्म और सच्चे आगमके जानकार विद्वानोंकी पक्षको एकदम मजबूत बना देना चाहिये जिससे धर्मकी विपरीतता नष्ट हो जाय ॥६४०॥

---

१ कलिकालमें जैनधर्मके भीतर इस प्रकार धर्मकी स्थापना मायावी लोगोंसे कितनी बार हुई है। परन्तु दिगम्बर जैन महर्षियोंने उनको सघबाह्य समझकर उनका बहिष्कार ही किया है। जैन संख्या बढानेके लोभमें उनको भ्रष्ट शिथिलाचारी संघबाह्य नकली जैनधर्मधारक जैनोंको अपने में नहीं मिलाया। भद्रबाहुके समय जब श्वेताम्बर संघ उत्पन्न हुआ तब भी दिगम्बर जैन महर्षियोंने उनको (श्वेताम्बर) अपने में नहीं मिलाया। मायावी लोगोंने लोगोंका धर्मका बहाना बतलाकर नवीन धर्म—अपने स्वार्थ को सिद्ध किया। समाजमें भेदभाव डालकर कितने ही मनुष्योंको अनुकूल बनाया। और जो सच्चे धर्मात्मा थे उनको द्वेषी माना। इसी प्रकार बार २ जैन धर्ममेंसे कितनेही नकली धर्म उत्पन्न हुए।

केचिच्च द्वेषका मर्त्या केचिच्च सेवका खलु । एवं तस्मिन् भविष्यति कलौ च मगधाधिप ॥ ६४२ ॥

जैनागमस्य कथेषु अमीषां मगधेश्वर । विश्वासो न भविष्यति संशयाधीनचेतसाम् ॥ ६४३ ॥

अथाना पूजका केचित् जिनबिंबस्य निंदका । कलौ भेदा अनेके च ज्ञातव्या श्रेणिक त्वया ॥ ६४४ ॥

अर्थ—हे मगधाधिप कलिकालमें मायावी मनुष्य धर्म प्रकाशनके लिये समस्त लोगोंकी साक्षीमें नूतन स्थापना करेंगे। कितने ही मनुष्य उनके वैरी हो जायगे । और कितने हो सेवक बन जायगे ॥ ६४२ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज! संशय से मन और बुद्धि जिनकी भ्रमित होगई है ऐसे उपर्युक्त मनुष्य श्री जिनागमके सत्य २ वचनोंका भी विश्वास (श्रद्धान) नहीं करेंगे ॥ ६४३ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक! कितने ही तो केवल ग्रंथोंके पूजक बन जायगे । कितने ही जिन बिंबोंकी पूजा करनेका निषेध करेंगे । हे राजन! कलिकालमें जैनधर्ममेंसे बहुत से पंथ अपने अपने मनमें अपनी कल्पना कर अनेक प्रकार से जैन धर्मका रूप बिगाडेंगे । ६४४ ॥

---

१ वर्तमान समयमें कितनेही अल्पज्ञानी अपने मतलबके लिये सब ग्रंथोंकी अमान्यता कर रहे हैं । उनके जिनागमका सर्वथा श्रद्धान नहीं है तो भी अपने को जैनावलंबी बताकर लोगोंको यह जाहिर करते हैं कि हम भी जैन हैं । परंतु उनके जब आगमका सर्वथा ही श्रद्धान नहीं है तब जैनपना कैसा ? उनका जैनपना कुछ स्वार्थ पर है । जो अतिशय भयानक है ।

२ श्वेताम्बरों में से ढूंढिया जिनबिंबोंकी पूजाका निषेध करते हैं । दिगंबर में तारण पंथी भी जिनमंदिर में पूजन नहीं करते । परंतु दिगम्बर जैन धर्ममें या उसके आगममें अवर्णवाद नहीं लगाते । जो लोग दिगम्बर जैन भी जैनबिंबोंकी पूजन करनेका निषेध करते है इसका कारण उनको आगमके श्रद्धान का अभाव है ।

वसुभूपालवत् स्वस्य मतस्य ते नरा खला । दृढ पक्ष करिष्यति मप्तधावनिदु खदम् ॥ ६४५ ॥
जिनात्तपुरुपाणा च केचिच्छ्राद्धानिका नरा । खला निंदा करिष्यंति जिनागमप्रघातका ॥ ४५६ ॥
पूर्वाचार्यकृता सर्वामभिपेकादिका क्रियाम् । तस्मिन्नुत्थापयिष्यति न मूढा पंचमोद्भवा ॥ ६४७ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज ये लोग वसुभूपालके समान अपने अपने मिथ्या मतका हठग्राही पक्ष कर सातवें नरक जाने लायक पाप सचय करेंगे ।

भावार्थ—सत्यधर्म (जो अरहत भगवानने कहा है) को दूपण लगा कर ये लोग जैनधर्ममें से नवीन धर्म अपने मनकल्पना से गढ कर अरहंत भगवान का कहा हुआ है ऐसी मिथ्या घोपणा करेंगे । और अपने मिथ्यामतके पक्षको दृढ करेंगे । श्वेतांवर—दूढिया—और भी अनेक पथवालोने इसी प्रकार अपने २ मत दिगवर जैनमतमें से निकाल कर वनाये । और कितने ही दुष्ट मनुष्य अव भी ऐसा ही पाप कर रहे है ॥ ६४५ ॥

हे राजन् ! कितने दुष्ट श्रावक अतरग से श्रीजिनागमका घात कर मूलोच्छेद करेंगे परतु फिर भी अपनेको श्रावक कहला कर जिनात्त पुरुपोकी (मुनियोकी) अथवा साधर्मी सज्जनो को निंदा करेंगे । भावार्थ, कितने दुष्ट हृदयके श्रावक मनकी दुष्टता और मिथ्यात्वके तीव्रोदयमें जिनागमका तो नाश करेंगे ही परतु जिनागमके अनुसार चलने वाले मुनिगण तथा भव्य धर्मात्मा श्रावको की निंदा भी करेंगे । इस प्रकार अपने धर्मका मूलोच्छेदन वे स्वयं कर पापके भागी वनेंगे ॥ ६४६ ॥

अर्थ—हे राजन् पचम कालके श्रावकगण पूर्वाचार्यप्रणीत और तीर्थकर द्वारा प्रतिपादित अभिपेकादि पवित्र आगमोक्त क्रिया का उच्छेद करेंगे ॥ ६४७ ॥

नूतनां नूतनां सर्वो करिष्यति जडाशया । ते नराश्च क्रिया भूप स्वस्वमतिविकल्पत. ॥ ६४८ ॥
वय श्रद्धानिका यूयं मिथ्यात्वपथसेवका । मानयिष्यंति ते चित्त क्रियालेशोज्झिता खलु ॥ ६४९ ॥
स्वधीकल्पितग्रंथान् वै स्वाध्याये पूजनादिके । कार्ये प्रवर्तयिष्यति नो तद्धिते खलाशया ॥ ६५० ॥
इत्थ जैनेन्द्रधर्मस्य मध्ये भेदोत्करा खलु । तस्मिन्नेव भविष्यति स्वस्वमतविनाशका ॥ ६५१ ॥
भवंत्येव कलौ भेदा प्राक् चतुर्थाच्च निश्चयात् । चेलनाकात वुद्धस्व शर्मलेशविवर्जिते ॥ ६५२ ॥

अर्थ—हे राजन पचम कालके श्रावकगण नवीन नवीन क्रियायें अपने मनसे गढकर करेंगे। और धर्मके सत्य मार्ग का लोप करेंगे ॥ ६४८ ॥

अर्थ— हे राजन् ! श्री जिनदेव प्रदिपादित प्राचीन क्रियाओका लोप करनेवाले श्रावकगण अपनेको सम्यग्दृष्टी प्रसिद्ध करेंगे। और जो श्री जिनदेवके मार्ग पर आगमानुकूल चल रहे हो उनको मिथ्यात्वी बतलायेंगे इस प्रकार की पवित्र क्रियाओका परित्याग करेंगे। ६४९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! अपने मनकी कल्पना से अपने मतलबके ग्रंथ बनाकर उनका ही स्वाध्याय करेंगे, प्रचार करेंगे और उन ग्रंथोसे ही पूजन आदि धर्मक्रियाओकी प्रवृत्ति करायेगे। ऐसे लोग आत्महितके लिये कुछ नही करेंगे।

अर्थ—इस प्रकार इस जैन धर्ममें अनेक भेद होगे और वे अपने अपने धर्मका नाश करने वाले ही होगे।

अर्थः— हे श्रेणिक ! जिसमें कल्याणमार्गका सर्वथा अभाव है ऐसे इस कलिकालमें आगामी चौथे कालके पहले पहले इस जैनधर्ममें बहुतसे भेद हो जायगे।

भावार्थः— इस पंचमकालमें जैनधर्ममें भी बहुतसे भेद हो जायगे जो आत्मकल्याणसे सर्वथा रहित होंगे॥६५२॥

हुडासर्पिणि काले हि भवति नो कदाचन । जिनधर्मस्य हानिश्चान्यत्र भो मगधेश्वर ॥ ६५३ ॥
चेद्दग्विभो ! दयाधीश कियत्काले गते सति । आयात्येव तदा चाह त प्रति दिव्यभाषया ॥ ६५४ ॥
वसुवेदेन्दुसख्यानां चतुर्विंशतीना गत । हुडको जायते ह्येको । तत्रयाणा मतश्च स ॥ ६५५ ॥
असिन्नेव भवत्येव ह्यनर्थां चेलनापते । तीर्थंकरस्य पुत्र्यौ चक्रेश्वरस्यापमानता ॥ ६५६ ॥
प्रभोर्गात्राद्प्यधिको दोर्बलेरुच्चता तनो । जेपनार्थंच भ्रमता धराया वृषभस्य वै ॥ ६५७ ॥
पदवीधारकाणा च ह्रासोपसर्गमेव च । धार्मिकाणा कलंकाश्च सतीनामवमानता ॥ ६५८ ॥

अर्थः— हे राजन् यह इतना धर्मका भेदभावका विप्लव हुंडासर्पिणी कालमें ही होता है । अन्य कालोमें नही । इसी लिये इस कालमें जैनधर्मकी हानि विशेप होगी ॥ ६५३ ॥

अर्थः— महाराज श्रेणिकने हुंडावसर्पिणी कालको ऐसा दुष्ट सुनकर भगवानसे पूछा कि हे स्वामिन् ! हे वीर प्रभो ! कितने कालके बाद हुंडावसर्पिणी काल आता है ? तब दिव्य ध्वनिसे भगवानने कहा कि १४८ एकसौ अडतालीस चौवीसी व्यतीत होनेपर एक हुंडक काल आता है ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! हुंडक कालके प्रभाव से बडी २ विपरीत बातें इस भरतक्षेत्रमें होंगी । महान् अनर्थ होंगे

१ तीर्थंकरोंके पुत्रीका जन्म होना । २ चक्रधरका अपमान होना । ३ प्रभु तीर्थंकरके शरीर से अधिक ऊंचा शरीर बाहुबलि का होना । ४ श्रीवृषभदेवका आहारकेलिये पट्मास पर्यंत परिभ्रमण होना । ५ पदवी धारक त्रेपठि सलाका पुरुषोंका न्हास होना । ६ तीर्थंकर देवको छद्मस्थ अवस्था में उपसर्ग होना । ७ धर्मात्मा पुण्यपुरुषोंको कलंकका लगना । ८ सतियोंका अपमान होना । ९ सिद्ध क्षेत्रोंकी अतिशय दूर स्थापना होना । १० जिनशासन यक्षगणोंका अतिशय कम होना । ११ मिथ्या शासन देवोंकी महिमा का बढना । १२ पाखंडियोंकी बढवारी

स्थापना सिद्धक्षेत्राणा चातिदूरा शिवार्थिना । जिनशासनयक्षाणा तुच्छाश्चातिशया. खलु ॥ ६५९ ॥
मिथ्याशासनदेवाना पचार सघनो ननु । श्रीजिनाधिपबिंबानामपमान कुमानजै ॥ ६६० ॥
साधर्मिपुरुषाणा च निंदा ते श्रावका खला । करिष्यंति कलौ भूय निंदाया किं फलं भवेत ॥ ६६१ ॥
भवति परनिंदाया जाताधा परजन्मनि । मूका सदातकमाना कुब्जा दुष्टाश्च कुत्वना ॥ ६६२ ॥
बधिरा विकलागाश्च पडा दारिद्रधारका । कुरुपा दु नमोक्कार पुनपौनादिवर्जिताः ॥ ६६३ ॥
सदा शोकधरा क्रूरा निर्भाग्या मतिर्निदिता । नराश्चेदृग्विधा भूप ज्ञानलेशविवर्जिता ॥ ६६४ ॥
मुन्यादिवर्जिता धर्ममार्गपरान्मुखा खलाः । गुणमानविहीनागा परसद्मनि सेवका । ६६५ ॥

होना। १३ श्री जिनबिंबोका कुमनुष्यो के द्वारा अपमान होना। १४ और श्रावको के द्वारा ही सत्यमार्गपर जिनागमके अनुकूल चलने वाले साधर्मी पुरुषो की निंदाका होना । १५ जैनधर्ममें भेदभानका होना। इत्यादि बहुत से अनर्थ कालके प्रभाव से इस भरत क्षेत्र में होगे।

उपर्युक्त दिव्य ध्वनिके द्वारा सुनकर श्रेणिक महाराजने पूछा कि हे प्रभो श्रावकगण सच्चे धर्मात्माओ की निंदा करेंगे उसका क्या फल है ? ६५६ । ६५७ । ६५८ । ६५९ । ६६० । ६६१ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज जिनागम के अनुकूल चलने वाले भव्य जीवोकी निंदा करनेसे पर जन्ममें अधे-गूगे-बधिर-रोगी-कूबडे-विकलाग-नपुसक-दरिद्र-कुरूपी-दुःखी-कुटुब परिवार रहित-भाग्यहीन शोकातुर और ज्ञान रहित होते हैं। वे बडे भयकर दुखोको प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं। उनसे मुनियोका धर्मपालन नहीं होता। इतनाही नही बल्कि वे धर्ममार्ग से परान्मुख-गुणविहीन-दूसरोके गुलाम होते है।

हुंडासर्पिणि काले हि भवति नो कदाचन । जिनधर्मस्य हानिश्चान्यत्र भो मगधेश्वर ॥ ६५३ ॥
चेद्दविभो ! दयाधीश कियत्काले गते सति । आयात्येव तदा चाह त प्रति दिव्यभाषया ॥ ६५४ ॥
वसुवेदेन्दुसख्याना चतुर्विंशतीना गते । हुडको जायते ह्येको । तन्नयाणा मतश्च स ॥ ६५५ ॥
अस्मिन्नेव भवत्येव ह्यनर्था चेलनापते । तीर्थकृस्य पुत्र्यौ चक्रेश्वरस्यापमानता ॥ ६५६ ॥
प्रभोर्गात्रादप्यधिको दोर्बलेरुच्चता तनो । जेमनार्थंच भ्रमता धराया वृषभस्य वै ॥ ६५७ ॥
पदवीधारकाणा च ह्रासोपसर्गमेव च । धार्मिकाणा कलन्काश्च मतीनामपमानता ॥ ६५८ ॥

अर्थः— हे राजन् यह इतना धर्मका भेदभावका विप्लव हुडावसर्पिणी कालमें ही होता है। अन्य कालोमे नही। इसी लिये इस कालमें जैनधर्मकी हानि विशेष होगी ॥ ६५३ ॥

अर्थः— महाराज श्रेणिकने हुडावसर्पिणी कालको ऐसा दुष्ट सुनकर भगवानसे पूछा कि हे स्वामिन्! हे वीर प्रभो! कितने कालके बाद हुडावसर्पिणी काल आता है? तब दिव्य ध्वनिसे भगवानने कहा कि १४८ एकसौ अडतालीस चौवीसी व्यतीत होनेपर एक हुडक काल आता है ॥

अर्थ—हे श्रेणिक! हुडक कालके प्रभाव से बडी २ विपरीत बातें इस भरतक्षेत्रमें होगी। महान् अनर्थ होगे १ तीर्थकरोके पुत्रीका जन्म होना। २ चक्रधरका अपमान होना। ३ प्रभु तीर्थकरके शरीर से अधिक ऊंचा शरीर बाहुबलि का होना। ४ श्रीवृषभदेवका आहारकेलिये षट्मास पर्यंत परिभ्रमण होना। ५ पदवी धारक त्रेषठि शलाका पुरुषोका ह्रास होना। ६ तीर्थकर देवको छद्मस्थ अवस्था में उपसर्ग होना। ७ धर्मात्मा पुण्यपुरुषोको कलंकका लगना। ८ सतियोका अपमान होना। ९ सिद्ध क्षेत्रोकी अतिशय दूर स्थापना होना। १० जिनशासन यक्षगणोका अतिशय कम होना। ११ मिथ्या शासन देवोकी महिमा का बढना। १२ पाखंडियोकी बढनारी

स्थापना सिद्धक्षेत्राणां चातिदूरा शिवार्थदा । जिनशासनयक्षाणां तुच्छाश्चातिशया खलु ॥ ६५९ ॥
मिथ्याशासनदेवानां प्रचारः सघनो ननु । श्रीजिनाधिपबिंबानामपमानं कुमानवैः ॥ ६६० ॥
साधर्मिपुरुषाणां च निंदा ते श्रावका रता । करिष्यंति कलौ भूप निंदाया किं फलं भवेत् ॥ ६६१ ॥
भवति परनिंदाया जातोधा परजन्मनि । मूका सदातकामना कुब्जा दुष्टाश्च कुत्सना ॥ ६६२ ॥
बधिरा विकलांगाश्च षंडा दारिद्र्यधारका । कुरूपा दुःखभोक्तारः पुत्रपौत्रादिवर्जिताः ॥ ६६३ ॥
सदा शोकधरा क्रूरा. निर्भाग्या मतिनिंदिता. । नराश्चेदृग्विधा भूप ज्ञानलेशविवर्जिता ॥ ६६४ ॥
मुन्यादिवर्जिता धर्ममार्गपराङ्मुखा. खलाः । गुणगानविहीनाश्च परसद्मनि सेवका । ६६५ ॥

होना। १३ श्री जिनबिंबोका कुमनुष्यो के द्वारा अपमान होना। १४ और श्रावको के द्वारा ही सत्यमार्गपर जिनागमके अनुकूल चलने वाले साधर्मी पुरुषोकी निंदाका होना । १५ जैनधर्ममें भेदभावका होना। इत्यादि बहुत से अनर्थ कालके प्रभाव से इस भरत क्षेत्र में होंगे।

उपर्युक्त दिव्य ध्वनिके द्वारा सुनकर श्रेणिक महाराजने पूछा कि हे प्रभो श्रावकगण सच्चे धर्मात्माओं की निंदा करेंगे उसका क्या फल है ? ६५६ । ६५७ । ६५८ । ६५९ । ६६० । ६६१ ॥

अर्थ---हे श्रेणिक महाराज जिनागम के अनुकूल चलने वाले भव्य जीवोकी निंदा करनेसे पर जन्ममें अंधे-गूंगे-बधिर-रोगी-कूबडे-विकलांग-नपुसक-दरिद्र-कुरूपी-दुःखी-कुटुंब परिवार रहित-भाग्यहीन शोकातुर और ज्ञान रहित होते है। वे बडे भयकर दुखोको प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं। उनसे मुनियोका धर्मपालन नहीं होता। इतनाही नही बल्कि वे धर्ममार्ग से पराङ्मुख-गुणविहीन-दूसरोके गुलाम होते है।

प्रतिपद्दर्शनीवाते म्रियते मगधाधिप । अष्टमैकादशे चैव हायने द्वादशे तथा ॥ ६६६ ॥
षोडशे यौवने काले अत्रामुत्र धवाश्च ये । जानीहि परनिंदाया तच्च भो कारणं खलु ॥ ६६७ ॥
संसारभयभीतैश्च महादुःखप्रदायका । अतोहि परनिंदाच नो कर्तव्या कदाचन ॥ ६६८ ॥
परदोष न दातव्यं मा वक्तव्यमसत्यवाक् । प्रमादं नैव कर्तव्यं देवपूजादिकर्म्मसु ॥ ६६९ ॥
सोमशर्मद्विजस्येय सुता लक्ष्मीमती वरा । रूपयौवनसम्पन्ना किंचिन्निंदा यते कृता ॥ ६७० ॥
तेन पापेन तत्रैव तस्या गात्रेऽसुखाकर' । उदंबरमहाकुष्ट समुत्पन्नोतिदुस्सह ॥ ६७१ ॥
व्याधिना तेन संतप्ता महादुःखेन सा मृता । शुनी च गर्दभी पश्चात्सूकरीत्यादियोनिषु ॥ ६७२ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! धर्मात्मा भव्य जीवोंकी निंदा करनेवाले प्रतिपद चंद्रमाके समान शीघ्रही मरण को प्राप्त होते है। अथवा आठ-दश-ग्यारह-बारह-और सोलवें वर्ष जवानी अवस्थामें ही मरण कर जाते हैं। इस लोक तथा परलोक मे विधुर अथवा विधवा हो जाते है। ६६६ ॥ ६६७ ॥

अर्थ—इसलिये संसारके दुःखोंसे भयभीत पुरुषोंको चाहिये कि महान् दुःखकी देनेवाली दूसरोंकी निंदा न करें। न किसी धर्मात्मासें मिथ्या दूषण लगावें। न झूठ वचन बोलकर गुणोंका निन्हव करें। तथा देवपूजादि महान पुण्यकार्यमें प्रमाद न करें। सच्चा धर्मात्मा वही है जो निंदाके भयसे सत्य धर्मका त्याग नही करता है। प्राणांत होनेपर भी जो अपने धर्मसे च्युत नही होता वही धर्मात्मा है।

अर्थः— हे श्रेणिक ! सोमशर्मा नामक एक ब्राह्मणकी लक्ष्मीमती नामकी पुत्रीने मुनियोंकी किंचित् निंदा की थी। उस निंदाके फलसे उसको उसी भवमें भयंकर कुष्टरोग होगया था। जिससे उसको महान दुःख प्राप्त हुआ और परलोकमें-वह मर कर कुत्ती, गधी-सूकरी आदि कुत्सित योनिमें भ्रमण कर महान दुःखको प्राप्त हुई। तथा

अमित्वा च खला तत्र प्राप्यातिदु खसंततिम् । जनगमसुता पश्चाज्जाता च दु:खभोजका ॥ ६७३ ॥
मत्वेति भो स्त्रिय माच नरा: शर्मविनाशका । कदापि नैव कर्तव्या सर्वेषा स्वात्मशुद्धये ॥ ६७४ ॥
कार्यात स्वस्य निंदा भो स्वस्यैव पापघातका । उच्चगोत्रकरा नानाशर्मसंहतिदायका ॥ ६७५ ॥
परनिंदासमो लोके ह्यन्यत् पापहि प्राणिना । नास्त्येव तत्र कर्तव्य यदीच्छा शर्मसततेः । ६७६ ॥
यत्कलंक समापैव सीता शीलगुणान्विता । तद्धि निंदाप्रभावेण मा कुर्वंतु परस्य वै । ६७७ ।
खलाना सज्जनानाच ह्यन भेद पदृश्यते । खलेच्छा चेत्तदा कार्या परनिंदा ह्यनर्थदा ॥ ६७८ ॥

पीछे वह अनेक दुःखोंको भोगनेवाली चांडालकी पुत्री हुई । और किंचित् मुनिनिंदाका इतना महान कष्ट सहन करना पडा । इसलिये सब जीवो तथा स्त्रियों अपने आत्माको शुद्ध रखनेके लिय धर्म-धर्मायतन-साधर्मी भाई और मुनि आदिकी निंदा कभी भी नही करनी चाहिये ॥ ६७० ॥ ६७१ ॥ ६७२ ॥ ६७३ ॥ ६७४ ॥

अर्थः— जो अपनेसे पापकर्म अज्ञान या प्रमादसे हो जावे तो उसको दूर करनेके लिये अपनी आत्माकी निंदा करनी चाहिये । जिससे मोक्ष सुखका प्रदान करनेवाला ऊच गोत्रका बध हो ॥ ६७५ ॥

अर्थः— परनिंदाके समान अन्य कोई पाप नही है । इसलिये अपने आत्मकल्याणके लिये या स्व-भाव रूपसे भी किसीकी निंदा नहीं करनी चाहिये ॥ ६७६ ॥

अर्थ—सती शिरोमणी सीताको कलकका योग प्राप्त हुआ इसका मूल कारण पूर्वभवमें गुरु-देव-और साधर्मीकी निंदा है ॥ ६७७ ॥

अर्थ—सज्जन और दुर्जन में मात्र यही एक भेद है कि सज्जन जन किसीकी निंदा नहीं करते है । और दुर्जन करते है । जो सज्जन बनना हो तो निंदा करना छोड देना चाहिए । ६७८ ॥

ये ये दुःखाश्च जायते प्राणिना दुखदायका । ते ते ज्ञेया शरीरेषु परनिंदाया भो फलम् ॥ ६७९ ॥
दुर्जनाना स्वभावोय परनिंदनतत्परा । स्वात्मदोष न जानंति ह्यनर्थधारकाश्च ते ॥ ६८० ॥
प्रत्यक्ष येत्र मूढा वै निंदा कुर्वंति सर्वदा । ज्ञेया श्वपचसा तुल्या स्वमतस्य क्षयकरा ॥ ६८१ ॥
ह्येव सर्वे भविष्यंति कलौ भूप न संशय । स्वचित्ते मानयिष्यति वयं श्राद्धानिका खलु ॥ ६८२ ॥
ग्रथलोपेज पापेन ते च श्राद्धानिका[1] खलु । नरकावनो च यास्यति सर्वेहि मगधेश्वर ॥ ६८३ ॥

अर्थ-जो जो दुःख शरीरमें प्राप्त होते है वे प्रायः परनिंदाके फलसे उत्पन्न होते है ॥ ६७९ ॥

अर्थ—दुर्जनोका स्वभाव ही निंदा करनेका होता है। परंतु वे अपने दोषोको नहीं जानते हैं । वे केवल अनर्थ धारण करनेवाले होते हैं। ६८० ॥

अर्थ—जो मनुष्य सर्वदा साधर्मी भाइयोंकी निंदा ही करते रहते है, एक प्रकारसे वे प्रत्यक्ष ही चांडालके समान हैं और अपने धर्मका नाश करनेवाले है। ६८१ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक कलियुगमें ऐसे निंदक मनुष्य बहुत उत्पन्न होंगे। जो जैन धर्म के धारकोंकी व जैन धर्मकी निंदा करेंगे। और अपनेको अपने आपही श्रावक मानेंगे ॥ ६८२ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! ग्रथोका लोप करनेके पापसे श्रावकगण अवश्यही नरक वा निगोदमें जांयगे ॥६८३॥

१ ग्रथोंको असत्य ठहराना मानो ग्रथोंका लोप करना है। इसके समान संसारमें अन्य पाप नहीं है। आगमकी सत्यता व प्रामाणिकता सर्वज्ञ प्रभुकी सत्यतापर निर्भर है। सर्वज्ञ प्रभु वीतराग, त्रिकालमें उनकी प्रामाणिकता स्वत सिद्ध है। जो मनुष्य सर्वज्ञके वचनोंमें अपनी दुष्ट बुद्धिकी कल्पनासे असत्यता प्रकट कर प्रामाणिकता नष्ट करे तो वह आगमका या ग्रथका लोपी

यद्वत् वै ब्रह्मदत्ताख्य चक्री धर्मस्य लोपनात् । गतो हि सप्तमे श्वभ्रे नानादुःखभयाकिते ॥ ६८४ ॥
न्यायोयं लोकमान्य स्यात् यदुक्तं वचन वरम् । सर्वज्ञाज्ञाऽविरुद्ध यन्महता पुरुषेण वै ॥ ६८५ ॥

अर्थ--जैसे ब्रह्मदत्त नामके चक्रवर्ती ने जिनागम को असत्य ठहराकर जिनागमका लोप किया था तो वह पापके फलसे मरकर अनेक दुखोंसे परिपूर्ण ऐसे सातवें नरकमें प्राप्त हुआ ॥ ६८४ ॥

अर्थः-- यह एक साधारण न्याय है कि संसारमें लोगोंको वेही वचन माननीय होते हैं जो किसी महापुरुषके द्वारा सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अविरुद्ध कहे जाते । सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके विरुद्ध वचन कभी मान्य नहीं होते ॥ ६८५ ॥

है । उसके न तो आगमकी श्रद्धा है और न सर्वज्ञप्रभुकी । ऐसी अवस्थामें वह अपनी इन्द्रियजनित बुद्धिको ही कुत्सित तर्क और अनुमान जनित विचारसे स्थिर रखकर शास्त्रोंकी मिथ्या समालोचना कर पापका भागी बनता है । कितनेही ढोंगी-जिनधर्मकी श्रद्धासे रहित जैनसुधारक मिथ्यात्वके उदयसे शास्त्र और गुरुओंकी मिथ्या समालोचना करते हैं, सत्य शास्त्रोंमे अवर्णवाद लगाकर सर्वज्ञ प्रभुके आगमको असत्य ठहराना चाहते हे । उनको संस्कृत प्राकृतका ज्ञान नहीं है, आगमका श्रद्धान नहीं है । अपने आप श्रावक बनकर ब्रह्मदत्तके समान प्रत्यक्षमें पतित होरहे हैं ।

१ धर्मरहस्य सुलोचना आदि ग्रंथ, आगम ग्रंथोंका लोप करनेके अभिप्रायसे बनाये जारहे हैं । धर्मरहस्यके कर्ता तो मिथ्यादर्शनके प्रभावसे जैनधर्मसे बहिर्भूत हैं । उनके ज्ञानमें रजस्वला स्त्री जिनमंदिर जासक्ती है । ढेड और भंगीके साथ खाना पीना आदि तथा विधवाविवाह (व्यभिचार) आदि धर्मविरुद्ध आचरणोंको धर्मरूप कहलवानेके लिये महावीर स्वामी तथा गौतम गणधरका सत्व जोडा गया है । यह भी आगममें अवर्णवाद लगाकर आगमका लोप करना है ।

यदुक्तं वीतरागेण प्रोक्तं गणधरादिभिः । मर्यादायाश्च ग्रंथेपु तदेव सधृताः खलु ॥ ६८६ ॥
यत्याचारक्रिया सर्वाः श्रावकाणां क्रियास्तथा । पूजास्नानक्रियाश्चैव नानाशर्मप्रदायकाः । ६८७ ॥
भद्रबाहुर्माघनंदी पूर्वांशधारको यमी । महापुराणकर्ता च जिनसेन ऋपीश्वरः ॥ ६८८ ॥
सुराचार्यो गुणभद्रो वै तत्पट्टाब्जदिवाकरः । सकलागमवेत्ता च मारवारणकेसरी ॥ ६८९ ॥
सीमंधरजिनेन्द्रस्य दर्शकः सयताग्रणी । नाम्ना श्रीकुंदकुंदो वै जिनधर्मप्रकाशक ॥ ६९० ॥
वसुनंदी तथा धीर सकलकीर्तिर्धर्मभाक् । शुभचंद्रो गुणैः पूर्णो मिथ्यामार्गविघातक ॥ ६९१ ॥
इत्याद्यैर्वरयोगीन्द्रैः दिशावासोधरैः वरैः । पूज्यैश्च लेखसंदोहैः फलादिगुणधारकैः ॥ ६९२ ॥
जिनधर्मप्रकाशार्थं मानमायाविवर्जितैः । भो बुधा जिनधर्मस्य वर्द्धनैककृतोद्यमैः ॥ ६९३ ॥
तत्क्रियोत्थापका किन्न यास्यति ये च सततु । श्वभ्रेषु दुःखपूर्णेषु नरा कापट्यपूरिता ॥ ६९४ ॥

अर्थः—जो सर्वज्ञ वीतराग अरहंत भगवानने कहा हो और गणधरादि देवोंने प्रतिपादित किया हो तदनुकूल ही आचार्य परंपरासे उन सर्वज्ञदेवकी मर्यादाको कायम रखनेवाले ही ग्रंथ भव्य जीवोंको मान्य करना चाहिये ॥ ऐसे आचार्य भद्रबाहु जिनसेन कुंदकुंद सकलकीर्ति आदि अनेकों हुए हैं । ये सर्व धर्मके प्रकाश करनेमें अत्यंत उद्यमी थे, इन्होंने मुनियोंके आचरण निरूपण करनेवाले अनेक ग्रंथ बनाये हैं । तथा श्रावकों के आचरणोंका निरूपण करनेवाले तथा कल्याण करनेवाले पूजा अभिषेक आदि की क्रियाएं बतलाई हैं । क्रियाओंको जो कपटी मनुष्य उठा देना चाहते हैं उन क्रियाओंका लोप करना चाहते हैं वे अवश्य ही दुःखोंसे भरे हुए नरकोंमें प्राप्त होंगे ॥ ६८७।६८८।६८९।६९०।६९१।६९२।६९३।६९४ ॥

अथापरं शृणु भूप पठनीयं विभोः पुरः । स्तवनं तद्गुणप्राप्त्यै तद्गुणैर्मंडितं वरम् ॥ ६९९ ॥
प्रभोः स्तवनपाठेन सर्वदा दुःखदायका । तत्क्षणात् प्रलयं याति नागा खगेश्वरेक्षणात् ॥ ७०० ॥
विभोः गुणानुवादाढ्य नानाशर्मप्रदायकम् । पठतु सर्वदा भव्या, स्तवन स्वरोधकम् ॥ ७०१ ॥
कर्तव्या गानविद्या च मनोमोदाप्तये खलु । प्रभोः पुरो बुधैर्नित्य दुखदावाग्निवारिदा ॥ ७०२ ॥
नृत्यं गान जिनस्याग्रे ये कुर्वंति नरोत्तमा । तेषा पुरो दिवि लेखा करिष्यंति सदा मुदा ॥ ७०३ ॥
गानविद्याप्रभावेण चित्तरोधश्च जायते । चित्तरोधात् शुभं ध्यान ध्यानाद्धि परम पदम् ॥ ७०४ ॥

अर्थ—हे राजन् अब भगवानके समक्ष प्रभुके गुणानुवाद नामकी क्रियाको कहता हू । जो मनुष्य भगवानके समक्ष प्रभुके गुणोका स्तवनो द्वारा गुणगान करता है वह प्रभुके गुणोको प्राप्त होता है ।

अर्थ—प्रभुके गुणोके स्तवन पठन पाठन आदि करनेसे समस्त पापोका नाश होता है । तथा देव विद्याधर आदि सब दुष्ट क्षणभरमें नष्ट हो जाते है ।

अर्थ—प्रभुके गुणानुवाद करनेसे अनेक सुख प्राप्त होते है इसलिये भव्य जीवोको भगवानका स्तवन अवश्य ही करना चाहिये ।

अर्थ—दुखःरूपी दावानल को बुझानेके लिये बादलोके समान प्रभुके गुणोका गान संगीत और वाद्यघोप आदि सब नित्यही करना चाहिये जिससे मनको प्रसन्नता हो ।

अर्थ—जो भव्य जीव भगवानके सामने नृत्य गान और सगीत आदि भाव भक्तिसे करते है उनका गान देवो से होता है ।

अर्थ—गान विद्यासे भगवानके गुणोमें चित्त सलग्न होता है । गुणों में चित्त सलग्न होनेसे शुभ ध्यान होता है और शुभ ध्यान से परम पद प्राप्त होता है ॥७०४॥

मत्त्वैव जिननाथाग्रे भो बुधा स्वात्मशुद्धये । स्तवन तद्गुणैर्युक्त प्रपठंतु त्रिशुद्धित· ॥ ७०५ ॥
गात्राह पाठकाना क्षयमपि स्तवनस्यैव तस्य सुभक्त्या । दु खाना दानदक्ष सकलसुखहरं श्रीजिनेशै प्रहेयम् ॥७०६॥
पापाना घातनार्थं नरखचरपते श्रीजिनस्य प्रधीरा । यात्येवन्त सदा वै शिवसुखसदनप्राप्तये तत् पठतु ॥ ७०७ ॥
जपाभिधा क्रिया वच्मि शिवशर्मकरा वराम् । अतस्थिताघवृदानां नाशका त्वं शृणु मुदा ॥ ७०८ ॥
ॐ नम· अर्हद्भ्यो नम ओं सिद्धेभ्यो नमोस्तुवै । आचार्येभ्य पाठकेभ्यः साधुभ्य सर्वदा नम ॥ ७०९ ॥
ओ ह्रीं श्रीं क्ली भगवति सरस्वतिदेव्यै नमः । श्रीजैनधर्माय सदा नमोस्तु सः । सदा मे हृदि तिष्ठतु ।

इसलिये भव्य जीवोको अपनी स्वात्माकी विशुद्धि के लिये प्रभुके गुणोका गान अनेक प्रकार के स्तोत्रो द्वारा मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक करना चाहिये ।

अर्थ—जो पुरुष भक्तिपूर्वक श्री अरहंत भगवान के स्तोत्रोका पाठ करते है उनके, दु ख देनेमें चतुर समस्त सुखोको नाश करनेवाले और श्रीजिनेन्द्र देव द्वारा सर्वथा त्याज्य ऐसे शरीरसंबधी समस्त पाप, दूर हो जाते है। इस लिये भव्य जीवोको अपने समस्त पाप दूर करनेके लिये देव विद्याधरोके स्वामी भगवान जिनेंद्र देवका मोक्ष सुख देनेवाला स्तोत्र सदा पढते रहना चाहिये ।

अर्थ—अब आगे जप क्रिया को कहता हू । जिससे भव्यजीवोको सुख प्राप्त होता है और समस्त पापोका नाश होता है । उसको हे राजन् ! श्रवण कर ।

अर्थ— ॐ नमः अर्हद्भ्यः । ॐ नम सिद्धेभ्यः । ॐ नमः आचार्येभ्यः । ॐ नमः पाठकेभ्यः । ॐ नम· सर्वसाधुभ्यः । ये पंच परमेष्ठि के वाचक मत्र है । ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं भगवति सरस्वति देव्यै नमः । श्रीजैनधर्माय सदा नमोस्तु सः । सदा मे हृदि तिष्ठतु । यह सरस्वती मत्र है ।

ओं ह्रीं श्रीवृषभादिवर्धमानांततीर्थंकरेभ्यो नमोऽस्तु चित्तकल्पद्रुमानये ।

ॐ ह्रीं श्रीं सप्तर्द्धिमण्डितगात्रा तुर्यज्ञानालंकृता प्रभुणा सन्निधौ यौवराज्यावस्था वृषभसेनादिगौतमान्तगणधरा सकल-
होनाशका श्रीवीतरागप्रकाशका स्वात्मतेजसा निर्जितार्का वीतरागतासारयुक्ता कामगजकंठीरवसदृशा प्रचंडमोहनगपविनिभा 'इत्यादि
अनेकगुणधारकेभ्यो नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु ।'

जिनधर्मधारकेभ्यो हतकर्मकलंकराजेभ्य सदा नमोस्तु ।'

श्री जैनधर्मो जयतु। ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः। ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः। ॐ सम्यक्चारित्राय नमः। त्रय एते मे हृदि तिष्ठतु।

ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिवर्द्धमानांततीर्थंकरेभ्यो नमोस्तु चित्तकल्पद्रुमानये। श्रीवृषभादि महावीरपर्यंत चौबीस
तीर्थंकरोंको नमस्कार हो।

अर्थ—जिनका शरीर सप्त ऋद्धियोंसे सुशोभित है, जो चार ज्ञानके धारक हैं भगवान अरहंत देवके समीप
जो यौवराज्य अवस्थामें विराजमान हैं, जो समस्त पापोंका नाश करनेवाले हैं, वीतराग अवस्थाको प्रकाशित करनेवाले
हैं, अपने आत्माके तेजसे सूर्यको भी जीतनेवाले हैं, सबमें सारभूत वीतरागता सहित हैं, कामदेवरूपी हाथीकेलिये
जो केशरी सिंहके समान हैं, प्रचंड मोहनीय कर्मरूपी पर्वतके लिये जो वज्रके समान हैं, इत्यादि और भी अनेक गुणों
से सुशोभित ऐसे वृषभसेन से आदि लेकर गौतम पर्यंत गणधर देवोंके लिये मैं तीन बार नमस्कार करता हूं।

भगवान अरहंत देवके कहे हुए धर्मके धारण करनेवाले और कर्मरूपी कलंक को नाश करनेवाले श्री अरहंत
भगवान में लीन ऐसे गणधर देवोंको मैं सदा नमस्कार करता हूं।

श्री जैन धर्मकी जय। ॐ सम्यग्दर्शनको नमस्कार हो, ओं सम्यग्ज्ञानको नमस्कार हो, ओंसम्यक् चारित्र को
नमस्कार हो। ये तीनों मेरे हृदयमें सदा विराजमान रहें।

ओं ह्रीं आदिधर्मप्रकाशकाय श्रीवृषभनाथाय जिनेन्द्राय नमोस्तु । श्रीवीतरागाय नमः ।

समस्तकर्मरहिताय श्रीमते महावीरजिनेश्वराय सदा नम ।

ओं ह्रीं पचपरमेष्ठिभ्यो नम —

ओं ह्रीं सर्वसिद्धान्तेभ्यो नम —

ओं श्रीसीमंधरप्रत्यक्षदर्शनप्रासाय भव्याब्जमार्तंडसदृशाय मारवारणकेशरितुल्याय नरामरपूज्यपादाब्जाय मिथ्यात्वतमोविध्वंसत्वष्टाय श्रीकुंदकुंदयतीश्वराय दिगाम्बरधारकाय सदा नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु ।

श्रीवीतरागाय नम — श्री वीतराग परम देवको नमस्कार हो ।

इस अवसर्पिणी कालके प्रारंभमें सबसे पहले धर्मका स्वरूप प्रकाशित करनेवाले श्रीवृषभनाथ जिनेंद्र देवको बार बार नमस्कार हो ।

समस्त कर्मोंसे रहित अंतरग बहिरग लक्ष्मीसे सुशोभित ऐसे जिनेंद्र श्री महावीर स्वामीको नमस्कार हो ।

ओं ह्रीं पच परमेष्ठियोंको नमस्कार हो ।

ओं ह्रीं समस्त सिद्धान्तोंको मैं नमस्कार करता हू ।

जिन्होंने श्री सीमधर स्वामीका प्रत्यक्ष दर्शन किया है, जो भव्यरूपी कमलोंके लिए सूर्यके समान है, कामदेवरूपी हाथीको वश करनेके लिए केशरी सिंहके समान हैं। देव विद्याधर मनुष्य आदि सब जिनके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं, जो मिथ्यात्वरूपी अधकारको नाश करनेके लिए सूर्यके समान है और जो केवल दिशारूपी वस्त्रोंको धारण करनेवाले अर्थात दिगम्बर हे ऐसे श्री मुनिराज कुंदकुंद स्वामीको मैं वारवार नमस्कार करता हू ।

व्युच्छ्वासेन जपति ये मंत्रराज नरोत्तमाः । भजति ते चतुर्थेन षष्ठोत्तरशतप्रमम् ॥ १ ॥
अहो भव्या महाकाले दुःखेऽदुःखे इमं वरं । परमेष्ठिमंत्रराज जपंतु शुद्धभावतः ॥ २ ॥
बहुना कथनेनालं सर्वाहोघातने क्षमम् । मंत्रराजसमं मंत्र न स्यात्रिजगतीतले ॥ ३ ॥
एका अपि शिवाप्त्यर्थं कालकला बुधोत्तमै । प्रमादे नैव नेतव्या मंत्रराजाद्विना खलु ॥ ४ ॥
अतो भव्या जपंतु वै मंत्रमिदं जिनोद्भव । महामन्त्रमंत्रसार नानादुःखविनाशकम् ॥ ५ ॥
ये नरा न जपंत्येव मंत्रराज जगन्नुतम् । पशुसमा मतास्ते हि विमुच्छमतिवर्जिता ॥ ६ ॥
कुरुध्व मोक्षप्राप्त्यर्थं जाप मंत्रस्य भो बुधा । शक्त्यनुसारतः शुद्ध्या करोति शिवदायक ॥ ७ ॥
मंत्र दुर्गतिनाशकं पापहरं जैनेन्द्रवक्त्रोद्भवम् । दुःखार्तकविनाशक मुनिनुत स्वर्गापवर्गप्रदम् ॥
संसारातपघातने पवमम नानर्द्धिसंपादकम् । त्यक्त्वान्य बुधसत्तमा अनुदिन नेम जपन्तु खलु ॥ ८ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव णमोकार मंत्रको ३ श्वासमें जपता है तथा इसी प्रकार एकसौ आठ बार जपता है वह सर्वोत्कृष्ट मोक्ष फलको प्राप्त होता है । णमो अरहंताणं णमो सिद्धाण—यह प्रथम श्वासोच्छ्वासमें, णमो आयरीयाणं णमो उवज्झायाण—यह द्वितीय श्वासोच्छ्वासमें, णमो लोए सव्वसाहूणं—यह तृतीय श्वासोच्छ्वासमें जपना चाहिए । हे भव्यजीवो इस पचपरमेष्ठी वाचक मंत्रराजका जप दुःख सुख सब समयमें एकाग्र मनसे शुद्ध भावसे करो । इससे समस्त प्रकारके पाप सहजमें विलीन होजाते हैं और सर्व प्रकारकी सिद्धि स्वयमेव प्राप्त होजाती है । इसके विना अपने जीवनकी एक घडी भी व्यर्थ कभी मत खोओ । इस मत्रके समान संसारभरमें अन्य कोई मंत्र नहीं है ।

अर्थ—जप क्रियाको बतलाकर अब ध्यान क्रियाका स्वरूप बतलाते हैं । ध्यानके समान समस्त प्रकार सुखों को प्राप्त करनेवाला और दुःखोंका नाश करनेवाला अन्य कोई धर्म नहीं है ॥ ८ ॥

ध्यानकी विधी—

ध्यानाख्या वन्हिम हे भव्य क्रिया सकलदु खहाम् । यत्सम नापरं धर्म गृहस्थाना जिनागमे ॥ ९ ॥

पद्मासनेन सस्थित्वा त्यक्त्वा सर्वविकल्पकम् । एकाते शुद्धभूमौच सन्निधौ वा प्रभो मुदा ॥ १० ॥

मानस्तभादिस्तूपाता सभाद्वादशमडिताम् । सर्वा समवसारस्य रचना देवजा खलु ॥ ११ ॥

अर्थ—इसलिये हे भव्य जीवो भगवान जिनेंद्र देवके कहे हुए तथा समस्त दुःखोको दूर करनेवाले ऐसे मत्रोको हजारो लाखोकी सख्यामें जप करो । जो मनुष्य समस्त संसारद्वारा पूज्य ऐसे मत्रराजका—नमस्कार मत्रका जप नही करते है वे बुद्धिहीन तथा पूछ रहित पशुओके समान है । हे विद्वानो यह नमस्कार मत्र का जप मोक्ष देने वाला है इसलिये मोक्षकी प्राप्तिके लिये अपनी शक्तिके अनुसार शुद्ध भावोसे इसका जप अवश्य करो । यह भगवान जिनेंद्र देवका कहा हुआ नमस्कार मत्र समस्त दुर्गतियोको दूर करने वाला है, पापोका नाश करनेवाला है, रोग और दुःखोको दूर करने वाला है, मुनिराज भी इसको नमस्कार करते है, यह स्वर्गमोक्षके सुख देनेवाला है, ससाररूपी अग्नि को शांत करनेके लिये मेघके समान है, और अनेक ऋद्धियोको देनेवाला है । इसलिये हे विद्वानो अन्य सब मत्रोको छोडकर प्रतिदिन इस मत्रका जप करो ॥ ९ ॥

अर्थ—सर्वांग शुद्ध होकर—मन वचन कायकी सर्व प्रकारकी शल्य मिटाकर—स्वस्थ चित्त होकर—समस्त प्रकार की चिंताओको छोडकर—और सकल्प विकल्पोका सर्वथा त्यागकर निराकुल होकर निराबाध स्थानमें पवित्रताके साथ पवित्र भावोसे पद्मासनपूर्वक ध्यान करनेके लिये स्थिर चित्तसे बैठना चाहिये । अथवा अरहंत प्रभुके समक्ष ध्यान करना चाहिये ॥ १० ॥

चिंतनीया त्रिधा शुद्धया चित्तकल्मषहानये । ततः शास्त्रानुसारेण पश्चात् सिद्धपदाप्तये ॥ १२ ॥
गंधकुट्युपरिमध्ये तप्तहाटकनिर्मिते । सिंहासने निरौपम्ये सुमेरुसमुन्नते ॥ १३ ॥
तस्योपरि निरौपम्यं सर्वबाधाविवर्जितं । सर्वैरुपाधिभिश्च वृषभादिजिनेश्वरम् ॥ १४ ॥
चतुरंगुलतः स्वस्थं तस्मादपि प्रभास्वतं । नरेन्द्रोरगेन्द्रार्च्यं चतुःषष्टिचामरैर्युतम् ॥ १५ ॥
वसु वै प्रातिहार्याणि चतुर्मुख्यभूषितं वरम् । मेघवद् गर्जनायुक्त सप्ततत्त्वप्रकाशकम् ॥ १६ ॥
अनंतमहिमोपेतं यतीश्वरनमस्कृतम् । अष्टादशमहादोषवर्जितं विबोधकम् ॥ १७ ॥
सौम्यरूपं दयारूपं बाह्यभूषणवर्जितम् । निर्भयं निर्विकारं च मानमायाविवर्जितम् ॥ १८ ॥

अर्थः— सबसे पहले मानस्तंभसे लेकर स्तूपपर्यंत समवसरणकी देव रचित सब शोभाका चिंतवन करे फिर सिद्धपद प्राप्त करने और सब पापोंको दूर करनेके लिये शास्त्रानुसार श्रीमंडपका चिंतवन करे। मध्यमें एक गंधकुटी उसपर मेरु पर्वतके समान उपमारहित सुवर्णमय सिंहासन है। उसपर चार अंगुल ऊपर अधर सब उपमाओंसे रहित तथा बाधाओंसे रहित भगवान वृषभदेव विराजमान हैं। देव विद्याधर इन्द्र नागेंद्र सब उनकी पूजा कर रहे हैं। चौसठ चमर उनपर ढुल रहे हैं। आठ प्रातिहार्य शोभायमान हैं। चारों ओर चार मुख शोभायमान हैं। मेघकी गर्जनाके समान जिनकी दिव्य ध्वनि खिर रही है। जो सातों तत्वोंको प्रकाशित कर रहे हैं। अनंत महिमा संयुक्त विराजमान हैं, सब मुनिराज जिनको नमस्कार करते हैं, जो अठारह दोषोंसे रहित हैं, पूर्ण ज्ञानरूप हैं, सौम्य हैं, दयामय हैं, वस्त्राभरण रहित हैं, निर्भय हैं, निर्विकार हैं, मानमायासे रहित हैं, मोह रहित हैं, तीनों लोकोंके स्वामी हैं, पूज्यपाद हैं घातिया कर्मोंसे रहित हैं, सब जीवोंको पार कर देनेवाले, सब जीवोंको निर्भय करनेवाले, समस्त कर्मरूपी अग्निको शांत करनेके लिये मेघके समान, शुद्ध और मोक्षमार्गको प्रगट करनेवाले भगवान विराजमान हैं—ऐसा ध्यान प्रतिदिन

विमोहं सर्वलोकेशं पूज्यपाद निरजनं । तारकं मर्वजोवाना सर्वजीवाभयकरम् ॥ १९ ॥
ईदृश ह्यात्मनि भव्या· सर्वकर्माग्निमेघदम् । शिवमार्गकर शुद्धं चिंतयंतु दिन प्रति ॥ २० ॥
अनेन ध्यानयोगेन सर्वांहो दु खदायकम् । तत्क्षणात् प्रलय याति ध्यानिना वज्रतो नगा. ॥ २१ ॥
कुरुथ सकलभव्या भावतश्चात्मशुद्ध्यै । परमरसयुताना ध्यानमानदरूपम् ॥
शिवयुवतिविलासादायक धीरध्येय । सकलकलुषवन्हे मेघपुष्पोपमं वै ॥ २२ ॥
षष्ठीं च क्रिया वक्ष्येह महदानददायकाम् । यत्प्रसादात्तरंत्येव सर्वे जीवा भवात् खलु ॥ २३ ॥
वीतरागमुखोद्गीतान् ग्रथितान् मुनिनायकै । ख्यातपूजाव्यतिक्रातचित्तैर्मायाविवर्जितै, ॥ २४ ॥

करना चाहिये । इस प्रकार ध्यान करनेसे जिसप्रकार वज्रसे पर्वत चूर चूर हो जाते है उसी प्रकार दुःख देनेवाले सब पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाते है । यह ध्यान मोक्ष देनेवाला है । समस्त पापरूपी वन्हिके लिये मेघके समान है, धीर वीर पुरुष ही इसका चिंतवन कर सकते है और आत्मरसास्वादियोके लिये यह आनंद देनेवाला है । ऐसे ध्यानको भी भव्य हो शुद्ध भावोसे प्रतिदिन करो ।

अर्थ--गृहस्थोकी षष्ठी क्रिया स्वाध्याय है। स्वाध्याय सब क्रियाओ से अधिक आनद प्रदाता है। जिस स्वाध्यायके प्रसादसे भव्य जीव संसार समुद्रसे पार होते है ।

स्वाध्यायके ग्रथ कैसे होने चाहिये ?

जो ग्रथ– श्रीवीतराग सर्वज्ञ अरहंत भगवानकी दिव्य ध्वनि के ही प्रतिरूप हो और जिनकी रचना मुनीश्वरोने की हो और वह राग द्वेषके वश या अपनी पूजा प्रतिष्ठा बढानेके लिये नहीं की हो अथवा जो ग्रंथ स्वार्थ या किसी मतलबके कारण स्वकल्पित बातोसे न बनाये गये हों जिनमें मात्र एक श्री जिनेन्द्र भगवानकी वाणी की ही

त्यक्तलोभैर्दिशावासोधरैर्मार्गप्रभावकै । ग्रंथान् भव्या. गुरोरास्यात श्रृणुध्वमीदशान् वरान ॥ २५ ॥
त्रिषष्टिपुरुषाणा च पुराणं वा चरित्रकम् । चान्येषा मनुजाना वै श्रोतव्यं वासरं प्रति ॥ २६ ॥
श्रावकाचारग्रंथं वै सर्वाचारप्ररूपकम् । गृहस्थै कर्मनाशार्थं नित्य पापविनाशक ॥ २७ ॥
शास्त्राणा श्रवणात्सर्वाः क्रिया स्वर्मोक्षसाधिका । जानात्येव ह्यय प्राण्यभिषेकाद्यास्तथा वुधा ॥ २८ ॥
पात्रापात्रस्य भेदंच हेयोपादेयक तथा । सुखासुखस्य भेद वै मार्गामार्गस्य लक्षणम् ॥ २९ ॥
चतुर्धादानभेदच मुनिमार्गं च तत्क्रियाम् । सल्लेखनाविधिं सर्वं नाकमोक्षस्य लक्षणम् ॥ ३० ॥

रचना हो, मायाचार या लोभ से जिन ग्रथो में दिव्यध्वनी से विपरीतता न हो, जो जैन धर्मके सत्य स्वरूपको प्रतिपादन करने वाले हो ऐसे ग्रथोका स्वाध्याय गुरुमुख से ही श्रवण करना चाहिये।

जिन ग्रंथोमें त्रिषष्टि शलाका पुरुषोंका पवित्र जीवन चरित्र हो। अथवा पुण्यपुरुषोका आदर्श चरित्र हो। श्रावकाचार और यत्याचार के द्वारा जिनमें गृहस्थोके समस्त आचरणोकी आज्ञा प्रतिपादित की हो।

शास्त्रो का स्वाध्याय करनेसे गृहस्थो की पवित्र क्रियाओ का ज्ञान होता है, जिससे विवाह विधि खानपान का आचरण और अपने समस्त कर्तव्यो को धार्मिक समझ कर भव्यजीव उनको आगमके अनुकूल ही रखने में अपनी पवित्रता मानते है षट् आवश्यक कर्मोंका परिज्ञान शास्त्र श्रवणसे ही होता है जिससे जिनेंद्र भगवानके पवित्र अभिषेक विधि पूजनविधि—जिनयज्ञ विधियोका स्वरूप सत्य सत्य जाना जाता है। पात्र अपात्र—दान कुदान—पुण्य पाप—हित अहित—कर्तव्य अकर्तव्य सदाचार दुराचार—मार्ग कुमार्ग—नीति अनीति—सत्य असत्य आदि बातो का सम्यक् परिज्ञान शास्त्र स्वाध्याय से ही होता है। मुनियो का मार्ग सल्लेखना विधि क्रियाका ज्ञान भी स्वाध्याय से ही होता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का स्वरूप स्वाध्यायसे जाना जाता है।

सम्यग्दृग्ज्ञानव्रत्तस्य स्वरूप शिवदायकम् । पुण्यापुण्यस्य भेदंहि देवादेवस्य लक्षणम् ॥ ३१ ॥
ग्रथाग्रंथ तथा शीलस्वरूपं गात्रमंडनम् । परलोकस्वरूपच गुणस्थानादिवर्णनम ॥ ३२ ॥
षट्धाजीवनिकायाना लक्षणं जीवरक्षणं । भक्ष्याभक्ष्यप्रभेद च ह्यात्मरूप सदास्थिरम् ॥ ३३ ॥
विवेकमविवेकत्व ज्ञानाज्ञानप्रलक्षणं । सप्ततत्वस्य भेद च कर्मप्रकृतिलक्षणम् ॥ ३४ ॥
बधाबंधस्वरूप न चर्चाचर्चादि लक्षणम् । इत्याद्यन्यत्स्वरूप च भव्याभव्यस्य लक्षणम् ॥ ३५ ॥

ब्रह्मचर्यका स्वरूप भी स्वाध्यायसे मालूम होता है और उसके विरुद्ध विधवा विवाह जैसा व्यभिचार तथा और भी प्रकारकी मलिनता स्वाध्यायसे जानी जाती है।

गुणस्थान जीवस्वरूप जीवो की दया भक्षाभक्षविचार आदि समस्त वाते स्वाध्याय से जानी जाती है।

विवेक और अविवेकका स्वरूप ज्ञान अज्ञानका स्वरूप बंध अबधका स्वरूप भी स्वाध्याय से जाना जाता है स्वाध्यायसे ही कुशिक्षा और आत्मज्ञान रहित शिक्षाको ज्ञान स्वरूप नहीं जानता और न उसको हितरूप समझता है। ये सब बातें शास्त्रोके स्वाध्याय से सत्य २ जानी जाती हैं।

इसलिये श्रीजिनेन्द्र देवके परम पवित्र आगमका ही स्वाध्याय पठन करना चाहिये जिससे पुण्यकी प्राप्ति हो और पाप क्रियाओ का परित्याग हो।

ग्रंथों के स्वाध्याय करनेका एक यही अभिप्राय है कि स्वाध्यायके पवित्र ज्ञान से पापक्रिया और आगम-विरुद्ध विचारों का परित्याग कर आत्माकी वास्तविक उन्नतिका मार्ग शोधन कर आत्मकल्याण करें। न कि ससारको बढाने वाली क्रियायों का विचार कर अपनेको मोक्षमार्ग से गिरावें। वही ज्ञानी है उसीने शास्त्र स्वाध्यायका लाभ लिया है कि जिसने शास्त्रके स्वाध्याय से अपने मलिन विचारों को छोड दिया है।

पश्यत भो बुधा ह्येतत् प्रभावमागमस्य वै । कान्यरेगात्सर्वं ग्रंथानां श्रवणात् भवेत ॥ ३६ ॥

शृणुध्व प्रतिघन्नं वै भो भव्या कल्मपापह । श्रीजिनेन्द्रमुखोत्पन्नं ग्रथ वैराग्यदायकम् ॥ ३७ ॥

ग्रथान् श्रीजिनवक्त्रजानघहरान् संसारवि वमज्ञान । धर्माचारप्ररूपकान् मुनिनुतान वन्द्यान पुरन्द्रादिभिः ।

मिथ्यामार्गविघातकान नरवरैः सेव्यान् शुभान भो बुधाः । ससारातपनाशने प्रतिदिन ग्रंथं शृणु त्वं खलु ॥ ३८ ॥

जिनमें केवल तमाशे भरे हैं, जो ब्रह्मचर्य का नाश करने वाले हैं, शीरग्मसे भरे है अशुद्ध है, कथाओंसे भरे है, जिनका आदि अत कुछ नहीं है, जो राग मोहको बढानेवाले है, जिनमें दयारहित जीवोंकी कथाएं भरी हो जो बुद्धिको नाश करने वाले हो, जो कुदान का निरूपण करते हो, जो हेयोपादेय पदार्थोंके ज्ञानसे रहित हों, जिनमें उन्मत्तपुरुपके वचनोंके समान सबंधरहित कथन हो, जो ससारको बढाने वाले हों, क्रिया कर्मके उपदेशसे रहित हों, क्रोध मानादिके बढाने वाले हों, धर्मके स्वरूपसे रहित हों, अधर्म की पुष्टि करने वाले हों, दुर्गति के देनेवाले हों, तत्वज्ञानी विद्वानोंके द्वारा त्याज्य हों, जो मोक्षमार्गको रोकनेवाले हो, लोभी पुरुपोंने अपनी कल्पनासे बनाये हो और कुमार्गको बढानेवाले हों ऐसे ग्रंथ विद्वानोंको कभी नहीं सुनने चाहिये । जो ग्रथ धर्मका नाश करनेवाले है, पापके कारण हैं, समस्त विद्वानोंके द्वारा निंद्य हैं, सत्य रहित है, पापबध करनेवाले है, सब सुखोंको नाश करनेवाले हैं, सब दोपोंसे भरपूर है, जो निंद्य है और आत्मज्ञानसे रहित, इन्द्रिय सुखोंमे लीन रहनेवाले धूर्त लोगोंके बनाये हुए है ऐसे ग्रथ विद्वानोंको कभी नहीं पढना चाहिये ।

अर्थः—अरहंत भगवान के मुख कमल से प्रतिपादित ग्रथ ससारका नाश करनेवाले है, मिथ्यामार्गका नाश करनेवाले हैं, मुनियोंके द्वारा वंद्य हैं, इन्द्रादिकोंके द्वारा पूज्य है, सबका कल्याण करनेवाले है और सबके द्वारा पूज्य है इसलिए भव्य जीवोंको संसारके समस्त दुःख दूर करनेके लिए ऐसे ग्रथोंका स्वाध्याय प्रतिदिन करना चाहिए ॥ ३८ ॥

कौतूहलभूतं अथ ब्रह्मचर्यविनाशकम् । वीररसभृताशुद्ध कुकथाव्रातमण्डितम् ॥ ३९ ॥
आयोगानविहीन वै रागमोहविवर्धकम् । निर्दयादिकथावृद्धकथकं बुद्धिनाशदम् ॥ ४० ॥
कुदानकथक हेयो सद्दानस्तुवर्जितम् । मत्तनरकथक चैव ससारभ्रमकारणम् ॥ ४१ ॥
क्रियाकर्मविहीनं च मानक्रोधादिकारणम् । सद्धर्मगमहीन च कुधर्मपथपोषकम् ॥ ४२ ॥
दुर्गतिदायक हेय बुधैस्त व्रविदाम्बरै । स्वमनकल्पोक्तितस्तैश्च प्रणीत लोभधारकै ॥ ४३ ॥
भो बुधा चेदृश नित्य शिवमार्गप्रपातद । कुमार्गवर्द्धक त्याज्य मा शृणुथ कदाप्यहो ॥ ४४ ॥
धर्मघ्नं पापबीज सकलबुधजने सत्वहीन विनिंद्य । पापाना बधहेतु सकलदुखकरं सर्वदोषै प्रयुक्तम ॥ ४५ ॥
धूर्तैर्वै यच्च प्रोक्त करणसुखरतैश्चात्मविद्याविहीनै । नित्य वा मा पठन्त्व बुधजननिकराश्चेदृशं वै कदापि ॥ ४६ ॥
प्रतिघस्र गृहस्थाना पुकर्तव्या षट् या क्रिया । जिनागमेहि कथिता शुद्धा पापप्रणाशिका ॥ ४७ ॥
षट्त्या दुष्कृत नाशार्थं षट्क्रिया भो बुधोत्तमा । कुर्वीध्व पूर्वकालेहि शिवशर्मकरा वराम ॥ ४८ ॥
पापकार्यं प्रकुर्वंते ये रता तेऽधमा मता । सर्वदु खप्रद हेय धर्मस्य खलु न क्रिया ॥ ४९ ॥

अर्थ—प्रत्येक दिवस गृहस्थोंको करने योग्य जो षट्क्रियायें जिनागममें कही है, ये पापको नाश करनेवाली और परमपवित्र है ॥ ४६ ॥

अर्थ—गृहस्थोंका आरंभ और पचशूना पापसे छह प्रकार के पाप नित्य प्रति लगते हैं। उनकी निवृत्तिके लिये समस्त प्रकारके सुखोंको प्राप्त करानेवाली आवश्यक षट्क्रियाए अवश्य ही करनी चाहिये॥ ४७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य पाप कार्यके करनेमें रत है वे अधम है। यह पापकर्म सब तरहके दुःख देनेवाला है इसलिये त्याज्य है। परतु धर्मकी क्रिया कोई भी त्याज्य नही है। ४९ ॥

पट्कार्येण भवेत् पापं तथा धर्मोपि भो बुधा । समत्वता गृहस्थाना भवेता द्वौ यदा खलु ॥ ५० ॥
यदहो धर्मकार्योहि वर्द्धत्येन तदा भवेत् । नाकलोकस्य संप्राप्ति पारपर्यात शिवस्य वै ॥ ५१ ॥
यदहो वर्द्धता याति तदा प्राप्ति भवेत खलु । अधोगतेरहो भव्या निकोतस्य ह्यनुक्रमात् ॥ ५२ ॥
अतो द्वयो फल ज्ञात्वा प्रातःकाले बुधोतमाः । प्रतिघस्राहोनाशाय कुरुध्वं पट्क्रिया वराम् ॥ ५३ ॥
पट्क्रिया ये प्रकुर्वन्ति मतास्ते गृहनायका । आगमे जिननाथेन तेच धर्मप्रभावका ॥ ५४ ॥
अतो श्राद्धानिका यूय कुरुथ पट्क्रिया वरा । भवता यदि श्रद्धा स्यात् प्रथाना वै दृगासये ॥ ५५ ॥

अर्थ- -कृष्यादिकार्यमे पाप ही होता है। धर्म कार्य मे धर्म होता है। तथा गृहस्थोंमे दोनों हो सकते है इसलिये गृहस्थोंको पापोंको दूर करनेके लिये धर्मकार्य अवश्य ही करना चाहिये ॥ ५० ॥

अर्थ--जब धर्मक्रियाए बढती है तब ही स्वर्ग सुख प्राप्त होते हैं और परपरासे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ५१ ॥

अर्थ -जब पापकर्म बढ जाते है तब यह जीव अधोगतिको प्राप्त होता है । और अनुक्रमसे निगोद पर्यायको प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

अर्थः— पाप कर्मोका फल दुःखकी प्राप्ति और धर्मक्रियाका फल सुखोंकी प्राप्ति है । इस लिये पाप क्रियाओका परित्याग कर नित्य हो पट् आवश्यक क्रियाओंको भावपूर्वक करना चाहिये ॥ ५३ ॥

अर्थः— जो भव्य जीव पट् आवश्यक क्रियाओंका पालन भावभक्तिसे नित्य प्रति करते है वे सद्गृहस्थ माने गये है । जिनेन्द्र भगवानने उनको भव्य माना है। और उनसे ही धर्मकी प्रभावना होगी ॥ ५४ ॥

अर्थः— हे भव्य श्रावक हो ! इसलिये आप पट् आवश्यक क्रियाओका पालन नित्य ही अपनी शक्तिको न छुपाकर भावभक्तिसे करो जिससे जिनागममें श्रद्धा हो। तथा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो ॥ ५५ ॥

प्रत्यक्ष पश्यथ यूयं सर्वग्रंथेषु निश्चयात् । महापुराणचरितश्रावकाचारमुख्येषु ॥ ५६ ॥
सर्वत्र वर्णिताः श्रीमज्जिनसेनादियोगिभि । दिगम्बरधरैः धीरैः मिथ्यामार्गविघातकैः ॥ ५७ ॥
सर्वत्र वर्णिता शुद्धा गृहस्थाना क्रिया वरा । पालनार्थं प्रतिदिनं ह्यागमे शिवदायका ॥ ५८ ॥
स्नानाद्या कथिता शुद्धा गृहस्थाना क्रिया वरा । पालनार्थं प्रतिदिनं ह्यागमे शिवदायका ॥ ५९ ॥
भवद्भि केन ग्रंथेन वक्तव्य खलु लोपिता । षट्क्रिया जिननाथेन इमा प्रोक्ताश्च गेहिना ॥ ६० ॥

अर्थः— हे भव्य जीवो ! यह बात सबको प्रत्यक्ष है और ग्रंथोसे भी सबको निश्चय है । महापुराण और श्रावकाचार आदि मुख्य ग्रंथों मे ये क्रियाए स्पष्ट बतलाई है ॥ ५६ ॥

अर्थ—ये क्रियायें आगममें सर्वत्र कही है । और मिथ्यामार्ग को नाश करनेवाले श्रीमज्जिनसेनाचार्य आदि दिगम्बराचार्यों ने कही हैं ॥ ५७ ॥

अर्थ—गृहस्थो केलिये आगममें प्रति दिवस करने केलिये आवश्यक षट क्रियाएं प्रतिपादन की हैं । उनसे इस लोकमे सुख और परलोकमे सद्गति प्राप्त होती है और क्रमसे मोक्ष भी होती है ॥ ५८ ॥

श्रीमज्जिनेन्द्र भगवानको पचामृत रसोंसे अभिषेक पूर्वक पूजा आदि उत्तम क्रियाएं गृहस्थो को नित्यही करनी चाहिये जिससे मोक्षके सुखकी प्राप्ति हो ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो लोग स्नानादि क्रियाओंका निषेध करते है उनसे पूछना है कि आपने किन ग्रथोमे स्नानादि क्रियाओ का निषेध देखा है ? आगममें तो किसी भी ग्रंथमें निषेध नहीं है । बल्कि समस्त ग्रथोमें इसका विधान ही मिलता है । जब समस्त ग्रथोंमें विधान है तो फिर लोप क्यो करते हो । भगवान जिनदेवने बतलाई हुई क्रियाओंका लोप करना ठीक नहीं है ॥ ६० ॥

स्यात् यदि दृढश्रद्धा वै भवतानागमस्य च । कुरुध्वं जिननाथस्य पट्क्रिया वासर प्रति ॥ ६१ ॥
त्यजध्व हृदयोक्ति च वसुभूपालवत् खलु । ग्रथाना लोपन मूढा मा कुरुध्व मतापदम् ॥ ६२ ॥
मतिश्रुतावधिनेत्र धारकाणाच योगिनाम् । गृहस्थधर्मव्याख्यान कुर्वता च विभानिनाम् ॥ ६३ ॥
तेषा नैव ह्यहो मूर्खा दोषो दृष्ट किमप्यहो । अभिषेकादिसर्वासु क्रियासु विदितेषु वै ॥ ६४ ॥
भवता नैव भो मूढा मतिज्ञानादिसद्गुणा । चाल्पमात्रापि दृश्यते सर्वद्वापरनाशका: ॥ ६५ ॥
वक्तव्य केन ज्ञानेन भवद्भि मतिवर्जितै । किं दृष्टश्च प्रदोषो वै अभिषेकादिषु खलु॥ ६६ ॥

अर्थ—यदि आपके जैन आगममें दृढ श्रद्धान है तो जिनवर देव प्रतिपादित पट्क्रियाओंको नित्य प्रति भाव भक्ति से करना चाहिये ॥ ६१ ॥

अर्थ—अपने कल्पित विधिको ही सत्य मानकर जिनागम का लोप करना वसु राजाके समान दुःख को प्रदान करने वाला है। इस लिये भव्य जीवो को ग्रथका लोप नही करना चाहिये ॥ ६२ ॥

अर्थ—मति श्रुत और अवधिज्ञानके धारक मुनीश्वरोने गृहस्थधर्मका व्याख्यान करते समय पट्क्रियाओ का वर्णन किया है। इन पट्क्रियाओमें उन्हे कोई दोप दिखाई नही दिया। इसलिये जो भव्यजीव इन क्रियाओको नही करते है—श्रीजिनेद्र भगवान का अभिपेक नही करते वे मूर्ख है।

अर्थ—हे भोले जीवो आप लोगोमें समस्त संदेहोको दूर करनेवाले मतिज्ञान आदि सद्गुण थोडी मात्रामें भी नही है फिर आप किस आधार पर अभिपेक आदि क्रियाओका निपेध करते है।

अर्थ—आप लोग शास्त्रके ज्ञानसे रहित है फिर आप किस ज्ञानसे अभिपेकादि क्रियाओका निषेध करते है। क्या किसी शास्त्रमें इन क्रिया सबंधी दूषण आपने देखा है ? जो निपेध करते हैं।

दोषः किं स्यात् प्रभो· पादलेपने चदनादिभि । दीपस्योद्योतने किंच जिनाकयक्षपूजने ॥ ६७ ॥
धूपोत्करस्य दहने निशायाः पूजने तथा । जिनात्तपुरुषाणा च वात्सल्ये मार्गवर्द्धके ॥ ६८ ॥
पुष्पोत्करै. जिनेन्द्रस्य पादाब्जपूजने खलु । केलाम्रगोस्तनी चान्यत्फलोकरै प्रपूजने ॥ ६९ ॥
इत्याद्या या क्रिया सर्वा जिननाथेन वर्णिता । आगमे तत् भवद्भिश्च त्यक्ता भो मूढवुद्धित· ॥ ७० ॥
अतो यूय जिनेन्द्रस्य आज्ञाघ्नाश्च कुमार्गगा । न श्रद्धा नि फला जाता जिनाज्ञालोपत खलु ॥ ७१ ॥
यत्राज्ञा न च तत्रापि धर्मलेशोपि न.स्ति वै । अतो यूय कुश्रद्धाया पालकाश्च न सशय ॥ ७२ ॥
यदि स्यात् दृढश्रद्धा वै भवतां तत वचनस्य च । तदा ह्यंगीकुरुध्व भो स्नपनादिकसत्क्रिया ॥ ७३ ॥

अर्थ—प्रभुके चरण कमलोपर चदन का लेप करना, दीपको चढाना, और जिनशासन देवोकी पूजा करना ये सब धार्मिक क्रियायें है जिनेन्द्र भगवानने कही है निर्दोष है।

अर्थ—रात्रिमें धूपका चढाना, पूजन करना, और जिन मुद्राधारक पुरुषोका मोक्षमार्ग बढानेवाला वात्सल्य करना यह सब क्रिया उत्तम है निर्दोष है और शास्त्रविहित है।

अर्थः— इसी प्रकार पुष्पोसे भगवानके चरणकमलोकी पूजा करनी चाहिये। केला, आम द्राक्ष आदि उत्तम फलोसे पूजा करनी चाहिये। इत्यादि समस्त विधि जिनदेनने वतलाई है उसका लोप करना भगवानकी आज्ञाका लोप करना है। जो मनुष्य भगवानकी आज्ञाका लोप करता है उसके सम्यग्दर्शन नही रहता है ॥६७।६८।६९ ॥

अर्थः— जहांपर अज्ञान है वहां धर्मका लेश मात्र भी पालन नही है। इसलिये जो लोग इन क्रियाओको छोड देते है वे मिथ्या श्रद्धानके पालन करनेवाले समझे जाते हैं ॥ ७० ॥

अर्थः— जो आपको आगमकी श्रद्धा है तो अभिषेक आदि पट् क्रियाओको स्वीकार करो ॥ ७१ ॥

आम्न्यापयथ मूढाः कस्याज्ञाया स्नपनादिकाः । यूयं त्यक्ता क्रिया मुख्या ग्रंथपक्षं प्रदर्शयत ॥ ७४ ॥
ग्रंथानुसारतः त्यक्ताः वदध्वं च क्रिया खला । इमे यूयं तथा किं न स्वमनः सारतः खलु ॥ ७५ ॥
जिनाननसमुत्पन्नग्रंथाज्ञा भुवने त्रये । देवेन्द्रा वा नरेन्द्राश्च नागेन्द्रा स्वनरश्वराः ॥ ७६ ॥
सर्वे ते मानयत्येव निःशंका निखिलार्थदाम् । मतिश्रुतावधिश्लिष्टशुद्धदृग्धारका ननु ॥ ७७ ॥
क्वचिदपि जिनेन्द्रस्य चाज्ञा कुर्वन्ते सुरेश्वरा । न कुर्वन्त्यपरं कार्यं नानामत्रप्रदायकम् ॥ ७८ ॥
यूयं वदथ भो मर्त्या पारंपर्यात्समागता । भवद्भिरभिषेकाद्या. क्रममुत्थापिता खलु ॥ ७९ ॥
सुरेन्द्राणामपि नैव सामर्थ्यं स्यात्कदाचन । जिनाज्ञालोपने मूढा भवद्भि लोपिता कथं ॥ ८० ॥

अर्थः— यह तो बतलाइये कि स्नपन आदि क्रियायें किसकी आज्ञासे आपने छोड रखी हैं? ऐसा कोई ग्रंथ है कि जिसमें उनका निषेध हो, यदि है तो वह ग्रंथ दिखलाइये ॥ ७४ ॥

अर्थः— जो आपने किसी ग्रंथके आधारसे समस्त क्रियाओंका परित्याग किया है या अपने ही मनसे? मनकी बात तो ठीक नहीं है। और आगम ग्रंथमें कहींपर निषेध नहीं है ॥ ७५ ॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवानके मुखकमलसे प्रकाशित आगम ग्रंथोंकी आज्ञा सब तरहकी शंकाओंसे रहित है और समस्त तत्त्वोंका बोध करनेवाली है इसलिये तीनों लोकों के देवेन्द्र नरेन्द्र विद्याधर और विद्वान सभी इसे मानते हैं तथा मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधि ज्ञानको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टी जीव भी इसे स्वीकार करते हैं व श्रद्धान करते हैं।

अर्थ—श्रीजिनदेवकी आज्ञाको सुरेश्वर भी उत्थापन नहीं करते हैं वे भी जिनदेवकी आज्ञानुसार अपनी समस्त क्रिया करते हैं। परंतु आप लोग परंपरासे प्राप्त और जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित क्रियाओंका लोप क्यों करते हैं? जो जिनेंद्रकी आज्ञाको लोप करनेकी शक्ति देवोंमें नहीं है। मालुम पडता है कि आपका ज्ञान देवेन्द्रो से भी अधिक

यूयं तदधिकाः किं वै अत उत्थापित प्रभो । वाक्यं सर्वेन्द्रपूज्यं च सर्वत्रापि निरकुशम ॥ ८१ ॥
वदध्वं पुनः भो मूर्खा ह्यसत्या स्युरिमा क्रिया । सर्वे ग्रथा असत्या स्यु सर्वसदेहनाशका ॥ ८२ ॥
युष्माक यदि श्रद्धा स्यात् दृढा जिनागमस्य वै । तदा किं न कुरुध्व भो तत् वाक्यं शिवदायकम् ॥ ८३ ॥
पक्षपातं त्यजध्व च ग्रथपक्षं जगन्नुतम् । यूय श्रद्धानिका नित्य कुरुध्व धर्मसिद्धये ॥ ८४ ॥
ह्यधुना पचमे काले नो संति भो बुधोत्तमा । तीर्थंकरा सुरै पूज्या केवलज्ञानमडिता ॥ ८५ ॥

है ! इसीलिये देवेन्द्रोसे पूज्य जिनागम के लोप करने मे आपकी बुद्धि होरही है। इस प्रकार की निरंकुश बुद्धि विवेकको नष्ट कर मिथ्यात्वको प्रकाशित करेगी।

अर्थ—क्या शास्त्रोंमें बतलाई हुई क्रियाए असत्य है। जो असत्य है तो समस्त शास्त्र भी असत्य ठहरेंगे। जिन शास्त्रोके पढनेसे सर्व संदेह नाश होता है। और सर्वज्ञ प्रभुकी आज्ञा निराबाध प्राप्त होती है उनको असत्य किस प्रकार माना जाय।

जो आपकी जिनागममें श्रद्धा है तो उन अभिषेकादि समस्त क्रियाओको स्वीकार करना चाहिये जिससे शिवसुख हो।

अर्थ—इसलिये पूजा और अभिषेक आदि क्रियाओ के करनेमें पक्षपातका परित्याग कर देना चाहिये। जगतमान्य ग्रथोका पक्ष करना चाहिये। यदि आप आगमके अनुकूल चलना चाहते है तो धर्मकी सिद्धिके लिये क्रियाओको पालन करो।

अर्थ—इस पचम कालमें इस समय देवों से पूज्य केवलज्ञान मडित समोसरण युक्त चौतीस अतिशय युक्त अष्टादश दोष रहित–परम वीतराग–ऐसे तीर्थंकर प्रभु तो साक्षात् विद्यमान नही है। वे तो चतुर्थकालमें ही मोक्षमें जा

समवसरणशोभामंडिता भव्यबोधका । मित्रान्यतिशयैर्युक्ता पुष्पदंतप्रभाधिका ॥ ८६ ॥
तेपि सर्वे शिवस्थाने गता शर्माब्धिभोजका । प्रत्यक्ष नैव दृश्यते जिनाश्च केवलेक्षणा ॥ ८७ ॥
चिंतनार्थं च तथा वै स्थापना पंचमे बुधः । धातुपाषाणदृढेपु मुनिभि स्थापिता शुभाः ॥ ८८ ॥
शिलास्फोटसुहस्तेन घटिताः तत्समाश्च वै । पश्चाद्धि तत्प्रतिष्ठाच संभवेद्धि यथाविधि ॥ ८९ ॥
स्यात्तदा पूजया योग्या तन्मूर्ति सकलाननौ । सर्वे भव्या प्रतिवस्त तद्विवस्य तदाश्रये ॥ ९० ॥
उदकेक्षुघृतैर्दुग्धैर्दधिसर्वौषधादिभि । अभिषेक प्रकुर्वंति शुद्धैरंबकनदकै ॥ ९१ ॥
ततश्चैव सुवासेन तत्तनोर्जलजान् कणान् । दीकृत्य प्रयत्नेन स्थापयिंवा वरासने ॥ ९२ ॥

विराजे है । इसलिये तीर्थंकर प्रभुकी प्रत्यक्ष पूजा इस समय नहीं होती है । किंतु उनके गुणोकी प्राप्तिके लिये परोक्ष पूजा इस समय की जाती है । भगवानका स्वरूप चिंतन करनेके लिये तदाकार धातु पाषाण आदि की सुंदर मूर्ति निर्माण कर और आगमकी विधिसे उसकी प्रतिष्ठा करा कर पूजा की जाती है ॥

अर्थः—— भगवानकी मूर्तिकी परोक्ष पूजा प्रत्यक्ष पूजासे भिन्न होती है । इसलिये परोक्षपूजा उस मूर्तिकी जल, इक्षुरस, घी, दूध, दही, सर्वौषधी आदि उत्तम और पवित्र द्रव्योसे की जाती है। यह सनातन विधि श्री जिनेन्द्रदेवने प्रतिपादन की है और इन्द्रादिक देव इसी विधिसे नंदीश्वरादि द्वीपमें अकृत्रिम जिनबिंबोका अभिषेक करते है । ९१ ॥

फिर भगवानकी उस दिव्य मूर्तिको एक उत्तम सिंहासनपर विराजमान कर मूर्तिके जलकणोको वस्त्रके द्वार पोंछ लेवे ॥ ९२ ॥

तदग्रेहि त्रिधारा च पातयति नराश्च ये । जन्ममृत्युजरानाश कुर्वंति ते हि निश्चयात् ॥ ९३ ॥

काश्मीरागुरुचद्र च ह्यन्यद्गंधोत्कर शुभम् । संघृष्य जिनपादाब्जौ लेपनीयौ मनोहरौ ॥ ९४ ॥

भवातापविनाशार्थं केवलज्ञानधारिभि । कथित बिबपूजाया चंदनस्य प्रलेपनम् ॥ ९५ ॥

जिनपादारविंदाग्रे कर्तव्या भो बुधोत्तमा. । पुंजाश्चाक्षतवारस्य चाक्षयपुरप्राप्तये ॥ ९६ ॥

कुदाब्जमालतीपुष्पव्रजाश्च मारहानये । जिनपादोपरि भव्या धर्तव्या कीटवर्जिता ॥ ९७ ॥

शाल्यन्न मोदकं भक्ष्य सर्वं च व्यजनोत्करं । क्षुधातकविनाशार्थं स्थापनीय प्रभो पुर ॥ ९८ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव अरहत प्रभुके समक्ष भृंगार नालसे तीन धाराको छोडते हैं वे जन्म जरा और मरण तीन पापोको नाश करते हैं । ९२ ॥

अर्थ—केशर—कर्पूर—अगर—तगर आदि सुगंधी द्रव्योको उत्तम प्रकार से घिसकर श्री जिनदेवके पवित्र चरण कमलोका प्रलेपन करना चाहिये । जिससे ससार तापका नाश हो । यह जिनबिंबपूजाकी विधि ससार ताप विनाश करनेकेलिये केवलज्ञान धारक श्री जिनदेवने बतलाई है ।

अर्थ—अरहंतप्रभुके समक्ष उत्तम अक्षतोके मनोहर पुंज बनाकर चढाना चाहिये । जिससे अक्षयपुर (मोक्ष स्थान) की प्राप्ति हो ।

अर्थ—मोगरा कमल—मालती आदि उत्तम और सुवासित शुद्ध निर्जीव फूलोको प्रभुके चरण कमलो पर चढाना चाहिये ।

अर्थ—अरहतप्रभुके समक्ष भात लाडू आदि व्यजन बडी भक्तिसे शुद्धता पूर्वक चढाना चाहिये जिससे क्षुधारोगकी शांति हो ।

आरार्तिका प्रकर्तव्या जिनेन्द्रपदपद्मयो । मोहभूपविघातार्थं दीपव्यूहैर्घृतोद्भवै ॥ ९९ ॥
पावके धूपवृंदस्य कर्तव्यो दहनो बुधै । जिनपादाब्जमभ्यग्रे कर्मेन्धनविनाशक ॥ १०० ॥
नारिंगाम्रकपित्थाद्यै पूजनीयो जिनेश्वरः । मोक्षफलस्य प्राप्त्यर्थं शर्मसततिदायकम् ॥ १०१ ॥
भो भव्या बिंबपूजाया विधिरेव प्रकीर्तित । जिनागमे यतीन्द्रैर्वै एव सर्वत्र पश्यथ ॥ १०२ ॥
प्रत्यक्ष केवली नास्ति अतस्तत्स्थापना मता । स्थापनाया मता सर्वा क्रिया वै स्नपनादिका ॥ १०३ ॥
पश्यथ सर्वग्रंथेषु बिंबपूजाविधि पृथक् । केवलज्ञानपूजाया सुरेन्द्राद्यैश्च निर्मितं ॥ १०४ ॥
व्यवहारनयापेक्षो गृहस्थाना जिनेश्वरै । बिंबपूजाविधिश्चैव कथित केवलेक्षणै ॥ १०५ ॥

अर्थ—अरहतप्रभुके सामने शुद्ध सुगंधित घीके सुंदर दीपक जलाकर आरती करनी चाहिये ।

अर्थ—प्रभुके सामने उत्तम सुगंधित धूप अष्टकर्मोके नाश करनेकेलिये अग्निमें प्रक्षेपण करना चाहिये ।

अर्थ—प्रभुके चरणकमलोकी पूजा नारंगी-आम-कपित्थ आदि उत्तम फलो से विधि पूर्वक करनी चाहिये जिससे मोक्षसुखकी प्राप्ति हो ।

हे भव्य अरहत भगवान के जिनप्रतिमा की परोक्ष पूजाकी विधि सक्षेप मे ऊपर कही है वह जिनागममें सर्व ग्रथो में मुनीश्वरोने बतलाई है ।

अर्थः—इस पंचमकालमें साक्षात् केवली भगवान विराजमान नहीं है किंतु केवली भगवान तीर्थंकर प्रभुकी प्रतिकृति (स्थापनाबद्ध जिनमूर्तिको ही साक्षात जिनेन्द्र भगवान मानकर) में ही समस्त क्रियायें की जाती है । यह स्नपनादि विधि समस्त ग्रथोमें कही है । परोक्ष पूजा की विधि यही परमागममें मानी है । देवेन्द्रोंने जिनमूर्तिकी पूजा विधि इसी प्रकार की है। यह विधि व्यवहार नयकी अपेक्षासे आचार्योंने बतलाई है। और जिनेश्वर देवने प्रतिपादित

निश्चयनयतो भव्या चिद्रूपाणा मता खलु । इज्या च मारसिद्धांते प्रोक्ता सकलदर्शिभिः ॥ १०६ ॥
अत साक्षात् जिनाः पूज्याः सुगधीशैश्च तारकाः । नो सति सत्सभायुक्ता किं विदध्मो वदथ वे ॥ १०७ ॥
अस्मिन् काले महाभीमे तद्वते कथिता क्रिया । मुनीश्वरैश्च बिंबेषु स्नानाद्या मो बुधोत्तमा ॥ १०८ ॥
दिव्यध्वनिमयी वाणी वीतरागमुखोद्भवा । साप्यस्मिन् नास्ति भो भव्या सर्वज्ञापरखडका ॥ १०९ ॥

की है। निश्चयनय से एक चिद्रूपमें ही लवलीन होजाना यही पूजा विधि है। ऐसा ही अभिप्राय सारसिद्धांत नामके ग्रथ में कहा है। इसलिये जिन भव्य जीवोने जिनप्रतिमाकी पूजा की उनने साक्षात् जिनेन्द्र भगवान की पूजा की। देवगणोंमें शक्ति होनेसे वे साक्षात् पूजा करते हैं और संसारसमुद्रसे पार होते है ऐसी ही अचिंत्य शक्ति अरहत भगवान में है। यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। परतु इस समय साक्षात् अरहत नहीं हैं। फिर हम लोग सिवाय उनकी परोक्ष पूजा के और क्या कर सकते हैं।

इस पंचमकालमें साक्षात् अरहत केवलीका अभाव होनेसे जिनबिंबमें ही स्नानादि विधि कर षट् आवश्यक क्रिया करनी चाहिये। ऐसा आचार्योंने कहा है।

अर्थ—साक्षात् तीर्थंकर केवली का अभाव होनेसे साक्षात् दिव्यध्वनिका भी अभाव है जिससें सर्व संदेह दूर होता था। परन्तु पंचम कालमें जिनागम ग्रथोंमें वह दिव्य ध्वनि आचार्योंकी परपरासे ग्रथित की है। जिनागम ग्रंथोंमें केवली भगवानकी दिव्य ध्वनिके सिवाय एक अक्षर मात्र भी स्वकल्पित नहीं है। न रागद्वेष या प्रतिष्ठा कीर्ति आदिके गौरवसे वीतराग योगियो ने उस दिव्य ध्वनिमें व्यतिक्रम किया है। इसलिये परमागमके शास्त्र सब दिव्यध्वनि रूप ही हैं। जो प्रामाणिकता–सत्यता–और निर्दोषता दिव्यध्वनी की है वही प्रामाणिकता–सत्यता–निर्दोषता–और अबाधता ग्रंथोंकी है।

पर्णेपु जिनसेनार्द्यैर्योगीन्द्रैः सधृता खलु । पारपर्या समायाता साच मर्वत्र विश्रुता ॥ ११०
तदा सर्वं गृहस्थाश्च क्रियाकर्मरता परम् । शास्त्राद्धि मत्रप्रत्यक्षं पश्यति सकला क्रिया ॥ १११ ॥
अहो श्राद्धानिका यूय कुरुध्व मकला क्रिया । माधुभिर्वरयोगीन्द्रै ग्रंथेपु स्थापिता ननु ॥ ११२
कालेस्मिश्चलचित्तकरे मिथ्यात्वपूरिते । नैव दृश्यते योगीन्द्रा महाव्रतधरा वरा ॥ ११३ ॥
मतिज्ञानयुता केचित् श्रुतबोधविमडिता । अवधिज्ञानान्विताद्धि तुर्यबोधान्विता खलु ॥ ११४ ॥
मन्यस्मिन् नैव त धीरा मुनय सुरपूजिता । ईदृशा ज्ञाननेत्राढ्या दिशाग्गोचरा वराः ॥ ११५ ॥

अर्थ —यही दिव्यध्वनी आचार्य परपरामे चली आरही है और उसीको भगवान जिनसेनाचार्य आदि महर्षियोंने ग्रंथोंमें लिखी है ।

अर्थ —इसलिये सद्गृहस्थोंको चाहिये कि शास्त्रोक्त स्नपन आदि क्रियाओंको करें । क्योंकि वे सब बातें शास्त्रमें प्रत्यक्ष हैं ।

अर्थ —हे भव्यजीवो आत्मविचार करो और योगीन्द्रोंके द्वारा बतलाई हुई शुभ क्रिया (भगवानका पचामृतादि) को प्रेमपूर्वक करो ।

अर्थ -इस पचमकालमें मनुष्योंके मन स्वभावसेही चपल होरहे हैं। मिथ्यात्वसे पूरित होरहे है। ऐसे समय में महाव्रतके धारण करनेवाले विरलेही मिलते हैं । जिनको मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान है ऐसे महामना मुनीश्वरोंका तो प्राय अभाव है । जिनसे संसारका कल्याण होता था । वे मुनीश्वर कुमार्गपर चलनेवालोंको सुमार्गपर लाते थे । जिनराजकी आज्ञाभंग करनेवालोंको सन्मार्गपर लाते थे । और मनमानी करनेवालोको योग्य व्यवस्थाकर सन्मार्गपर लाते थे। संघमें बिना दडके कभी भी व्यवस्था नहीं होती है। राजदडसे जैसे अन्याय रुक जाता है इसी प्रकार

कालेस्मिन् किं करिष्यामः गुरूणा तद्दते नरा । लोपं वदथ ग्रथेषु कथित यदि कापिच ॥ ११६ ॥
ईदृश न श्रुत कापि गुरुलोप, च पंचमे । कुरुम्व मानयध्व च द्वयो श्रीजिनशास्त्रयो ॥ ११७ ॥
त्रिकालसर्ववस्तूना वर्णना च कृता जिनै । भो मर्त्या न श्रुतं चैव गुरुलोप च तत्र वै ॥ ११८ ॥

पचायती दडसे धर्मविरुद्ध चलनेवालोकी अनीति मिट जाती है।

अर्थ—यह हुंडक पंचमकाल है। इसमें जैन कहलाने वाले न जाने कैसे २ पापी भी उत्पन्न होगे जो स्वयं धर्मबहिर्भूत होगे और समस्त प्रजाको ग्रंथोका लोप कर धर्मबहिर्भूत बनायेंगे। कुमार्ग—अन्याय और अत्याचार बढायेंगे। यद्यपि ग्रथोंमें सदाचारका विधान होगा तो भी वे पापी उसको नही मानेंगे और लोगो में मिथ्या प्रसिद्धि कर सन्मार्गका लोप करेंगे। ऐसे मनुष्यों से सन्मार्ग प्रकाशक ग्रंथोकी रचना नहीं होगी किंतु व्यभिचार अन्याय फैलाने वाले ग्रंथोकी रचना होगी। इसके सिवाय वे लोग गुरुओका भी लोप करेंगे—गुरुओको भी नहीं मानेंगे।

अर्थ—पचम कालमें मुनिधर्मका लोप होगा ऐसा कहनेवाले मायावी है क्योंकि पचम कालके अततक शुद्ध मुनि-आर्यिका श्रावक श्राविका रहेंगे ऐसा जिनागम स्पष्ट रूपसे बतलाता है। इस लिये शास्त्र और गुरु दोनोका श्रद्धान करना चाहिये—दोनोको मानना चाहिये।

अर्थ—त्रिकालज्ञानी सर्वज्ञ भगवानने समस्त पदार्थोंका वर्णन किया है उसमें यह भी बतलाया है कि पचमकालके अंततक चतुर्विध सघ निर्दोष रहेगा, परतु ऐसा कहीं भी नही सुना न जिनागम में कहा है कि पचमकालके प्रारभके बाद ही मुनीश्वरोंका अभाव होगा। परंतु मतलबी कितनेही पापी मनुष्य गुरुओका लोप करते है। अर्थात् वे पापी निर्ग्रंथ गुरुओंको भी नहीं मानते।

श्रद्धास्माकमपि चैषा जानीध्व हृदि भो नरा॰ । निश्चयस्य नयस्यैव लक्षण तच्च निश्चयात ॥ ११९ ॥
अर्हतो नापरो देवो निर्ग्रथान्नापरो गुरु । दयातो नापरो धर्मो ह्येतच्छ्रद्धानलक्षणम् ॥ १२० ॥
भो मूढा भवतां नैव शुद्धसम्यक्त्वकारका । दुर्लभा सापि विज्ञेया कर्मवार विभजका ॥ १२१ ॥
निश्चयव्यवहारस्य नयस्य यत्र स्यात् खलु । श्रद्धा तस्यैव चोत्पत्ति सम्यक्त्वस्य न संशय ॥ १२२ ॥
स्याद्यदि भवता श्रद्धा निश्चयस्यैव निश्चयात् । तर्हि नमथ पर्णस्थान् किमर्थ वचनापहा ॥ १२३ ॥

अर्थ—जो सर्वज्ञ कथित आगम–और निर्ग्रथ गुरुका प्रलोपकर केवल मनोक्त कल्पना से शुद्ध सम्यग्दृष्टी वनते है उनकेलिये विचार किया जाता है कि देव शास्त्र गुरुके श्रद्धान विना केवल स्वानुभवसे सम्यग्दर्शन होता है या नहीं ? व्यवहार नयको अतिक्रम कर जो मनुष्य निश्चयनयका अवलंवन लेता है और व्यवहार नयको सर्वथा मानता ही नही है उसके निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है किंतु तीव्र मिथ्यात्व है–क्यों कि अरहंतके सिवाय अन्य कोई देव नहीं । निर्ग्रथ दिगंवर गुरु सिवाय अन्य कोई गुरु नही, और अहिंसाधर्म सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं है, ऐसे दृढ श्रद्धानको सम्यग्दर्शनका लक्षण परमागममें वतलाया है । जिसके इस प्रकार श्रद्धान नहीं है वह सम्यग्दृष्टी नही है मिथ्यादृष्टी है । क्यो कि यह परमागमका सुदृढ नियम है कि जिसके देव शास्त्र गुरुका दृढ श्रद्धान होता है उसीके निश्चय सम्यग्दर्शन होता है ।' व्यवहार सम्यग्दर्शनके विना निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता है । जो मनुष्य देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धा करे नही आगमको सर्वांग माने नही आगमोक्त आचरण और क्रियाओको स्वीकार करे नहीं आगमप्रतिपादित धार्मिक विवाहादि क्रियाओंको धर्मक्रिया नहीं माने, और धर्ममें सशंक वृत्ति रक्खे वह अपनेको भले ही निश्चय सम्यग्दृष्टी कहे परंतु वह घोर पापी और अनतसंसारी मिथ्यादृष्टी है । +

अर्थः— जो तुमारे एक आत्माका ही निश्चय श्रद्धान है और उसीका पूर्ण निश्चय है तो फिर मुनिदीक्षा

पूजयथ किमर्थं च मूर्तिं पाषाणनिर्मिताम् । निश्चयपालका यूय व्यवहारपरान्मुखा ॥ १२४ ॥

लेकर वनमें रहो । व्यर्थ ही भगवान अरहंत देवके कहे हुए वचनोका लोप क्यो करते हो । तथा फिर ग्रंथोको क्यो नमस्कार, पूजन और भक्ति करते हो ? जो ग्रंथोंकी उपासना है तो फिर एक निश्चय सम्यग्दर्शन कहां रहा ? और एक आत्मीय श्रद्धान कहां रहा ? जब ग्रंथोकी उपासना है तब ग्रंथोमें प्रतिपादित मूर्तिपूजा-स्नपन-अष्टद्रव्यसे पूजन आदि विधान भी मानना पडेगा । अन्यथा ग्रंथोकी उपासना भी नही बनेगी । और जो एक आत्माका ही निश्चय श्रद्धान सारभूत है । व्यवहार क्रियाओसे क्या प्रयोजन ? इस विचारसे व्यवहार नयका उत्थापन करते हो तो फिर पाषाण निर्मित अरहत भगवानकी मूर्ति क्यों पूजन करते हो ? मूर्तिकी पूजन करनेसे आत्माकी पूजन नही होती है । निश्चय अनुभवको माननेवालोको मूर्ति पूजनकी जरूरत क्या ? परंतु मूर्तिपूजा परमागममे सर्वत्र बतलाई है। विना मूर्ति पूजाके आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नही होती है । इसलिये केवल आत्माके श्रद्धानको मानकर देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान नहीं करना सो मिथ्यात्व है ।

---

१ कितने ही आत्माका अनुभव और निश्चयके गीत गाकर व्यवहार आचरणको पुद्गलका धर्म मानकर परित्याग कर देते है । वे न तो देवकी सेवा ही करते है, न गुरुकी उपासना करते है, न सदाचारको मानते है । उनके देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान नहीं होता । प्राय व समस्त प्रकारके व्यसनोंमें फसे हुए सदाचारसे भी पराङ्मुख होते है । अपनेको जैन कह करके भी जैनमार्गानुसार कभी नहीं चलते है । निश्चय सम्यग्दृष्टीके भी व्यवहार सम्यक्त्व होता है । देव, शास्त्र, गुरुकी श्रद्धाके विना कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता है । जब सम्यग्दर्शन नहीं है तब उनके निश्चय सम्यग्दर्शन कैसे होगा ? ऐसे जीवोंको परमागममे मिथ्यात्वी बतलाया है ।

सिद्धांते जिननाथेन भाषितं चैव लक्षणम् । निश्चयव्यवहारस्य केवलज्ञानिना खलु ॥ १२५ ॥
नयेन व्यवहारेण कार्यसिद्धिर्भवेदहो । मुनीनांच गृहस्थाना यूय सर्वत्र पश्यथ ॥ १२६ ॥
व्यवहारनयेनैव मानुजा भो इमे मता । गुरव शृणुथ यूय वक्ष्यमाण मया खलु ॥ १२७ ॥
ह्येकवर्णप्रदातापि श्लोकदाता पदस्य वा । ग्रथस्य मत्रदाताच ज्ञानोपदेशकश्च वा ॥ १२८ ॥
यज्ञोपवीतदाताचे इत्याद्या श्रीजिनागमे । इमे सर्वे मता शास्त्रे गुरवो गुणदानत ॥ १२९ ॥

अर्थः—जिनेन्द्र देवनें सिद्धांत ग्रथोमें सम्यग्दृष्टीका उपर्युक्त लक्षण कहा है। व्यवहारनयके विना निश्चयन भी कार्यकारी नही है । शास्त्रकारोने यही बतलाया है कि व्यवहार नयसे ही कार्यसिद्धि होती है । गृहस्थधर्म और मुनि-धर्मका स्वरूप इसी नयसे प्रकट होता है। व्यवहारनयसे मनुष्य गुरु होते हैं और गुणस्थानोका आरोहण कर मोक्षको प्राप्त होते है ।

अर्थ—जो एक अक्षर–एक श्लोक–एक पद और एक ग्रथका पढानेवाला है वह भी गुरु होता है । मत्र का प्रदान करनेवाला भी गुरु है । ज्ञान (देशना) का उपदेश देनेवाला गुरु माना है । यज्ञोपवीत विधि -विवाह विधि प्रतिष्ठाविधि-आदि विधि और सस्कारोको करानेवाला गुरु होता है । जिनयज्ञ–जिनपूजन–आदि विधियोको कराने वाला गुरु है । जैन परमागममें गुरुसंज्ञा गुणोका प्रदान करनेसे अनेक प्रकारमे मानी है ।

---

१ धर्मगुरु — विद्यागुरु-मातापितागुरु–राजगुरु–सस्कारकर्ता गुरु–आदि भेदसे गुरुओंके अनेक भेद माने है । धर्मगुरु सर्वथा निर्ग्रंथ और परम दिगंबर ही होते हैं । संसार समुद्रसे तारक और आत्महितके करनेवाले धर्मगुरु है । बाकी व्यवहार आचरणोंके द्वारा क्रमसे आत्महित करनेवाले है ।

येऽधमा नैव मन्यंते गुरुं ज्ञानस्य दायकम् । ते यास्यंति न संदेहः सप्तमे श्वभ्रकूपके ॥ १३० ॥

यथा वै जिनराजस्य यथा दिव्यध्वनेः बुधा । स्थापना दृश्यते लोके गुरूणा च तथा मता ॥ १३१ ॥

जैनास्तुरूपा ह्येते जिनधर्मप्रभावका । धर्मोपदेशनादौच पश्यथ च तदोपमा ॥ १३२ ॥

अहो मूढा' च प्रत्यक्ष कुलोन्नतविराजिता । बुद्ध्यादिगुणसपन्ना मिथ्यात्वपथनाशका ॥ १३३ ॥

कलौ च जैनधर्मस्योद्धारणेऽतीव चातुरा । अस्माद्धि जैनमार्गीय प्रत्यक्ष दृश्यते खलु ॥ १३४ ॥

एता वै नैव सामर्थ्यमस्माकं कालदोषत । एतेषामपि सा न स्यात प्रत्यक्ष पश्यथ खलु ॥ १३५ ॥

अर्थ-जो अधम मनुष्य गुरुको ज्ञान दायक नहीं मानते है वे निःसंदेह नरकके पात्र है । गुरु विना ज्ञान नहीं होता है यह कहावत भी सर्वत्र प्रसिद्ध है ।

अर्थ-जैसे जिनराजकी स्थापना मूर्तिमें होती है। जैसे दिव्यध्वनिकी स्थापना ग्रंथोमें होती है। वैसे ही पूर्व कालके निर्ग्रंथ मुनीश्वरोकी स्थापना भी वर्तमान कालके मुनियोमें होती है। १३१ ॥

अर्थ-ये वर्तमानकालके मुनि भी जैन धर्मके प्रभावक होते है । और इनके द्वारा धर्मोपदेश प्रत्यक्ष सबको मिलता है। १३२ ॥

अर्थ-इन वर्तमानकालके गुरुओंसे ही जैन धर्मकी रक्षा कितने ही वार हुई है। बुद्धि तप शक्ति आदि गुणोमें प्रवीण मिथ्या मार्गके खंडन करनेवाले और जैन धर्मका उद्धार करनेवाले ये गुरु होते है । इन लोगोके कारण ही अब भी धर्मकी स्थिति प्रत्यक्ष दीख रही है ॥ १३३।१३४ ॥

कदाचित यह कहो कि कालदोषसे हम लोगोमें शक्ति कम होगई है । तो यह भी मानना चाहिए कि उनमें भी शक्ति कम होगई है तथापि उनमें शक्ति प्रत्यक्ष दिखाई देती है ॥

जिनात्पुरुगा ह्येते जिनधर्मोपदेशका । अत सर्वे प्रमान्या स्यु' जिनाच्च कोन मानयेत् ॥ १३६ ॥
यथा पाषाणबिंबाना योग्यो वै पूजनादिक । कार्य तथैव भो मर्त्या एतेषा नमनादिकम् ॥ १३७ ॥
मा कुरुध्व गुरुघ्ना वै एतेषु विनय खलु । यय स्यु धर्ममार्गस्य घातका' नात्र सशय' ॥ १३८ ॥
ह्येतत् सिद्धातदास्य स्यात् य कुधी नार्गघातक । लोपयति जिनात्त वै सच धर्मात्परान्मुख । १३९ ॥
युष्माकमिति भद्रार्थं ह्युपदेश प्रजल्पित । अस्माभि ग्रथबोधेन अहकारमदान्नच ॥ १४० ॥
नागेंद्राश्च सुरश्वराः त्रिपु खलु सन्मानयति सदा । योगीन्द्रा खचरेश्वरा गुणप्रभज्ञानेन सशोभिताः ॥ १४१ ॥
वेदज्ञानविमंडिता सुरनुता विद्यादिसप्युताः । कुर्वंत्येव प्रलोपनं नरवरा नैव भवतापह ॥ १४२ ।
वचनाडंवरै किंच अतो भो सज्जना खलु । यदुक्त जिनग्रंथेषु तत् लोप मा विधीयता ॥ १४३ ॥

अर्थ--ये वर्तमानकालके धर्मगुरु जैन धर्मके उपदेशक हैं इसलिये सबको ही मान्य हैं। जिनने जिनेंद्र शरण ग्रहण की है उनको कौन नहीं मानेगा ' सबही मानेंगे ।

जिस प्रकार अरहत भगवानकी मूर्तिकी पूजा करते हैं वैसे ही इनका भी सन्मान नमस्कार आदि करना चाहिये ।

अर्थ---गुरुघ्नता प्रकट करना ठीक नहीं है । इसलिये उनका भी विनय करना चाहिये । जो मनुष्य मार्गका घात करता है वह धर्म से परान्मुख है । यह बात हमने ग्रथोसे लिखी है । न किसी दूसरे अभिप्रायसे ।

अर्थ---ससार मे सबसे भयकर पाप ग्रथोका प्रलोपन करने का है । जो मनुष्य ग्रथों की आज्ञाका भग करता है उस ग्रथमे (परमागममें ' बतलाये हुए मार्गको स्वीकार नही करता है--परमागमका अनुयायी अपनेको प्रकट करता हुआ भी उसको नही मानता या पूर्ण श्रद्धा नही रखता , अथवा कुछ भागको मानता है और कुछ भागमें अपने मनोक्त ज्ञान द्वारा सदेह करता है वह ग्रंथका प्रलोपन करता है । अथवा उत्तम सदाचारके ग्रथोको न मानकर

ये कुर्वंति पलोपन च ह्यधमा ग्रंथस्य भो सद्बुधा । ते यास्यति निकोतिपु सुबचनालोपाच्च ससारद ॥ १४४ ॥
याता याति तथाच दु खनिकर ससावनिपु सदा । यास्यत्येव कदापि भो बुधजना लोपं कुरुध्वच मा ॥ १४५ ॥

अथ ढूंढक मतोत्पत्ति

अथापरं शृणुध्व भो स्वेतवासोमतं खलु । लुंकाभिध कुधीरासीत् सर्वधर्मविनाशकः ॥ १४६ ॥
रिपुरन्ध्रनीन्दुसयुक्तममेऽभूत्स्वेतवाससाम् । द्वापरेपु प्रमग्नाना यतोहि कालदोषत ॥ १४७ ॥

एक अध्यात्म ग्रथोको ही आगम समझता है वह भी ग्रथका प्रलोपन है ।

इसप्रकार जो ग्रथोका पलोपन करेगा वह अवश्य नरककुडमें गिरेगा । और अनंत ससारको प्राप्त होगा । अथवा निगोद आदि कुयोनियोंमें अनत दुःखको प्राप्त होगा । इसलिये ग्रथोका प्रलोप नही करना चाहिये ।

इद्र, नागेंद्र, मुनि, अवधि ज्ञानी, मनःपर्यय ज्ञानी, विद्वान आदि किसीने भी आगमोका लोप नहीं किया है इसलिये तुम भी ग्रथोका लोप कभी मत करो । जिन ग्रथोमें जो क्रियाए कही है उनका लोप कभी मत करो । जो पुरुष ग्रंथोमें कहे कुछ वचनोंका लोप करता है वह अवश्य ही नरक निगोदमें पडता है इसलिये ग्रंथोका लोप कभी नही करना चाहिये ।

अर्थ —स्वेतांवरोमेंसे लुका नामक मत धर्मका नाश करनेवाला प्रकट हुआ है अब आगे उसकी उत्पत्ति आदिका खुलासा बतलाते है वह श्रवण करना चाहिये ।

अर्थः—संशय मिथ्यात्वको धारण करनेवाले (इदोविय संसइयो ऐसा गोमटसारमें स्वेतांबर मतको संशय मिथ्यात्वी जैनाभास माना है) स्वेतांबर (भगवान भद्रबाहूके समयमें) सं १३६ में उत्पन्न हुए । ये सब संदेह

मुनिहस्ते तथा पचसोमयुक्ते ह्यभू समे ।गते लुका क्रियाहीनो नाम्नाहि सर्वलोपकृत् ॥ १४८ ॥
तन्मते च घना ज ता भेदा स्वपथपोषका । निर्विचारा· क्रियाहीना धर्मलोपकाः खलाः ॥ १४९ ।
जिनेज्यानिंदका केचित् जिनबिंबपरान्मुखा । निंदका तीर्थयात्राणा म्लेन्छाचारप्रपालका ॥ १५० ॥
जैनमदिरप्रतिष्ठावारका कुकुलान्विता । इत्याद्या जिनमार्गस्य बभूवुर्नाशका खलु ॥ १५१ ॥
नाम्ना ढुंढ्याश्च विख्याता क्रियाकर्मविवर्जिता । सर्वत्र विसृता. ते च ह्यधुना भो बुधोत्तमा ॥ १५२ ॥

में निमग्न रहनेवाले तीव्र मिथ्यात्वी हे। इस प्रकार मिथ्यात्वको धारण करनेवाले और अपनेको जैन माननेवाले जैनाभास भी कालदोषसे पचमकालमें उत्पन्न होते हे ॥

हे राजन् लुक मत स. १५२७ में उत्पन्न हुआ। यह मत समस्त पवित्र आचरणो का लोप करनेवाला प्रसिद्ध हुआ।

अर्थ—उस लुक मतमेंसे भी अनेक मत प्रकट हुए। जो उसी मार्गको पुष्टि करनेवाले थे। जिनमें विचार नही था। जिनके आचरण पवित्र नहीं थे। और जो पवित्र धर्मका लोप करनेवाले थे।

अर्थ— ये लुंक मतके अनुयायी जैनाभास अरहंत भगवानकी मूर्तिसे परान्मुख रहेंगे–श्रीजिनेन्द्र भगवानकी मूर्तिकी निंदा करेंगे। तीर्थ यात्रा आदि धार्मिक आचरणो को रोकेंगे। प्रतिष्ठा जैनमंदिर आदि प्रवृत्तिको रोकेंगे। म्लेच्छाचार को फैलायेंगे। और नीच कुलके मनुष्योको साधु बनाकर सबको भ्रष्ट करेंगे॥ १३६ ॥

अर्थः—लुंक मतको ढूढिया कहते हैं। और वे ढूंढिया के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन लोगोंमें सदाचार की एक भी उच्च क्रिया नहीं है (इनको स्थानकवासी भी कहते हैं)

कस्यापि नैव दोषोस्ति कालदोषप्रभावत· । सर्वे मतातरा ह्यस्मिन् भवंति नात्र संशय. ॥ १५३ ॥
युष्माक सर्वग्रंथेषु भो लुकमतधारकाः । किं न स्यात् कथन मूढाः पूजाया. श्रीप्रभो. खलु ॥ १५४ ॥
ग्रथसाक्षमह वच्मि शृणुत मतिवर्जिता· । यदि ग्रंथा· प्रसत्या स्यु युष्माक शर्मप्राप्तये ॥ १५५ ॥

पेंतालीसाभिधे ग्रथे प्रतिमाया बहु विस्तारत: पूजनस्य वर्णना कृता वा किं न कृता । भो लुकमतधारका तस्मिन् प्रत्यक्ष पश्यतु-भवन्तः । प्रभोः पूजन कथमुत्थापित । यदि युष्माक ग्रंथोयं सत्यः स्यात् तर्हि ता जिनपूजा किं न कुर्युः । यदि भवतामेष पूजाविधि नैव रोचते तदा ग्रथस्य लोपन कुरुध्वं । अतः कारणात् यूयमपि स्वमतघ्ना च आगमघ्ना· स्यु· नात्र सदेह ।

अर्थ—इसमें किसीका कुछ भी दोष नहीं है क्योंकि काल दोष से ये सब बातें स्वयमेव बन जाती है। हुडक समयमें मतांतरोकी वृद्धि होगी यह निःसदेह है।

अर्थ—हे लुक मतवालो श्रीजिनदेवकी पूजाका विधान तुमारे मतके ग्रथो में क्या नही है सो तो कहो।

अर्थः—आचार्य महाराज कहते है कि तुमारे मतके मुख्य २ ग्रथो (जो सर्वमान्य है) में जिनेंद्रपूजा खुलासा से लिखी है। यदि तुमारे मतके ग्रंथ सत्य हे प्रामाणीक आप मानते हो तो जिनेन्द्र पूजाका निषेध तुम से नहीं होसक्ता। क्योकि ग्रथोमें विधान स्पष्ट रूप से है। जो ग्रथ अमान्य है तो फिर तुमारा मत ही क्या ?

अर्थः—हे लुंकमत धारको तुमारे पैंतालीसा नामके मुख्य आगम ग्रथोमें अतिशय विस्तार पूर्वक भी जिनेंद्रदेवकी पूजाका विधान बतलाया है या नही ? एकवार तुमने अपने आगम ग्रथोको खोलकर देखा है या नहीं ? प्रथम तो अपने ग्रथोको देखकर निषेध करना चाहिये। उन ग्रथोमें, जब खुलासा वर्णन है तब तुमारा निषेध मनोक्त कल्पनासे पक्षपात पूर्ण ही समझा जायगा। कदाचित तुमको पूजन करना अच्छा नहीं मालुम होता तो तुम सबसे प्रथम अपने आगम ग्रथोको मत मानो। जो ऐसा करोगे तो आगमलोपी कहलाओगे। इसमें कुछभी सदेह नहीं

भो लुंकमतपालका पुन शृणुध्वं जीवाभिगमग्रथे पुजाया विधि बहुविस्तारतः वर्णितः । ब्रवीध्व, तत्सत्यं किमसत्य स्यात् ? भो लुंका ! ज्ञाताभिधकथाया सतीनामध्ये शिरोमण्या द्रोपद्या जिनेन्द्रस्य इज्या कृता पुन उपासकदशाभिधग्रथे यूयं पश्यत । जिनेन्द्रसिद्धयात्राकरणं जिनबिंबस्य पूजाकरण बहुविस्तारेण अनयो द्वयो कथन कृत । पुनः सूत्रकृतागमे श्रेणिक भूपस्य अभयकुमाराभिधकुमारेण जिनबिंबस्य बहुभक्त्या च वसुद्रव्यविधिना पूजा कृता । तदैव पूजाप्रभावात सोपि सम्यग्ज्ञान-

अर्थः—हे ढूंढियो ! जरा तो सुनो । जीवाभिगम नामक ग्रथ में भगवानकी मूर्तिकी पूजा का वर्णन खूब विस्तार से किया है । अब बतलाइये कि उस ग्रथका लिखना सत्य है या असत्य ? यदि ग्रथका लिखना सत्य है तो पूजा करना तुमारे मतमें सबको मान्य है फिर तुम लोग अपना घर (ग्रंथ) देखे बिना ही किस सबूत (प्रमाण) पर निषेध करते हो । यदि उस ग्रथ का लिखना असत्य है तो जीवाभिगम ग्रथको मानना छोड देना चाहिये । क्यो मानते हो ?

ज्ञाताभिध नामक सूत्रमें सती शिरोमणी द्रोपदी आदि बहुतसी सतिओंके द्वारा श्री जिनेन्द्र भगवानकी मूर्तिकी पूजा करना बतलाया है । सो सत्य है या असत्य ? उपासकाध्ययन नामक ग्रंथमें देखो—जिनेन्द्र भगवानकी मूर्तिकी पूजा सिद्ध भगवानकी पूजा यात्रा करनेकी आज्ञा है और जिनबिंबकी पूजा बहुत ही विस्तारसे स्पष्ट बतलाई है । वह सत्य है तो स्वीकार करना चाहिये और असत्य है तो उस ग्रथमें क्यो लिखा है ? इससे तो वह ग्रथ ही मान्य नहीं समझें ?

सूत्र कृतांग नामक ग्रंथमें श्रेणिक महाराजके पुत्र राजकुंवर अभयकुमारने श्रीजिनेन्द्र भगवानेंकी मूर्ति की अष्टद्रव्यसे पूजा की और उससे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हुई ऐसा लिखा है सो यह लिखना असत्य है ? तुम लोग सूत्र-

मासवान् "! पुनः सूत्रभगवत्यभिधे ग्रथे जिनबिंबस्य च तन्मदिरस्य तत्पूजाविधेः वहुविस्तारतो वर्णना कृता । नो चेत्तर्हि भवदागमस्य लोपं कुरुध्व । इत्याद्या ये ये ग्रथा भवता सति सर्वेषा तेषा मध्ये यूयं पश्यत युष्माकं केषु ग्रंथेषु जिनमंदिरस्य जिनबिंबस्य जिनपूजाया जिनक्षेत्रभूमे इत्यादिकार्यस्य यदि निषेधनं न स्यात् तर्हि कुर्वीध्व । कुपक्ष त्यजत । एतदेव निकोत् कारणं तत दुःखान्निभिया मा भवत स्वकल्पोक्त्या मा ब्रवीध्वं । हृदि विवेक भजध्व ॥

कृतांग ग्रथको मानते हो या नही ? जो मानते हो तो मूर्तिपूजा करना स्वीकार करना चाहिये। जो नहीं मानते तो ग्रथ अप्रमाण ठहरा ।

भगवती सूत्रमें—जिनबिंब और जिनमंदिर की पूजा करना लिखा है । वह भी अतिशय विस्तारके साथ वतलाया है सो क्या मान्य है या नहीं ? यदि मान्य नहीं है तो भगवती सूत्र अप्रमाण ठहरेगा ? या तो ग्रथको अमान्य करो या मूर्ति पूजा करना स्वीकार करो ।

तुमारे मतके आगमग्रंथोमें सर्वत्र जिन बिंव पूजा करनेका विधान लिखा है। सो तुमको करना चाहिये । अपने ग्रथोको देखकर निषेध करना चाहिये ।

आपके कौन कौनसे ग्रथोमें जिनबिंव और जिनमंदिर तीर्थयात्रा आदिका निषेध है ? या मनकल्पना एवं पक्षपातसे ही निषेध कर रहे हो । विनाप्रमाण के निषेध करना अज्ञान है। इसलिये पक्षपातको छोडो और विवेकसे काम लो ।

मिथ्या हठग्रह पकडकर अज्ञान व्यक्त करना मूर्ख लोगोंका कार्य है ² इसलिए कुपक्षको छोड देना चाहिये । अन्यथा निगोदादि दुर्गतिका कारण यह मिथ्या प्रलोप होगा । मनकी कल्पनासे देव जिनमदिर आदिका अवर्णवाद करना अपने विवेकको खोकर अज्ञान मदमाते होना है। सो यह ठीक नहीं है ।

भो ढुण्ढकाः जिनपूजादानमन्यद् गृहस्थानां परो धर्मो त्रिकालेऽपि नास्ति । ये जिनबिम्बस्य [illegible] ते जिनघ्ना जिनागमघ्ना जिनवाक्यजिनमन्त्रघ्ना बहुमत्येनेन [illegible] सर्वथा [illegible] ।

भो ढुण्ढा नामस्थापनाद्रव्यभावचतुर्धा जिनेन्द्रस्य स्मरणं च पूजनं स्यात् [illegible] [illegible] [illegible] ।

अरे ! ढूढिया हो . गृहस्थोंका धर्म जिनपूजन, दानके सिवाय अन्य दूसरा त्रिकालमें भी श्रेष्ठ नहीं है। मुख्य धर्म तो जिनपूजन और दान देना ही है। इसपर भी आप जिनबिंबकी पूजा करनेका निषेध कर जो सत्य धर्मका निन्हव करते हो वह जिनबिंबका निन्हव नहीं है किंतु श्रीजिनेन्द्र देवका ही निन्हव है इसलिए आप अवश्य जिनघ्न हो। और अपने आगमको नहीं माननेसे आगमघ्न हो—जो आपके आगममें जिनबिंबपूजन—जिनमंदिरपूजन सिद्धयात्रागमन आदि विधान खुले रूपमें लिखा है तब उसको नहीं मानना यही आगमघ्नता है। और जिनवाक्य तथा मंत्रराज (णमोकार) को भी नहीं माननेवाले हो। अधिक क्या ? आप सब शास्त्रोंकी सत्यताका लोप करनेवाले मिथ्या कदाग्रही हो।

अर्थः—अरे ढूढिया हो ! नाम–स्थापना–द्रव्य–भावसे जिनेंद्रदेवका आराधन पूजन स्मरण आदि चार प्रकार किया जाता है। प्रत्येक वस्तुमें यह चारो निक्षेप नियमसे होते है। परतु आप लोगोंनें तीन निक्षेप [नाम–द्रव्य भाव] तो स्वीकार किये और बीचमें स्थापना निक्षेपको छोड दिया सो क्यो ? स्थापना निक्षेप प्रत्यक्ष रूपसे प्रत्येकको मानना ही पडता है। प्रतिनिधि विना एक क्षण निर्वाह होना अशक्य है। सेठ मुनीमको अपना प्रतिनिधि (स्थापना) बनाता है। वकील बैरिष्टर को भी सब कोई अपना प्रतिनिधि बनाता है। वाईसरायको राजाने अपना प्रतिनिधि बनाही रखा है। फिर प्रतिनिधिरूप स्थापना का निषेध किस प्रकार किया जा सक्ता है। स्थापनाके माने विना

पुनर्यूयमपि नामद्रव्यभावेन जिनेन्द्रचिद्रूप सदा हृदि स्मरथ किं न भो मतिहीना स्यु । प्रभो स्थापना कथमुत्थापिता भवद्भि [illegible] कस्य ग्रथानुसारत ।

भो लुंका: पुन शृणुथ कृत्रिमाकृत्रिमप्रभेदेन द्वेधा श्रीजिनेन्द्रस्य सर्वत्र क्षेत्रेषु सर्वत्र भुवनेषु स्थापना स्यात् कृत्रिम जैनेन्द्रबिम्ब मनुजा: पूजयन्ति । अकृत्रिमजिनेश्वरबिम्ब सुरेश्वरा अभ्यर्चयति तत्पदप्राप्त्यर्थं । जिनबिंबस्य पूजनात् सहस्रकवलिना सादृश्यं पुण्यमुत्पद्यते [illegible] जिनबिम्बपूजा कथिता ।

[illegible] स्वपक्षपालनार्थमित्यूचु । भो सज्जना भवद्भि यत्कथित तत्सत्यमपि तथापि अस्माक वाक् शृणुत । [illegible] अस्माभि आरम्भदोषेण प्रतिमाया पूजन उत्थापितं । आरंभात सकलजपतप संयमज्ञानादि-

बिना [illegible] वस्तुस्थितिका कार्य सर्वथा नही हो सकेगा । इसलिये स्थापना की उत्थापना करना बहुत भारी अज्ञान है । फिर भी हे ढूंढिया [illegible] आपने यह स्थापना उत्थापन की सो किस ग्रथ से ? और चार निक्षेपको न मानकर तीन [illegible] माने सो किस ग्रंथ से ? जिस स्थापना निक्षेपके बिना भगवान का स्मरण मंत्रराजका जप और शास्त्र [illegible] नहीं हो सकेगा । इसलिये सत्य बातको नही मानना अज्ञान है ।

अर्थ —और [illegible] शास्त्रों में कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमा भेद बतलाया है । पर्वत—नदीतीर [illegible] और जिनालयोंमें [illegible] पूजा मनुष्य करते है । जिनपूजा करनेसे सहस्रकवलव्रतके समान महान फल प्राप्त होता है इसलिये [illegible] आचार्योंने बतलाई है ।

अर्थः—ढूंढिया [illegible] शास्त्रोंमें [illegible] पूजा का पूर्ण विधान सप्रमाण होनेसे यह तो कहनेमें सर्वथा असमर्थ होगये कि हमारे ([illegible]) मतमें पूजा विधान नहीं है । जो शास्त्रोमें पूजा विधान लिखा है ऐसा कहते

सद्गुणा नश्यंति । यत्रारम तत्र किमपि धर्मोत्पत्तिर्नास्त्येव । निरारंभेण शिवस्थानप्राप्तिर्नमो भवति । आरंभेण अनंतश जीवराशयो म्रियंते । तत्पापात् यथाशक्ति अयं प्राणी दुःखं भुजति वा निगोदादिषु वचनागोचर अनंतकालपर्यंत दुःखं भुंजयेव । इत्येव कल्पोक्तं श्रुत्वा लुंकम्नेमघातने केशरितुल्य जैनागम मार्गवर्धनैक दिवाकर असत्यपक्ष विभजक भव्याब्जमार्तंडोपम श्रीवीतरागप्रति-पालक सिद्धांतादि ग्रंथवाचने सामर्थ्यधारक पूर्वाचार्य वाक्य प्रतिपालकः तन्मतोत्थापनार्थमित्याह भो लुंका ——आरंभ-निराकरण यूय शृणुत चित्तसमाधिना करोत्यद् । जिनेंद्रगर्भसमये प्राक् इन्द्रआज्ञया कुबेर पुष्पवृष्ट्यादिभि पंचाश्चर्यम-करोत । दिक्कुमार्य तस्य मातु गर्भशोधनामकुर्वन् । दीपज्वालनादि अनेकधा परिचर्यां च । पुन गर्भस्थाने आगते सति तदैव समये

हैं तो ग्रंथ अप्रमाण ठहरते हैं । इसलिये सब प्रकारसे लाचार होकर ढूंढिया लोग बोले–यद्यपि हमारे शास्त्रोंमें जिनपूजन विधान लिखा है वे सब ग्रंथ भी मान्य हैं परंतु पूजा करनेमें बहुत सा आरंभ होता है । धार्मिक कामोंमें आरंभ करनेसे बडा भारी दोष होता है। आरंभमें अनंत जीवराशि मर जाती है। जिससे प्राणी नरकादि दुर्गतिका पात्र होता है। आरंभसे जप तप संयम ज्ञान आदि उत्तम सद्गुण नष्ट हो जाते हैं । इस लिये हम जिनबिंब का पूजन आरंभ दोषके भयसे निषेध करते हैं । ऐसा श्रवणकर लुंकमतरूपी गजोंका नाश करनेके लिये सिंह समान, जिनागम मार्गको वृद्धिगत करनेके लिये एक ही दिव्य सूर्य समान, श्रीवीतराग आज्ञाके प्रतिपालक, सिद्धांतादि ग्रंथोंके वेत्ता, पूर्वाचार्य मार्गका अनुसरण करने वाले दिगंबराचार्य ने कहा कि हे ढूंढिया हो पूजा करनेमें आरंभका दोष बतलाते हो सो सुनो । यह दोष तुमारे ग्रंथोंमें श्री जिनेंद्र देवके पंचकल्याण के अवसर लिखा है सो सत्य है या असत्य। जो सत्य है तो फिर आरंभका दोष देना सर्वथा अनुचित है। तथाहि–जिनेन्द्र भगवान के गर्भकल्याण समय–इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने बडे समूह और उत्साहसे पुष्प वृष्टि आदि पंचाश्चर्य वृष्टि की। दिक्कुमारी देवियोंने भगवानकी माता की गर्भशोधना की । अगणित दीप जलाये।

चतुर्निकायदेवनिकराः आगत्य तत्पितरौ हरिविष्टरे संस्थाप्य क्षीरोदकेन सस्नाप्य गर्भगतं प्रभु नत्वा त्रि प्रदक्षिणा दत्वा वस्त्राभरणमालैः तौ प्रपूज्य तत्पुरो जयनदादिशब्दोत्करान् घोषयित्वा पश्चात्स्वस्वस्थान ययु. तथाहि गर्भजातबालकजिनं स्वावधिनेत्रेण ज्ञात्वा सर्वे सुरेश्वरा महताडंबरेण सह तत्पुर आगत्य जिनं नीत्वा स्वर्णाचले गत्वा सिंहविष्टरे स्थापयित्त्वा सहस्रकलशै दुग्धसमुद्रादागतै वा असंख्यै. प्रभोरभिषेकं कृत्वा पश्चात्तत्पुरे जिन स्थापयित्वा महदानदेन स्वस्थान जग्मु. पुन तप कल्याणेऽपि ते सुरेन्द्रा आगत्य तप कल्याणं कृत्वा वव्रजु । तद्वदेव केवलज्ञानोत्पत्तिसमयेऽपि समवसरणरचनामकुर्वन्नेव । तद्वदेव निर्वाणकल्याणसमये त निर्जरेन्द्रा आ-

अनेक प्रकारकी परिचर्या की । और गर्भ समय देवेन्द्रोने श्रीजिनेन्द्रदेव के मातापिताओको सुवर्ण सिंहासनपर बैठाल क्षीरोदधि के कलशो से अभिषेक कराया । फिर नमस्कार की और प्रदक्षिणा दी वस्त्राभरण माला पहनाये और पूजा की । पश्चात् नृत्य किया जय नंद आदि शब्दोकी घोषणा की । फिर अपने स्थान गये ।

जन्म कल्याणमें:—श्रीजिनेन्द्रभगवानका जन्म अवधिज्ञानसे जानकर देवेन्द्रोने बडे ही ठाठबाटके साथ और अपार समारंभके साथ तत्काल बालकको ऐरावत हाथी पर विराजमानकर मेरु पर्वतपर एक हजार आठ क्षीर समुद्र के दुग्धसे भरे हुए कलशोसे अभिषेक किया । पूजा की, गीत नृत्य-वादित्र आदिके द्वारा महान महोत्सव किया और भगवानको नगरमें लाकर माता पिताको सोपकर आनद माना ।

तप कल्याणमें—देवगणोने भगवानका अभिषेक करा कर शिविकामें प्रभुको बैठालकर वनमें दीक्षा कल्याण महान उत्सव और अपूर्व समारंभसे किया । ज्ञानकल्याणमें—समवसरणकी रचना कर जगतमें महान समारंभका ठाठ सबको आश्चर्यकारी बतलाया । और भगवानकी पूजा आठ द्रव्यसे की ।

निर्वाण कल्याणमें:—देवोंने भगवानके दिव्य शरीरको दहन किया जिसमें कास्मीर अगर तगर चंदन कपूर आदि सुगंधी पदार्थोके द्वारा अपूर्व ठाठबाट से उत्सव मनाया ।

गत्य। प्रभो शरीरदहनक्रिया काश्मीरागुरुकर्पूरगंधादिभि द्रव्यौघं कृत्वा स्वभ्यो क उचुः। भो लुंकाः यदत्र इत्येतत्सत्यं किमसत्यं स्यात् ? पंचस्वपि कल्याणेषु महदारंभोत्पत्तिः।

इति श्रुत्वापि पुनः लुंकमतानुगा ऊचुः इत्याहुः भो नृपोत्तमा सुरेन्द्राणामारंभे पापोत्पत्तिर्नास्त्येव । पापारंभोत्पत्ति पुरुषकार्येषु भवेत् नात्र संशय । इति कल्पोक्तं श्रुत्वा जिनागमार्थज्ञायक आह भो लुंका अस्योत्तरं शृणुध्व । भरतेश्वरः महा सेनया सह भगवदादिनाथवंदनार्थमागतवान् तत्कारणं किं स्यात् । प्रत्यक्षं प्रभो दर्शनात् तस्य देशावधि प्राप्तिरासीत् । भो लुंका आरंभफलं प्रत्यक्षं पश्यथ अस्माभि नाम्ना कथितं ॥

हे ढूंढिया हो यह आरंभ (महदारंभ) भगवानकी पूजा और पंचकल्याण निमित्त किया जो तुमारे ग्रंथोंमें लिखना है वह सत्य है या मिथ्या ? सो कहो। जो सत्य है तो पूजा करनेमें आरम्भका दोष बतलाना व्यर्थ है। क्यों कि जिनेंद्र पंचकल्याणोंमे देवोंने पूजा की है।

अर्थः— उपर्युक्त पंचकल्याणोंमे देवोंके द्वारा महान समारंभ भगवानकी पूजाका श्रवण कर ढूंढियाने कहा कि भगवानके पंचकल्याणोंमें देवोंने आरंभ किया है। वह विक्रियाजन्य होनेसे हिंसारूप नहीं है। मनुष्योंके आरंभमें ही पापोत्पत्ति होती है। देवोंके आरंभमें पापोत्पत्ति नहीं है। इसलिये मनुष्योंको पूजा करनेका निषेध हम लोग करते हैं। यह सुनकर जिनागमके ज्ञाता आचार्य महाराजने कहा कि हे ढूंढियाहो ! भरत महाराजने श्री आदिनाथ भगवानकी यात्रा और पूजा ससैन्य-सकुटुंब-सपरिवार महा विभूतिके साथ की और उस पूजाके फलसे अवधिज्ञानकी प्राप्ति हुई। आपके शास्त्रोंमें ऐसा लिखा है सो सत्य है या असत्य ? जो सत्य है तो फिर मनुष्यके आरंभसे पूजाका निषेध नहीं होता है बल्कि उत्तम गुणोंकी प्राप्ति होती है। जैसे कि भरत महाराजको अवधिज्ञानकी प्राप्ति हुई। इसलिये आरंभ

पुनरारंभफल शृणुथ—श्रीवर्द्धमानवदनार्थं श्रेणिकाभिधो भूपेन्द्रः सकलसेनया सह किमगमत् ? वा एक एवागमत् तत्कथयत भो मतिवर्जिता । प्रभो दर्शनात् नमस्कारकरणात्तद्गुणोत्करकथनादेव तेन श्रेणिकभूपालेन पूर्वोपार्जित सकलाहः तदैव नाशयित्वा भाविकाले महापद्माभिधतीर्थंकरस्य गोत्र बबंधे । ह्येतत् आरंभफल पश्यथ । पुनरपि ह्यनेकवार बह्वारंभेण सह श्रेणिको भूपालो महावीरप्रभो दर्शनार्थं पूजनार्थं गत ॥

के दोषसे पूजाका निषेध करना केवल कपोलकल्पित बात है । शास्त्रपद्धतिसे निषेध नही हुआ । सो यह केवल अज्ञानसे कदाग्रह ही है ॥

अर्थः— भगवानकी पूजामे आरभका दोष नही होता है—फिर भी ऐसा बतलाते है–देखो श्रेणिक महाराजने ससैन्य–सपरिवार महान आरभ और पूर्ण वैभवके साथ भगवानकी पूजा की और उससे समस्त पापकर्मोका नाश कर तीर्थंकर गोत्रका बंध किया ।

अर्थात्—महापद्म नामके भविष्य तीर्थंकरका गोत्रबंध किया। यह सब आरंभसहित पूजा करनेका ही महान फल है । फिर भी श्रेणिक महाराजने राजगृहीसे ससैन्य विपुलाचल पर्वतपर वीर प्रभुके दर्शन बार बार किये । सो यह लिखना सत्य है कि मिथ्या ? महाराज श्रेणिकने महान आरंभसे भगवानकी पूजा की और तीर्थंकर गोत्र बाधा तो अन्य मनुष्य भावभक्ति से महान उत्सवके साथ पूजा करें तो क्यो नही अनत पुण्यको सपादन करेंगे अवश्य ही करेंगे । इसलिए हे ढुंढिया हो भगवानकी पूजा करनेमें आरभका दोष प्राप्त होता है ऐसा कहना व्यर्थ और स्वकपोल कल्पित है ।

भो लुंकाः प्रभो· पूजने सिद्धक्षेत्रयात्राकरणे जिनमंदिरनिर्मापणे जैनमंदिरस्य जीर्णोद्धरणे जिनस्य स्नपने इत्याद्यन्य-शुभे कार्ये हि महदारंभस्योत्पत्ति स्यात् तथापि तदारंभ कृतोपि संख्यातगुणपुण्योत्पत्तिर्भवति । गृहस्थानां पुण्यारंभे महत्पुण्योत्पत्ति कथिता जिनागमे जिनेश्वरै. सर्वत्रैव युष्माक ग्रंथेषु यूय पश्यथ । गृहमेधिना पुण्यारंभे धर्मोत्पत्ति मुनीश्वराणा निरारंभेण धर्मोत्पत्ति. । नात्र संदेह । किंच श्रूयताम् ॥

पूजाकार्ये ह्यहो मूढा जिनस्नाने जिनगृहे । निर्मापणे महत्पुण्यं कीर्तितं च जिनेश्वरैः ॥

किंच श्रूयताम्—

सन्निधे भवता सर्वे लोकाश्च या स्त्रियोऽपिच । आयात्येव प्रतिघस्र पादत्राणेन सयुता ॥ २ ॥

यस्मान्मार्गे मृतानंता जीवा भो मूढमानसा । तत्पाप भवता लग्न किं न वदथ मेतिव (?) ॥ ३ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो. श्रीजिनेंद्र भगवानकी पूजा सिद्धक्षेत्रकी यात्रा— जिनमंदिरका जीर्णोद्धार करना जिनस्नपन करना आदि कार्योमें महान पुण्यकी उत्पत्ति होती है। यद्यपि इन कार्योमें महान् आरंभ है तो आरभ की अपेक्षा महान पुण्य असख्यात गुण उत्पन्न होता है। गृहस्थोको पुण्यकी उत्पत्ति आरंभ के बिना नहीं होती है इसीलिये गृहस्थोका धर्म आरभ सहित ही होता है। और मुनीश्वरोका धर्म निरारंभ है। ऐसा जिनागममें जिनदेवने बतलाया है।

अर्थः— हे ढूंढिया हो तुमारे (साधुलोगोंके) दर्शन और पूजन करनेके लिये बहुतसे मनुष्य और स्त्रियां नित्य जूता पहन कर आती है सो उनसे मार्गमें जूताके आरभ से अनंत जीव मर जाते है उसका पाप भी तुमको लगेगा। और दर्शनार्थ आये हुए पुरुष स्त्रियोको आरभ जनित दोष लगेगा। सो तुम ऐसा आरभ क्यों कराते हो। और लोगोको क्यो उपदेश देते हो? क्या तुमको पापका कुछ भी भय नहीं है? या आरभ करनेमें पाप नहीं है।

प्रातः मध्यान्हकालेवा चातुर्मासे दिवात्यये । सदा आयात्यहो लोका॰ तत्पाप भवतां भवेत् ॥ ४ ॥
ह्यहो मूर्खाश्च प्राप्ति॰ स्यात् भवता दर्शने खलु । पुण्यस्य जिनर्बिबस्य तन्नास्त्येव विजातिनां ॥ ५ ॥
ब्रवीध्वं पूजनारंभे पुण्य किं पापसंभव । पुण्यं स्याद्यदि यूयंहि कुर्वीध्वं जिनपूजनम् ॥ ६ ॥
पापं स्याद्यदि युष्माकं ग्रथाना भो मदोद्धताः । कुरुध्व लोपनं यूयं कथयिष्याम किं पुन. ॥ ७ ॥
पुनर्वच्मि शृणुध्वं भो युष्माकंच मते खलु । आरंभाज्जायते पाप एतस्य कथनं ननु ॥ ८ ॥
भवद्भिश्च गृहस्थाना पूजाया श्रीजिनस्यवै । त्यागं च कारिता किंवा अन्यारंभमपि खलाः ॥ ९ ॥

अर्थः—प्रातःकाल-मध्यान्हकाल-चातुर्मास-रात्रि-और अधेरेमें बहुतसे मनुष्य तुमारे (साधुलोगोंके) दर्शनको जूता पहनकर आते हैं और उनको पुण्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा तुम लोग बतलाते हो तो जिनपूजनके पवित्र आरंभसे पुण्यकी उत्पत्ति क्यों नही होगी ? तुमारे दर्शनमें पापारभ करनेपर भी पुण्यलाभ और भगवानकी पूजन में पवित्र आरंभ से पुण्य लाभ न हो यह कैसी बात ? अपने मतलबके लिये तो पापारंभमें पुण्य लाभ बतादिया !।

अर्थः— हे ढूढिया हो भगवानकी पूजा करनेसे पुण्य होता है या पाप ? जो पुण्य उत्पन्न होता है तो तुम भी पूजन करना स्वीकार करो। यदि भगवानकी पूजा करनेमें पाप होता है तो तुमारे ग्रंथोमें पूजन करनेकी आज्ञा लिखी है वह मिथ्या ठहरेगी। जिससे तुमारे ग्रथ ही झूठे हैं ऐसा मानना पडेगा।

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! तुमारे मतसे गृहस्थोको आरभ करने में पाप लगता है ऐसा मानते हो और इसी लिये (आरंभ के भयसे) भगवानकी पूजा करनेका निषेध करते हो तो यह बतलाओ कि आरंभके पाप के भयसे भगवानकी पूजाका आरभ का त्याग करना चाहिये या गृहस्थोंकी अनेक पाप प्रवृत्तिके द्वारा होनेवाला अशुभ आरंभ उसका भी त्याग करना चाहिये ? फिर भी तुमारे मतके प्रतिपालक गृहस्थ प्रतिदिवस कामसेवन करते है। घरके महान

गृहस्था प्रतिवर्षं हि कामसेवा गृहोद्भव । कुर्वन्त्येवापर कार्यं धान्यस्य विक्रय तथा ॥ १० ॥
वैवाह प्रतिवर्षं वा ह्यनेककपटक्रियाम । अगालितजले स्वस्य वस्त्राणा धोवन सदा ॥ ११ ॥
भो मूर्खा सर्वकार्येषु आरभो जायते खलु । भवता सेवकानाच तदारभस्य किं कृतम् ॥ १२ ॥
कारयध्व च तत्त्याग भो ढुढ्या तूर्णमेवहि । वय न जानयिष्याम निरारभा इमे तदा ॥ १३ ॥
यद्यारभस्य त्याग स्यात त्यज व सर्वमेवहि । आरभ सर्वकार्येषु क्रयविक्रयकेषुच ॥ १४ ॥

कार्य करते है । धान्य खरीदते और बेचते है, विवाह करते है, अनेक कपट क्रिया और मलिनाचार का आरभ करते है । विना छाने (अगालित) पानीमें अपने कपडे धोते है । अपना मकान बनवाते है । और तुमारे (साधु-लोगोके रहनेकेलिये) रहनेके पोसारा उपाश्रय (धर्मशाला या मदिर) बनवाते है । आदि अनेक प्रकार का महान आरभ करते है । हे ढूढिया हो गृहस्थोंको प्रत्येक कार्यमें आरभ तो होगा ही । विना आरभके गृहस्थ अपना जीवन एक क्षण मात्र भी स्थिर नहीं रखसके तो तुमारे सेवकोंको उपर्युक्त पापजन्य क्रियाओके महान आरभ का पाप लगता है या नही । जो पाप लगता है तो सबसे प्रथम अपने सेवकोंसे गृहस्थसबधी आरभ का त्याग कराना चाहिये । जो तुम गृहस्थोके समस्त प्रकार का आरभ का त्याग करा सको तो अवश्य ही यह माना जासक्ता है कि आरभसे पाप होता है । परतु वह आरभ तो गृहस्थो से छुडाया जा नहीं सक्ता । और न गृहस्थ अपने गृहस्थसबंधी आरभको त्यागही कर सक्ता है। तो फिर भगवानकी पूजामें होनेवाला स्वल्पारंभ जो महान पुण्यका प्रदान करनेवाला है उसका त्याग करना या आरभभयसे भगवानकी पूजा का निषेध करना कितने अन्याय और पक्षपातकी अज्ञान भरी हुई बात है ? जो आरंभ ही छोडना है तो सर्व प्रकार का आरभ छोड देना चाहिये—यह नही कि गृहस्थ अपने गृहसंबधी समस्त प्रकार का पापारंभ तो करें और पुण्योत्पादक भगवानकी पूजा का आरभ का परित्याग करें ।

पूजने जिनबिंबस्य दर्शने मंदिरस्यवै । करणे च गृहस्थाना महत्पुण्यफल भवेत् ॥ १५ ॥
सिद्धक्षेत्रस्य यात्राया जिनबिंबस्य पूजने । जिनमंदिरसत्कार्ये प्रतिष्ठाया च ये बुधा. ॥ १६ ॥
पापारभस्य उत्पत्ति ब्रुवते तेऽधमा मता । तद्घाते निकोतेषु यास्यति नात्र संशय ॥ १७ ॥
ते ढुंढ्या पुन इत्याहु त्रयो दोषा बुधोत्तमा । जिनबिंबे मतो नैव स्यादस्माकं रुचि खलु ॥ १८ ॥
आद्यमचेतनत्व च द्वितीयत्व च कृत्रिमम् । तृतीयमेकेन्द्रियत्व एभिर्दोषैश्च वर्जिना ॥ १९ ।
श्रीमज्जिनेन्द्रबिंबेहि भो लुंकमतधारका । अचेतनत्वाभिध दोषं भवद्भि गदितं खलु ॥ २० ॥
तद्दोषस्य निराकरण ग्रंथबोधेन भो खला । करोम्यहं समासेन यूयं शृणुय निश्चयात् ॥ २१ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! जिनेन्द्र भगवानकी पूजन करनेमें–जिनमंदिर बनवानेमें गृहस्थोंको महान पुण्य लाभ होता है। इसी प्रकार सिद्धक्षेत्रकी यात्रा करनेमें जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिष्ठा करनेमें, रथोत्सव निकलवानेमें महान पुण्य है। जो उस पुण्यकर्ममें पापका आरभ बतलाते हैं वे नीच है। वे अवश्य ही निगोद आदि दुर्गतिमें जायगे इसमें सदेह नहीं है।

अर्थ—यह सुनकर ढूंढियोने कहा कि भगवानकी पूजन करनेमें हमे तीन दोष मालूम देते है। इसलिये हम निषेध करते है। प्रथम तो प्रतिमा अचेतन है। दूसरे जिन प्रतिमा कृत्रिम है। तीसरे जिन प्रतिमा एकेन्द्रिय है। बस इन तीन दोषो के कारण ही निषेध है।

अर्थ—हे ढूंढिया हो तुमने भगवानकी पूजा करनेमें जो अचेतनत्व नामका दूषण बतलाया श्रीजिनेंद्र भगवानकी प्रतिमा अचेतन है अचेतनकी पूजा क्यो करना उससे क्या लाभ होता है ?

कृत्रिमस्य निराकरण भो लुंका शृणुथ खलु । करोमि शास्त्रबोधेन ह्यहंकारवशान्न च ॥ ३८ ॥
जिनेन्द्रप्रतिमायाश्च भवद्भि मूढमानसै । दत्तो हि कृत्रिमो दोष सर्वपापस्य कारक ॥ ३९ ॥
स्तवन वंदन गानविद्या सामायिक तथा । पठथ भो किमर्थं च पूत्काररवत सदा ॥ ४० ॥
यथा तेषा हि पठनात् उत्पत्ति जायते सदा । शुद्धभावस्य भो लुंका तथा हि तस्य दर्शनात ॥ ४१ ॥
कृत्रिमा स्तवनाद्याश्च प्रत्यक्षं नैव सशय । इमे यथा हि मान्या स्यु तथा तेपि बुधैर्मता ॥ ४२ ॥
कृत्रिमस्य ह्यहो मूर्वा जिनबिंबस्य स्तवनात् जीवोयं लभते सौख्य शिवपुरमकृत्रिमम् ॥ ४३ ॥
इत्थ ज्ञात्वा बुधा ये हि जिनबिंबस्य दर्शनम् । कुर्वंति तेहिं तत्तुल्य लभते शाश्वत पदम् ॥ ४४ ॥

मूर्तिकी निंदा करते है वे निगोद आदि दुर्गतिके पात्र है ।

अर्थः— हे ढूढिया हो भगवानकी प्रतिमा कृत्रिम है इसलिये नही पूजना चाहिये । ऐसा कृत्रिमपनेका दोष देते हो तो यह दोष देना ठीक नही है । क्योंकि जिस प्रकार स्तवन वंदन पाठ सामायिक-गानविद्या और शास्त्र पाठ आदि जितने कार्य है वे भी सब किसी न किसी मनुष्यके बनाये हुए होनेसे कृत्रिम ही है । फिर कृत्रिम स्तोत्रादि पाठोको पढते हो उससे तुमको लाभ होता है या नही ? कृत्रिम पाठादिकोंके पढनेसे लाभ मानकर भी कृत्रिम जिन प्रतिमासे लाभ नही मानना कदाग्रह है । स्तोत्रादिक प्रत्यक्ष ही कृत्रिम है । साधारण मनुष्य गीत भजन पद बनाते हुए देखे जाते है । जब कृत्रिम स्तोत्रोंके पढनेमें लाभ है तो कृत्रिम जिन प्रतिमा भी भव्य जीवोंको अकृत्रिम मोक्षसुख प्रदान करे तो क्या आश्चर्य ? इसलिये जो भव्य जिन प्रतिमाके दर्शन करते है वे अवश्य ही शाश्वत सुख प्राप्त करते है ।

हे ढूढिया हो जो तुम कृत्रिम पाठोंका पढनेका त्याग करो तो जिनबिंबके दर्शन पूजन और उपासनाका

भो लुंका कृत्रिम पाठ किमर्थं पठथ खलु । त्यजध्व तदपि मूर्खा दोषस्तनैव स्याच्च किम् ॥ ४५ ॥
गच्छध्व दुर्गतिं या च जिनबिंबस्य निंदनात् । अस्माकं मानयध्व च वाक्य यूय हितार्थदम् ॥ ४६ ॥

इति कृत्रिम दोष निराकरण ।

एकेंद्रियाभिधो दोषो भवद्भि स्थापित' प्रभो । बिंबे तस्य निराकरण शृणुध्व भो करोम्यह ॥ ४७ ॥
भो ढूढ्या' काष्ठलेखन्या वनस्पतिसमुद्भवे । पत्रे च मसिनाऽशुद्धे रचितान् चैवमो खला ॥ ४८ ॥
जिनाज्ञा विमुखाशुद्धा सुबोधलववर्जिता. । नमथ तान् कथं ग्रथान् खलु एकेन्द्रियोपमान् ॥ ४९ ॥
वदथ सकलाश्चेमे ग्रथा एकेंद्रिया स्फुटं । किं स्थु पचेंद्रिया मूढा यूयं मे तूर्णतो ननु ॥ ५० ॥

त्याग करो । अन्यथा मिथ्या दूषण लगाकर अज्ञानी क्यो बनते हो और दुर्गतिके पात्र बनते हो । इसलिए कदाग्रह का परित्याग करो और सद्बुद्धि धारण कर जिनपूजन करो जिससे लाभ हो ।

अर्थ—हे ढूढिया हो जिनेंद्र भगवानकी प्रतिमा एकेंद्रिय है क्योकि पत्थर एकेंद्रिय होता है और उस पत्थरकी प्रतिमा बनाई जाती है सो प्रतिमा भी एकेंद्रिय कहलाई । एकेंद्रियकी पूजा करना अयोग्य है । इस प्रकार जो एकेंद्रियदूषण जिनप्रतिमा पूजन करनेमें दिया जाता है वह मिथ्या है । ठीक नहीं है । क्योकि जिस प्रकार जिन प्रतिमा पत्थर आदिकी होनेसे एकेंद्रिय है उसी प्रकार शास्त्र भी एकेंद्रिय है । शास्त्रके लिखनेकी कलम वनस्पति मे बनती है इसलिये एकेंद्रिय है । कागज या ताडपत्र भी एकेंद्रिय है । वनस्पतिको कूटकर कागज बनाये जाते है इसलिये एकेंद्रिय है । और ताडपत्र तो प्रत्यक्ष ही एकेंद्रिय है । उसपर सर्व लेख अशुद्ध स्याही से लिखे हुए है । फिर उन ग्रंथोंको क्यो माना जाता है—पूजा की जाती है—नमस्कार किया जाता है । हे ढूढिया हो ! तुम तो पचेन्द्रिय हो और एकेन्द्रिय शास्त्रको क्यों पूजते हो । शास्त्रसे तो तुमारे में इन्द्रिया अधिक है ।

निश्चयाद्यदि युष्माकं नास्त्येव भो कुमार्गगा । एकेंद्रियाणा मान्यत्वं पत्रे च रदितान् खलु ॥ ५१ ॥
सर्वानपि त्यजध्व च ग्रंथान् यूय सनातनान् । वय हि जानयिष्याम इमे सत्या न संशय ॥ ५२ ॥
एकेन्द्रिय च प्रत्यक्ष शास्त्र भो मूढमानसा । यूय नमथ भावेन जिनबिंब कथ नहि ॥ ५३ ॥
ब्रवीध्व भवता ग्रथे जिनबिंबनिषेधनम् ॥ कस्मिन् कृतं ह्यहो मूर्खा तच्च भा भो खला स्फुट ॥ ५४ ॥
ग्रथेषु वाहि सर्वेषु जिनबिंबस्य पूजनात् । सप्राप्ता बहवो भूता शर्मसततिमजसा ॥ ५५ ॥
पश्यथ नात्र संदेहो भो लुकमतधारका । स्याद्यदि कथन यत्र कुर्वीध्वं जिनपूजनम् ॥ ५६ ॥
युष्माकं सर्वग्रथाना भवद्भि खलु लोपनम् । कुरुध्व यद्यसत्या स्यु कुरुध्वं न विलंबनम् ॥ ५७ ॥

यदि तुम शास्त्रोको एकेन्द्रिय नहीं मानते हो तो श्रीजिनप्रतिमाको एकेन्द्रिय किस प्रकार मानते हो। क्योंकि शास्त्रोमें एकेन्द्रियपना ताडपत्र पर कलमसे लिखे होनेसे प्रत्यक्ष दीख रहा है। जो एकेंद्रिय दोषसे समस्त शास्त्रोकी मान्यता को छोड देते हो तो हम समझेंगे कि आप बराबर एकेन्द्रिय को जानते हो और आपका कहना सत्य है। जो एके-न्द्रिय शास्त्रोंको छोड नहीं सक्ते तो समझना चाहिये कि तुम एकेन्द्रियकी पूजा करते हो।

अर्थ—शास्त्र एकेन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं। जो तुम एकेन्द्रिय शास्त्र को पूजते हो तो जिनप्रतिमाकी क्यो नही पूजा करते ? तुमारे कौन कौन से शास्त्रमें प्रतिमाकी पूजा का निषेध किया है। तुमारे बहुत से ग्रंथोमें जिन प्रतिमा पूजना लिखा है। जिनपूजन करनेसे बहुतसे लोगोने अपना आत्मकल्याण किया है। फिर भी तुम निषेध करते हो। यह क्यों ? यदि ग्रथोमें जिन पूजन करना लिखा हो और तुम उस को मान्य करते हो तो फिर जिनपूजन भी मान्य करो अन्यथा ग्रंथका लोप करो।

इति श्रुत्वाहु ते लुंका ग्रंथेच लिखित ननु । अतोऽस्माक च मान्यत्व ग्रथाना नात्र संशय ॥ ५८ ॥
जिनबिम्बमपि मूर्खा नहि घटति सुदरं । यद्दर्शनात् क्षय याति पापमुद्रा', कुदु खदा ॥ ५९ ॥
इत्याहु, पुन ग्रंथंच पठति बोधधारक । जायते पठनात्तच्च सुबोधश्च तत शिव' ॥ ६० ॥
जिनबिंबस्य भो लुंका यो व्रती शुद्धधीवशी । करोत्येव प्रपूजा स लभते परमं पदम् ॥ ६१ ॥
भो लुंका जिनबिंबस्य पूजनात् वंदनात् खलु । आर्तरौद्रकुध्यानस्य नाशो यात्येव तस्यवै ॥ ६२ ॥
रक्ताक्षा क्रोधपूर्णांगा यथा काकोदरोत्करा । चातिरतदूरं याति वैनतेयस्य दर्शनात् ॥ ६३ ॥
तद्वदेव जिनेन्द्रस्य दर्शनात्पापपन्नगा । नराणाच प्रयात्येव ह्यनुक्रमाद्भवेत् शिव ॥ ६४ ॥

अर्थः——यह सुनकर लुका (ढूढिया) ने कहा कि हमे ग्रथ मान्य है जो ग्रथोंमें लिखा है सो भी मान्य है । हे ढूढिया जिन प्रतिमा यद्यपि सुदरता नही देती है तो भी जिनेन्द्र भगवानकी मूर्तिमें वह अचिंत्य शक्ति है कि जिससे भव्योंके भयकर पाप दर्शनमात्रसे तत्काल ही पलायमान हो जाते है ।

अर्थः——ढूढियाने यह सुनकर कहा कि देखो ग्रथोके पढनेसे तत्काल ही बोध होता है और उससे मोक्ष होती है तो उसी प्रकार हे ढूढिया हो जिनेद्र भगवानकी पूजासे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति और ज्ञानकी विशुद्धि होती है । जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

अर्थः——हे ढूढिया जिनेंद्र भगवानकी परमशांत दिव्य मूर्तिको देखने से अति रौद्र ध्यान नष्ट होजाते हैं । और परम शांतता प्राप्त होती है । जिनके नेत्र लाल है क्रोधसे शरीर कंपित हो रहा है ऐसी अवस्था शीघ्रही नष्ट हो जाती है । जैसे गरुडको देखकर सर्प भाग जाते है । इसी प्रकार पाप भी तत्काल विलीन हो जाते हैं । और क्रमसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

भवद्भि जिनबिंबस्य कुनाच यदि भो खला । निंदा किमर्थ त चैव मानयथ जिनेश्वरम् ॥ ६५ ॥
जपथ तं हि भो लुका प्रतिबम्ब जगत्पतिम् । तमेव निंदयथोच्चै अस्योत्तर वदथ मे ॥ ६६ ॥
एव वदथ मा मूढा मेंऽना वंध्यापि स्यात् खलु । मदोन्मत्ता व्रुवंत्येव सुधियो नो कचिदपि ॥ ६७ ॥
अधोलोकच्च सर्वत्र कृत्रिमाकृत्रिमा अपि । जिनबिंबा सुरै पूज्या सति वै शिवदायका ॥ ६८ ॥
ऊर्ध्वलोके च सर्वत्र विमानेषु पृथक् पृथक् । जिनबिंबा विमानिम्म निर्लिप्ताःपिवंदिता ॥ ६९ ॥
पृच्छामि भवता कस्य ग्रथानुसारत कृता । उत्थापना हि बिंबस्य यूयं वदथ तच्च मे ॥ ७० ॥
कुपक्ष च त्यजध्व भो मे वाच शिवकारण । कुर्वीध्व शिववाञ्छा चेत् मा स्युश्च जैनघातका ॥ ७१ ॥

अर्थ–हे ढुंढियाहो आप जिनेश्वर देवकी मूर्ति की तो निंदा करते हो फिर भी जिनेश्वर देवको ही पूजते हो मान्य करते हो स्तवन पढते हो ! यह आश्चर्य । यह बात तो अपनी माताको बाझ बतलानके समान है । इस प्रकार की क्रियाए मूर्ख तथा उन्मत्त पुरुष ही करते है ।

अर्थ–अधोलोक में कृत्रिम और अकृत्रिम जिन प्रतिमा देवोसे पूजित मोक्षको प्रदान करने वाली साश्वती विराजमान है। इसी प्रकार ऊर्ध्व लोकमें भी अकृत्रिम जिन प्रतिमायें सदा विराजमान है । और उनको विमानवासी देवगण पूजते है । फिर आपने जिनप्रतिमाको पूजन नही करना ऐसा कौनसे ग्रथसे निषेध किया है। जब कोई भी ग्रथ जिन प्रतिमाकी पूजन करनेके निषेधका नहीं मिलता है तब फिर पक्षपात क्यो करना चाहिये । यदि मोक्षकी इच्छा है तो कुपक्ष छोडकर भगवानकी पूजन करो । जिनन्द्र देवके घातक मत बनो ।

भो ढूंढ्या पुन एव च वय हि साधवो भुवि। ब्रूथ वै मूढलोकानामग्रे यूय खला स्फुट ॥ ७२ ॥
साधूनामेकलक्ष्मापि भवता नैव दृश्यते। साधुजनस्य चिन्ह वै शृणुध्व कथयाम्यह ॥ ७३ ॥
व ह्याभ्यतरद्वंद्वेन वर्जित शीलभूषित। सकलश्रुतवेत्ता च जिनमार्गप्रकाशक ॥ ७४ ॥
परनिंदातिगो धीरो देहे निर्ममता वशी। ऋतुनिकायजीवाना रक्षको मन्युवर्जित ॥ ७५ ॥
शुद्धाचाररत सद्गी मायामानविखडक। मुनिश्रावकधर्मस्य देशक सयमी दमी ॥ ७६ ॥
आत्मज्ञो,लोभनिर्मुक्त सर्वजनप्रिय शुचि। सस्कृतप्राकृतवेत्ता मनोक्तिपथवर्जितः ॥ ७७ ॥
शुद्धदृग्ज्ञानव्रतस्य धारको निर्मदो गुणी। कृती पूज्यो बुधौघैश्च मिथ्यात्वपथभजक ॥ ७८ ॥
अनेकातनयैर्युक्त ध्यानी मौनी सुवीर्यवान्। पचाक्षवारमातगनाशने हरिसदृश ॥ ७९ ॥

इस प्रकार सर्व दोष निराकरण किया। अब ढूढकोके दोषः—

अर्थ—हे ढूढिया हो एक बात तुमसे पूछते है। वह यह कि तुम अपनेको मूढ लोगोमें साधूके नामसे प्रसिद्ध करते हो। तुमारा ऐसा करना ठीक नही है। क्योकि—

अर्थ—हे ढून्ढिया हो तुममें साधुपनेका एक भी लक्षण नही है। न कोई ऐसा चिन्ह तुह्मारेमें दीखता है कि जिससे यह माना जाय कि तुम साधू हो। साधुका लक्षण-जिसके बाह्य और आभ्यतर परिग्रहका परित्याग हो। शीलसंपन्न सकल शास्त्रोके पारगत जिनमार्गके प्रकाशक, परनिंदासे रहित, धीर, वीर, देहभोग और शरीरसे निर्ममत्व, मन और इन्द्रियोके विजय करनेवाले, शात, षट् कायके जीवोकी दया पालनेवाले, क्रोधरहित, शुद्ध आचरणका पालनेवाले, मान माया लोभ और कामादि विकार रहित, धर्मके उपदेशक, परम संयमी, आत्माको जाननेवाले, परम पवित्र,

जिनाज्ञापालकः सौम्यो भयमदविवर्जितः । अष्टाविंशतिमूलादिगुणानां पालने क्षमः ॥ ८० ॥
इत्याद्यन्यमनोज्ञैश्च गुणैर्युक्तो भवेत्खलु । यः कश्चित्कथ्यते सहि साधुः साधुजनैश्च भो ॥ ८१ ॥
गुणानां चैव युष्माकं मध्ये ह्येकोपि नास्ति वै । भवतां मूढचित्तानां यूयं पश्यथ निश्चयात् ॥ ८२ ॥
हंसा हंसा हि भो मूर्खा बका बकाश्च सुंदराः । यूयं च बकतुल्या पि नो संति ध्यानमानसाः ॥ ८३ ॥
क्रियालेशोऽपि नास्त्येव भवतां च खलात्मनाम् । यत्र नास्ति क्रियाशुद्धि धर्मोऽपि तत्र नास्ति वै ॥ ८४ ॥

समस्त तत्वके वेत्ता, शुद्ध ज्ञानदर्शन और चारित्रको धारण करनेवाले, निर्मद, गुणी, परम ध्यानी, तपस्वी, समस्त प्रकारके भयोंसे रहित, परम सौम्य, जिनाज्ञा प्रतिपालक और अठावीस मूल गुणके धारक, गुणी पुरुषको साधु कहते हैं ।

हे ढूंढियाओ तुमारेमें उपर्युक्त गुणोंमेंसे एक भी गुण नही है । अतएव तुम किसी प्रकार भी साधु कहलाने योग्य नही हो । जो गुण सहित होता है वही साधू है । जिसमें गुण नही है वह साधू भी नही है ।

हे ढूंढिया हो हंस हंस ही होते हैं । बगुला बगुला ही है । यद्यपि बगुला भी देखनेमें सुंदर है तथापि बगुला हंस नही हो सक्ते । और तुममें तो बगुलाके समान भी ध्यान नहीं है ।

अथः-- हे ढूंढिया हो तुमारेमें चारित्रका लवलेश मात्र भी पालन नही है न तुमारेमें पवित्र क्रियायें हैं । जहांपर क्रियाशुद्धि नहीं है वहांपर धर्म कैसे रह सक्ता है ?

भावार्थ— क्रियाकी शुद्धि पालन करनेपर ही धर्मका पालन करना समझा जाता है । जो क्रियाओंका पालन नही करता है वह धर्मकर्म विहीन है ।

प्रत्यक्ष भवता मूढा म्लेच्छाचारो हि दृश्यते । अत स्यु तत्समा यूय भ्रष्टाचारस्य पालनात् ॥ ८५ ॥
जिव्हास्वादेन युष्माभि सर्वाचार सुशोभन । त्यक्तवात सर्वधर्मोपि मुनिगृहस्थगोचर ॥ ८६ ॥
प्रासुक प्रासुकं कृत्वा सर्ववस्तुकदम्बक । भवद्भिश्च क्रियाहीनै सर्व ग्रमीकृत ननु ॥ ८७ ॥
भक्ष्याभक्ष्यविवेकोपि युष्माक नास्ति किंचन । दृश्यते श्वपचो यद्वत् तद्वद् यूयं न सशय ॥ ८८ ॥
जातिहीना क्रियाहीना जिनबिंबस्य निंदकाः । यूयं च सर्वहीना स्युर्यथा म्लेच्छा तथा खलु ॥ ८९ ॥
खाद्याखाद्यस्य भेदो न म्लेच्छाना च खलात्मना । यथा स्यात्किंचनो लुका युष्माकमपि सो नहि ॥ ९० ॥
स्वस्वधर्मे रता सर्वे स्वस्वदेवस्य पूजका । यूय हि जिनधर्मस्य नाशका स्यु न सशय ॥ ९१ ॥

अर्थः— हे दूढियाहो तुम लोग प्रत्यक्षमें ही गदे हो म्लेक्षाचार सपन्न हो । तुमारे आचरण एकदम गंदे और मलीन है इसलिये म्लेक्षोंके समान ही भ्रष्टाचारी हो ।

अर्थः—हे ढूढिया हो तुमने जिव्हाके स्वादसे समस्त उत्तम आचरणको छोड दिया । और जो शुद्धाशुद्ध मिला सबको प्राशुक है प्राशुक है ऐसा कह कर सेवन किया । क्रियाहीन होने के कारण तुम लोगों ने मलिन वस्तुके सेवन करने मे भी विचार नही किया इस लिये तुम प्रत्यक्ष ही म्लेक्षके समान हो ।

अर्थ—हे ढूढिया हो ! तुमारे में भक्षाभक्ष खानेका जरा भी विवेक नही है । जैसे चाडाल के आचरण है वैसे ही तुम्हारे है। तुमारी न जाति है न क्रिया है । जिनप्रतिमाकी निंदा करनेसे तुम और भी पापी हो रहे हो । सच पूछो तो तुमें खाद्याखाद्यका विचार नही रहनेसे तुमको क्या कहें सो समझमें नही आता है ।

अर्थ—हे ढूढिया हो जो जो मनुष्य जिस धर्मका पालन करता है वह अपने देवकी पूजन अवश्य करता है । परतु तुम तो अपने आप ही अपने ही धर्मका नाश करते हो ।

पुन पृच्छामि युष्माक किमर्थं मुखबंधन । अकुरुतेति सश्रुत्वा आहुश्च सावरीयुता ॥ ९२ ॥
सज्जना जीवरक्षार्थं वाससा वक्त्रबंधन । कृतं च सर्वजीवस्य पालकाश्च वयं खलु ॥ ९५ ॥
तनो हि नवद्वाग म्यु भो लुका तान् कथं खला । व ध्यथ मुचेल्लेन जीवाना रक्षणात्र नो ॥ ९४ ॥
वध्यथ नवद्वारान् लुका त्यजथ भो गला । वक्त्रस्य वंधन नूनं यूयं मत्या यदि खलु ॥ ९५ ॥
वासोयोगात्समीरस्य कीलालस्य च निश्चयात् । जीवोत्कराश्च आस्ये वै उत्पद्यन्ते ललाशया ॥ ९६ ॥
तत्रैव तेच म्रियंते मदा कालेन सगय । नो यूय पश्यथ लुका प्रत्येषु सकलेषु च ॥ ९७ ॥
अतो यूय च प्रत्यक्ष निशाचरसमा खला । जीवाना भक्षणात् म्यु हि ते हि जीवस्य भक्षका ॥ ९८ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो तुम मुखपर पाटी क्यो बाधते हो । उत्तर—जीवोकी रक्षाके लिए मुखपर पाटी बांधी जाती है । हम लोग समस्त प्रकारके जीवोकी रक्षाके करनेवाले हैं । मुखसे जीव नहीं मरे इसलिये मुखपर पाटी बाधते हैं । हे ढूंढिया हो तुम्हारे शरीरमें नव द्वारोके द्वारा निरतर जीव हिंसा होती है तो तुम अपने नव द्वारोको क्यो नही बांधते हो । सच्चे जीवरक्षक तब ही तो हो सके हो जब कि तुम अपने शरीरके नव द्वारोको बांधकर सब प्रकारकी वायुओका संरोध करो । अन्यथा एक मुखपर पाटी बाधकर विशेष म्लेक्षाचार क्यो फैलाते हो और जैनधर्मको घृणापूर्ण बनाकर निंदाके पात्र होते हो।

अर्थ—हे ढूंढिया हो मुखपर पाटी बांधनेसे पाटीमें थूकके संयोगसे और वायुके वेगसे अगणित जीव निरतर मुखमें उत्पन्न होते हैं तथा पाटीमें उत्पन्न होते हैं । वे वहापर ही मरते हैं । यह बात प्रत्यक्ष दीखती है । मुखपर पाटी रात्रि दिवस निरंतर बंधी रहनेसे रात्रिमें भी जीवभक्षणका पाप उत्पन्न होता है । दूसरे जीवोका भक्षण करनेमे तुमको निशाचर क्यों नही कहा जाय ?

रक्षथ नैव रात्रौ च प्रासुक चोदक खलु । यदि स्यान्मलमूत्रादेरुत्पत्ति मा खला स्फुट ॥ ९९ ॥
वदथ कुरुथ कि च तत्र तत्शुद्धये तदा । किं न कुरुथ भो लुका यदि श्वपचसोपमा ॥ १०० ॥
कथ जपथ नोकारं सामायिकं पठथ च । अशुद्धे सर्व व्यर्थं स्यात् शुचि सर्वत्र समता । १०१ ॥
ईदृश्य नियकर्म च नो कुर्वति खला स्फुट । मातगापि क्रियाहीना व्रतकर्मविवर्जिता ॥ १०२ ॥
जनगमोपमा यूय किं स्तु भो जिननिंदका । नो सति तत्समाप्येव तद्धीनान्नात्र संशय ॥ १०३ ॥
भो म्लेच्छा ईदृश किं स्यात् साधुजनस्य लक्षणम् । वय हि साधवो लोके इत्यसत्य वदथ मा ॥ १०४ ॥
अतो भो कुक्रिया त्यक्त्वा क्रिया शुद्धा सुखास्पदा । पालयत प्रयत्नेन जिनवक्त्रसमुद्भवाम् ॥ १०५ ॥

अर्थः— हे ढूढिया हो रात्रिमें जिस समय तुमको मल मूत्र होता है तब क्या करते हो ? क्योंकि तुम लोग रात्रिमें प्राशुक (गर्म) पानी भी अपने पास नही रखते हो । और बिना पानीके मलमूत्रकी शुद्धि किस प्रकार करते हो ?

रात्रिमें मलमूत्रकी शुद्धि करते हो या नहीं ? जो करते हो तो पानी बिना किससे ? (क्या मूत्रसे मलविष्टा-की शुद्धि करते हो ?) यदि मलमूत्रकी शुद्धि नही करते हो तो अशुद्ध मल मूत्र सहित शरीरसे सामायिक किस प्रकार करते हो ? जप किस प्रकार करते हो ? अशुद्ध शरीरसे जप तप सामायिक आदि क्रियायें की जाय तो सब व्यर्थ है । अरे ! चाडाल भी तो अपने मूत्रसे अपनी शरीरकी शुद्धि (मल त्यागकी शुद्धि) नही करता है तो फिर तुम किस प्रकार करते हो ? यह तो प्रत्यक्षमें चांडालकर्मसे भी निंद्य कर्म है । ऐसे कर्मको करनेवालेको साधु किस प्रकार मानना ? भला यही साधुके लक्षण है ? सत्य सत्य कहना । इसलिये कुत्सित आचरणोको छोडकर सत्य और पवित्र आचरणोंका पालन करना सीखो ।

यायाथ कुर्वंति मूढा यूयमाचारवर्जनात् । मा भजथाविवेकंच धर्ममार्गस्य नाशकाः ॥ १०६ ॥
जिनविंबं जिनागार जिनसिद्धांतपुस्तकम् । जिनमतस्य दयाभाव जिनयात्रा जिनोत्सवं ॥ १०७ ॥
जिनधर्म प्रभोर्वाच वर्माऽिसोममहशम् । इत्यादीन् ये नं लोकाश्च निंदयत्येव ते मता ॥ १०८ ॥
म्लेच्छाश्च जिनधर्मस्य नाशकाश्च जिनागमे । इति ज्ञात्वा न कर्तव्या निंदा निरम्य भो खला ॥ १०९ ॥
इत्युपदेशमस्माभिर्दत्तो भवता खलु । अहंकारमदाद्वेन नहि मदार्थमेवच ॥ ११० ॥
निकोते यदि वाछाचेत् युष्माक स्यात् खला स्फुट । तदा कुरुध्व विनश्च निंदा धर्मस्य नाशिनी ॥ १११ ॥
जिनविंब नरा येहि दृष्ट्वा कुर्वंति भोजनम् । ते मता ह्यागमे नर्वा पशुतुल्याश्च तद्वते ॥ ११२ ॥

अर्थः—हे ढूंढिया हो मायाचार कषायसे दुर्गतिके पात्र क्यों बन रहे हो ? विवेकका परित्याग कर अन्धा-
न्धके समान धर्ममार्गका लोपकर अपने जीवनको पतित क्यों बनाते हो ? ।

अर्थः—हे ढूंढिया हो जिनबिंब (जिनप्रतिमा) जिनमंदिर-जिनवाणी-जिनधर्म-जिनयात्रा-जिनमहोत्सव-
जिनरथ महोत्सव-जिनप्रतिष्ठा इत्यादि श्री जिनधर्मके अंग उपांगोकी जो निंदा करते हैं वे नीच हैं । जिनागममें बतलाया
है कि जिनधर्मके नाशक म्लेच्छ होंगे । परंतु तुम लोग तो म्लेक्षजन्मा नहीं होकर भी म्लेक्षसे नीचे कार्य करते हो
इसलिये जो तुमको अपनी भलाई करनेकी इच्छा है तो निंदा करना छोड देना चाहिये । और विवेक पूर्वक धर्मा-
चरणका पालन करना चाहिये । यह उपदेश आपके हितके लिये लिखा है । अभिमान या किसी स्वार्थ से नहीं दिया
है । यदि आपको निगोद पर्यायमें नहीं जाना है, तो जिनधर्मकी निंदा करना छोडकर भगवानकी पूजा करो ।

अर्थ—हे भव्यजीवो ! जो मनुष्य श्रीजिनदेवके दर्शन किया कर भोजन करते हैं वे आगमानुसार मनुष्य
हैं । तथा जो विना दर्शन भोजन करते हैं वे पशुके समान हैं ।

दर्शन जिनबिंबस्य सर्वांहस्यैव नाशदम् । दर्शनाज्जायते मोक्षो तद्दते सर्व निःफलम् ॥ ११३ ॥
सर्वातकविनाशो वै जायते जिनदर्शनात । सर्वे शोका प्रयात्येव नाशताच तदीक्षणात ॥ ११४ ॥
जिनेक्षणसम धर्म लोके नास्त्येव चापर । अतः पूर्व कुरुध्व वै जिनबिंबस्य दर्शनम् ॥ ११५ ॥
लोकेऽस्मिन्न जिनदर्शनोपमफल नेवावर सज्जना । जीवा ये तरिता तरंतिच तथा वाहि तरिंयति भो ॥
ते सर्वे जिनदर्शनेन सुखदं सर्वार्तिसंहारिणा । ज्ञात्वेत्थं मनुजोत्तमा प्रतिदिन त हि कुरुध्व मुदा ॥ ११६ ॥

अर्थ—श्रीजिनराजके पवित्र दर्शन करने से समस्त पापोंका नाश होजाता है । और क्रमसे मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है । भगवानके दर्शनके विना समस्त व्रतपालन जप तप व्यर्थ है ।

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवानके दर्शन करने से सर्व प्रकारके रोग नष्ट होजाते हैं । समस्त प्रकारके शोक नष्ट होजाते हैं । प्रभु के दर्शन सिवाय अन्य कोई धर्म ही नहीं है । इसलिये नित्य प्रति भगवान का दर्शन कर अपने जन्मको पवित्र और पुण्यरूप बनाओ ।

अर्थ—संसारमें श्रीजिनेन्द्र भगवानके पवित्र दर्शनके सिवाय अन्य कोई भी वस्तु उत्तम नहीं है, दुर्लभ नहीं है सुखद नहीं है, हितकर नहीं है । इसलिये जिनेद्र भगवानके दर्शन से भव्य जीव संसार समुद्र से पार होते हैं, होगये हैं और होंगे । भगवानके दर्शन सिवाय संसार से पार होनेका दूसरा मार्ग ही नहीं है ।

समस्त प्रकार की पीडाका नाश करनेवाला यह प्रभुका दर्शन समस्त जीवों को सुखकारी है ऐसा जानकर हे भव्यजीवो ! नित्य प्रति भगवानका दर्शन-पूजन ध्यान और अभिषेकादि विधान करो ।

प्राप्नोत्येव बुधोत्तमाः जिनपतेः सद्दर्शनात् मानवो । मोक्ष शर्मनिकेतन मुनिवरैर्वंद्य सदास्थ वरम् ॥
भव्योऽय शुभध्यानधर्मनिरत पापालिसन्नाशनात् । कुर्वीन्च प्रतिवासरं सुखकरं तद्दर्शन भो मत ॥ ११७ ॥
ये कुर्वन्त्यधमा सुगधिगणै पूज्यस्य बिम्बस्य वै । याता याति निकोतिपु खलु सदा याम्यति भो सज्जना ॥
निंदा तु सम्प्रदायिका मुनिवरैर्हेया न कुमानवैः । कुर्वीध्वं च ध्यान सदा सुखकर भक्ति न मद्वीक्षण ॥ ११८ ॥
इत्य वै परपक्षस्य भङ्गा किंचित धिया मया । निराकरण कृत चैव जिनागमानुसारतः ॥ ११९ ॥
यथोक्ता वीरनाथेन श्रेणिकं प्रति भो बुधाः । भाविकालभवा वार्ता तथैव पञ्चथाशुभा ॥ १२० ॥
ईदृशा धर्ममार्गस्य नाशकाश्च खलाशया । ज्ञानलेशोज्झिता क्रूरा भविष्यति न सशयः ॥ १२१ ॥
भव्यभावयुता स्वल्पसंख्याख्या मगधेश्वर । विमख्याख्या नराः तस्मिन् भविष्यत्येव नेतरः ॥ १२२ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव भगवानके दर्शन करते है उनको मोक्षके सुख शीघ्रही प्राप्त होते हैं। वह समस्त पापोसे मुक्त होकर मुनियोसे वंदनीय होता है। इसलिये भगवानका दर्शन नित्य प्रतिदिन करना चाहिये।

अर्थ—देवोसे पुजित ऐसी जिनराजकी प्रतिमाकी निंदा करनेसे जीव निगोदमें जाते है, जायंगे और जा रहे है। इसलिये निंदाको छोडकर भगवान की भक्ति करो जिससे सर्व सुखकी प्राप्ति हो।

अर्थः—इस प्रकार ढुंढिया मतका निराकरण जिनागमके अनुसार किया।

अर्थ—वीर भगवान्ने श्रेणिक महाराज से कहा है कि पंचम कालमें धर्मको नष्ट करनेवाले बहुतसे मनुष्य उत्पन्न होगे। परतु भव्य भावोको धारण करनेवाले कम होगे। यह कालका माहात्म्य है।

अथ व्रतप्रकरणम् ।

पुनराह शृणु भूप तेषां भाविसुखाप्तये । दर्शयामि शुभं मार्गं शिवो यस्माद्विजायते ॥ १२३ ॥
अष्टान्हिकाविधिं चैव सपत्ति जिननामजाम् । शिवदा मेघमालाख्या सद्व्रत पल्यसज्ञकम् ॥ १२४ ॥
शातद् पार्श्वनाथांकमादित्याख्य च सद्व्रतम् । सर्वपापेभसिंहाभ सर्वातकविनाशकम् ॥ १२५ ॥
ज्येष्ठजिनवरनामान दशलक्षणसंज्ञकम् । पोडशकारणाख्य च जिनगोत्रप्रदायकम् ॥ १२६ ॥
मेरुपक्ति क्रियाव्रतं सर्वतोभद्रसंज्ञकम् । विमानपक्तिसन्नाम शातकुभ द्विकावलीं ॥ १२७ ॥
सिंहादिविक्रमं वृत्त त्रय समारनाशकम् । नक्षत्रमालावृत्तं च रत्नावलीं सुशातदाम् ॥ १२८ ॥
वृत्त कनकावलीं चैव मोक्षपदस्य दायकम् । उछीनोछीनसद्व्रत जिनैक प्रतिशोपमम् ॥ १२९ ॥
पचकल्याणवृत्त च कर्मदावाग्निवारिद । शिवकुमारवृत्त च पुष्पाजलिव्रतोत्तमम् ॥ १३० ॥
रत्नत्रयाभिध वृत्त सर्वकर्मारिनाशकम् । यस्यैव पालनाद्राजा मल्लिनाथोभवज्जिन ॥ १३१ ॥

अर्थः— हे राजेन्द्र भव्य जीवोंके हितके लिये शुभ मार्ग बतलाते हैं । जिससे शिवसुखकी प्राप्ति हो । अब उन व्रतोंके कुछ नाम बतलाते हैं जिनके पालन करनेमें भव्य जीवोंको स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

अष्टान्हिकव्रत १ जिनगुणसपत्तिव्रत २ मेघमालाव्रत ३ पल्यविधानव्रत ४ रविवारव्रत ५ जेष्टजिनवरव्रत ६ दशलाक्षिणीव्रत ७ पोडशकारणव्रत ८ मेरुपक्ति ९ त्रिपचाशत् क्रियाव्रत १० सर्वतोभद्रव्रत ११ विमानपक्तिव्रत १२ शातकुभव्रत १३ द्विकावलीव्रत १४ सिंहविक्रमक्रीडनव्रत १५ रत्नत्रयव्रत १६ कनकावली १७ नक्षत्रमाला व्रत १८ रत्नावली १९ बृहतकनकावली २० उछीनोछीनव्रत २१ जिनप्रोपधव्रत । पंचकल्याणव्रत २२ पुष्पाजलि-

इत्याद्या बहव मति जिनागमे जिनेश्वरैः । प्रोक्ताश्च चेलनाकात व्रतश्च शिवदायका. ॥ १३२ ॥
शास्त्रोक्तविधिना भूप ये करिष्यति मानवा । द्वित्रिभवे हि यास्यति शिवंन्यगादिवर्जिते ॥ १३३ ॥
एषां मध्येऽस्ति राजेन्द्र कर्मादिदहनाभिध । व्रतोहि सर्वकर्मारि दाहने पावकोपमः ॥ १३४ ॥
तत्कथ चास्य सर्वं हि विधिमाद्र विनश्च य । समाधिना शृणु त्व च सर्वभव्यहितावहे ॥ १३५ ॥
कर्माण्यष्टौ महादुःखदायकानि खलानिच । अष्टाविंचत्वारिंशत्शता ज्ञेया प्रकृतयः खलु ॥ १३६ ॥
सर्वे पिंडीकृता ह्येत सर्वशर्मप्रदायका । षट्पंचदशसंख्याता संजाता मगधेश्वर ॥ १३७ ॥
एषा कर्मप्रकृतीनामेकैकोपवासोपमा । शतैकपट्पंचसंख्यासमा कार्या शिवासये ॥ १३८ ॥
एते सर्वे समाख्याता प्रोषधाः कर्मनाशका. । एकांतरेण कर्तव्या मनोमलविभंजका ॥ १३९ ॥

व्रत २३ इत्यादि बहुतसे उत्तमोत्तम व्रत श्री जिनदेवने भव्य जीवोंके कल्याणके लिये बतलाये हैं । इन व्रतोंमेंसे कितने ही ऐसे उत्कृष्ट व्रत हैं कि जिनका सेवन करनेसे दो तीन भवमें ही मोक्षका सुख प्राप्त होता है ।

अर्थः— उपर्युक्त व्रतोंमें एक कर्मदहन नामका सर्वोत्तम व्रत है । जो भव्य जीवोंको सर्व प्रकारकी संपत्तिका प्रदान करनेवाला और मोक्षके सुखको देनेवाला है । कर्मदहन व्रत कर्मोंका समूल नाश करनेवाला होनेसे शीघ्र ही सिद्धपदको प्रदान करता है ।

कर्मोंकी समस्त उत्तर प्रकृति १४८ हैं । उनमें आठ कर्मकी मूलप्रकृति मिला देनेसे कुल १५६ एकसौ छप्पन भेद हो जाते हैं । बस जितने भेद कर्मोंके होते हैं उतने ही भेद इस कर्मदहन व्रतके होते हैं ।

भावार्थः— १५६ प्रोषधोपवास इस व्रतमें किये जाते हैं । एक एक कर्मप्रकृतिके नाश करनेके लिये एक एक प्रोषधोपवास करना चाहिये ।

प्रोपघाना विधिं वक्ष्ये त्व शृणु शर्मदायक । विधिना क्रियमाणोय शिवशर्मप्रदायक· ॥ १४० ॥
पूर्वस्मिश्च दिने सैव व्रती चोत्थाय शुद्धधी । तत्पात् सामायिकं कृत्वा मंत्र जप्त्वा जगन्नुतम् ॥ १४१ ॥
पश्चाच्छुद्धोदकेनैव स्नात्वा यत्नेन सिद्धये । धौतवस्त्रानि शुक्लानि सधार्य जिनमदिरे ॥ १४२ ॥
गत्वा दत्वा जिनेन्द्रस्य त्रिपमाहि प्रदक्षिणा । नत्वा चाष्टागविधिना तत्पादाब्जौ मुहुर्मुहु ॥ १४३ ॥
ततो जिनेन्द्रबिंब च स्थापयित्वा वरासने । छत्रचामरसच्छोभा कर्तव्या तत्पुरो मुदा ॥ १४४ ॥
शुद्धोदकेक्षुसदाज्यदुग्धदधिरसोत्करै । स्नपनीय च त पश्चात्सर्वौपधिरसैर्वरै: ॥ १४५ ॥

१५६ प्रोपधोपवास इस व्रतमें किये जाते है । और इसीलिये इस व्रतका सार्थक नाम कर्मदहन व्रत है । ये प्रोपधोपवास एकातर (धारणा–पारणा) से करना चाहिये ।

अर्थ—कर्मदहनव्रतकी विधि–व्रतके धारणाके दिवससे ही मनकी सब प्रकारकी शल्यको निकालकर गुरुके समीप व्रतको ग्रहण करे । धारणाके दिवस एकाशन करे । परिणामोको शांत रखकर यथासाध्य विपय कपायोका त्याग करे । ब्रह्मचर्य धारण करे । शुद्ध आहार निरतराय ग्रहण करे ।

उपवासके दिवस प्रातःकाल उठकर सामायिक करे । पश्चात् शौच क्रियासे निवृत्त होकर शुद्ध प्रासुक जलसे स्नान करे । धुले हुए सफेद वस्त्रोको धारण करे । और अपने घरमे उत्तमोत्तम भगवानके पूजनकी सामग्री तथा अभिपेककी सामग्री (इक्षुरस–दूध–दही–घृत–सर्वौपधि–शर्करा–फल–फूल–केशर–कपूर—दीपक आदि) ले जावे । मंदिरमें जाकर भगवानके चैत्यालयकी पूजा भक्तिसे कर पश्चात् श्री जिनराजके बिंबोकी तीन प्रदक्षिणा जय जयकार पढता हुवा देवे । पश्चात् स्तोत्र पढकर प्रभुका गुणानुवाद कर नमस्कार करे । विधिपूर्वक वेदीकी स्थापना करे । शासन देवोंको यथास्थान विराजमान करे । पश्चात् गधकुटीपर भगवानको विराजमान कर चमर छत्र आदिसे दिव्य शोभा

जलस्नान् कणान् सर्वान् दूरीकृत्य प्रयत्नतः । स्निग्धेन शुभ्रवस्त्रेण प्रभोर्गात्रस्य वा ततः ॥ १४६ ॥
जन्मात्ययजराणां च नाशार्थं श्रीपतेः पुरः । दातव्याश्च त्रयो धारा स्वर्णभृंगारनालकात् ॥ १४७ ॥
समागतपघातार्थं काश्मीरागुरुजैः रसैः । लेपनीयं जिनेन्द्रस्य पादयोर्नलपृष्ठयोः ॥ १४८ ॥
जिनपादारविंदाग्रे करणीया मनोरमा । पुञ्जाश्चाक्षतमन्त्रैश्च खण्डश्यानन्दकारी ॥ १४९ ॥
पद्ममंदारमंदकुंदचकुलाद्याश्च सुमनः । पुष्पोत्करः जिनेन्द्रस्य पादोपरि सुमोदनः ॥ १५० ॥
सर्वारिविनाशाय धर्तव्या जीववर्जिता । चरुपुञ्जश्च कुमत्यंश्च निक्षिप्ता पतिना न कौ ॥ १५१ ॥
व्यञ्जनैर्मोदकैः खाद्यैः रसैर्नानाविधैर्वरैः । शाल्यन्नैर्जिनपादाब्जे ढौकनीयं सुधामये ॥ १५२ ॥
दीपैर्धूपैः फलौघैश्च पूजनीयो जिनेश्वरः । महार्घेण ततस्तस्य अनर्घ्यपदप्राप्तये ॥ १५३ ॥

करे । पश्चात् इक्षुरस–घृत–दूध–दही–सर्वौषधी रसमे मंत्रपूर्वक अभिषेक करे । पश्चात् पूर्ण कलश (कुंभकलशो से) अभिषेक करे । प्रलेपन कर पुष्पवृष्टि करे । भगवानकी आरती करे । फिर गंधोदक मे शांतिधारा समर्पण करे ।

अभिषेक हो जानेके पश्चात् उत्तम वस्त्रमे प्रभुके शरीरको पोछ लेवे । फिर मंत्रपूर्वक आठ द्रव्योमे पूजन करे । पूजनमें भी आव्हानादि विधिको भूल न जावे ।

जलपूजा भृंगारकी नालीमे तीन धारा चढानेसे ही होती है । चंदनपूजा अनामिका अंगुलीके द्वारा सुगंधित केशर प्रभुके चरण कमलके अंगुष्ठपर चढानेसे होती है । अक्षतपूजा पुंज चढानेसे होती है । पुष्पपूजा—सुगंधित पुष्प प्रभुके चरणकमलोपर चढानेसे होती है । नैवेद्य पूजा सुंदर नैवेद्य भात पूडी पकवान थालमे चढाकर उतारनेसे होती है । दीपपूजा—दीपकको जलाकर आरती रूप करनेसे होती है । धूपपूजा धूपको अग्निमे खेनेसे होती है । केला बदाम आदि फलोकी भेंट प्रभुके समक्ष चढानेसे फलपूजा होती है । जल फलादि अष्ट द्रव्य स्वस्तिक

कृत्वैवं जिनसत्पूजा पश्चात्पुष्पांजलिर्मुदा । दातव्या शांतिपाठश्च करणीय प्रभो· पुर ॥ १५४ ॥
शक्त्यनुसारत पश्चात् जिनेन्द्राग्रे सुमोदतः । कायोत्सर्गं च अंतेहि कर्तव्य मोक्षप्राप्तये ॥ १५५ ॥
पश्चात्स्तोत्र जिनेन्द्रस्य पठनीय तत खलु । कर्तव्य मन्त्रराजस्य जाप्य ध्यानच सिद्धये ॥ १५६ ॥
कर्तव्य शास्त्रस्वाध्याय मनोरोधाय केवल । स्वाध्यायसम धर्म हि न पर गृहमेधिनाम् ॥ १५७ ॥
इत्यादिशुभकर्माणि कर्तव्यानि जिनास्पदे । नदन्नातोद्यसयुक्ते भव्यनरालिसंभृते ॥ १५८ ॥
गृहे गत्वा च पश्चाद्धि मध्यान्हे समये वरे । कर्तव्य भोजन शुद्ध त्रिशुद्धया दोषवर्जितम् ॥ १५९ ॥

सरसो आदि मगलीक द्रव्योके साथ अर्घको उतारना चाहिए। फिर पुष्पाजलि चढाकर शांति धारा चढाना चाहिए। यह पूजाविधिका क्रम है।

अर्थ—फिर शक्तिके अनुसार कायोत्सर्ग करना चाहिये क्यो कि कायोत्सर्ग ही आत्मा के ध्यान का और मोक्ष का साधन है।

अर्थ—फिर श्रीजिनेन्द्र भगवानके गुणो का स्तोत्रपाठ करे और मत्रराजकी जाप देवे।

अर्थ—पीछे पूजा करने के बाद शास्त्रो का स्वाध्याय आत्मकल्याण के लिये करना चाहिये। स्वाध्यायसे मनका निरोध होता है इस लिये स्वाध्याय के समान अन्य कोई उत्तम धर्म नहीं है।

अर्थ—इत्यादिक शुभ क्रियाओ को जिनमदिरजी में करे तथा वाजे गाजेके साथ करे।

अर्थ—फिर घर पर जाकर पात्रको भोजन कराकर मध्यान्ह समयमें शुद्ध भोजन एकवार ही (ठाम आहार पानी) मन वचन काय की शुद्धि से करना चाहिये।

शुद्रस्पृश्य जलं चूर्णं घृतं ग्राह्य व्रतात्तये । नैव गृह्णति ये मूर्खास्तत्समास्ते बुधैर्मता ॥ १६० ॥
कृत्वैव शोभनं न्यादमतरायविवर्जितम् । एकवारच तत्रैव स्थाने मोक्षपदाप्तये ॥ १६१ ॥
प्रत्याख्यानस्य विधिना वेदाहारस्य तत्र हि । प्रत्याख्यान च कर्तव्यं कर्मसंतानहानये ॥ १६२ ॥
निरारंभ प्रकर्तव्य प्रोषध मदवर्जितम् । एवच क्रियमाणेहि प्रोषध· कर्मनाशक ॥ १६३ ॥
अनेन विधिना कार्या प्रोपधा कर्मघातना । एवं सर्वेपु कर्तव्य पुजनादिविधि खलु ॥ १६४ ॥
सर्वे च प्रोपधा भूप शतैकपचषट्प्रभा । अस्य स्तु कर्मनाशार्थे कर्तव्या शुद्धितस्त्रिधा ॥ १६५ ॥
प्रोपधैकं प्रति जाप्यं तत्कर्मैव नामतः खलु । करणीय तद्विनाशार्थं चाष्टोत्तरशतप्रभम् ॥ १६६ ॥

भोजनशुद्धि—भोजन उच्चकुलीन का ही हो । स्नानादि पवित्र विधिसे समस्त द्रव्योकी शुद्धतासे ही उत्पन्न हुआ हो । चौकाकी विधि और खाद्य पदार्थोंकी मर्यादा आगम विधिसे की हो । शूद्रके हाथका जल घृत और आटा आदि नहीं हो । क्योकि शूद्र सस्कार और क्रिया विहीन होनेसे उसके हाथका जलादिक ग्रहण करने योग्य नही है फिर भी कोई ग्रहण करे तो व्रतभंग समझना चाहिये । या वह स्वयं शूद्रके समान ही है । भोजन अंतराय रहित करना चाहिये । भोजन होनेके पश्चात् चारप्रकारके आहारका परित्याग करे । इस प्रकार भोजन का प्रत्याख्यान कर्मोंका नाश करने वाला है ।

अर्थ—प्रोपधके दिवस आरंभ नही करना चाहिये । आठ प्रकारके अभिमानोका त्याग करना चाहिये । इस प्रकारकी विधि जो भव्यजीव प्रत्येक प्रोपधोपवास में करता है उसके कर्मोंका नाश होता है । प्रत्येक प्रोपधोपवास के दिवस (जिस कर्म प्रकृतिका प्रोपधोपवास हो उस प्रकृतिके नाशके लिये) प्रकृति के अनुसार जाप देवे ॐ ह्रीं मतिज्ञानावरण कर्म नाशाय नमः ॐ ह्रीं श्रुत ज्ञानावरण कर्मनाशाय नमः इत्यादि प्रकारसे जाप देवे । एक पात्रको

दत्वा ह्येकाय पात्राय न्यादं च धर्मिणे शुभम् । पूर्वं पश्चाद्धि कर्तव्य मर्वेष्वेव विधि खलु ॥ १६७ ॥
विकथा च गृहारंभं वामात्याग स्त्रमडनम् । तल्पे च शयन शोक वृथाटन मदाष्टकम् ॥ १६८ ॥
पैशुन्यं परनिंदा च परगामेक्षण तथा । रागोद्रेकाच्च हास्य वा रतिं चैवारतिं तथा ॥ १६९ ॥
कुभाव चैव दुर्ध्यान भोगाभिलाषमेवच । पत्र शाकमशुद्ध च दधिदुग्धंच वा घृतम ॥ १७० ॥
व्रतिभिर्मोवनीयाश्च व्रते चास्मिन् व्रताप्तये । इत्यन्या दोषनिकरा संसारदु खदायका ॥ १७१ ॥
केशरिभयतो यद्वत् गजवृन्दा महोन्नता । पलायंत्येव तद्वद्धि कर्मभा व्रतसिंहत ॥ १७२ ॥
कर्मदहनव्रतो यो मत सकलव्रतेषु मुख्योय । जिनसिद्धांते ह्यत स्यात् सार्थनामत ॥ १७३ ॥

आहार देकर फिर आप आहार करे । विकथा और आरभका परित्याग करे । स्त्रीसेवनका परित्याग करे, शरीर सस्कार का परित्याग करे, खाटपर शयनका परित्याग करे, शोक–अभिमान और व्यर्थका पर्यटनका परित्याग करे । दूसरोकी निंदा करना, हसना, दूसरोंकी स्त्रीके मनोहर अगोको देखना, दुर्भाव, मात्सर्य, द्वेष आदि दुःपरिणामोका त्याग करना। अशुद्ध दूध,दही, घृत आदि पदार्थ का त्याग करना । इत्यादि उत्तम आचरणोंके साथ इस व्रतका पालन करे ।

अर्थः-– व्रती पुरुषोको व्रतकी शुद्धिके लिये उपर्युक्त दोषोका परित्याग करना चाहिये ।

अर्थः— जिस प्रकार सिंहको देखते गज पलायमान हो जाते है वैसे ही इस व्रतसे कर्म रूपी गज पलायमान हो जाते है । यह व्रत समस्त व्रतोंमें मुख्य है । जिन सिद्धातमें इसको मुख्य व्रत बतलाया है । इसी लिये इसका नाम भी सार्थक है ।

पूर्वघस्रस्य मध्यान्हे कर्तव्य भोजन सदा । द्वितीये वासरे चैवानशनं करणीयकम् ॥ १७४ ॥
तृतीयस्य दिनस्यैव मध्यान्हसमये वरे । पारण करणीय च कर्मसतानहानये ॥ १७५ ॥
सर्वोत्कृष्टविधिश्चायं सर्वकर्मारिघातक । कथितश्चागमे शुद्धे भूप नैवात्र सशय ॥ १७६ ॥
सर्वोत्कृष्टफलं वक्ष्ये भाविज चेलनाप्रिय । करिष्यति व्रत शुद्ध प्रापयिष्यति स शिवं ॥ १७७ ॥
कर्मदहनव्रतस्य फलं शृणु समाधिना । श्रवणाच्च यत्सर्वांहा प्रलय याति देहिनाम् ॥ १७८ ॥
अनेन विधिना कृत्वा य कश्चिदिह जन्मनि । समाधिना पुन स्तस्य मरण शल्यवर्जितम् ॥ १७९ ॥
प्राप्स्यति का गर्ति सैव तत्सर्व कथयाम्यह । द्वात्रिंशाना गणाना तु दृढश्रद्धाय केवलम् ॥ १८० ॥
विदेहे शाश्वते क्षेत्रे तूर्यकालेन भूषिते । ह्रासवृद्धिविनिर्मुक्ते ईतिभीत्यादिवर्जित ॥ १८१ ॥
वैदेहा मुनयो यत्र भवत्यनेकशोनिश । रत्नत्रयतपोध्यानै स सार्थनामभृत् ख्यत ॥ १८२ ॥
जिनेन्द्रा जितमार्तंडा चक्राका पुरुषोत्तमा । षट्खडपालने दक्षा कामरूपधरा वरा ॥ १८३ ॥
विष्णवो बलदेवाद्या तत्द्विष शर्ममडिता । इत्याद्या यत्र भातिस्म सदा सर्वत्र विश्रुता ॥ १८४ ॥

व्रतके धारणा पारणाके दिवस एकवार भोजन करे । वहभी म यान्ह समयमें ही करे । यह व्रत की सर्वोत्कृष्ट विधि बतलाई मध्यम और जघन्यविधिसे भी यह व्रत किया जाता है । इस व्रतका सर्वोत्कृष्ट फल मोक्षकी प्राप्ति है । जो मनुष्य इस व्रतको पालनकर समाधिमरण पूर्वक देहका विसर्जन करे तो उत्तम सुखको प्राप्त होता है । इस व्रतका ऐसाही माहात्म्य है ।

जो भव्य जीव इस व्रतको भावोसे करते है वे विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न होते हैं । विदेह क्षेत्रमें सदैव चौथा कालही रहता है । कालका परिवर्तन नही होता है। विदेहमें ईति भीति इत्यादि किसी प्रकार का उपद्रव नहीं है। जहांपर

प्रवर्तते सदा यत्र धर्मो जैनेति नामतः । त्रयो वर्णाश्च विद्यते मिथ्यामार्गपरामुखाः ॥ १८५ ॥

सदा यात्येव मोक्षेहि तस्माद्भव्या नरेश्वरा । रत्नत्रयतपोयोगात् शर्मवृंदाकितेऽक्षये ॥ १८६ ॥

पाखडा तत्र नो संति कुदेवा दोषमंडिता । तन्मदिरा हि नो संति तेषांच सेवकास्तथा ॥ १८७ ॥

नो सति द्रव्यतस्तत्र मिथ्यादृग्गारका नृप । भावत केचन सति नरा तद्धारकाः खलु ॥ १८८ ॥

यत्र नराश्च शोभंते रवितेज समा शुभाः । शीलरत्नधरा वृद्धा कलाकलापमडिताः ॥ १८९ ॥

सदैव दिगंबर जैन मुनियो का निरंतर दर्शन होता है। जहां तीर्थंकर प्रभु सदैव अवतार लेते हैं व साश्वते वने रहते है। चक्रवर्ती नारायण प्रतिनारायण आदि पुण्य पुरुष भी सदैव होते रहते है।

विदेह मे जैनधर्म सिवाय अन्य धर्म सर्वथा नहीं है-जैन मत सिवाय अन्य कोई भी मत किसी कालमें कभी भी वहां पर उदय नही होता है न अन्यमतके धारक मनुष्य ही वहांपर उत्पन्न होते है। वहा पर सबको व्यवहार रत्नत्रयकी प्राप्ति स्वभावरूप से होती है। इसीलिये सर्वत्र जिनायतन—जिन चैत्य जिन चैत्यालय—और जिनरूप धारक गुरु सर्वत्र सर्वदा मिलते है।

वहा पर मिथ्यामतके मंदिर-चैत्य और पाखंडी गुरु भी नहीं है, न कुशास्त्रोंका सद्भाव वहा पर है। कोई भी मनुष्य कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र-और कुधर्मको नहीं जानता है। न षट अनायतन वहां पर है। उसी प्रकार मिथ्यामार्ग रूप-गगादिनदी प्रवाह में स्नान कर लोग धर्म नहीं मानते हैं। तथा अग्निमें जलकर सती वहा पर नहीं होती है। वहा पर कुतीर्थ नहीं है। वहां पर द्रव्य मिथ्यात्व का सर्वथा अभाव है। इसीलिये वहां पर ब्राम्हण नहीं होते है। हा भाव मिथ्यात्वके धारक कितने ही जीव उत्पन्न होते हैं।

चंद्रकोटिप्रमायुष्का चापपचशतोन्नता पुत्रपौत्रादिंसपन्ना धनवृंदभरा वराः ॥ १९० ॥
आमृत्यु शर्ममग्नाश्च दुखशोकविवर्जिता । दानपूजादिकार्येषु सदा तत्परमानसाः ॥ १९१ ॥
ईदृशा यत्र राजते नार्योपि मगधेश्वर । शीलव्रतधरा शुभ्रा जिनेज्यारतमानसा. ॥ १९२ ॥
देशे देशे पुरे ग्रामे भूद्रे द्रोणे च कर्वटे । पत्तने विपिने खेटे तथा कूले मनोहरे ॥ १९३ ॥
इत्याद्यन्यशुभे स्थाने सति सर्वत्र सुदरा । जिनालया ह्यनेकाश्च यत्र नेत्रमनोहरा ॥ १९४ ॥
स्मशानाद्रिगुहाया च दिशावासोविमंडिता । मुनीन्द्रा यत्र कुर्वति स्वात्मध्यान शिवाप्तये ॥ १९५ ॥
यत्र ये श्रावका नार्य स्वगृहेषु भावतः । जिनबिंबस्य नित्य हि सर्वपापप्रशातये ॥ १९६ ॥
पचामृतरसै शुद्धैरभिषेकं तत परम् । कुर्वति पूजन द्रव्यैर्वसुभेदैर्मनोहरै ॥ १९७ ॥

वहा पर शीलवान धर्मके प्रतिपालक भव्यमात्रोसे सपन्न सुखमें निमग्न पुत्र पौत्रादिसहित परम सुखी मनुष्य होते ह। एक कोटि पूर्वकी आयु और पाच सौ धनुषका शरीर होता है।

अर्थः— वहापर स्त्रिया भी शीलमडित–भगवानकी पूजामें लवलीन होती हैं। जहांपर देश २ ग्राम २ पर्वत २ नदीतीर-खेट, द्रोण, शहर, जगल आदि सभी प्रदेशोमें सुदर जिनालय होते हैं।

अर्थ— जिस क्षेत्रमे दिगंबर जैन ऋषि गुहा, कंदर, स्मशान भूमि और सर्वत्र अपने ध्यानमें लवलीन दृष्टिगत होते हैं।

अर्थ–विदेहक्षेत्रमें सर्व स्त्री पुरुष (श्रावक श्राविका) अपने अपने घरमें (गृह चैत्यालयमें) स्थित जिन ...लयोंमें भावभक्ति से श्रीजिनेंद्र भगवानके मनोहर बिंबका शुद्ध पचामृत रससे अभिषेक करते हैं। फिर अष्ट

नृत्यं गानं जिनाग्रेच रात्रौ जागरणं तथा । वाद्यघोष प्रकुर्वंति तत्रत्या मगधेश्वर ॥ १९८ ॥
मध्यान्हसमये नित्य द्वारस्थानेषु च पुन । तिष्ठति पात्रदानार्थे स्वव्रतपालने रता ॥ १९९ ॥
मुनीन्द्रापि तदागत्य तेषा सद्मनि भोजनं । कृत्वा सुविधिना पश्चात्तपोवने प्रयातिच ॥ २०० ॥
तत्प्रभावात्प्रकुर्वंति तेषा गेहे सुगधिपाः । पचाश्चर्यं सुदानस्य प्रभावात् किन्न जायते ॥ २०१ ॥
आहारदानतो जीवा भोगभूमौ व्रजन्त्यहो । द्वित्रिचद्रपल्यांते भुजत्येव वरं सुखम् ॥ २०२ ॥
यस्माद्यात्येव भो भूप तिर्यचोपि सुखास्पदे । दानानुमोदनाद् भद्रा मनुष्याणा च का कथा ॥ २०३ ॥
अपरं दानसदृश नो पुण्य गृहमेधिना । अत पात्राय दातव्यो गृहस्थैर्जेमनं खलु ॥ २०४ ॥
पात्रदानं न कुर्वंति ये गृहस्था मताश्च त । विमुच्छपशुना तुल्या स्वोदरभाणे रता ॥ २०५ ॥

द्रव्यसे पूजन करते है नृत्य गान वाद्यघोप आदि उत्तमोत्तम भक्तिभावनाओंके द्वारा रात्रिमें जागरण कर धर्म लाभ उत्पन्न करते हैं ।

अर्थ—सब दानोंमें आहार मुख्य और सर्वोत्कृष्ट है। मोक्षमार्गकी स्थिरता इस दान मे ही होती है । आहारदानका फल भी उत्तम है। इस दानके फलमे जीव भोगभूमिमें उत्पन्न होते है। जहांपर एक दो तीन पल्यके उत्तम सुखको प्राप्त करते है। यदि तिर्यंच भी पात्र दानकी अनुमोदना करे तो भोगभूमिके उत्तम सुखको प्राप्त होता है फिर मनुष्यकी क्या बात है ? वह तो प्राप्त होगा ही। गृहस्थोंको पात्रदानका पुण्य महान होता है। इस लिये पात्रमें आहार दान अवश्यही देना चाहिये ।

श्रावक श्राविका भी जघन्य पात्र हैं उनको भी आहार देना चाहिये । जो शक्तिशाली होकर पात्रमें आहार दान नहीं देते हैं वे मनुष्य जन्मको व्यर्थ खो देते है। जिन मनुष्योंका धन पात्रदानमें भगवानकी पूजामें और

पात्रार्थं न च पूजार्थं दानार्थं नार्पितं खलु । स्वापतेयो गृहस्थाना तेषा तन्नि फल मतम् ॥ २०६ ॥
प्रातर्जिनेन्द्रदेवस्य पचभिश्चोत्तमै रसै । कृत्वाभिषेकं पश्चाद्धि करणीय च पूजन ॥ २०७ ॥
प्रात जिनेन्द्रपूजा च पात्राय भोजन तथा । न करोति ददात्येव गृहस्थ सन् स्वयं पुन ॥ २०८ ॥
भुजत्येव मुनिश्चश्रे सदा दु ख न सशय । अतो द्वौ सर्वदा कार्यो इज्यादानौ सुखाप्तये ॥ २०९ ॥
यत्र वर्षे गृहस्थास्ते नित्य कुर्वंति षट्क्रिया । नित्याहस्य शात्यै पुण्यवृद्धस्य प्राप्तये ॥ २१० ॥
मूलधर्मौ गृहस्थाना पूजादानौ जिनागमे । कथितौ वीतरागेण सर्वसपत्तिकारकौ ॥ २११ ।
ईदृश शोभन क्षेत्र नानर्द्धिमडित च त । स व्रती व्रतपुण्येन लभत्येव नरेश्वर ॥ २१२ ॥
तीर्थनाथकुले तत्र चक्रनाथकुले तथा । विष्णोर्नानर्द्धिसयुक्ते सुरवृंदनिषेविते ॥ २१३ ॥

जिनायतनो की रक्षा करनेमें व्यय नही होता है उस धनका प्राप्त करना निःफल है ।

अर्थ—प्रातः काल पचामृत रसोसे श्रीजिनेंद्र भगवानकी प्रतिमा का अभिषेक और अष्ट द्रव्यसे पूजन करना चाहिये । मध्यान्ह समयमें पात्र को आहार दान करना चाहिये जो इस प्रकार पूजा और दान नही करता है वह अधोगतिको जानेवाला है । पूजा और दान ये दोनो कर्म गृहस्थोके मुख्य कर्म है ।

अर्थ—जिस विदेह क्षेत्रमें गृहस्थ नित्यही आवश्यक षट्क्रियाओका पालन करते है । जिससे पापोकी शांति होती है । और पुण्य की वृद्धि होती है । गृहस्थों के दो धर्म मुख्य है । क्योकि इनमें ही अभ्यतर षट् कर्मोका समावेश हो जाता है । दान–पूजा ही ये दो मुख्य है । अरहत भगवान ने इन दोनोंको ही धर्मका मूल बतलाया है । इस प्रकार समस्त क्रियाओंको पालनेवाले गृहस्थ विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न होते है । जहांपर अनेक ऋद्धियां स्वयमेव प्रकट होती हैं ।

तेषां सद्रूपशोभाढ्ये स्त्रीरत्ने च गुणोज्वले । सम्यक्त्वेज्याव्रतोपेते स्वर्गोद्भवच्युतोपमे ॥ २१४ ॥
ईदृशे भूप तद्गर्भे अस्मान्मृत्वाच सो व्रती स्थास्यत्येव शुभे घस्रे सुमुहूर्ते शुभोदयात् ॥ २१५ ॥
सा वामा त च गर्भस्थ धरिष्यत्यपि पुण्यभा । नो भजिष्यति तत् दु स गर्भस्यैव प्रभावत ॥ २१६ ॥
दानाभिषेकपूजा च जीवानामभय तथा । इत्यादि शुभकर्म च तदान्हो वै करिष्यति ॥ २१७ ॥
सुखेन रध्रमासाते सुतरत्नं मनोहरम् । जनिष्यत्येव सा नारी शुभयोगे शुभे दिने ॥ २१८ ॥
तदैव जन्मकाले च तस्य तात प्रमोदत । करिष्यत्येव आतोद्य जन्मोत्सव च मगलैः ॥ २१० ॥
नि.स्वेभ्य. रत्नस्वर्ण च वस्त्राभूपणमेव च । दास्यति चाभय दान कारागारस्थदेहिनाम् ॥ २२० ॥
जिनेन्द्राणा निशातेषु पंचामृतरसैर्वरै । अभिषेक जिनाना च कारयिष्यंति वार्चना ॥ २२१ ॥
पश्चात्पुत्रमुखाब्ज च दृष्ट्वा स मोदमाप्स्यति । सोपि घस्रं प्रति वालो वर्द्धिष्यत्येव सुदर ॥ २२२ ॥

अर्थ—विदेह क्षेत्रमें व्रती पुरुष तीर्थंकर कुलमें चक्रवर्ती कुलमें उत्पन्न होते है। नारायण होते हैं। देवोके द्वारा पूजित कुलमें उत्पन्न होते हैं। वे पुण्यपुरुष उत्तम स्त्रियोंके गर्भसे शुभ मुहूर्तमें उत्पन्न होते है। वहांपर उनको विलकुल पीडा नही होती है। गर्भमें भी वे सुखसे रहते हैं।

अर्थः— गर्भमें प्राप्त होनेके समय माता जीवोंको अभयदान करायेगी। नवमास सुखसे व्यतीत होनेपर वह माता सुतरत्नको उत्पन्न करेगी। पुत्रके जन्मकालमे पिता याचक, दीन और दुःखी मनुष्योंको धन, वस्त्र, भूषण प्रदान कर जगतको सुखी बनायेंगे) कारागृहसे बंदिजनोंको छोडकर जीवोंको सतोष देंगे। और पुत्रजन्मकी खुशीमें श्री जिनेन्द्र भगवानके मंदिरमें पचामृतसे अभिषेक व आठ द्रव्यसे पूजन नित्य महोत्सवके साथ करायेंगे। पश्चात् वालक (पुण्यात्मा—क्योकि उस जीवने कर्मदहन व्रत किया है।) के पुण्य मुखका दर्शन कर पिता हर्षित होगा। वालक क्रमसे

कौमारकालमुल्लंघ्य पयपाने सुभोजनै । क्रमेण यौवन रूप लप्स्यते च सुशोभनम् ॥ २२३ ॥
दीप्त्या तर्जितमार्तंड कान्त्या निर्जितदीधिति । गभीरेण महत्वेन निर्जित सरितापति ॥ २२४ ॥
भिक्त्येन निर्जित श्रीद मारेण निर्जितो हरि । रूपेण अनगश्चि पुण्यनाम्ना विभूषित ॥ २२५ ॥
इत्यादिगुणवार च नेष्यत्येव शुभोत्यात् । यौवनं नदनोद्दीसे व्रतिद्व व्रतफल इदम् ॥ २२६ ॥
तत्पिता यौवनाढ्य च दृष्ट्वा सनु गुणोज्वल । गुणेन स्वाल्लतुल्या या सुतमाप्स्यति भूमिराट ॥ २२७ ॥
तदात्मजविवाहार्थं याचयित्वा नृपात्मजा । महत्कुलोद्भवा शुद्धा स्वावर्जितअप्सरा ॥ २२८ ॥
ईदृशा सुरूपाकारा सुखनाश प्रदायन । सुतं यौवनाढ्याय नेत्रानदकराय वै ॥ २२९ ॥
नेष्यति वाद्यघोषौघान् दानोत्करसुमंगलान । कुर्वन् वं मगलाप्सर्थं सज्जनानदवायकान् ॥ २३० ॥
भोक्ष्यति सोपि पश्चाद्धि शर्मणा सतति सदा । रमित्वार्थे पुरस्कृत्य जनप्रेन भो नृप ॥ २३१ ॥
तत्पिता स्वस्य पदे हि तं पुत्रं विधिपूर्वक । स्थापयिष्यति स्वप्रजापालनार्थं सुरोपम ॥ २३२ ॥

कुमार अवस्थाको प्राप्त होगा । समस्त प्रकारके सुखोंको प्राप्त होकर अपने तेजसे सूर्यको, कांतिसे चद्रको, गभीरतासे समुद्रको, लक्ष्मीसे कुबेरको, शक्तिसे सिंहको, रूपसे कामदेवको जीतनेवाला अनेक उत्तम गुणोंसे भूषित वह पुण्यात्मा बालक होगा । यह सब कर्मदहन व्रतका ही माहात्म्य है ।

अर्थ—उसका पिता बालकको यौवन अवस्थामें देखकर अपनी जातिकी उत्तम गुणवाली अपने समान ऋद्धिकी धारक राजाओंकी कन्याओंकी याचना कर विधीपूर्वक विवाह (वाग्दान) स्वीकार करेगा । पश्चात कुलाम्नाय और धर्मशास्त्रकी विधीसे विवाह करेगा । वह बालक सधर्मिणीको प्राप्त कर पूर्व व्रतका पुण्यफल भोगेगा । पिता पुत्रको राज्यका समस्त भार समर्पण कर भगवती दीक्षा धारण कर केवलज्ञानको प्राप्त कर मोक्षमें अव्यय सुखको प्राप्त करेगा

पुरो वाह्यवने गत्वा तत सोपि शिवासये । गृहीत्वा सयमं शुद्ध गुरोः पार्श्वे मुनेर्मतम् ॥ २३३ ॥
हत्वा सकलकर्मारीन् ध्यानाशुगेन स मुनिः । संप्राप्य केवलज्ञान तदैवेज्या सुरै कृता ॥ २३४ ॥
पश्चात् संबोध्य भव्यौघान् यास्यति चान्यये पदे । सुखासुखविनिःक्राते तृपार्तिक दुर्लभ नृणा ॥ २३५ ॥
सोपि तातपदे स्थित्वा न्यायमार्गेण धर्मधीः । पालयन् स्वप्रजा सर्वां स्थास्यत्येव निरकुशः ॥ २३६ ॥
शुद्धदृग्धारको वाग्मी दाता भोक्ताच सव्रतः । त्रिवर्गपालकः सैव पूर्वव्रतफलोदयात् ॥ २३७ ॥
करिष्यति जिनेंद्रस्य स्नानेज्या शुद्धभावत । पात्राय विधिना दान दास्यति वासर प्रति ॥ २३८ ॥

वह राजकुमार राजा होकर प्रजाका न्यायमार्गसे पालन करेगा। वह शुद्ध सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला त्रिवर्गको परस्पर अविरोधपूर्वक पालन करता हुआ व्रतके पुण्य फलसे सर्वोत्तम सुखोंको शांति और निराकुलताके साथ निर्विघ्न भोगेगा।

अर्थ—वह पुण्यात्मा भव्यजीव विदेहमें—भगवानकी पूजा-भक्ति-स्तवन-गुणस्मरण आदिके द्वारा धर्मके

---

१ इस प्रकरणमें विवाह विधि विदेहक्षेत्रमें भी आगमकी मर्यादा से वतलाई है। यह नहीं है कि कन्या स्वयं वरण करे या बालक अपने आप ही अपनी इच्छानुसार जिस तिस (जाति कुजाति योग्य—अयोग्य नीच उच आदि सबको) को स्वीकार कर विवाह कर लेवें। ऐसा करना मर्यादाके बाहर है।

विवाह धर्मका अंग है उसकी पूर्ति गुरुजन ही योग्य रीतिसे सपादन करते है। इसमें बालक बालिकाओंको स्वतंत्रता नहीं है।

नित्यपापविघाताय निर्णयार्थं चिदात्मन । सिद्धातान् जिनप्रोक्तं श्रवण मुनिवक्त्रत ॥ २३९ ॥
धर्मकार्यं नृप सोपि पूर्वं कृत्वाघनाशने । अन्यत् कार्यं गृहोत्पन्नं पश्चात्तत् करिष्यति ॥ २४० ॥
स्थिरेषु जिनधर्मे न वात्सल्य धर्मसिद्धये । करिष्यत्येव नृपेंद्रो नूनु भोजनादिभि सदा ॥ २४१ ॥
जिनधर्मस्थितेषु वै यो नानेन प्रकुर्वते । वात्सल्यं स मन शर्म्मे जिनधर्मपराङ्मुख ॥ २४२ ॥

माहात्म्यको बढायेगा । अपने कर्तव्यको राजा होकर भी परम भक्तिभावना से करेगा । नित्य सुपात्रमें दान देगा जिनवाणीका पठन पाठन करेगा और गुरुके मुखसे शास्त्रोंका श्रवण करेगा । शास्त्र गुरुके मुखसे ही श्रवण करना चाहिये । वह राजा सबसे प्रथम दिनमसबधी अपने धार्मिक कृत्योंको कर लेगा । पीछे से राज्यकार्य और कार्य करेगा । यही धर्म की महिमा है ।

---

१ धर्मके अग अनेक होते है । उनमसे गृहस्थोंके लिए वात्सल्य अग विशेष उपयोगी और परमावश्यक है । वात्सल्य अंगका अर्थ—अपने साधर्मी भाइयोंको भक्ति भावनासे भोजन कराना पचायतको निमत्रण कर प्रीति भोजन देना साधर्मी भाइयों को मेला प्रतिष्ठा आदि अवसरके निमित्त मे भक्ति पूर्वक भोजनादिकके द्वारा सत्कार करना । समय समयपर साधर्मी भाइयोको भोजना कराना । विवाह नाम सस्कार—उपनयन सस्कार (जनेऊ) और व्रत अनुष्ठानके समय साधर्मी भाइयोंको (पचायत) भोजन कराना वात्सल्य अग है । परस्पर प्रेमभावना और धर्ममें अनुराग इस अगसे ही होता है । सर्व श्रावकाचारोंमे भी इसीको वात्सल्य अंग माना है । जो मनुष्य पचायत भोजनको या मेला प्रतिष्ठामें आहार दानका निषेध करते हैं—फिजूल खर्च बतलाते है वे धर्मके माहात्म्य को जानते ही नहीं हैं । वे स्वय दरिद्र है । कभी भी उनको वात्सल्य अग पालन करनेका सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ है इसलिये ऐसे सुधारक ही जघन्य पात्रदानकी महिमा को नहीं जानते हैं । परंतु आचार्योंने मेला प्रतिष्ठादिमें आहारदान देने से तीर्थंकर गोत्रका पुण्य बतलाया है ।

भो बुधाः सर्वदा श्रीमज्जिनधर्मस्थितेषु वै । कुर्वीध्व सर्वजीवेषु वात्सल्य जेमनादिभि ॥ २४३ ॥

वात्सल्यात् बध्नत्येव तीर्थंकरस्य कायवान् गोत्र शिवपद नूनं सर्वाधिपनमस्कृतम् ॥ २४४ ॥

सभामध्ये वरे सिंहपीठे स्थित्वा च स नृपः । स्वस्याज्ञापालकान भूपान दास्यत्येव सदा खलु ॥ २४५ ॥

धर्मोपदेश भो भूपाः शृणुध्व कथयाम्यहं । यस्येव श्रवणात्सर्वे यात्येव नाशता खलु ॥ २४६ ॥

धर्म-अर्थ-और काम इन तीनो पुरुषार्थोमें से सबसे प्रथम धर्म पुरुषार्थ को निराकुल भावोंसे निर्विघ्न करना चाहिये ! पीछेसे काम और अर्थ पुरुषार्थ को साध्य करना चाहिये । तो ही नीतिपूर्वक कर्तव्य पूर्ण होते है । जो मनुष्य अर्थ और काम पुरुषार्थ की सिद्धिके लिये धर्म पुरुषार्थ को छोड देते है वे नीतीका परित्याग कर देते है ।

वह राजा साधर्मी भाइयोको भोजन पानके द्वारा वात्सल्य अगकी वृद्धि कर जिनधर्मके प्रतिपालक साधर्मी भाइयो का भोजन पान आदिके द्वारा सत्कार करेगा । जो भाई अपनी शक्तिको छिपाकर साधर्मी भाइयोका आदर सत्कार नही करता है वह जिन धर्मके तत्वो की जानकारी से बहिर्भूत है ।

जिनधर्मका एक मुख्य अग यह भी है कि साधर्मी भाइयो का भोजन पान आदि सब प्रकार से आदर सत्कार कर । जो इस प्रकार का विशुद्ध वात्सल्य अगका पालन करता है वह निश्चय से तीर्थंकर गोत्रका बध करता है—उसके पुण्य की महिमा अनत है ।

अर्थ—वह राजा सभामें दिव्य सिंहासनपर विराजमान होकर अपनी आज्ञाके प्रतिपालक राजाओको धर्मोपदेश करेगा । हे राजन् ! गृहस्थो का कर्तव्य और धर्माचरण का स्वरूप मै जिनागम से कहता हू सो उसको सावधान मन से सुनिये । भगवान केवलज्ञानी सकल चराचर को प्रत्यक्ष जाननेवाले अरहत प्रभुने वतलाया है कि गृह-

गृहस्थाना च सिद्धाते जिनेन्द्रै केवलेक्षणै. । प्रथम शुद्धसम्यक्त्वो मतो हि नात्र सशय ।२४७॥
सर्वदोषविनिष्क्रातो देवो जिनैव निश्चयात् । सर्वद्वंद्वविहीनो य गुरु सैव जिनागमे ॥ २४८ ॥
जिनाननसमुद्भूता वाणी ससारतापहा । सा स्यात् गणेन्द्रलेखौघैः सदा वंद्या च तारका ॥ २४९ ॥
एतेषा यत्र श्रद्धान भवेत्तत्रैव भूमिप । सम्यक्त्वस्यैव शुद्धस्य प्राप्तिर्नास्त्यत्र सशय ॥ २५० ॥
आत्मनो गुणव्यूहस्य निश्चयो यत्र सभवे । तत्रैवोत्पत्तिः भूपाला जायत तस्य निश्चयात् ॥ २५१ ॥

स्थोको सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन की विशुद्धि करनी चाहिये । निर्मल सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनी चाहिये । निर्मल सम्यग्दर्शनके पालन करनेसे गृहस्थोका धर्माचरण सांगोपाग पालन होता है । समस्त प्रकार के दोष रहित परमवीतराग सर्वज्ञ अरहन्त प्रभुको देव मानना । समस्त प्रकार परिग्रहसे रहित परम दिगबर और राग द्वेपसे विनिर्मुक्त गुरुओको गुरु मानना, तथा श्री सर्वज्ञ अरहत भगवानके मुखकमलसे प्रकाशित जिनवाणीको तत्त्वका उपदेश करनेवाली ससार समुद्रसे तारनेवाली मानना । इस प्रकार देव गुरु और जिनवाणीका अविचल श्रद्धान करना । किसी प्रकार भय आशा और लोभके वशसे भी अन्यथा नहीं मानना, सो सम्यग्दर्शन है ।

जिन गृहस्थोको ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है उनको धर्मकी प्राप्ति हो जाती है । सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके विना धर्मरत्नकी प्राप्ति नहीं होती है ।

अर्थ—हे राजन् ! अथवा आत्माके समस्त गुणोंका जिस भव्य जीवको दृढ निश्चय हो जाता है वहांपर ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है ।

हृदि यस्यैव सर्वेषु भूतेषु स्वात्मतुल्यता । तस्य सजायते भूशा शुद्ध स कर्मनाशद । २५२ ॥
सम्यक्त्वस्य हि चोत्पत्तिर्दशधा कथिता जिनै । सिद्धाते दोषनिर्मुक्ते सर्वपापविवर्जिते ॥ २५३ ॥
इत्याद्याः कथिता भेदा ये ते हि कर्मभजकाः । व्यवहारनयस्यैव लक्षणा नो जिनागमे ॥ २५४ ॥

अर्थ—हे राजन् जिस भव्य जीवके निष्कपट भावो से-स्वार्थ-इच्छा और किसी भी प्रयोजनके विना स्वाभाविक आत्म परिणामोकी विशुद्धिसे समस्त जीवोमें अपनी आत्माके समान जीवात्माओका श्रद्धान होता है उसके शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। जो समस्त जीवोमें समता भावको आत्मिक परिणाम द्वारा प्रकट करता है। जो परलोककी सत्ताको स्वीकार कर जीवोका अस्तित्व परिणमन आदिका श्रद्धान कर अपने स्वरूपके समान समस्त छोटे बडे निर्बल और शक्तिशाली पापी और पुण्यात्मा जीवोको मानता है उसके सम्यग्दर्शन प्रकट होता है।

अर्थः— सम्यग्दर्शनके आज्ञा मार्गसमुद्रादि दश भेद समस्त प्रकारके दोष रहित जिनागममें बतलाये है। सम्यग्दर्शनके मुख्य दो भेद हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन। आज्ञादिक दश भेद भी सम्यग्दर्शनके बतलाये है।

अर्थः— उपर्युक्त भेद प्रभेद सब निश्चय सम्यग्दर्शनके है और वे निश्चय नयके अवलंबनसे बतलाये हैं। अब व्यवहार नयसे सम्यग्दर्शनके लक्षण बतलाते है।

यद्यपि जीवोको निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्ति हो जाना ही मोक्षमार्गमें कार्यकारी है। जिन जीवोके निश्चय सम्यग्दर्शन है उनके व्यवहार सम्यग्दर्शन है ही। परतु व्यवहार सम्यग्दर्शनकी प्रतीति विना बाह्यमें वात्सल्य-उपगूहन-स्थितिकरण आदि अगोका पालन नही हो सक्ता। इसलिये जिसके देव, शास्त्र, गुरुका दृढ श्रद्धान है और जिसके बाह्य आचरण जिनागमकी मर्यादाके अनुकूल है जिसके विचार जिनागमसे विरुद्ध नही है और जो जिनागमके अनुकूल

ज्ञेया हेने च भेदा मो निश्चयस्यैव चागमात् । वचम्यह लक्षणान् तस्य व्यवहारनयस्य वै ॥ २५५ ॥
अष्टौ मदा भया सप्तभा नानार्थनाशका । शल्यानि व्यसनान्येव दोषाष्टौ मासजा मदा ॥ २५६ ॥
सर्वदोषप्रदा हेया दोषहीनाष्ट नामत । मूलभूता गृहस्थाना यतो मूलगुणा मता ॥ २५७ ॥

तर्कको रखकर पदार्थोंका स्वरूप जानता है उसी भव्य जीवके निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है । ऐसे भव्य जीव जिनागमविरुद्ध एक अक्षर भी सुननेको राजी नहीं होते है । और न जिनागमके विरुद्ध अपने ज्ञानवैभवका उपयोग करते है ।

भव्यको जिनागममे न शका है न जिनागमकी परीक्षा अपने मनोनीत भावोसे कुत्सित तर्कके द्वारा वह करता है किंतु पदार्थोंका निर्णय आगमको सत्य और प्रामाणिक समझकर शुद्ध बुद्धिसे करता है ।

अर्थ—आठ मद (ज्ञानमद-पूज्यपनेका मद-कुलका मद-जातिका मद-बलका मद-ऐश्वर्यका मद-तपका और शरीरकी सुदरताका मद) का त्याग करना । सात भयोका परित्याग करना ।

तीन प्रकारकी शल्य-(माया मिथ्या निदान) का परित्याग करना । सात व्यसनो का परित्याग करना (जूआ खेलना मासका भक्षण-मदिरापान-वेश्यागमन करना-शिकार खेलना-चोरी करना-और परस्त्रीसेवन करना ये सात व्यसन है । इनका सेवन करनेमे सम्यग्दर्शन नष्ट होता है ।) और आठ मांसके दोषोका त्याग करना ।

उक्त समस्त दोषोको छोड देनेसे सम्यग्दर्शन निर्मल प्रकार से पालन होता है । सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिये पच्चीस दोषोका परित्याग करना चाहिये ।

संवेगाद्या गुणा ह्यष्टौ अतीवाराश्च पच वै । त्रयो मूढा॰ सदा हेया कषाया वेदना मता ॥ २५८ ॥
पचदश प्रमादाश्चानर्थदंडाश्च पच वै । द्वादशाश्चाविरतय भवसततिदायका । २५९ ॥
रागद्वेषादिमोहाश्च तथा निंदा परस्य च । मिथ्यात्वरक्तसेवाच तद्वनस्यैव भक्षण ॥ २६० ॥
भयेन स्नेहयोगेन विमार्गस्थाय सन्नति । आशया वा तथा तेषा सगम दोषवर्द्धक ॥ २६१ ॥
इमे दोषा सदा त्याज्या॰ सम्यग्दृग्धारिभि खलु । व्यवहारनयस्यैव पालक तद्धि भासये ॥ २६२ ॥
आगमे जिननाथेन स मतो व्यवहारत । एतेषा सद्गुणाना च पालको यो न सशय ॥ २६३ ॥

मद्य-मांस-मधु और पाच उदम्बर फलोका परित्याग करना सो श्रावकके आठ मूल गुण है। इन मूलगुणोका परिपालन नहीं करने से सम्यक्त में घात होता है। सवेग—अनुकपा प्रशम आदि गुणोका पालन करने से भी सम्यग्दर्शन की व्यक्तता होती है। तीन मूढता—षट अनायतन—कषाय-वेदना-प्रमाद—अनर्थदड—अविरति रागद्वेष मोह का परित्याग यथाशक्ति से करना चाहिये। दूसरो की निंदा करना छोड देना चाहिये। मिथ्यात्व मार्ग तथा मिथ्यात्वके सेवन करनेवालो की प्रशसा आदि का त्याग करना भी उचित है। इस प्रकार दोषोंका परित्याग कर देनेसे अतिशय विशुद्ध सम्यग्दर्शन का पालन होता है।

भय—स्नेह—और आशासे कुमार्गका सेवन नही करना चाहिये। तथा कुमार्ग सेवन करनेवालो की कभी भी प्रशसा नही करना चाहिये। मिथ्यात्वके सेवन करने से आत्माका हित होगा ऐसा नही मानना चाहिये। मिथ्यामार्गगामी पुरुषो को प्रणाम—विनय—नही करना चाहिये।

व्यवहार सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले भव्य प्राणी उपर्युक्त विधिसे अपने कर्तव्योंकी पूर्ति करते है। जिनेन्द्रभगवानके परमागम में इसको व्यवहार सम्यग्दर्शन माना है।

अस्यापि भो नृप भेदा कथिताश्च जिनेश्वरैः शृणुथ ह्येकचित्तेन तान् भेदान् कथयाम्यह ॥ २६४ ॥
उक्तदोषान् त्यजेत् योवै स लभेत् व्यवहारत । सम्यक्तोत्कृष्टसपत्ति तुर्यजन्मनि वै शिवम् ॥ २६५ ॥
अस्यैव पालको मर्त्य चाप्नोति निश्चयाच्च सः । भवे च दशमे चापि द्वादशे वा त्रयोदशे ॥ २६६ ॥
सप्तैव व्यसनान्येव मदाष्टौ वा गुणा वरा । एतेषा त्यजनेनैव मध्यम सोत्र कथ्यते । २६७ ॥
अष्टौ मूलगुणान् शुद्धान पालयति तदाप्तये । मुचति व्यसनान्येव सप्तैव यो नरोत्तम । २६८ ॥
लभते सैव भो भव्याः कर्मसतानानाशकम् । जघन्याख्य च सम्यक्त्व ह्यनुक्रमात् शिवास्पद । २६९ ॥

अर्थ—हे राजन् व्यवहार सम्यग्दर्शनके भेदोका और भी विशेष खुलासा कहता हू सो सुनो ।

जो भव्य उपर्युक्त दोपोका परित्याग करता है उसके व्यवहार नयसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है । परन्तु उस व्यवहार सम्यग्दर्शनसे चौथे ही भवमे मोक्ष सुखको प्राप्त होता है । अथवा जैसे जैसे व्यवहार सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती जाती है और जैसे जैसे उपर्युक्त दोपोका परित्याग वढता जाता है वैसे ही भवावलिका अंत होता जाता है । अधिक से अधिक दश वारह भवमें वह जीव मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य भेदसे मानी है । उत्कृष्ट विशुद्धिका स्वरूप ऊपर वतला दिया है ।

मध्यम सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि—जो भव्य जीव पच्चीस दोप रहित आठ मूलगुण सहित सप्त व्यसनोका त्याग कर सम्यग्दर्शनका पालन करता है उसके मध्यम सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती है ।

जघन्य सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि—जो भव्य जीव आठ मूल गुणोके साथ सप्त व्यसनोका परित्याग कर सम्यग्दर्शनका पालन करता है उसके जघन्य विशुद्धि होती है । इस प्रकार जो भव्य जीव सम्यग्दर्शनका पालन करता है

सम्यक्त्वेन विना सर्वे दानेज्याव्रतसत्क्रिया । नि फला जिननाथेन कथिता ह्यागमे बुधा ॥ २७० ॥
सम्यक्त्वेन सम वालो श्वभ्रेऽपि भो वुधोत्तमा । वर मतं वुधै किंच वक्ष्येह तस्य कारणं ॥ २७१ ॥
शुद्धदृग्गारका तेहि अत्रागत्यैव तत्रत । तीर्थकरा भवत्येव कल्याणै पंचभिर्युता ॥ २७२ ॥
निर्लिपाधिपसंसेव्या ह्यनतसाम्मडिता । त्रिज्ञानान्वितसद्गात्रा अनौपमविराजिता ॥ २७३ ॥
तद्दते नो वर नाकवासोपि सपदायुतः । अनेकमहिमोपेतः सदा शर्मेण संभृतः ॥ २७४ ॥
तेऽमरा तद्वीना तस्मात् स्थावरादिकुयोनिपु । च्युत्वा भ्रमत्यहो नाकात् कालानतप्रम खलु ॥ २७५ ॥

उसको मोक्षपद शीघ्रही प्राप्त होता है । परंतु उत्कृष्ट सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे तद्भवमें ही मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन विना ज्ञान पूजा आदि समस्त क्रियाए व्यर्थ है । योग्य फलको प्रदान नही कर सक्ती । ऐसा जिनागममें परम भट्टारक अरहंत देवने कहा है ।

सम्यग्दर्शनके सहित नरकमें रहना भी अच्छा है परंतु सम्यग्दर्शनके विना स्वर्गमें वास भी अतिशय दुःखदायी है । इसका कारण यह है सो सुनिये ।

अर्थ—नरकसे निकलकर सम्यग्दृष्टी जीव पच कल्याणकी महिमा को धारण करनेवाले तीर्थकर परमदेव होते हैं । इसलिये भवावलिका नाश विना सम्यग्दर्शनके नहीं होता है ।

अर्थः— तीर्थकर परमदेव देवगणोसे पूजित अनत गुणोसे विभूपित और जन्मसे तीन ज्ञानकर मडित सुदर शरीरवाले होते हैं । यह सम्यग्दर्शनका ही माहात्म्य है ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनके विना विविध ऋद्धियोंसे सुसपन्न, अनेक महिमा सहित और सर्व प्रकारके सुखोंके भोक्ता होनेपर भी ऐसे स्वर्गमें वास करना अच्छा नहीं है । क्योंकि आयुके पूर्ण होनेपर यह जीव मिथ्यात्व कर्मके उदयसे देव

निमेषमात्रकालेपि यस्यैव चित्तशुद्धिता । जायते तस्य प्राप्तिश्च तत्रैव समवेत् बुधा ॥ २७६ ॥

मतिहीनाश्च ये मर्त्या शुद्धश्रद्धाप्रपालका । तेष्याशु प्राप्य सबोध गताश्च परमं पद ॥ २७७ ॥

तिर्यचयोनिषु चैव कुदेवेषु कुभूमिषु । कुमर्त्येषु तथा नैवोत्पद्यते तस्य धारक ॥ २७८ ॥

अधो भवति नो कुब्जः क्लीबो दारिद्रमंडितः । विपुत्रः शोकसंयुक्तो भोगोपभोगवर्जितः ॥ २७९ ॥

परसेवाकरः क्रूरो निर्दयः शीलवर्जित । दानेज्याव्रतसहीन परवचनचातुरः ॥ २८० ॥

जानीथ भूमिपा भो वै सम्यक्त्वस्यैव शर्मदा । महिमा च इमा वधा गृहस्थैर्वा मुनीश्वैर ॥ २८१ ॥

पर्यायका परित्याग कर थावर कायमें उत्पन्न होता है । इसलिये सम्यग्दर्शनके विना जोवको देवपर्यायके बाद अनत ससार ही है ।

अर्थः— जिन भव्य जीवोको अपनी पर्यायमे एक निमेष मात्र परिणामोंकी विशुद्धि हो जावे तो उसी समय सम्गग्दर्शनकी प्राप्ति होती है ।

अर्थः— सम्यग्दृष्टी जीव यद्यपि कुछ भी पढा लिखा न होवे तो देव, शास्त्र और गुरुकी दृढ श्रद्धासे शीघ्र ही बोधको प्राप्त होकर परमपदको प्राप्त होता है ।

भावार्थः— पढ लिखे मनुष्योंको ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती हो ऐसा नही है । किंतु जिन भव्य जीवों-के आचरण शुद्ध हैं चित्तवृत्ति विशुद्ध है उनके परिणाम विशुद्ध है उनको ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है ।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीव तिर्यच योनिमें कुदेव-कुभूमिमे कुत्सित मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न नही होते है । तथा सम्यग्दृष्टी जीव अधे-कुब्ज-नपुसक-दरिद्री पुत्रविहीन-शोकसहित-भोगोपभोग रहित-दूसरोकी सेवा करनेवाले-क्रूर निर्दय-शीलरहित दान पूजा व्रतविहीन-दूसरे जीवोको ठगनेमें चतुर और निंद्य नही होते है । यह सब कुछ महिमा

कुर्वीध्व धारण चित्त आदौ सद्व्रतसिद्धये । सम्यक्त्वस्यैव शुद्धस्य विधिदावाग्नितोयद ॥ २८२ ॥

नित्याद्यस्यैव नाशार्थं षट्क्रिया वासर प्रति । कुरुध्व शिवशर्माय अभिषेकादिनामत ॥ २८३ ॥

षट्क्रिया नैव कुर्वंति ये गृहस्था मता न ते । पशुतुल्या बुधै भूपाश्चागमे पापकार्यत ॥ २८४ ॥

अतो भो भूमिपा पूर्व कृत्वा वै धर्मसाधन । अन्यत् पश्चाद्धि कुर्वीध्व गृहकार्य सुखाप्तये ॥ २८५ ॥

सम्यग्दर्शन की है । जगत में जितने सुखके साधन है वे सब सम्यग्दृष्टी जीवको स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं ।

अर्थ—हे भव्यजीवो सम्यग्दर्शन को सबसे प्रथम अपने चित्तमें धारण करिये । क्यो कि उसमे ही उत्तम व्रतोकी सिद्धि प्राप्त होगी । शुद्ध सम्यग्दर्शन कर्मरूपी दावाग्नि को नाश करने के लिये मेघके समान है ।

अर्थ-दैनिक होनेवाले समस्त पापोकी निवृत्तिके लिये षट् क्रियाओं को नित प्रतिदिन करना चाहिये । अभिषेक पूजन आदि क्रियाओसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है ।

अर्थ—हे राजन् ! जो गृहस्थ अपने षट् आवश्यक कर्मोंको (देव—पूजा गुरुकी उपासना स्वाध्याय संयम तप दान) नित्य नही करते है वे अपने कर्तव्य से रहित है । मनुष्य वही है जिसने अपने कर्तव्यो की सिद्धि की है कर्तव्यों की सिद्धिके विना मनुष्य पशुके समान है । षट् आवश्यक कर्मोंसे पापोंका नाश होता है । और जिनके केवल पापकी ही प्रवृत्ति है वे पशु ही है ।

अर्थ—इसलिये हे नृपतिगण ! सबसे प्रथम अपने धर्म साधनों को नियम पूर्वक साधन करना चाहिये । पीछे आजीविकादिसबंधी आरभ करना चाहिये । जो अपनी षट् आवश्यक क्रियाओको पालन कर अन्य कार्य करता है वही त्रिवर्गका साधन संपादन करता है ।

स्वापतेयस्य भो भूपा' क्षेत्रेषु सप्तसु सदा । व्यय कुरुत शर्माप्त्यै माऽन्यत्कार्ये कदाप्यहो ॥ २८६ ॥
गृहस्था धर्मकार्येषु व्ययं कुर्वंति नो हि ये । स्वस्य द्रव्यस्य ते नून दैवतो वंचिता खला ॥ २८७ ॥
धर्ममर्थंच कामंच त्रिवर्गं य पुमान् खलु । साधयत्येव स याति क्रमात् शिवपुरे वरे ॥ २८८ ॥
अविराध्य धर्मकार्यं कर्तव्या गृहमेधिभिः । सर्वे कार्याः सदाकाले शर्मसंततिदायकम् ॥ २८९ ॥

हे राजगण हो ! अपना धन सात क्षेत्रोमें लगाओ । क्यो कि पापकार्यसे उत्पन्न हुआ धन यदि सप्तक्षेत्रमें लगाया जाय तो वह धन पुण्योदयका कारण है । अन्य कार्यमें व्यय करनेसे केवल पापका ही कारण होता है । सात क्षेत्रोंके नाम—जिनधर्म-जिनागम—जिनमव जिनचैत्य—जिनचैत्यालय-जिनक्षेत्र—और जिन आयतन)

अर्थ—जो गृहस्थ धर्मकार्य मे अपना धन नहीं खर्च करते है वे भविष्यके लिये ठगाये जाते हैं। उनको शुभ कर्मकी प्राप्ति नही होती है । और न उनको महान पुण्य सपादन करनेका अवसर ही प्राप्त होता है ।

अर्थ—जो मनुष्य धर्म-अर्थ-और काम पुरुपार्थको परस्पर अविरुद्ध भावसे संपादन करता है वही क्रमसे मोक्षपुरका वास करता है । केवल अर्थ पुरुपार्थ या काम पुरुपार्थके सिद्ध कर लेनेसे मनुष्योके कर्तव्य पूर्ण नहीं होते हैं न त्रिवर्ग ही सिद्ध होता है । त्रिवर्गमें धर्मपुरुपार्थ मुख्य है । क्योंकि काम और अर्थ पुरुपार्थ ये दोनों ही धर्म पुरुपार्थ के फल हैं । बीजके बिना फलकी प्राप्ति नहीं होती है । इसलिये बीजकी रक्षा कर फल प्राप्तिका उद्योग करना चाहिये। क्योकि,

अर्थः— गृहस्थोको अपने समस्त कार्य धर्मकी रक्षा करते हुये ही करने चाहिये । धर्मकी हानि कर नहीं करने चाहिये । जो मनुष्य धार्मिक क्रियाओको भूलकर अन्य कार्य करता है वह सुखको प्राप्त नहीं होता है । सुखकी प्राप्ति धर्मक्रियाओंके करनेसे ही होती है ।

दानेन दृश्यते पुण्य दयाभावेन मत्तप । आत्मध्यानेन मोक्षस्य स्वरूपो नात्र सशय ॥ २९० ॥
मुनये विधिना भूपा मध्यान्हे समये वरे । दत्वा न्याद रसाढ्य च करणीय ततश्च तं ॥ २९१ ॥
रोगग्रस्ताय संदेया भेपजा नित्यमेव हि । तस्यातंकविनाशार्थं दयाव्रतविशुद्धये ॥ २९२ ॥
भयकपितजीवाय दातव्यमभयाभिधं । दान सम्यक्त्वशुद्ध्यर्थं संदेव भो नरेश्वरा॰ ॥ २९३ ॥
पाठकाय सुग्रथस्य कर्तव्य बहुमोदत॰ । दान सत्ज्ञानप्राप्त्यर्थं अज्ञानध्वातसद्रवि ॥ २९४ ॥

अर्थः— दान देनेसे ही पुण्यकी महिमा प्रकट होती है। दयाका कार्य करनेसे ही श्रेष्ठ तपका फल प्राप्त होता है। आत्मध्यानसे ही मोक्षका स्वरूप प्रकट होता है।

अर्थः-- मुनिगण, आर्यिका आदि पात्रोंको मध्यान्ह समय आहारदान देना चाहिये । अपनी शक्ति और भक्तिके अनुमार विधिपूर्वक प्राशुक आहार देना चाहिये । सरस, मनोहर और शुद्ध आहार दान देवे।

अर्थ—चतुःसघमें जो रोगसे पीडित हो उसको उत्तम प्राशुक शुद्ध औषधि का दान करे। और साधारण जीवोको भी औषधीका दान देवे । जिससे रोग का नाश हो और दया व्रतकी विशुद्धि हो।

अर्थ—भययुक्त जीवोको अभय दान देना चाहिये । जीवोको मरते हुए बचाना चाहिये । प्राणोकी रक्षा कर अभय दान देना चाहिये । अन्य शास्त्रोमें अभयदानका अर्थ यह बतलाया है कि-पात्र—मुनि आर्यिकादि उत्तम पात्र को वसतिकादिक देना अभयदान है। अभयदान से सम्यग्दर्शन की विशुद्धि होती है।

अर्थ—मुनि-आचार्य—उपाध्याय आदि पात्रको जैनागमके शास्त्रोका दान करना चाहिये। चतुः सघको जैन ग्रथोका दान देना चाहिये। जिससे ज्ञानकी वृद्धि होती है और अज्ञान का नाश होता है। जैनागमके ग्रंथोका ही दान ज्ञानदान कहलाता है। अन्य मतके ग्रंथोका दान मिथ्यात्व है।

आर्यिकायै प्रवस्त्राणि सदेयानि मुनीशिने । शौचकर्मार्थमनाहो सदेयौ पिच्छिकुडिकौ ॥ २९५ ॥
श्रावकाय प्रदेयाश्च वस्त्राभरणमन्नया । श्राविकायै महीपाला देयास्ते च मनोज्ञा ॥ २९६ ॥
दयाभावेन सर्वस्मै अन्नपानादि वस्तुच । दानव्यं सर्वकालेहि दयाभावप्रसिद्धये ॥ २९७ ॥
इत्याद्या या क्रिया प्रोक्ताः जिननाथेन त्वागमे । व्यवहारजाश्च ता सर्वा ज्ञेया सम्यक्त्वधारिभि ॥२९८॥

अर्थ—इसी प्रकार आर्यिकाके लिये साडी आदि वस्त्रोंका दान देना चाहिये । मुनिगणोंके लिये शौचकी शुद्धिके अर्थ एव जीवरक्षाके लिये पीछी कमडलु देना चाहिये ।

अर्थ—हे राजगण श्रावकोंका भोजन पान और वस्त्राभरण देना चाहिये । उनको आजीविका का साधन लगा देना चाहिये । और श्राविकाओंके लिये भी वस्त्राभरण अन्नपानादिक देना चाहिये ।

अर्थ—दयाभावसे अपात्र कुपात्र और सर्वसाधारण दुःखी रोगी- अनाथ-पगु-दरिद्री पापी-नीच-पशु आदि समस्त जीवोंको यथायोग्य अन्नपानादिक वस्तुओंका दान सदैव देना चाहिये । जिससे दयाभावकी प्रसिद्धि हो ।

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवानने परमागममें दान पूजा विवाह-उपनय-संस्कार-आदि जितनी क्रियाए बतलाई है और वे क्रियायें व्यवहार रूप दीखरही है परन्तु उनको केवल व्यवहार नहीं समझना चाहिये । वे सब धार्मिक क्रियायें हैं । धर्मकी अगभूत है । आवश्यक कर्तव्य है । व्यवहारमे जितने खानपान कर्तव्य है वे भी सब धर्मकार्य है । उनको व्यवहार धर्मकी संज्ञा शास्त्रों में बतलाई है । परंतु सम्यग्दृष्टी जीवोंको नित्यही करना चाहिये । ये व्यवहार क्रिया है ऐसा समझकर भव्य सम्यग्दृष्टी जीवोंको इनसे उपेक्षा नही करनी चाहिये । जो सम्यग्दृष्टी गृहस्थ जीव इनको व्यवहार क्रिया समझकर उपेक्षा करता है वह मिथ्यात्वी है ।

न्यायमार्गेण सर्वाश्च प्रजा सर्वार्थदायिका । पालनीया सदाकाले भवद्भिर्न्यायवेदिभि ॥२९९॥
इति स्वस्वामिना प्रोक्त धर्माधर्मफल शुभ । सभात स्थाश्च ते भूपा मृदुभावान्विता व्यधु ॥ ३०० ॥
श्रुत्वा ससारतो भीत्वा मत्वेति स्वहृदि तदा । जिनधर्मसम नैवापर वै भुवनत्रये ॥ १ ॥
केचिच्च शुद्धसम्यक्त्व व्यवहारनयान्वित । दयाव्रतच केचिद्धि केचिदणुव्रतान् वरान ॥ २ ॥
दान दत्वा सुपात्राय करिष्यामि सुभोजन । कृत्वाभिषेकसत्पूजा जिनबिंबस्य निश्चयात् ॥ ३ ॥
जिनपादौ सुगधौघै काश्मीरागुरुमंयुतै । प्रात सलेपयित्वा वै पश्चाल्लेपो ममास्तु भो ॥ ४ ॥
अरविंदोत्करान् कृत्वा जिनपादाब्जयो परि । नधिघ पश्चात् करिष्यामि मर्दव मास्हानये ॥ ५ ॥

अर्थ—हे नृपती गणो न्यायमार्ग से नीति पूर्वक प्रजाका पालन करना चाहिये । न्याय और सदाचार का उल्लघन कर प्रजाका पालन करना योग्य नहीं है ।

अर्थ—वह धर्मात्मा राजा अपने अधीन राजाओको इस प्रकार धर्म–क्रिया नीति और पुण्य पापका फल निरूपण करेगा जिसको सुन कर सभामें विराजे हुए राजा अपने परिणामोमें अतिशय मृदुता धारण करेंगे । परिणामोकी सरलता से उनके पापमय मलिन विचार उनके हृदयसे सर्वथा दूर होगे । कितने ही राजा तो संसारसे भयभीत होगे । कितने पापकर्मो से भयभीत होंगे । समस्त सभाके सभासद निश्चय करेंगे कि जैनधर्मके समान सुखकारी तीन लोक में अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है । इस लिये व्यवहार सम्यग्दर्शनके साथ शुद्ध सम्यग्दर्शनको वहुत से राजा धारण करेंगे । कितने ही राजा अहिंसा व्रत ग्रहण करेंगे । कितने ही राजा पाच अणुव्रत ग्रहण करेंगे ।

अर्थ–कितने ही भव्यजीव यह प्रतिज्ञा करेंगे कि हम नित्य प्रति पात्रोको दान देकर ही भोजन करेंगे । कितने ही भव्य भगवानका प्रति दिवस अभिषेक कर भोजन ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेंगे, पूजा करनेकी प्रतिज्ञा लेंगे ।

पादाग्रे जिनबिंबस्य सद्याज्यवर्तिजै. शुभै । ईदृशैः दीपसदोहै सख्यामि सहस्रश सदा ॥ ६ ॥
मोदक व्यजन चैव शाल्यन्नमलिसंयुत । इत्यादिनिवसधृत्वा जिनेन्द्रपदसन्निधे ॥ ७ ॥
जेमन शोभनं पश्चात् स्वर्णभाजनसस्थितं । पश्चादेव करिष्यामि वासरं वासरं प्रति ॥ ८ ॥
समाभ्यर्न्य करिष्यामि लेपं पश्चात् सुखासये । धूप दत्वा सुगधाढ्य शिवसुखप्रदायक ॥ ९ ॥
त्रिपुटा चद्रवाला च क्षीरकाया मनोहरा । पटोलिका सुशोभाढ्या नाम्ना वै मातुलिंगक ॥ १० ॥
कपित्थ कटकीफलः कामागो नेत्रनंददः । दाडिमश्चैव हिंतालोलागलीनिंबूकस्तथा ॥ ११ ॥
रभाद्या ये फला संति मनोवकहरा वरा । प्रभो पादाब्जक्षोण्यग्रे धृत्वैतान् मेस्तु स पुन ॥ १२ ॥
अष्टम्या वा चतुर्दश्या पालयिष्यामि सद्व्रतं । ब्रह्मचर्याभित्र शुद्धं शिवशर्मप्रदायकम् ॥ १३ ॥

कितने भव्यात्मा पुरुष भगवानके पवित्र चरणकमलों पर सुगंधित पदार्थोंका लेप करने और अवशेप सुगधी द्रव्यका मस्तकमें तिलक लगाने, उत्तम सुगंधित और शुद्ध पुष्पोंको भगवानके पवित्र चरणों पर कामदेवको नाश करनेकेलिये चढाने, भगवानकी पूजाके समय सुगंधित घीके मनोहर दीप जलाकर मोहनी कर्मका नाश होनेकेलिये आरती करने, भगवानके पवित्र चरणोंके अग्रभाग में उत्तम नैवेद्य चढाने, स्वर्णके थालोंमें उत्तम नैवेद्य रखकर क्षुधावेदनीय को नाश करने के लिये चढाने, भगवानके चरणकमलके समक्ष सुगंधित धूपको अग्निमें प्रक्षेपण करने, इलायची-दाडिम-खिन्नी-जामुन-विजोरा पटोलिका-कपित्थ-फणस-नीबू-केला-श्रीफल आदि सुदर फल चढाकर अपनेको धन्य मानने, अर्घ चढाकर कृतकृत्य मानने आदि की प्रतिज्ञाए लेंगे ।

अर्थ—अष्टमी और चतुर्दशीके दिवस श्रेष्ट व्रतको (प्रोषधोपवास) पालन करूंगा । और उस दिनस परमशुद्ध

इत्यादीन् मगधाधीश तत्समीपे व्रतोत्करान् । भूमिपाला. सुभावाढ्या गृहिष्यत्येव निश्चयात् । १४ ॥
भूपो हि यत्र धर्मस्य पालको नात्र संशय । तदाज्ञावर्तिन सर्वे भूपा किं न भवंत्यहो ॥ १५ ॥
राज्ञ धर्मस्य मार्गो हि चलत्येवावनौ नृप । तद्दते धर्मलेशोऽपि जायते नो कदाचन ॥ १६ ॥
तत्र क्षेत्रे प्रजा सर्वा पालयत्येव त्रिप्रभा. । जिनधर्मं जिनेन्द्रोक्त दयाजलधिसंभृतम् ॥ १७ ॥

शीलव्रतको धारण करूंगा । जिससे शिवसुखकी प्राप्ति हो । हे राजन् श्रेणिक ! इस प्रकार अनेक राजागण उस भव्योत्तम महाराजके समीप व्रतोंको ग्रहण करेंगे ।

अर्थः— जो बडे २ मांडलीक राजा जैनधर्मके पालन करनेवाले हो तो उनकी आज्ञामें चलनेवाले अन्य राजागण क्यो नही जैनधर्मका पालन करेंगे ? अवश्य ही करेंगे । राजा यदि धर्मका प्रतिपालक है तो समस्त प्रजा धर्मका पालन करनेवाली हो जायगी । प्रजा राजाका अनुकरण करती है । इतना ही नहीं वल्कि समस्त देश ही जैन धर्मका पालन करनेवाला हो जाता है ।

अर्थः— राजा जिस धर्मको पालन करता है वहाका देश उसी धर्मका प्रतिपालक हो जाता है । क्योकि राजाओके चलानेसे समस्त प्रजा उसीको स्वीकार कर लेती है । राजाके विना धर्मका प्रतिपालन यथार्थ रूपसे सर्वत्र नही हो सक्ता । धर्म पगु है, उसको चलानेवाले चाहिये । तब ही वह सर्वत्र प्रचारमें आता है, बढता है । आश्रय विना धर्म नहीं बढता है ।

अर्थः— वहांकी प्रजा (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) श्री जिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रकाशित जिनधर्मका ही पालन करती है ।

व्रतपाकात् समापन्वान् भोगोपभोगसत्सुखान् । भोक्ष्यत्येव सदा सोपि तत्र पंचेन्द्रियोद्भवान् ॥ १८ ॥
अस्माकिं दुर्लभ लोके राजसौख्य महाधिप । सुलभा धर्मिणा सर्वा इन्द्रभूत्यादिसंपदा ॥ १९ ॥
संप्राप्य पुत्रपौत्रादीन् स महीप शुभोदयात् । स्थास्यति भाविती र्थेश स्वराज्ये भूरिवर्द्धते ॥ २० ॥
स्वपुरे पत्तने द्रोणे महीध्रे वाहने तथा । द्वीपवत्यास्तटे चैव याद पतेश्च सत्तटे ॥ २१ ॥
आगमे विपिने चापि ग्रामे खेटे मटवंके । वृक्षादिवाटिकाया च कर्वटे कंदरे तथा ॥ २२ ॥
इत्यादिशोभने स्थाने कारयिष्यति स नरेंद्र् । उदनसितानि सौम्यानि रत्नहाटकजानि च ॥ २३ ॥
तन्मध्ये स्थापयिष्यति बिंबानि श्रीजिनेशिनां । प्रतिष्ठापाठमर्यादात् चतुर्विधाणं सह ॥ २४ ॥

अर्थ—उस राजाने व्रतके शुभ फलसे अनेक भोगोपभोग संपदा को प्राप्त किया और मनोहर सुख भोगने लगा ।

अर्थ—हे राजन् इस कर्म दहनव्रतके फलसे राज्यके सुख प्राप्त होते हैं और इन्द्रकी विभूति प्राप्त होती है ।

अर्थ—इस प्रकार वह महाराजा व्रतके पुण्यसे पुत्रपौत्रादि को की शुभ शोभाको प्राप्त होगा । हे भावि तीर्थेश श्रेणिक ! वह महाराजा व्रतके पुण्यसे राज्यसंपदाको चिरकाल पर्यंत निर्विघ्न पालन करेगा ।

अर्थ—यह राजा अपने नगरमें श्रीजिनेन्द्र भगवान के रत्नोंके दिव्य मंदिरोंका निर्माण करेगा । इसी प्रकार अन्य शहरोंमें ग्राम-पर्वत-नदीतट-बगीचा-वन-द्रोण-कंदरा पर्वतकी शिखर आदि स्थानोंमें भी मनोहर जिनालय निर्माण करावेगा । जो बडे ही भव्य और सुंदर होंगे । जिनमें मनोहर जिन प्रतिमायें प्रतिष्ठा कराकर विराजमान करेगा । प्रतिष्ठाके समय चतुर्विध संघका आमंत्रण करेगा और सबको भोजन पान आदि सामग्रीके द्वारा संतोष

किमिच्छकाभिधदानं सदा दास्यति स नृपः । निर्द्धनाय शास्त्रार्थं दरिद्राभिधकर्मणः ॥ २५ ॥
शर्मसङ्गो गतं कालं नैव ज्ञास्यति स कदा । धर्मकार्यं पुरः कृत्वा भोक्ष्यते स्वसम्पदाम् ॥ २६ ॥
एवं स भुञ्जमानोऽपि शर्मणा संततिं नृपः । काललब्ध्या प्रयोगेण वैराग्यं प्रापयिष्यति ॥ २७ ॥
धिक्संसारमसारं च राज्यशर्म रजोसमम् । हेयं पापप्रदं धीरैः नूनं जानाति पार्थिवः ॥ २८ ॥
इन्द्रियोद्भूतशर्मेषु शर्मोत्पत्तिश्च किंचन । नाश्येव बहवो नष्टा मृगाद्याः पशवो यतः ॥ २९ ॥
स्त्रीकायसदनोद्भूता महारोगप्रदायकाः । अतृप्तिजनका मूढैस्त्याज्या इमे सुखाः ॥ ३० ॥

करेगा। सबको उनकी इच्छानुसार दान देगा। सबके मनोरथ पूर्ण करेगा। सबकी भावनाको सफल करेगा। जिससे दरिद्रता का समूल नाश हो जायगा।

अर्थ—वह राजा सब प्रकारके सुखोंका सेवन करता हुआ अपने समयको नहीं जानेगा और धर्म कार्यको फिर भी सबसे प्रथम कर अपनी पुण्योदयसे प्राप्त सम्पत्तिको भोगेगा।

अर्थ—इस प्रकार वह राजा धर्मके फलसे समस्त प्रकारके सुखोंको भोगेगा। काललब्धिसे वैराग्यको प्राप्त होगा। संसारको असारताको नष्ट जानेगा। राज्य सुखको वह धूलीके समान मानेगा। संसारकी असारताको वह धिक्कारने लगेगा। इन्द्रियोंका सुख पापप्रद है। उसमें कुछ भी सुख व सार नहीं है। इन्द्रियोंकी आधीनतासे बहुतसे मनुष्य नष्ट होगये। स्त्रीका शरीर कामका घर है—यह महान रोग और आपत्तिका घर है। इसमें जरा भी तृप्ति नहीं है, न इन्द्रियोंके सुखमें कोई तृप्त हुआ इसलिये छोडने योग्य है। ज्ञानी पुरुष कषायोंके आधीन नहीं होते हैं। इस प्रकार वह विचार करेगा।

इन्द्रादीनां सौख्येषु यत्रास्ति नो किमप्यहो । [illegible] तपि तस्मादि [illegible] यतो [illegible] ॥ ३१ ॥

अस्मादृशां आत्मन् ते कियन्मात्रं सन्मतं । येन लुब्धेन तिष्ठामि अत्र [illegible] ॥ ३२ ॥

त्वयापि बहु भुक्तानि [illegible] शर्माणि [illegible] । तथापि नैव तृप्तिश्च [illegible] नो भवेत् ॥ ३३ ॥

विस्तरेण विचारेण [illegible] शिवाप्तये । [illegible] ॥ ३४ ॥

वृथा येनत्वया [illegible] मे [illegible] । विना [illegible] ॥ ३५ ॥

अथैव [illegible] । [illegible] ॥ ३६ ॥

अर्थ—इन्द्रादिकों को जो सुख अपनी पर्यायमें प्राप्त होता है वह भी अन्तमें नष्ट होजाता है। इसलिये संसारमें कहीं पर सुख नहीं है।

अर्थ—हे आत्मन् ! हम लोगोंकी आत्माको संसारमें क्या सुख है? जिसके लोभसे घरमें रहनेकी अभिलाषा करूं? घरमें रहनेमें क्या सुख है?

अर्थ—हे आत्मन ! संसारमें उत्तमसे उत्तम सुख तूने भोगे तबभी तेरी जरा भी तृप्ति नहीं हुई। अनंत काल सुख भोगते हुए तुझे अल्प मात्रभी तृप्ति नहीं हुई।

अर्थ:— अधिक क्या कहूं ? और हे आत्मन् अधिक क्या समझाया जाय ! यदि मोक्षसुखके प्राप्त करनेकी तेरी इच्छा है तो संसार और इन्द्रियोंके तुच्छ सुखोंका परित्याग कर। और इस समस्त दुःखप्रदायक तुच्छ संसारीक सुखोंको छोड। आज तक मेरा इतना समय इन तुच्छ भोगोंके सुखोंकी लालसामें व्यर्थ ही गया। और अपना यह अमूल्य जीवन संयमके बिना व्यर्थ ही चला गया। इसलिये आज ही मैं अपने ज्येष्ठ पुत्रके शिरपर यह राज्यभार समर्पण कर मोक्षका अनुपम सुख प्रदान करनेवाला यह मुनिसंयम ग्रहण करूंगा। इस प्रकार मनमें विचार कर और

इति ध्यात्वा हृदि पुत्रमाहूय हरिविष्टरे । स्थापयित्वा प्रजानाच पालनार्थं स्वकीयके ॥ ३७ ॥
अन्यान् पुत्रान् तथा बंधून् सतोष्य वृत्तिजनै सह । पृथक् पृथक् नराधीश स नृपो नृपसेवित ॥ ३८ ॥
नि स्वेभ्य रत्नधर्मादीन् दत्वा आनंदचेतसा । कृत्वा जिनेन्द्रसत्पूजां चाभिषेकपुरस्सरा ॥ ३९ ॥
सर्वेषु स्वकुटुंबेषु सकार्यं ह्यात्मभाववित् । क्षमा च खलु सर्वेषु वस्तुषु निर्ममत्वता ॥ ४० ॥
स्वय भूत्वा नि शल्यो वै स्वस्मिन् नाज्ञाय सिद्धये । स्वात्मनः शातभावाढ्यः शिविका च मनोहरा ॥ ४१ ॥
समारुह्य तूर्णमेव स्वात्तनृगणै सह । पुरवाह्यवने चैव यास्यत्येव सुशोभने ॥ ४२ ॥
सीमधरादितीर्थाना संनिधे वा गणेशिना । अवतीर्य स्वय यानात् शातभावात्तमानसः ॥ ४३ ॥

अपने ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर स्वर्णसिंहासनपर विराजमान कर अपनी प्रजाको पालन करनेके लिये पट्टाभिषेक करेगा। और छोटे पुत्रोको यथाशक्ति संपत्तिका भाग कर प्रदान करेगा । अन्य बधु जनोको उनकी योग्यता प्रमाण आदर सत्कार करेगा। अन्य परिवार कुटुंब तथा भृत्यवर्गको यथायोग्य सतोषित करेगा । अपने आधीन राजाओंको पुत्रके स्वाधीन कर राज्यभार पुत्रको समर्पण करदेगा।

अर्थ—गरीब और अनाथ जनोको धन रत्न आदि द्रव्य देकर सतोषित कर अपने भावोको सफल करनेके लिये आनंद भावोसे श्रीजिनेन्द्र भगवानकी अभिषेकपूर्वक पूजा करेगा। अपने कुटुंबी जनो से क्षमा कराकर और स्वय सबसे क्षमाकर समस्त वस्तुओ से निर्ममत्व भावको धारण कर समस्त प्रकारसे निःशल्य होगा। अपने मनकी शुद्धिको धारण कर राजा भगवती जिनदीक्षाको धारण करनेके लिये विषय और कषायोंको जीतनेके लिये अपने भावोंको शांत करेगा, सर्वोत्तम शिविका (पालखी) में बैठकर अनेक राजाओके साथ बाह्य उद्यान में जायगा।

नत्वा तत्पादपद्माब्ज (?) नारक निर्जरैर्नुतम् । स्वकरौ कुड्मलीकृत्य याचिष्यत्येव सयमम् ॥ ४४ ॥
निरंबर दयाधीश शरणागतवत्सल । वीराधिप मुने स्वामिन् भव्यभूतपतारक ॥ ४५ ॥
आत्मगुणविचारज्ञ मा देहि शरणागत । दीक्षा जैनेश्वरी पूज्या इन्द्रनागेन्द्रभूमिपै ॥ ४६ ॥
तदा गुरूपदेशेन त्यक्त्वा भूषणसन्ततीन् । वस्त्रादीन् शोभनान् चैव महामोहप्रदायिकान् ॥ ४७ ॥
शिरस्थान सकलान् केशान् गुल्मान् वा मोहभूपते । लुंच यत्वा तदाकाले पंचमुष्टि महासखी ॥ ४८ ॥
बाह्यस्थान् निखिलान् द्वन्द्वान अंत स्थानपि दुस्त्यजान् । मूढैश्च तत्समीपेहि त्यक्त्वा भूत्वा मुनेः समः ॥ ४९ ॥
गृहीत्वा मोक्षप्राप्त्यर्थं अष्टाविंशतिमव्ययकान् । मूलभूतान मुने सर्वान् मूलगुणान् दयालये ॥ ५० ॥
चतुरशीतिलक्षान वै उत्तरादिवरान् गुणान । सर्वशुद्धिप्रदान वयान् मुने देवाधिपै सदा ॥
अष्टादशसहस्राणि शीलभेदानि भूपते । धृत्वा वै ब्रह्मचर्यस्य शुद्धकानि यते खलु ॥ ५२ ॥

अर्थ—राजा सीमधर स्वामीके निकट वा गणधर स्वामीके समीप शात भावोमे पालखीसे उतरकर जायगा।

अर्थ—देवगणोसे पूजित संसार समुद्रसे तारक ऐसे गुरुके पवित्र चरण कमलोको नमस्कार कर और हाथो को कमलाकार बनाकर (हाथ जोडकर) भगवती जिनदीक्षाकी याचना करेगा।

अर्थ—हे दिगबर महाव्रतधारक! हे दयाधीश! हे शरणागत वत्सल! हे मुने! हे भव्यजीवोके तारक! हे आत्मगुणोके विचारक! मुझ दीन शरणागतको भगवती जिनदीक्षा प्रदान कीजिये ॥

अर्थ—उस समय राजा आचार्य गुरुकी आज्ञासे मोहको वढानेवाले ऐसे बहुमूल्य वस्त्राभूषण अपने शरीरसे उतार कर फेंक देंगे। जैसे कोई मोहराजाको ही समूल उखाडकर फेंक देता है वैसे ही अपने मस्तक, दाढी, मूछके केश पच मुष्टीके द्वारा उखाड कर फेंक देंगे। और अत्यत दुस्त्याज्य अतरंग एव बाह्य परिग्रहको छोडकर अपने गुरुसे

इत्थ शुद्धया गृहीत्वा वै सयम स मुनिर्वरम् । करिष्यति वने भीमे दुर्धर तपसग्रह ॥ ५३ ॥
तदाधीना नरेन्द्राश्च दृष्ट्वा स्वस्वामिनो मुदा । स हस भो नराधीश भव्यभावा सहस्रशः ॥ ५४ ॥
ता दीक्षा तेपि साकं च स्वमहिलाभिरादरात् । गृहिष्यति परित्यज्य सपदा स्वर्गसन्निभा ॥ ५५ ॥
आर्यिका आर्यिकासघे करिष्यत्यनघ तप । मुनयस्तेपि साक च तनैव मुनिना वरा ॥ ५६ ॥
अतीचारविनिर्मुक्तान् मूलोत्तरगुणान् मुनि । मोक्षार्थ धीरभावाढ्य पालयिष्यति स खलु ॥ ५७ ॥
महासाहसधैर्येण स यति कर्मपर्वतान् । तपोवज्रेण भो भूप खडयिष्यति दुर्जयान् ॥ ५८ ॥
श्मशाने भूधरे भीमे विजने दुर्गमे वने । कन्दरे निर्भयो धीरो महीरुहस्य कोटरे ॥ ५९ ॥

अष्टाविंशति मूल गुणोको धारण करेंगे। नवीन दीक्षित मुनिराज चौरासी लाख उत्तर गुण और अठारह हजार शीलव्रतको धारण करेंगे।

इस प्रकार शुद्ध संयमको धारण कर वह राजा भयानक अरण्यमें घोर तपको धारण करेगा।

अर्थ—उस समय अपने स्वामी राजाका इस प्रकार का महान अद्भुत साहस देखकर हजारो आधीनस्थ राजगण भव्यभावो से भगवती जिन दीक्षा की याचना करेंगे।

अर्थ-वे राजगण भी अपनी २ रानियो के साथ भगवती जिन दीक्षाको ग्रहण करेंगे। आर्यिकायें आर्यिकाओंके सघमें रहेंगी और मुनिगण मुनिसघमें रहेंगे।

अर्थ—सर्व प्रकारके अतीचारो से रहित मूलगुणोका वह मुनिराज पालन करेगा। धीर-गंभीर भावोसे और परम साहसके साथ वह मुनिराज तपके द्वारा कर्मरूपी पर्वतोको खंडकर समूल नाश करेगा। वन निर्जन स्थान श्मशान-कंदरा-नदीतट आदि उपद्रव रहित एकांत स्थानमें वह घोर तपश्चरण करेगा।

अश्वत्याश्च तटे शालमूले वा रविसन्निधे । ध्यान व्युत्सर्गसज्ञं च करिष्यत्येव सिद्धये ॥ ६० ॥
मासमात्रं द्विमासातं रसमासातमेवच । मध्मोत्कृष्टसुभेदेन हायनातं च्युतोपम ॥ ६१ ॥
पचर्तुपक्षघस्राते वा मासे वा रसाभिधे । सर्वदोषविनिष्कात निवसद्दिभजिष्यति ॥ ६२ ॥
उदन्याश्च समुत्पन्ना ता बाधा दुर्धरा नृप । सोक्ष्यते स यतीन्द्रो हि कर्मनाशाय केवलम् ॥ ६३ ॥
ध्यान वाध्ययनं नित्य मनोरोधाय सयमी । पालयिष्यति भो भूप कर्मसतानननाशकम् ॥ ६४ ॥
आचार्यान् दशसंख्याख्यान् जिनधर्मप्रकाशकान् । तपद्धर्यादिषु ऋद्धयाख्यान् महासारसमन्वितान् ॥ ६५ ॥
जिनाज्ञापालकान् वुद्धान नानातप करान् वरान्। निर्लिपाधिपसदोहैर्वद्यान् सुजीवतारकान् । ६६ ॥
वदयन् मगधाधीश गृहिष्यत्येद स मुनि । एकाविहारजा वृत्ति धीरवीरै प्रपूजिता ॥ ६७ ॥
तत सोपि मुनीन्द्रो वै सिंहवन्निर्भयोवली । गिरिकदरदुर्गेषु संवसन् ध्यानसिद्धये ॥ ६८ ॥

और एकांतमें ध्यान धारण करेगा । एक दिनम, दो दिवस, पद्रह दिवस, महीना, दो महीना, चार महीना, छह महीना, बारह महीना (वर्ष) आदि समयकी मर्यादासे वह मुनि घोर तपश्चरण कर अपनी आत्मासे समस्त दोषोका निराकरण करेगा ।

अर्थः— वह मुनि तृषा परीषहको सहन करेगा । अन्य परीपहोको भी सहन करता हुआ वह मुनि आत्मबलको प्रकट करेगा । कर्मका नाश करनेवाला ऐसा ध्यान–शास्त्रोका अध्ययन मन और इद्रियोका निरोध करेगा ।

अर्थः— आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य आदि दशभेद धारक आचार्य परमेष्ठी, जिनसूत्रके उपदेशक, उपाध्याय परमेष्ठी अनेक ऋद्धियोसे विभूषित साधु परमेष्ठीको और जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको पालनेवाले अनेक प्रकारके तपसे विभूषित–भव्यजीवोको तारक ऐसे सामान्य मुनीश्वरोकी वदना करनेके लिये, एव तीर्थ यात्रा आदि करनेके लिये

करिष्यत्येव भो भूप द्वादशाभिधसत्तप । अतीचारविनिष्क्रांत कर्मदावाग्निवार्मुचम् ॥ ६९ ॥
एवं च दुर्धरं कृत्वा त्रिशुद्ध्या ह्यनघं तपः । षष्ठमं च गुणस्थानमुल्लंघ्य ध्यानयोगत ॥ ७० ॥
ह्यात्रपचाद्रिशगै प्रमितान् खलु दुर्जयान् । प्रमादान् तत्र संमुक्त्वा चारुह्य सप्तमे पुन ॥ ७१ ॥
रष्टे च दशमे पश्चात् क्षपकश्रेणिमडित । द्वादशमे गुणस्थाने हत्वावरणपञ्च वै ॥ ७२ ॥
त्रयोदशम सप्राप्य गुणस्थान च्युतोपम । कैवल्य लप्स्यति बोध पचमं मगधाधिप ॥ ७३ ॥
तत्प्रभावात्सुरा सर्वे ह्यागम्य नाथसयुता । गंधकुट्यादिसत्शोभा करिष्यति मनोहरा ॥ ७४ ॥

वह मुनीश्वर एका विहारी होकर निर्मल चारित्रको निर्भगताके साथ पालन करेगा। पर्वतोकी गुफामें रह कर ध्यान करेगा।

अर्थ—वह मुनीश्वर गिरिकदराओंमें बारह प्रकार का तप निरतीचार धारण करेगा। इस प्रकार दुर्द्धर तपका धारण कर वह मुनीश्वर उत्तम ध्यानके प्रभावसे षष्टम गुणस्थानको उल्लंघन कर सातवें गुणस्थानमें पदार्पण करेगा।

अर्थ-वे मुनिराज पंद्रह प्रकारके प्रमादोका त्यागकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें जा विराजमान होंगे।

सातवें गुणस्थानसे फिर वे क्षपक श्रेणी माडकर क्रमसे आठवें नौवें दशवें बारहवें गुणस्थानमें जा विराजमान होंगे। अतमें मोहनीय कर्मका नाश कर तथा बारहवें गुणस्थानमें ज्ञानावरण दर्शनावरण अंतराय कर्मोंका समूल नाशकर तेरहवें गुणस्थानमें जा विराजमान होंगे।

अर्थ—हे मगधेश्वर वह मुनीश्वर तेरहवा गुणस्थान को प्राप्तकर केवलज्ञान को प्राप्त करेगा।

अर्थ—केवलज्ञानके प्रभावसे समस्त देव गण अपने २ परिवार व स्वामियों के सहित वहां पर आयेंगे।

स्वर्गोद्भवै शुभैर्द्रव्यै पूजयित्वा [illegible] । नत्वा पादारविंद तत् स्थास्यति तस्य सन्निधे ॥ ७५ ॥
स्थित्वा सिंहासने सोपि धर्मामृतरसोत्करै । तर्पयति चैव भव्यौघान् मिथ्याध्वान्तं हनन् ॥ ७६ ॥
शिवदं मुनिमार्गं च गृहिणा नाकदायकं । प्रख्यापयन् जनान् सर्वान् बोधयन् बोधनोद्यतः ॥ ७७ ॥
एवं संबोध्य भव्यौघान् दिव्येन ध्वनिना स च । अन्ते योगनिरोधं च कृत्वा मोक्षाप्तये नृप ॥ ७८ ॥
हत्वा ह्यघातिकर्मारीन् गुणस्थाने क्रियोज्झिते । अन्त्ये शुक्लासिना तत्र यास्यति चाव्यये पदे ॥ ७९ ॥
अव्ययस्य पदस्यैव किं स्वरूप क्रियत्प्रमम् । इति प्रश्नस्य व्याख्यान शृणुथ भव्यसत्तमा ॥ ८० ॥

और मनोहर गधकुटीकी रचना को करेंगे ।

अर्थ–हे मगधेश्वर ! देवगण स्वर्गोंसे उत्पन्न हुई परम पवित्र दिव्य अष्टविध सामग्रीसे प्रभुकी पूजा करेंगे और प्रभुके पवित्र चरणकमलोंको नमस्कार कर प्रभुके समीप ही बैठेंगे ।

अर्थ–वे प्रभु स्वर्णके दिव्य देवोपनीत सिंहासन पर विराजमान होकर धर्मामृतसे भव्यजीवों को तृप्त करेंगे । और उनका चिरकाल सबधी मिथ्यान्धकार का नाश करेंगे ।

अर्थ– वे प्रभु मोक्षको प्रदान करनेवाले मुनिमार्ग तथा स्वर्गका प्रदान करनेवाला श्रावक धर्म का निरूपण करेंगे ।

अर्थ–इस प्रकार भव्य जीवोंको दिव्यध्वनिके द्वारा सबोधन कर वे प्रभु अतमें योगनिरोधकी क्रिया करेंगे।

अर्थ–अयोग नामक चौदहवें गुणस्थानमें अघातिया कर्मोका नाश अतिम शुक्ल ध्यानके द्वारा कर मोक्ष स्थानको प्राप्त होंगे जो शाश्वता [अव्यय] स्थान है जिसमें किसी भी कारणसे पुनः दुख उत्पन्न होनेकी संभावना नहीं होती है । अव्ययस्थान किसको कहते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर यह है सो सुनिये ।

+ नत्वा सिद्धव्रजान् महासुखप्रदान् संसारविच्छेदकान् । सम्यक्त्वादिगुणालयान् मुनिनुतान् लोकाग्रमूर्ध्नि स्थितान् ॥ ८१ ॥
कायाकर्मविवर्जितान् सुरनुतान् संसारपारगतान् । किंचित बुद्धिलवेन मन्दवचसा तेषां च कुर्वे स्तवं ॥ ८२ ॥

पृथ्व्याद्या नारकाणां च द्वितीया भवनेशिनां । मर्त्यानां तृतीया प्रोक्ता चतुर्थी ज्योतिषां च सा ॥ ८३ ॥
पंचमी नाकदेवानां ग्रैवेयकी च षष्ठमी । नाम्ना सर्वार्थसिद्धिश्च सप्तमी भूमिका वरा ॥ ८४ ॥
अस्योपरि पुनर्गत्वा योजन द्वादशप्रमं । तिष्ठते ह्यष्टमी पृथ्वी सिद्धवारविमण्डिता ॥ ८५ ॥
इमेच भो बुधा ह्यस्मिन् लोकाकाशेष्टनामत । संत्येव सुदराकारा स्थिरा नानार्थमभृता ॥ ८६ ॥
दक्षिणोत्तरदिग्भागे रज्जुसप्तप्रमा मता । पूर्वेच पश्चिमे व्यासश्चैकरज्जुप्रभो बुधैः ॥ ८७ ॥
दोर्वर्णसदृशच्छाया दिव्या मोक्षाभिधा शिला । तन्मध्ये कांतिसदीप्ता स्याद्धीनकर्मवर्जिता ॥ ८८ ॥
उत्तानगोलकार्द्धेन समाना सिद्धपूरिता । नरक्षेत्रप्रमाकारा छत्राकारा विभात्यहो ॥ ८९ ॥

अर्थ—महान सुखोंको प्रदान करनेवाले संसारका नाश करनेवाले सम्यक्त्वादि आठ गुणोंसे भूषित, मुनियोंसे पूज्य लोकके अग्रभागमें विराजमान, शरीर रहित, कर्मरहित संसारसे पारगत ऐसे सिद्ध भगवानके गुणोंका किंचित स्वरूप बतलाते हैं। पहिली पृथ्वि नरकभूमि, दूसरी भवनवासियोंकी, तीसरी मनुष्य लोककी, चौथी ज्योतिश्चक्रकी, पांचवी स्वर्गोंकी, छठी ग्रैवेयकोंकी, सातवी सर्वार्थसिद्धिवाली है और आठवीं भूमि सिद्धशिला है।

अर्थ – लोकाकाशमें आठवीं पृथ्वी में एक सिद्ध शिला नामका क्षेत्र है। वह शिलाके आकार का होने से शिला कहलाता है। यह स्थान दक्षिण और उत्तर दिशामें सात रज्जु प्रमाण विस्तार वाला है। पूर्व और पश्चिम में एक रज्जु प्रमाण है। स्वर्ण की दिव्यरूप मोक्षशिला है जो अपनी दीप्तिसे अतिशय चमत्कारिक है। मोक्षशिला

स्थूला सा जिननाथेन समोक्ता सर्ववेदिना । योजनैरष्टभि स्योता दुर्लभा चान्यलिंगिनां ॥ ९० ॥
मध्येष्टयोजनै स्थूला कृशाते क्रमहानित. । इति सिद्धशिलायाश्च वर्णना कीर्तिता जिनैः ॥ ९१ ॥
तस्या मध्येच तिष्ठति नित्याष्टगुणभूपिता । निकुरुम्बाश्च सिद्धानां तनुवाततमस्तका ॥ ९२ ॥
केचिदूर्ध्वासनाकाराः केचित् पद्मासना वरा । केचिच्च विविधाकारा ह्यमूर्ता नाशवर्जिता ॥ ९३ ॥
विभात्येव हि केषाचित् पचेपुपचवापत । शरीराणा इय संस्थ उत्कृष्टेनहि समता ॥ ९४ ॥
लघुमध्याच केषाचित् राह्नाते कथिता जिने । अन्यैर ह्रस्वतश्चैव केवलावकधारिभि ॥ ९५ ॥
वहव सति संभेदा मध्यसंख्याभिरागमे । केषाचिद्दोषनिर्मुक्ते सर्वदोषविवर्जिता ॥ ९६ ॥
किंचिदूनाश्च ते सिद्धा नाकू शरीराद्याप्यहा । अनतसुखसंलीना द्वेषरागादिवर्जिता ॥ ९७ ॥

अर्ध चद्रमा के समान है । समस्त सिद्ध उसमें एक समान निवास करते हैं । मनुष्यके क्षेत्रके समान जिसका विस्तार है । छत्राकार है । इस प्रकार महान विशाल शिला है । आठ योजनकी ऊंची है । जैन लिंगको धारण करनेवालों को ही यह प्राप्त होती है । अन्य लिंगको धारण करनेवालोको सर्वथा प्राप्त नहीं होती है । इस प्रकार यह शिला श्री जिनेंद्र देवने वतलाई है ।

अर्थ—उस सिद्धशिलापर आठ गुणोंसे विभूषित, सिद्ध गणोके समूह तनुवात वलय के अतमें विराजमान है । वहां पर कितने ही सिद्ध प्रभु ऊर्ध्वासन विराजमान है कितने पद्मासन विराजमान हैं कितने ही अन्य आसनो से भी विराजमान हैं । सिद्ध भगवान शरीर रहित अमूर्तीक हैं । द्रव्य कर्म नोकर्म भाव कर्मसे सर्वथा रहित है । इसलिये सिद्धोंका न तो कोई रूप ही है और न कोई आकार है । अतएव सिद्धोंको नित्य निरंजन निराकार कहते हैं । सिद्ध अजर हैं अमर है । सिद्धोकी उत्कृष्ट अवगाहना सवा पांच सौ धनुषकी है और जघन्य अवगाहना ३॥ हाथकी है ।

निरजना निराकारा सदाकालेपु संस्थिता । विश्वमांगल्यकर्तारः सर्वोत्कृष्टा निरालसा ॥ ९८ ॥
लोकोत्तमाः शरण्याश्च शुद्धा सिद्धा निरामया । अनंतकालमात्मासा तिष्ठंत्यगातिगा सदा ॥ ९९ ॥
निष्कलंका निराधारा धामरूपाश्च चिन्मया । निर्भया गतनिद्राश्च निराबाधाऽच्युतोपमा ॥ १०० ॥
नाथहीनाश्च निर्मांना पचवर्णविराजिताः । हावभावविनिर्मुक्ता ललनाभाववर्जिता ॥ १ ।
कामहीनाश्च निर्गंधा निर्विकल्पा निरागमा । निर्विहाराश्च निर्दंभा निष्पापा मदवर्जिताः ॥ २ ॥
वितृष्णा निर्विकाराश्च नि स्वना सकलार्थदा । निर्विचिंत्याः सदाधारा कृतार्थी कृत्यवर्जिता ॥ ३ ॥
लेश्यावेदविहीनागा शातभावेन मडिता । सर्वेषामीश्वराणाच ईश्वराः सर्वदर्शका ॥ ४ ॥

मध्यम अवगाहनाके अनेक भेद है । सिद्ध भगवान चरम शरीरसे किंचित् न्यून अनंत सुखमें निमग्न हैं ।

समस्त मगलोंका प्रदान करनेवाले, सर्वोत्कृष्ट–लोकोत्तम–शरणभूत–परमशुद्ध–तेजरूप–चिन्मय सिद्ध भगवान है।

सिद्ध भगवान–निर्भय-निष्कलंक–निराबाध–निरामय–निर्मद–निराधार–स्त्रीरहित–हावभावविलासादिरहित–कामविकार चेष्टा रहित–चितारहित-विकल्प रहित–गंध रहित-कुचेष्टा रहित–कुभाव रहित–रोग रहित–उपद्रव रहित–विहार रहित–छल कपट भाव रहित–क्रोधादि विकाररहित–मान मायादिरहित–पाप रहित–तृष्णा रहित–मोह-द्वेष–और राग रहित–परम शात विराजमान है ।

सिद्धोंके वेद नहीं है। शरीर नही है । लेश्या नही है । कर्म नही है । जन्म जरा आधि व्याधि नही है । क्षुधादि पीडा नही हैं । वे सिद्ध भगवान ईश्वरों के ईश्वर है तीन जगत के स्वामी हैं । समस्त पदार्थोंके वेत्ता हैं–समस्त जीवोंको ससार समुद्रसे पार करनेवाले हैं । समस्त पदार्थको जानने वाले अनंत सुखमें संलीन हैं।

अर्थ–उस सिद्ध शिला पर समस्त कर्म समूहको समूल नाश करनेवाले ऐसे सिद्ध परमात्मा अपनी आत्मासे

कर्मप्रकृतिसहीना तारका भवदेहिना । जन्मात्ययजरातंकवर्जिता निर्मला सदा ॥ ५ ॥

तस्मिन् शिवाया हतकर्मव्यूहा भुंजति शर्म शुभमात्मभूतं । अतातिगा स्वात्मनि संस्थितास्ते निर्बाधरूपा मनसाविचिंत्या ॥६॥

चक्रयादिराजेन्द्रखगाधिपाना । कल्पेन्द्र ऊर्ध्वेन्द्रसमुद्भवाना ॥ भोगादिभूम्यसभवार्थकाना । तथान्यलोकत्रयसभवाना ॥ ७ ॥

जगत्त्रये यत् क्रियते सुखैक । त्रिकालजं हि विषयोत्थसौख्यं ॥ तस्मात्सुखादक्षसमुद्भवाच्च । क्षणे हि एकैव विकारहीनं ॥८ ॥

भुंजंति सौख्य हतकर्मजाला । मात्मस्थमक्षमतुलविहीन (?) ॥ अन्येन द्रव्येण विवर्जितं हि । ह्रासेन वृद्ध्या तथा विमुक्तम् ॥९॥

हत्वा कर्मरिपुन् पूर्वं महाध्यानसुवह्निना । येऽनंतसुखसंयुक्त त्रैलोक्यशिखरं गता ॥ १० ॥

ते मया संस्तुता सर्वे चिन्मया कायवर्जिता । मे समाधि सुबोधि च यच्छंतु नो परा इह ॥ ११ ॥

उत्पन्न हुए सुखको भोगते हैं। वे सिद्ध परमात्मा सब प्रकारकी बाधाओंसे रहित और अंत रहित सदैव अपनी आत्मामें ही निमग्न रहते हैं। उनका मनमें चिंतवन करना चाहिये।

अर्थ—संसारमें इन्द्रिय और विषयोंके सेवन करनेसे जो सुख जीवोंको प्राप्त होता है वह तुच्छ है। विनाशीक है। चक्रवर्ती-विद्याधर देवेन्द्र अहमिन्द्र भोगभूमीके जीव तथा अन्य उत्तम जीव जो सुख तीन जगत् में भोग कर रहे हैं वह इन्द्रियोंका सुख तीनों कालोंका एकत्रित किया जाय तो भी वह सुख सिद्धो के एक क्षण मात्र सुखके समान नहीं हो सकता है। सिद्ध परमात्मा आत्मीय-अतीन्द्रिय—न्यूनाधिकरहित विकार रहित-अविनाशीक-अचिंत्य-नित्य अनंत सुखको भोगते हैं।

अर्थ—जो सिद्ध परमात्मा अपनी संसार पर्यायमें समस्त प्रकारके कर्मरूपी शत्रुओंको ध्यानरूपी अग्निसे भस्म कर अनंत सुख सहित तीन लोककी शिखरपर विराजे हैं।

अर्थ—शरीर रहित चैतन्य स्वरूप परम विशुद्ध ऐसे सिद्ध परमात्मा जिनकी मैंने संस्तुति की है, मुझे समाधि और रत्नत्रयकी प्राप्ति प्रदान करें।

सिद्धवारा इमे नित्य धीरवीरैर्मुनीश्वरै । वंद्या ममापि संभूयात् सिद्धवृंदाय वंदना ॥ १२ ॥
ईदृशे मगधाधीश मोक्षस्थाने मनोहरे । गत्वा निरामयं शर्म शाश्वत चाक्षवर्जित ॥ १३ ॥
कर्मकायविनिर्मुक्तमात्मज नाशवर्जित । निर्लेप वृद्धिहीन च सर्वेषा हि सम वरं ॥ १४ ॥
स व्रती व्रतपुण्येन भुंतातीत सदा खलु । मोक्ष्यत्येव विचारज्ञ गतागमनवर्जित ॥ १५ ॥
अनेन विधिना ये हि करिष्यन्ति कलौ नरा । यास्यति शाश्वते स्थाने विदेहात्, नात्र सशय ॥ १६ ॥
कर्मदहनसद्व्रत सोऽय कर्मविनाशक. । सार्थनामयुत सम्यक् वचो भव्योत्करै सदा ॥ १७ ॥

अर्थः— वे सिद्ध परमात्मा धीर वीर मुनीश्वरोसे सदैव पुजित है वदनीक है, उनको मै भी भाव भक्तिसे वदना करता हू ।

अर्थः— हे राजन् ! इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट महा मनोहर—मोक्षस्थानमें जाकर निरामय- साश्वत अतीन्द्रिय—कर्म और शरीरकी पराधीनतासे रहित, आत्मीय, अविनाशीक, निर्मल अनंत सुखको वे सिद्ध परमात्मा प्राप्त होते है ।

अर्थः— हे राजन् ! वह कर्मदहन व्रतको धारण करनेवाला भव्य जीव व्रतके पुण्यके प्रभावसे सासारिक समस्त सुखोंको भोगकर क्रमसे आदि, मध्य और अत रहित-जन्ममरणादि विकार रहित मोक्षके सुखको भोगता है ।

अर्थ— इस प्रकार विधिपूर्वक इस कर्म दहन व्रतको पचम काल में जो भव्य जीव पालन करेंगे वे अवश्यही अविनाशीक मोक्षसुखको प्राप्त होगे । इसमें कुछभी संदेह नही है ।

अर्थ—यह कर्मदहन व्रत सार्थक नामवाला है । जो कोई भव्यजीव इस व्रतको विधिपूर्वक धारण करता है उसके समस्त कर्मोका दहन (भस्मीभाव) हो जाता है इसी लिये यह व्रत सर्वोत्कृष्ट है । भव्यजीवोसे सदैव पूज्य है ।

सर्वोत्कृष्टविधिश्चायं कथितश्च नरेश्वर । बुद्धस्व त्व हृदि शुद्धे मया त्वत्पश्चत खलु ॥ १८ ॥
आजन्म पापमग्ना हि नरा यास्यंति निश्चयात् । अस्यैव कारणात् भूप । शिवास्पदेच शाश्वते ॥ १९ ॥
अस्य शृणु पुन त्वंच अपरमपि ये नराः । करिष्यंति विधिश्चाय तरिष्यंति भवाच्च ते ॥ २० ॥
पूजनस्य विधिः सैव भोजनस्यापि स विधि । कर्तव्यश्च व्रते चास्मिन् व्रतिभि शिवप्राप्तये । २१ ॥
शक्त्यनुसारतो मासे करणीयाः सुभावत. । प्रोषधा पच वा पंक्तिपमा एव सदैव वै ॥ २२ ॥
वा मासं प्रति चत्वार प्रोषधा शुद्धित त्रिधा । कर्तव्या कर्मनाशार्थं सजाव्या सक्रियान्विता ॥ २३ ॥

अर्थ—हे मगधाधीश कर्मदहनव्रतकी जो विधी वतलाई है वह सर्वोत्कृष्ट विधि है । जघन्य और मध्यम विधि भी इस व्रतकी है।

अर्थ—व्रतके प्रभाव से आजन्म पापी जीव भी समस्त कर्मोंका नाश कर मोक्ष सुखको प्राप्त होगे ऐसा हे राजन तू निश्चय समझ।

अर्थ—हे राजन् इस कर्मदहन व्रतकी अन्य विधि भी बहुत हैं। जिनको पालन करनेसे भव्य जीव ससार समुद्रसे अवश्य ही तिर जांयगे।

अन्य विधियोंमें भगवानके अभिषेक और पूजनकी विधि जो प्रथम बतलाई है वह वैसी ही करनी चाहिए। भोजनकी शुद्धि और प्रोषधकी विधि भी जो प्रथम वतलाई है वह भी वैसी ही करनी चाहिए। परतु प्रोषधोपवास प्रथम एकांतर रूपसे वतलाये थे वे अपनी शक्तिके अनुसार एकातर रूपसे न कर पृथक् २ रूप भी कर सक्ते हैं। परतु मन वचन कायकी शुद्धिसे करना चाहिए। एक मासमें पांच या दश प्रोषधोपवास करने चाहिए। अथवा

प्रोषधस्य प्रभावेण देहेस्मिन् कर्मसंभृते । भवंत्यघाश्च तूर्णेन शिथिली हि दुराशया ॥ २४ ॥
खगेश्वरेक्षणेनैव यथा क्रूराश्च पन्नगा । शिथिलता प्रयात्येव तथैव व्रततो ह्यघा ॥ २५ ॥
ये ये मया नराधीश आख्याताः शिवदायका । व्रताना निकराः सर्वे ते ते स्यु नात्र संशय ॥ २६ ॥
पचमाख्येशुभे काले मर्त्या या स्त्रियोपि च । मयोक्तविधिना भूप भव्यराशिसमुद्भवाः ॥ २७ ॥
करिष्यति शिवस्थाने जरात्ययविवर्जिते । ह्यनुक्रमेण यास्यति द्वापरो नात्र चाक्षये ॥ २८ ॥
श्रुत्वेत्थ मगधाधीश स ध्वनिं च प्रभोर्मुदा । तं प्रत्याह तदा स्वामिन् वीर वीरेश पावन ॥ २९ ॥

एक मासमें चार प्रोषधोपवास करना चाहिए। प्रोषधोपवासके दिवस जाप्य अवश्य देना चाहिये और पूर्वोक्त बतलाई हुई समस्त क्रियायें करना चाहिए।

इस कर्मदहन व्रतके प्रभावसे कर्मोंका चूर्ण अवश्य ही होगा।

अर्थ—जैसे गरुडके दर्शनमात्र से सर्प भाग जाते हैं वैसे व्रतके प्रभावसे समस्त पाप नष्ट होजाते हैं।

अर्थ—हे राजन् जो जो व्रत इस ग्रथमें भव्य जीवोके उपकारार्थ बतलाये हैं वे सब मोक्षके प्रदान करनेवाले हैं।

अर्थ—हे राजन् इस पंचम कालमें जो स्त्री या पुरुष भव्य जीव इस कर्म दहन व्रतको पालन करेंगे वे नियम से जरा जन्म मरण रहित मोक्ष सुखको प्राप्त होगे।

अर्थ—इस प्रकार कर्मदहन व्रतका महान माहात्म्य श्रीवीर प्रभुकी दिव्यध्वनि द्वारा श्रवण कर हर्षको प्राप्त हुआ। फिर भी राजा श्रेणिक ने वीर प्रभुसे प्रश्न किया।

भरद्वि कथिता नर्या निम्ना हि पचमोद्भवा । करिष्यति कथं व्रतं तद्दत्ते नास्ति तत्फल ॥ ३० ॥
गृहे यदि दरिद्र स्यात् पुर्वपापोदयात् नृप । कायेन द्विगुण कार्यं तत् प्रोपरमद्भुत ॥ ३१ ॥
द्रव्यहीना नरा तस्मिन् करिष्यन्ति व्रतो भगन् । द्रव्याढ्याश्च करिष्यति उद्यापना व्रतस्य वे ॥ ३२ ॥
सुतापुत्रविवाहेतु द्रव्योत्करस्य त नरा । करिष्यति व्यय भूप मृतकादिक्रियासु वै ॥ ३३ ॥
पचमाभिरकालस्य मानवा पापमण्डिता । धर्ममार्गाद्वहिर्भूता धर्मकार्यपरान्मुखा ॥ ३४ ॥

अर्थ—हे प्रभो पचम कालके मनुष्य दरिद्री होगे । और दरिद्री मनुष्य इस व्रतको किस प्रकार संपादन कर सकेगे । क्योकि धनके विना धर्म किस प्रकार हो सक्ता है ?

अर्थ—हे राजन् यदि दरिद्रता के कारण व्रतका उद्यापन करने की शक्ति न हो तो शरीरसे द्विगुणा व्रत करे तो भी वही फल प्राप्त होगा ।

अर्थ—द्रव्यहीन दरिद्री मनुष्य इस व्रतका बडे विशुद्ध भावोंसे और भक्तिसे करेगे । परंतु श्रीमत (धनिक) लोग इस व्रतकी उद्यापना करेंगे । अर्थात् धनके लोभसे वे व्रत के पालन करनेम अपनी असमर्थता प्रकट करते रहेंगे । यह उनका लोभ परिणाम धर्मभावना की कमजोरी प्रकट करेगा ।

अर्थ—वे धनिक अपनी पुत्रपुत्री आदि के विवाह में कभी २ अपनी मान बढाईके लिये शक्तिसे अधिक धनका व्यय करेंगे । या मृतकादि पुरुषोंकी क्रिया में शक्ति के उपरात धनव्यय करेंगे । परतु धर्मकार्यमे उनको रुचि नही होगी ।

अर्थ—हे राजन् पचमकालका माहात्म्य ही अद्भुत है उसमे प्रायः धर्म मार्ग से विपरीत ही कार्य होगे । क्योंकि पचमकालके मनुष्य प्रायः पापोंसे लिप्त होंगे । धर्म मार्गसे बहिर्भूत—धर्मकार्य से परामुख होगे । पचमकालके

हर्षोल्लासेन ते मूढा पापकार्येषु नित्यश । द्रव्यौघस्य व्यय भूप करिष्यति न संशय ॥ ३५ ॥
कृपणा द्रव्यभोक्तारो निकृपणाः तद्वर्जिता । कलौ एव भविष्यंति मिथ्यामार्गरता खला ॥ ३६ ॥
एकम प व्रत शुद्ध य करिष्यति स शिवे । यास्यति नात्र सदेह कायात् द्विगुणं च ना ॥ ३७ ॥
गजस्नानसमा ज्ञेया विधिहीना व्रता इमे । स्वर्गसौख्यकरा चैव (नैव) शिवशर्मकरा खलु ॥ ३८ ॥

मनुष्य हर्ष और उल्लासके साथ पापकार्य नित्य ही करेंगे । ऐसे कार्योंमें ही अपना धनका उपयोग कर अपने को कृतकृत्य मानेंगे । कृपण धनके स्वामी बनेंगे और उदार मनुष्योंके पास धनका अभाव होगा। इस प्रकार कलिकाल पचमकालमें सर्वत्र अधर्मकी प्रवृत्ति बढेगी।

अर्थ–इस पचमकालमें भावभक्ति स हर्ष और उल्लास के साथ जो मनुष्य एक भी व्रत शुद्धता पूर्वक करता है वह मोक्षके सुखको अवश्य ही प्राप्त होता है। इसमें सदेह नही है । उद्यापनशक्ति विहीन पुरुषोंको दूना व्रत कर अपने भावो की विशुद्धि करनी चाहिये।

अर्थ–जो मनुष्य व्रतोको विधि विना ही अपने मनसे करते है उनका श्रम करना हाथीके स्नान समान निष्फल है। अत एव जो कोई भी व्रत किया जाय विधिपूर्वक ही करना चाहिये । विना विधिके व्रत स्वर्ग मोक्षका साधक नही है। जिनके पास द्रव्य नहीं है उनको शरीरसे ही व्रत करनेमें श्रम अधिक करना चाहिये ।

भावार्थ—व्रतकी विधी उद्यापन आदि करनेकी परमागममे सर्वत्र बतलाई है सो धनवान और पुण्य पुरुषोंको तो व्रतकी उद्यापन आदि समस्त विधि करनीही चाहिये। यदि धनवान और पुण्यवान ही ऐसी विधि न करें तो उनने अपनी शक्तिको छपाकर भावना कम की। परिणामोंकी विशुद्धि पूर्ण रूप से नहीं की

अत: कायाच्च भो मर्त्याः कुर्वीध्व द्विगुणं व्रत । इम नैव गृहे द्रव्यो यथस्ति शिवशर्मणे ॥ ३९ ॥
भो बुधा जिनकार्येषु इज्यापात्रादिषु सदा । कृपणत्व भजध्व मा ह्यनेकदु खदायकम् ॥ ४० ॥
कुमार्गे स दा यूय कृपणत्व बुधोत्तमा । भजध्व धर्मकार्येषु मा कदापि सुखाप्तये ॥ ४१ ॥
नागराणा व्रतेदच काराषण सुशर्मद । अस्माद्धि सकला भव्या. शिवे यास्यति निश्चयात् ॥ ४२ ॥
कर्मदहनव्रतस्य विधिश्च कथितो मया । करिष्य त सुभावेन इह यास्यति सोऽव्यये ॥ ४३ ॥

इस लिये उनको धर्मका फल स्वर्ग मोक्ष किस प्रकार प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार निर्धन यदि व्रतको दूना द्विगुणित न करें तो आगमकी आज्ञानुसार सर्व क्रिया न करनेसे परिणामोंकी विशुद्धि किस प्रकार रह सकती है। इस लिये प्रत्येक प्राणीको अपनी २ शक्तिको नहीं छुपाकर व्रत विशुद्ध परिणामोंसे करना चाहिये।

अर्थ—हे विचारशील बुद्धिमान भव्यजीवो जिनधर्म संबंधी–पुण्यकार्यमें–पूजा और पात्रदानमें कभी भी कृपणता मत करो। क्योंकि पूजा और दानमें कृपणता करना महान दुखोंको प्रदान करनेवाला है। हां यदि कृपणता ही करनी है तो कुमार्गमें व्यर्थ धनको व्यय मत करो। कुमार्गमें कृपणता धारण करो। परंतु सुखकी इच्छा करनेवालोंको धर्मकार्यमें कृपणता महान हानि पहुचाने वाली है।

अर्थ – शहरके विचारशील मनुष्योंको तो यह व्रत अवश्यही करना चाहिये। इस व्रतके माहात्म्यसे भव्यजीव नियमसे मोक्षके पात्र होंगे।

अर्थ:— कर्मदहन व्रतकी विधि जो यहांपर बतलाई है तदनुसार जो कोई भव्य जीव अपने विशुद्ध भावोंसे करेंगे वे अवश्य ही मोक्ष सुखको प्राप्त होंगे।

पूर्णे याते हि व्रतस्य प्रतिष्ठा श्रीजिनेशिना । करणीया सुमोदेन व्रतस्य फलसिद्धये ॥ ४४ ॥
चतुर्विधाय सघाय यथायोग्यानि मोदत । सद्देयानि शिवाप्त्यर्थं दानानि व्रतिभि खलु ॥ ४५ ॥
पुरेषु नगरेषु वै स्थापनीया मनोहरा । छत्राश्च चामरा घटा ध्वजाद्या जिनसद्मसु ॥ ४६ ॥
उत्कृष्टोय विधिर्भूप ! शिवशर्मप्रदायक । व्रतस्योद्यापनस्यास्य स्यात्खलु आगमे मतः ॥ ४७ ॥
यथा शक्त्या करणीयो व्रतस्योद्यापनो नृप । एतादृश्यपि नास्त्येव शक्तिर्दारिद्र्ययोगत ॥ ४८ ॥
अतो हि कायतो भव्या कुरुध्व द्विगुणमिद । तत्सम हि फलाप्तिश्च भवतामपि संभवेत् ॥ ४९ ॥
अनेन केवलेनैव तरिष्यति नरोत्तमा । भजिष्यति शिवशर्म सर्वाङ्गस्येव नाशनात् ॥ ५० ॥

अर्थ—पूर्ण व्रत होने पर व्रतकी फलकी सिद्धि के लिये भव्य जीवो को व्रतका उद्यापन अवश्य ही करना चाहिये। व्रतके उद्यापन की विधि–व्रती पुरुषोको शुभ भावोमे श्रीजिनेंद्र भगवानके उत्तमोत्तम जिनबिंब निर्माण कराकर प्रतिष्ठा करानी चाहिये। चार प्रकार के संवको अपनी शक्तिके अनुसार दान भी देना चाहिये। संवको भोजन पानके द्वारा संतोषित करना चाहिये। नगरमें अथवा ग्राममें उत्तम जिनालय बनवाकर उसमें छत्र–चमर घटा आदि उपकरण अपनी शक्तिके अनुसार प्रदान करना चाहिये। यह उत्कृष्ट विधि है। मध्यम भी की जाती है। इस प्रकार विधिपूर्वक व्रत करनेसे अभ्युदयकी सिद्धि होती है।

अर्थ—हे राजन् यथाशक्ति व्रतका उद्यापन करना ही चाहिए। व्रतोकी सिद्धि उद्यापन किये विना नहीं होती है। जो इस प्रकार उद्यापन करनेकी शक्ति नही हो तो व्रतको द्विगुणित करना चाहिये। इस प्रकार द्विगुणित व्रत करनेवालोंको भी वही फल प्राप्त होता है।

हे राजन् ! एक इसी व्रतके माहात्म्यसे भव्यजीव संसारसमुद्र से तरकर मोक्षसुखको अवश्यही प्राप्त होगे।

चंद्रपक्षप्रमस्तस्य विस्तारो लघुयोजनैः । त्वया ज्ञेयो नराधीश सिद्धवारयुतस्य वै ॥ १८ ॥
ह्येकबालाग्रमात्रापि सिद्धाद्दनेस्ति न सा धरा । एवैनैव गता वानयोगीन्द्राश्च शिवास्पदं ॥ १९ ॥
अस्मिन् काले प्रयात्येव तस्मीद्धि कालदोषत । द्विदशप्रमतीर्थेशा द्विदशकूटतो नृप ॥ २० ॥
सिद्धस्थानंच भव्याना तारका निर्मलाशयाः । दिव्यदेहधरा पूज्याः सुरेन्द्रै वा मुनीश्वरैः ॥ २१ ॥

इस तीर्थराजपर से असंख्य तीर्थंकर मोक्षधामको प्राप्त होगये और होगे । अनत मुनीश्वर भी इस पवित्र तीर्थराजमे मोक्षको प्राप्त होगए और होगे ।

इस सम्मेदशिखरका १२ योजन प्रमाणका विस्तार है और इसको परमागममें सिद्ध भूमि मानी है। सिद्धाचल भी इसीको कहते है ।

हे राजन् इस पर्वतपर ऐसा कोई बाल (केश) बराबर क्षेत्र नहीं है कि जहासे कोई न कोई मुनीश्वर निर्वाणको प्राप्त न हुआ हो । बाल बालपर सिद्ध हुए है । इस पर्वत राजके कंकर कंकर परसे सिद्ध हुए है । समस्त पर्वत ही सिद्धभूमि है ।

हे राजन् इस वर्तमान युगमें कालके दोषसे तो बीस तीर्थंकर और असख्य मुनीश्वर मोक्षको गए । चौबीस नहीं ।

अर्थ—तीर्थराजसे दिव्यदेहके धारक देवोसे पूजित मुनीश्वरो से वदनीय जगतको तारन करनेवाले परम दिगंबर परम पवित्र ऐसे श्री तीर्थंकर प्रभु मोक्षधामको पधारते हैं।

नामानि किंच कूटाना अस्मिन् काले कियत्प्रमा॰ । मुक्ति गता मुनीन्द्राश्च तस्माद्वै सिद्धभूधरात् ॥ २२ ॥
एकस्यैव सुकूटस्य दर्शनात् किं फलं भवेत । कदा मुक्तिश्च तत्सर्वं कथयस्व दयापते ॥ २३ ॥
तदनुसारतो भव्या भव्याना शिवसिद्धये । व्याख्यान तस्य कुर्वेह सर्वससारतापह ॥ २४ ॥
नत्वा श्रीजिननायकान गणधरान् देवेन्द्रवृन्दार्चितान् । मौनीन्द्रान् सकलान् तथाच सुखदा जैनेन्द्रवक्त्रोद्भवाम् ।
वाणीं पापप्रणाशका मुनिनुता सद्बुद्धिदा पावनीं । सम्मेदाभिधपर्वतस्य शिवदं स्तोत्र करोमि शुभम् ॥ २५ ॥
कूटस्य सख्या सकलाहहान्यै, नामानि तेषा फलमद्भुत च । सख्या मुनीना बुधसत्तमास्ते, शृण्वतु येकाग्रहृदाच वच्मि ॥२६॥
यन्मस्तके संति सुराधिपार्च्याः पापाद्रिनाशे वरवज्रतुल्या । कूटा मनोज्ञा वरसिद्धयुक्ता शून्यद्विसंख्या कथिता जिनेन्द्रैः ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रेणिक महाराजने श्री वीर प्रभुसे तीर्थराज श्री सम्मेद शिखरजीका अद्भुत रहस्य सुनकर प्रश्न किया कि हे प्रभो! हे दयानिधे! कृपाकर यह बतलाइये कि इस वर्त्तमान युगमें उन कूटोसे कितनी सख्यामें मुनीश्वर मोक्षको प्राप्त हुए हैं? एक एक कूटके दर्शनसे क्या फल प्राप्त होता है? यह सर्व वृत्तात मैं आपके मुखकमल से श्रवण करना चाहताहू। श्रेणिक महाराजके प्रश्नोंमे श्री वीर प्रभुने जो सिद्धराज श्री समेद शिखरका स्वरूप बतलाया है तदनुसार ही भव्यजीवोके कल्याणके लिये और ससारके दुःखोको दूर करनेके लिये मैं वर्णन करता हू।

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवान अरहत परमात्मा तथा समस्त गणधर देवोंको नमस्कार कर पापको नाश करनेवाली–सुबुद्धिको प्रदान करनेवाली भगवती जिनवाणी माताको नमस्कार कर श्री सम्मेद शिखर (सिद्धाचल) का परम सुखदायी स्तोत्र कहता हू।

अर्थ—हे राजन् मगधाधीश! समस्त प्रकारके पापोका सहार करनेवाले ऐसे कूटो की सख्या उनके नाम,

अर्कप्रभा पूर्वदिशिहि कूटाः । वसुप्रमा· पश्चिमसद्दिशिच । एवं च ज्ञेयाः शिवदाः सुरार्च्याः तत्वार्थयुक्तैः बुधसत्तमैश्च ।२७।
वेदेन्द्रिलक्षाश्च ननुत्तराश्च । ह्यशीतिकोट्य· प्रमितार्वुदेकैः । मुनीश्वरा श्रीअजितस्य काले । मुक्तिगताः सिद्धवराच्च कूटात् ।२८।
कुर्याच्च यस्यैव सुभावशुद्ध्या । यो भव्यमर्त्यः शृणुथ फल तत् । सद्दर्शनं सैव लभेत्फलं च । पक्षाग्निकोटिप्रभप्रोषधानाम् ।२९॥
एतान् मुनीन्द्रान् वरभावतो वै । काले त्रिके तत्पदसिद्धयेऽहं । नमामि संसारपयोधिनस्ते । उद्धर्तुमीशा· सुरनाथवंद्याः ॥३०॥
नेत्राब्धिपचैव शतानि यस्मात् जाया सहस्राणि मुनींद्रवघा । द्विसप्ततिलक्षप्रमाश्च कोटिकोट्यो नव सर्वमुनीश्वराश्च ॥ ३१ ॥
धवलादिदत्तात् शुभनामकूटात् गताहनाशात् वरसिद्धता च । संसारदावानलमेघपुष्पा· स्वदेहभातर्जितपुष्पदंता· । ३२ ।

उनके दर्शन करनेका फल, और उन कूटो से मोक्षपद को प्राप्त हुए मुनीश्वरोकी संख्या आदि अद्भुत वृत्तांत कहता हू। सो एकाग्र मनसे सावधान होकर श्रवण कर ।

अर्थ—हे राजन् (इस वर्तमान युगमें सिद्धाचल श्रीसम्मेद शिखर पर देवोंसे पूजित पापोको नाश करने वाले अतिशय मनोज्ञ और तीर्थंकर प्रभुके निर्वाण स्थानभूत ऐसे वीस कूट श्रीजिनेंद्र देवने बतलाये हैं। जिनमें से बारह कूट तो पूर्व दिशामें विराजमान हैं और आठ कूट पश्चिम दिशामें सुशोभित हैं। इस प्रकार शुभ कूट वीस हैं ।

अर्थ—हे मगधाधिप श्रीसंमेदशिखर पर्वत पर सिद्ध वर नामक कूट से श्री अजितनाथ भगवान चौरासी अरव चौरासी करोड चौअन लाख मुनीश्वर सहित मोक्ष पदको प्राप्त हुए। जो भव्य जीव इस कूटका दर्शन मन वचन कार्य की शुद्धिसे और विशुद्ध परिणामो से करता है उसको बत्तीस कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है। जो इस कूटसे मुक्ते दिगंबर मुनीश्वर कर्मोंको नाशकर निर्वाण पदको प्राप्त हुए हैं उनको मैं भावभक्तिसे नमस्कार करता हूं। वे प्रभु मुझे ससार से पार करें ।

अर्थ—धवलदत्तकूटसे नो कोडाकोडि बहत्तर लाख दो हजार पांचसौ ब्यालीस मुनि श्रीभगवान पुष्पदंतके समयमें

यस्येक्षणाद्भव्यनृणां च प्राप्ति कराग्निलक्षप्रमप्रोषधानां । भवेच्च नो संशय चात्र भव्या ह्यनुक्रमात् मोक्षपदस्य प्राप्ति ।३३।

आनंदकूटाच्च गता मुनीन्द्रा पंचप्रमा ह्यष्टशतानि चैव ॥ मित्रेक्षमहस्त्रैवसप्ततिर्हि । लक्षास्तथा सप्ततिकोट्यो वै ॥ ३४ ॥

गुणाश्च कोट्यश्च पुनश्च कोटि । एते च यस्मात् सकलाहनाशात् ॥ यद्वंदनात् भव्यनरो लभेत् वै । द्व्यष्टप्रमलक्षसुप्रोषधं च ॥३५॥

एकाशीतिसप्तशतानि नेत्राद्रिप्रमलक्षा यस्मात् । चतुरशीतिकोटिस्ततो वै अर्बुदंको ह्यविचलकूटात् ॥ ३६ ॥

पुरेक्षये संयमपालनाद्धि मुनीश्वरा केवलज्ञानयुक्ता । गता सुरेन्द्रादिगणै प्रपूज्या कर्मादिमातंगविघातसिंहा. ॥ ३७ ॥

एकैव कोटिप्रमप्रोषधाना फलं च प्राप्नोति करोति यस्य । सद्वंदना य शुभभावशुद्ध्या स वै वाविलंबेन तथा शिवं च ॥३८॥

पापोको नाश कर मोक्षपदको प्राप्त हुए हैं। जो भव्य जीव इस कूटका दर्शन भावभक्तिसे करे वह ब्यालीस लाख उपवासका फल प्राप्त करता है। इसमें संदेह नहीं है ।

अर्थः— आनंदकूटसे अभिनंदन तीर्थंकर तथा तिहत्तर कोडाकोडि सत्तरकोडि सत्तरलाख चौपन हजार आठसौ पांच मुनि समस्त पापोंको नाश कर मोक्ष पद प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनका फल सोलह लाख उपवासका है। सनत्कुमार चक्रवर्तीने चतुर्विध संघ सहित यात्रा की । यह संघ सबसे भारी निकाला गया था । लाखोंकी संख्यामें यात्री थे। मनकी चर्या सबमें होती थी।

अर्थः— अविचल कूट से सुमतिनाथ भगवान और एक अरब चौरासी करोड बासठ लाख सातसौ इक्यासी मुनि संयमको धारण कर मोक्षपदको प्राप्त हुए है। जो भव्य इस कूटका दर्शन भावभक्तिसे त्रिशुद्धिपूर्वक करता है वह एक करोड उपवासका फल प्राप्त करता है। इस कूटकी चतुर्विध संघ सहित यात्रा श्री आनंदसेन महाराजने की थी जिसमें मुनिगण आदि सर्व ही संघ भारी संख्यामें था । सुमति भगवानके समयमें एक हजार मुनि मोक्ष गये । बाकी उनके शासन समयमें मोक्षको प्राप्त हुये ।

सप्ताधिका विंशतिवा च सप्त । शतप्रभा मोहनकूटतो वै ॥ यस्मात्तुन पद्मप्रभुयुक्ता । धीरा. सहस्रासुरनाथवंद्या ।३९॥
लक्षाण्यशीति पुनर्धर्मतीर्था । शतैकमध्ये खलु एकहीन ॥ कोट्यो गता मोक्षपुरे मनोज्ञे । अनन्तशर्मार्णवमग्नदेहा ।४०॥
यद्वंदनाद् भव्यपुमान् लभेद्वै । कोट्येकसप्रोषधज फल च ॥ अहं नमामि शिरसा त्रिशुद्धया । त तीर्थराजं शिवदायक च ॥४१॥

प्रभासकूटात् करमितसख्या सप्तशतानिच सहस्रमप्त । द्विसप्ततिलक्षप्रभा यतीन्द्रा कोट्यशीति चतुरुत्तरा च ॥
रंभैवचधुप्रमकोटिकोट्य गताश्च मोक्षे सुरराजपूज्या । यद्दर्शनात्पाप्निर्भवेच्च भव्या द्विन्येवकोटिप्रमप्रोषधाना ॥
घटाच्च अते ललितैवकूटात द्विपचपचैव शतानि यस्मात् । पुनरेव मित्राष्ट सहस्रयुक्ता अशीतिलक्षा हि यतीश्वराश्च ॥

अर्थ—मोहनकूटसे पद्मप्रभ तीर्थकर और निन्यानवे करोड चौरासी लाख व्यालीस हजार सातसो सात मुनि मोक्षको प्राप्त हुए। पद्मप्रभ भगवानके समयमें एक हजार मुनि मोक्षको गए। बाकी मुनिगण उनके शासन समय में मोक्षको गए। इस कूटके दर्शन भाव भक्तिसे त्रिशुद्धिपूर्वक करता है वह एक करोड उपवासका फल प्राप्त करता है। इसकी यात्रा चतुर्विध सघसहित सुप्रभ राजाने की।

अर्थ—प्रभासकूटसे सुपार्श्वनाथ भगवान और नवासी कोडाकोडि चौरासी करोड बहत्तर लाख सात हजार मात सौ व्यालीम मुनिगण मोक्षको पधारे। इसके दर्शनका फल बत्तीस करोड उपवास का है। इसकी यात्रा उद्योत नामके राजाने एक बडे भारी चतु सघके साथ की थी जिममें मुनिगणोकी हजारोसे भी अधिक सख्या थी। इस कूटकी रज लगानेसे कुष्ट रोग दूर होता है। विशेष एक बात यह भी है कि बीस कूटोकी यात्राके समान इसका फल है।

अर्थ—ललितघट कूटसे श्रीचन्द्रप्रभ जिनेंद्र और चौरासी कोडाकोडि बहत्तर करोड अस्सी लाख चौरासी

द्विसप्ततिकोटिसुकोटिकोट्यः वेदोत्तराशीतिगता शिवं च। यद्वंदनात् षोडशलक्षकाना सप्रोषधना च फलं लभेत् वै ॥
अशीति वा वेदशतानि यस्मात् पुन सहस्रेन्दुनगैवलक्षा । मुनीश्वरा सुप्रभनामकूटात् एकोनमध्ये शतकोटयश्च ॥
यद्वंदनात् भव्यजनः सुभक्त्या फलच कोटिप्रमप्रोषधाना । आप्नोति नो संशय भो वुधौघा मोक्षाप्तये तच सदा प्रवंदे ॥
शतैक पचैव यतीश्वराश्च यस्मात्सहस्रा करसिंधुसख्या । कराग्निलक्षा पुन पक्षवेद अष्टादशैव खलु कोटिकोट्य. ॥
विधूद्धरात्मोक्षपुरे मुनीन्द्रा गताश्च कूटात् सकलाघनाशात् । यद्वदनात् षोडशलक्षकाना चतुर्थकानाच फल भवेद्धि ॥
द्विवेदयुक्ताश्च शतानि पच द्विरभ्रलक्षाश्च सहस्रकाश्च । ऋतुनदकोटिप्रभवैर्मुनीन्द्रा । यस्माच्च कूटात् वरसंकुलाच ॥

हजार पांचसौ बावन मुनिगण मोक्ष पधारे । इस कूटके दर्शन व संघराहित यात्रा ललितदत्त राजाने की सोलह उपवासका फल इसके दर्शनसे होता है।

अर्थ—सुप्रभकूट से पुष्पदंत भगवान तथा निन्यानवे करोड निन्यानवे लाख छासट हजार चारसौ अस्सी मुनिगण मोक्षको पधारे । जिसकी भाव विशुद्धिसे वंदना करनेका फल एक करोड उपवासका होता है। इसकी वदना उस समय सोमप्रभ राजाने चतुर्विध सघ सहित की थी।

अर्थ—विधूद्धर नामक कूटसे श्री शीतलनाथ भगवान तथा अठारह कोडाकोडि व्यालीस करोड बत्तीस लाख व्यालीस हजार पांचसौ मुनिगण मोक्षको पधारे। इस कूटके दर्शन का फल सोलह लाख उपवासका है। अविचल नामके राजाने संघ सहित यात्रा की।

अर्थ—सकुलकूटसे श्री श्रेयांसनाथ भगवान तथा छानवे कोडाकोडि छानवे करोड छानवे लाख बानवे हजार पांचसौ व्यालीस मुनिगण मोक्ष पधारे।

नवादि अंते ऋतुकोटिकोट्य सद्धर्मका मोक्षपुरे गताश्च । प्राप्तिर्भवेद्यस्य सुवदनाच्च फलच कोट्येकसुप्रोषधाना ॥
द्विवेदयुक्ताश्च शतानि सप्त सहस्राणि षट्षष्टिसूक्तलक्षाः । अष्टारिकोट्योहि गताश्च यस्मात् मुनीश्वरा मोक्षपुरे सुखाके ॥५२॥
वीरादिश्रते शुभसंकुलाच्च यो भव्यजीव कुरुतेच यस्य । सद्दर्शनं सैव लभेत् फलच कोट्येकसख्यायुनप्रोषधाना ॥५३॥
स्वयभूकूटात् शिवपत्तनेच शतानि सप्तैव यतीश्वराश्च । सुरेन्द्रवद्या पुन सप्ततिर्हि लक्षा. सहस्राश्च तथैव ज्ञेया ॥ ५४ ॥
गता पुनः सप्ततिकोटयश्च यो वदयत्येव सुभावतो वै । प्राप्नोति सैव खलु प्रोषधाना कोट्येक भव्योत्तम सत्फलच ॥५५॥
पचोत्तरा रंद्रप्रमा मुनीन्द्रा शतानि पंचैव तथा नवैव । लक्षा सहस्राणि नवैव ज्ञेया एकोनविंशत्यूनकोटयश्च ॥ ५६ ॥
कोट्युक्तकोट्यश्च गताश्च यस्मात् एकोनविंशतिसख्यकाख्या । मोक्षे पुरे शर्मनिकेतने च सुदत्त आदिवर अंत कूटात् ॥५७॥
यस्यैव कूटस्य सुवंदनाच्च कोटिप्रमप्रोषधज फलं च । भव्यो लभेत् संशय नोत्र भव्या वंदे च तं शर्मप्रदं सदा हि ॥५८॥

इस कूटके दर्शनका फल एक कोटी उपवासका है। इसकी यात्रा आनदसेन राजाने चतुर्विध संघ सहित की।

अर्थ—सुवीर नामके कूट से विमलनाथ भगवान तथा सत्तर कोडि साठ लाख छह हजार सातसौ ब्यालीस मुनिगण मोक्ष पधारे। इस कूटका दर्शन करनेसे एक करोड उपवासका फल प्राप्त होता है। इसकी यात्रा चतुर्विध सघ सहित सुप्रभनामके राजाने की थी।

अर्थ—स्वयंभु नामक कूटसे अनतनाथ तीर्थंकर तथा सत्तर करोड सत्तर लाख सत्तर हजार सात सौ मुनिगण मोक्ष पधारे। इसके दर्शन का फल एक करोड उपवासका है। इस कूटका दर्शन चारुसेन राजाने किया।

अर्थः— सुदत्त नामक कूटसे श्रीधर्मनाथ भगवान तथा उनईस [उगनीस] कोडाकोडि उगनीस करोड नवलाख नवहजार पांचसौ पिचानवे मुनिगण मोक्ष पधारे। इस कूटका दर्शन करनेका फल एक करोड उपवासका

प्रभासकूटात् सुरनाथवद्या सद्ध्यानधर्मेण विधूतपापा । शतमध्य एकोन शतानि रंध्र सहस्राणि नंदैवतैवलक्षा ।५९।
नवैव कोट्युक्त पुनश्च कोटिरेते शिवे धर्मधरा गताश्च । श्रीशांतिनाथस्य सुकालमध्ये संसारसिंधोः मथका मुनीन्द्रा ६०
कुर्याच्च यस्यैव सुभावशुद्धया यो दर्शन सैव लभेत् फलं च । एकस्य कोटिप्रमप्रोषधस्य क्रमाद्धि मोक्षं सकलाहनाशनात् ॥६१॥
द्विवेदयुक्ताश्च शतानि सप्त यस्मान्मुनीन्द्रा शिवप्राप्तिरेव । सहस्रोपमा षट् पुन नंदकाश्च कराग्निलक्षा हतकर्मवृंदा ॥६२॥
ऋतुस्तथारंध्रप्रमाश्च कोट्यो रसाव्यनंदोपमकोटिकोट्य । गता मन पापविभंजकाश्च श्रीज्ञान आदिधरकूटतो वै ॥ ६३ ॥
अस्यैव कूटस्य च दर्शनाच्च कोट्योपमप्रोषधज फल च । लभेच्च भव्यो वुधसत्तमाश्च नमामि तं चैव सदा त्रिकाले ॥ ६४ ॥
नवतिनवसहस्रा वाच लक्षास्तथैव । नवतिनवसुकोट्यो नाटिकाद्यंतकूटात् ॥
सकलविधिविनाशात्सत्पुरे मोक्षसंज्ञे । अमलगुणनिधाना सगता लेखपूज्या ॥ ६५ ॥

है । इस कूटकी यात्रा विभीवसेन राजाने चतुर्विध सघ सहित की ।

अर्थः— प्रभास कूटसे श्री शांतिनाथ भगवान तथा एक कोडाकोडि नव करोड नव लाख नव हजार नौसौ निन्यानवे मुनिगण मोक्ष पधारे । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवासका है । इसकी यात्रा सुदर्शन राजाने चतुर्विध सघ सहित की थी ।

अर्थ–श्रीज्ञानधर कूटसे कुंथुनाथ भगवान तथा छ्यानवे करोड बत्तीस लाख छ्यानवे हजार सातसौ ब्यालीस मुनिगण सिद्ध पदको प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवासका फल है । इसकी चतुर्विध सघ सहित यात्रा सोमधर राजाने की थी ।

अर्थः— नाटक नाम कूटसे श्री भगवान अरहनाथ स्वामी तथा न्यानवे लाख न्यानवे हजार मुनिगण

प्राप्तिर्भवेत्तस्य चतु हि भव्या । षट् रंध्र कोटि प्रमप्रोषधाना ॥
यस्येक्षणान्मुक्तिपदस्य सिद्धि । ह्यनुक्रमात्त्रात्र हि संशयश्च ॥ ६६ ॥

षट्नवकोट्योवरसंवलाच्च कूटान्मुनीन्द्रा शिवसत्पुरे च । गताश्च स्वकर्मविघातनाच्च श्रीमल्लिनाथस्य सुकालमध्ये ॥६७ ॥
षट्रध्रकोटिप्रमप्रोषधाना फलस्य प्राप्ति खलु सभवेच्च । तद्दर्शनादनुक्रमत शिवस्य शिवासये त च सदा प्रवदे ॥ ६८ ॥
नवैवयुक्ता वरनिर्जराच्च एकोनशतयुक्तशतानि कूटात । लक्षा नवैव सुरवाग्पूज्या त्रिन्यूनशतकोटियतीश्वराश्च ॥
एकोनशतकोटि तथैव कोटि गता शिवे पापविघातनाच्च । यद्दर्शनात्कोटिसुप्रोषधाना फलं भवेत् भो बुधसत्तमस्य ॥ ७० ॥
अत्राब्धियुक्ताश्च शतानिरध्रगणमित्र आदिसुनामकूटात् । मुनीश्वरा सप्तसहस्रयुक्ता पचाब्धियुक्ता सकलर्तिदूरा ॥ ७१ ॥
एकार्बुद सयमपालनाच्च कोटयुक्तकोट्यो नवसप्तयुक्ता । गताश्च मोक्षे शुभभावशुद्धा सच्छर्मयुक्ते खलु निर्व्ययेच ॥ ७२ ॥

सिद्धपदको प्राप्त हुये । इस कूटके दर्शनका फल छ्यानवे करोड उपवासका है । इसकी चतुर्विध सघ सहित यात्रा सुप्रभ राजाने की ।

अर्थ—सवलनाम कूट से श्री मल्लिनाथ भगवान तथा छ्यानवे करोड मुनिगण सिद्ध पदको प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनसे छ्यानवे करोड उपवासका फल प्राप्त होता है । इस कूटकी वंदना–चतुर्विध सघसहित सत्यसेन राजाने की थी । इस सघमें मुनिगणोकी सख्या बहुत थी ।

अर्थ—निर्जर नामके कूटसे मुनिसुव्रत भगवान तथा निन्यानवे कोडाकोडि सत्तानवे करोड नउ लाख नो सौ निन्यानवे मुनिगण सिद्ध पदको प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवास का फल है । इस कूटकी वदना चतुर्विध सघ सहित और अतिशय विभूतिके साथ श्रीरामचद्र नामके वलभद्रने की ।

अर्थः—श्री मित्रधर नाम कूटसे श्री नमिनाथ भगवान तथा एक अरव नव करोड पैंतालीस लाख सात

शिवे यास्यति ते भूप स विधिः कथय प्रभो । येनैव विधिना वीर करोमि तस्य दर्शनम् ॥ ८८ ॥
भव्यजीवाहि तस्यैव चार्हा नान्ये कदाचन । तेषा मध्येपि भेदोस्ति तच्छृणु कथयाम्यहं ॥ ८९ ॥
नरकायुर्बधजीवाना तिर्यगायुर्युतात्मना । त्रिकाले नास्ति तेषाहि तदाप्तिर्नात्र सशयः ॥ ९० ॥
ते तस्य नैव प्राप्तिश्च मा कुरु त्व मलीमषं । शुद्धदृष्टे नराधीश भाविकाले जिनस्य ते ॥ ९१ ॥
नरकायु तव बंधोभूत मुने· मारणपापत । अतस्त्वं नास्ति योग्यो हि तस्य भो भावितीर्थराट् ॥ ९२ ॥
त्रयत्रिंशत्समुद्रायु पूर्वबधे बवधच । सप्तमस्यैव श्वभ्रस्य त्वया तत्र सुपापिना ॥ ९३ ॥
राज्ञीसंयोगतो तेहि प्रलयं स गतो नृप । वेदाष्टसहस्रमानो सोमधश्चायु तेस्ति वै ॥ ९४ ॥

किस विधिसे करना चाहिये ? आप दर्शन करनेकी जो विधी वतलायेंगे उसी विधीसे हे वीदेश मेरी भावना दर्शन करनेकी है।

अर्थ—हे श्रेणिक! श्रीतीर्थराज श्री संमेद शिखरकी यात्रा भव्यजीवोको ही होती है। अभव्योको सर्वथा नहीं होती है। भव्यजीवोमें से भी जिन जीवोके नरक तथा तिर्यंच आयुका बध नही हुआ है उनको ही यात्रा होगी। हे श्रेणिक महाराज! तुझको उस पवित्र तीर्थराजके दर्शन होने दुर्लभ हैं क्यों कि तू इसके योग्य नहीं है। तूने मुनीश्वरको मारनेके भावोसे नरककी आयुका बध किया है। यद्यपि तू भावि तीर्थेश है तो भी नरकायुका बध होनेसे तुझको दर्शन होना दुर्लभ है। इसलिये मनमें इसका खेदभाव न कर।

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज मुनिके मारणके समय तेरे ऐसे अशुभभाव उत्पन्न हुए कि जिससे तेरी नरककी गति और उसमें तेतीस सागर की आयु का बध हुआ। परतु चेलना रानीके संयोग से फिर भी मुनिके दर्शन कर पुण्य संपादन करनेके भाव तेरे हुए। और तूने जो पाप किया था उसकी निंदा गर्हा आदि होजाने से तूने अपनी

एकैवकोट्युपमप्रोषधान। फलं लभेद्यः कुरुते सुभावात । यस्येक्षण भव्यनरोत्तमो वै वंदे सदा शर्मप्रदं शिवाय ॥ ७३ ॥
सुवर्णभद्रात् वरकूटतो वै लक्षा ह्यशीति चतुरुत्तराश्च । मोक्षं गता सर्वमुनीश्वराश्च सर्वाहिनाशात्सुरनाथ ध्याः ॥७४॥
यस्यैव कूटस्य सुदर्शनेन भव्यो लभत्येव फलं वरं च । मित्राष्टलक्षप्रमप्रोषधानामीडे सदा त शिवदायक च ॥ ७५ ॥

एकस्य कूटस्य सुदर्शनेन भव्योत्करा मुक्तिपदे गताश्च । सप्राप्य शर्मं परमं ततोवै जरादिदु कर्मविवर्जिताश्च ॥ ७६ ॥
य सर्वकूटस्य सुभावशुद्धया करोति तस्यैव सुदर्शनंच । वक्तु फलं तस्य क्षमो न कोपि विना जिनेन्द्रैर्हतकर्मव्यूहै ॥७७॥
चपापुरबहिर्भागमंदराभिधभूधरात् । वासुपूज्यजिनाधीश शिवस्थाने गतो नृप ॥ ७८ ॥

हजार नव सौ चालीस मुनिगण मोक्षपदको प्राप्त हुये । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवासका है । इस कूटका दर्शन चतुर्विध सघ सहित मेघदत राजाने किया था ।

अर्थः— श्री सुवर्णभद्र कूटसे श्री पार्श्वनाथ भगवान तथा चौरासी लाख मुनिगण मोक्षपदको प्राप्त हुये । इस कूटके दर्शन करनेका फल चौरासी लाख उपवासका है । इस कूटकी चतुर्विध सघ सहित यात्रा सुप्रभावसेन राजाने की ।

अर्थ—एकही कूटके दर्शन करनेके फलसे अनेक भव्यजीव मोक्षपदको प्राप्त हो चुके है । कितनेही भव्यजीवों ने जन्म जरा आदि क्लेशोका नाशकर परमसुख प्राप्त किया है, तो जो कोई भव्य अपने भावोकी विशुद्धिसे मन वचन काय शुद्धतापूर्वक समस्त कूटोका दर्शन करें उसकी महिमाका वर्णन क्या कहा जाता है । उसकी महिमा श्री अरहत भगवान ही कहनेमें समर्थ हैं ।

हे राजन् हे श्रेणिक चंपापुर नगरके बहिर्भागमें एक मदराद्रि नामके पर्वतसे श्री वासुपूज्य भगवान मोक्ष-

स्थितिबंधस्य हानिर्हि गतिबंधस्य नो भवेत् । अतो भो मगधाधीश त्वं तद् भोक्ष्यसि तत्र हि ॥ ९५ ॥
नरकगत्यानुयुक्तानां तदाप्तिर्नास्ति निश्चयात् । मा दुःखं कुरु तस्यैव त्वं भावितीर्थनायक ॥ ९६ ॥
सर्वविद्याधिपो भूप दशाननसमाह्वय । भूचरैः खेचरैर्वंद्यः त्रिखंडावनिपालक ॥ ९७ ॥
ईदृशोपि गतो यत्र वने सिद्धाचलस्य वै । दर्शनं नोऽभजत् तूर्णमाजगाम स्वमास्पदं ॥ ९८ ॥
अनेकाश्च महीपाला नो प्रापु तस्य दर्शनं । मध्यभागात् समाजग्मु स्वालयं मगधाधिप ॥ ९९ ॥
सगरो मघवा चक्री सनत्कुमारसंज्ञक । आनंदाह्वयभूपेन्द्रो प्रभाश्रेणिकनामभाक् ॥ १०० ॥

नरककी स्थिति बंधको कम कर दिया–अर्थात् तेतीस सागरसे घटाकर ८४००० हजार की स्वल्पायु होगई । परंतु नरक आयुका बंध नही छूटा । आयुबंध नही छूटता है परन्तु स्थितिबंध कम होजाता है । इसलिए हे श्रेणिक तुझको श्री तीर्थराजका दर्शन होना दुर्लभ है । परन्तु हे भावि तीर्थराट् इसका तू अब विचार मत कर । इसका एक उदाहरण मै बतलाता हूं उसको श्रवण कर जिससे सन्तोष होगा ।

अर्थ–सर्व विद्याका स्वामी भूचर और विद्याधर राजाओसे पूजित महासत्ताधारी तीन खंडका स्वामी ऐसा रावण कार्य प्रसंग से संमेदशिखरके वन समीप जानेपर भी उसको तीर्थराजका दर्शन नहीं हुआ । क्योकि रावणने इसके प्रथम नरकायुका बंध किया था । इसलिये इस उदाहरणसे हे श्रेणिक महाराज ! नरक गतिका बंध करनेवाले जीवोको श्री तीर्थराजका दर्शन नहीं होता है । ऐसे अनेक राजगणोको इसी कारणसे इस तीर्थराजके दर्शन नहीं हुए । तीर्थराजके जानेके पहले पहले ही उनको जबरन पीछे वापिस आना पडा । इसलिये हे मगधाधीश तू भी इसका प्रयत्न मत कर ।

अर्थः–– हे श्रेणिक महाराज निम्न लिखित राजाओंने श्री समेद शिखरकी चतुर्विध संघ सहित और विधि

घोतकाभिधराजेन्द्रो ललितदत्तसंज्ञक । कुंदप्रभसमाख्यातो नाम्नाहि शुभश्रेणिक ।। १०१ ॥
वरदत्तो भूपतिश्च सोमप्रभो नृपोत्तम । पुनरविचलभूपाल आनदश्रेणिको नृप ॥ १०२ ॥
सुप्रभो नृपतिश्चैव चारुश्रेणिकसंज्ञक । भावदत्तकभूपाल सुदरो नरनायक ॥ १०३ ॥
रामचद्राभिधो भूपस्तथा अमरश्रेणिक । सुवसतो महीपाल पुण्यवान् तेजोवान् गुणी ॥ १०४ ॥
इमे विख्यातता जाता भव्या संघाधिपा नृपा । यात्राया करणात्तस्य त्वया ज्ञेया न सशय ॥ १०५ ॥
सिद्धवरादिकूटाना प्रतिष्ठाकारका इमे । अन्येषा नोहि सख्याच ज्ञेया भो चेलनापते ॥ १०६ ॥

पूर्वक यात्रा की । अर्थात्–वहांपर अपने २ तीर्थंकरके समयमें उनने सघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) सहित कूटोकी स्थापना की–कूटोकी प्रतिष्ठायें कराई–इस कूटसे अमुक तीर्थंकर मोक्षको पधारे है–और इस कूटका आजसे यह नाम है ऐसी प्रसिद्धि सर्वत्र की । उन राजाओके शुभ नामः––

सगर १ मघवा २ सनत्कुमार ३ आनदकुमार ४ प्रभासेन ५ द्योतक ६ ललितदत्त ७ कुन्दप्रभ ८ शुभसेन ९ वरदत्त १० सोमप्रभ ११ अविचल १२ आनंदसेन १३ सुप्रभ १४ चारुसेन १५ भावदत्त १६ सुंदरसेन १७ रामचद्र १८ अमरसेन १९ सुवसंत २० ।

उपरोक्त राजगण संघाधिप [सघपति] के पदसे प्रसिद्ध हुए । समस्त प्रजाने इन राजगणोंको श्री संमेद शिखरकी चतुर्विध सघ सहित और प्रतिष्ठा करनेके लिये ही सघपति पद प्रदान किया ।

हे मगधाधिप उपरोक्त सघपति राजाओने विधिपूर्वक (सघ सहित और प्रतिष्ठादि कराकर) यात्रा की इसलिये वे सब मुक्तिको प्राप्त हुए। इनके सिवाय असख्य राजा श्री संमेद शिखरकी यात्राको गये और उत्तम

इमे सर्वे नराधीशा मुक्तिमीयुः नरेश्वर। केवल दर्शनेनैव संमुक्त्वा राज्यसम्पदा ॥ १०७ ॥

सुख प्राप्त किया। इसलिये श्री संमेद शिखरकी महिमा अपरपार है। उसके दर्शन करनेसे भव्य जीवोको सब प्रकारका सुख प्राप्त होता है।

श्रीसम्मेदशिखरयात्राया विधिः।

(श्रीसम्मेद शिखरयात्राया विधिं प्रवक्ष्ये चित्तसमाधिना यूय शृणुथ।)

अथादौ चतुर्दिशासु भव्यान् प्रति यात्रासूचकानि पत्राणि प्रेषणीयानि। पश्चात् स्वनगरस्थ जिनालयमध्ये भव्यजनै सह पंचकल्याणकाभिधमंडलस्य विधि करणीय। पुन जिनाग्रे इति जाप्य कर्तव्य—ओ अनंतानन्तपरमसिद्धकरेभ्यो नमोस्तु–श्रीसम्मेद शिखरयात्रामह करिष्ये। जातोपुष्पैश्चाष्टोत्तरशतनम। पश्चात् सिद्धमत्रभि सिद्धज्या कृत्वा। पश्चात् जिनेश्वरस्य बिंब रथस्थह्र-

श्री संमेदशिखर यात्रा करनेकी विधि।

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज अब श्रीसम्मेदशिखर की यात्रा किस प्रकार करनी चाहिए उसकी विधि बतलाते हैं। भव्य जीवोको सावधान पूर्वक श्रवण करनी चाहिए।

श्रीसम्मेदशिखरकी यात्रा करनेवाले भव्यात्मको सबसे प्रथम–चतुर्विध संघसहित यात्रा करनेके अपने भावोको सूचित करनेवाली कुकुम पत्रिका प्रत्येक ग्रामोमें आदरके साथ भेजनी चाहिए। फिर अपने नगरमें समस्त भव्यजनोके साथ जिनालयमें अतिशय ठाठ वाट और भावभक्तिसे जाकर पचकल्याणक विधानका मडल बनाकर पूजा करनी चाहिये। भव्य जीवोको भोजन पान आदिके द्वारा आदरसत्कार करना चाहिए। पूजा पूर्ण

विष्टरमध्ये स्थापयित्वा तदुपरि छत्रचंद्रोपकचामरादिसच्छोभा करणीया। चतुर्विधवादित्राणा अग्रे शब्दोत्करा कर्तव्या। यदि द्रव्यशक्तिर्विशेषा स्यात्तर्हि-मुनि-आर्यिकौघैश्च श्रावकश्राविकौघै सार्कं गमनं कर्तव्यं।

" नमोस्तु सर्वसिद्धेभ्यः " इति मार्गे जाप्य जपनीयं चतु पंचक्रोशप्रमाणमेव गमन करणीय। सर्वजीवशमप्राप्त्यर्थं। स्व सघाधिपो भूत्वा-शुक्लावराणि सधार्य शुक्लामेव माला करे गृहीत्वा विना वाहनमेव मुनीशिना सार्द्ध गमनं कर्तव्यं भोजनमप्येकवारं हि करणीय। ब्रह्मचर्यं पाल्नीय। सर्वेषा चतुर्विध संघस्थ भव्यमर्त्यांना वैयावृत्यं करणीयं। केषाम्पि न्यादपानादिषु दुःख न देयं

होजानेके बाद " ओ अनतानंतप्रमसिद्धकरेभ्यो नमोस्तु श्रीसम्मेदशिखर यात्रामहं करिष्यते " इस मत्रके द्वारा एक सौ आठ-(१०८) जुई के फूलो से जाप देनी चाहिये। फिर सिद्धमंत्रोके द्वारा सिद्ध भगवानकी पूजा भावभक्ति और उनके गुणोंके चितवन द्वारा करनी चाहिये। फिर श्रीजिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमाको रथमें विराजमान करनी चाहिये। रथका शृगार करना चाहिये। रथको सुदर सिंहासन-छत्र-चमर-चदोवा-घंटा झालर-ध्वजा-क्षुद्रघटिका अष्ट मगल द्रव्य आदि मंगलद्रव्योसे सुशोभित करना चाहिये। चार प्रकार वादित्रोके साथ महान उत्सव पूर्वक भगवानके रथको आगे रखकर गमन करना चाहिये। जो द्रव्यकी शक्ति हो तो-मुनि-आर्यिका श्रावक श्राविकाके समूह कर चतुर्विध सघके साथ गमन करना चाहिये। सघके योग्य वाहन आदिकी व्यवस्था कर सुख पूर्वक गमन करना चाहिये। जिससे समस्त भव्यगणोको सतोष हो और विशुद्ध भाव रहें।

मार्ग में " नमोस्तु सर्वसिद्धेभ्यः " इस मत्रकी जाप्य देनी चाहिये। जाप्य स्फटिक मणि की सफेद हो। सघपतिको स्वयं यह कार्य करना चाहिये। सघपतिको सफेद वस्त्र ही धारण करना चाहिये। समस्त जीवोके सुखकेलिये प्रति दिवस चार पांच कोशही गमन करना चाहिये। सघपतिको वाहनके विना पैदल मुनिगणोके साथ २ गमन

मप्येकवारं सहब्रह्मचर्येण । वाहनं विना गमन कार्यं । गवाश्व वा क्रमेलकमगालितमुदकं नो पानीयं । तेषां खानपानेषु महद्यत्न रक्षणीय बालवृद्धाना दुःखं नो दातव्य निःशल्य सन् पथि सदा गमनं कर्तव्य-स्नानपूजादानकार्यादीन् कुर्वन् सन् ।

भो मगधाधिप य श्लोकमेव पुमान् एव तस्य संमेदाचलस्य यात्रा करिष्यति स पचमे वा दशमे भवे शिवाभिधे पुरे यास्यति ।

यदि एतादृश्यपि शक्तिर्नास्तिचेत् तदपि शक्त्यनुसारत तस्य पर्वतस्य यात्रा कर्तव्या । अवश्यमेव यूय मोक्षे यास्यथ ॥

भो भव्या शक्त्या लोभन मा कुरुध्व । अस्य दर्शनमात्रेण सर्वपापालय प्रलय यात्येव नात्र सदेहः ॥

पूर्व प्रकरण में जो जाप्य वतलाई है वह तो नित्य देनीही चाहिये । सिद्ध भगवानकी पूजा जो प्रथम वतलाई वह भी उसी प्रकार करनी चाहिये । भोजन भी एकवार करना चाहिये और ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये । वाहन विना ही पैदल यात्रा करना चाहिये ।

गाय वलद—या गाडी—घोडा आदि जो वाहन अपने साथ में हो तो उनको पानी छानकर पिलाना चाहिये खानपानमें किसी प्रकार का दुःख न हो ऐसी सुदर व्यवस्था रखनी चाहिये । अपने सघमें बालक स्त्री-वृद्ध पुरुष होवें उनकी सेवा सुश्रुषा उत्तम प्रकार से करनी चाहिये । किसीको किसी प्रकारका कष्ट न हो । मार्गमें दान पूजा आदि करता हुआ निःशल्य गमन करे । किसी प्रकारकी सकल्प भावना न करे । और जो भव्य अपने साथ यात्रा करनेके लिये आये हो उनकी यथेष्ट सहायता करे । इस प्रकार यात्रा करने से पांचवें या दसवे भवमें मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है ।

अर्थ—हे मगधेश्वर यदि पूर्वोक्त प्रकारकी शक्ति न हो तो शक्तिके अनुसार यात्रा करनी चाहिये । परंतु दान पूजा आदि कार्योंमें शक्तिको नहीं छिपाना चाहिये । जो भव्यजीव निःशल्य भावो से शक्तिको नही छिपाकर तीर्थराज संमेद शिखरकी यात्रा करेगा वह नियमसे मोक्ष को प्राप्त होगा ।

ये नरा मगधाशीश ह्यनेन विधिना कलौ । यात्रा सम्मेदशैलस्य करिष्यंति शिवास्पद ॥ १ ॥
यास्यंति क्रमतः कर्मसतते नाशनात खलु । प्राप्य ससारजं शर्म देवमानुष्ययोनिषु ॥ २ ॥
सवाहनेन भो भूप करिष्यति नराश्च ये । यात्रा तस्य भविष्यति कदा मोक्ष च तच्छृणु ॥ ३ ॥
रध्रवेदभवं भुक्त्वा शिवस्थान च ते ननु । तदग्रे नैव स्थास्यति ससारे दु खसंभृते ॥ ४ ॥
करिष्यति शिवं येहि वाहनेन विना नृप । यात्रा सम्मेदशैलस्य यास्यति ते कदा शृणु ॥ ५ ॥
हिमाशुनेत्रपर्यंतभवजं शर्मनारिधिम् । भुक्त्वा नरेन्द्रदेवादियोनिषु तत्प्रभावत ॥ ६ ॥
पश्चात् प्राप्स्यति वै मोक्षमनंतशर्मदायकं । सर्वपापविनिर्मुक्तमभव्यजनदुर्लभम् ॥ ७ ॥
ततो. वे यदि सामर्थ्यं नास्त्येव मार्गचालने । तदाहि वाहनेनैव कर्तव्य तस्य दर्शनम् ॥ ८ ॥

तीर्थराजके दर्शन मात्र से ही समस्त पाप नाशको प्राप्त हो जाते है। इसमें सदेह नही है।

अर्थः— हे मगधेश्वर जो कोई भव्य जीव इस विधिसे श्री सम्मेदशिखरकी यात्रा करेगा वह देव मनुष्य गतिके उत्तमोत्तम सुखोको भोग कर क्रमसे निर्वाण पदको अवश्य ही प्राप्त करेगा।

। अर्थः— हे मगधेश्वर जो भव्य जीव वाहनपर सवारी कर तीर्थकी यात्रा करे उसको मोक्ष ४९ भवमें प्राप्त होगी। इससे अधिक वह संसारमें नहीं रहेगा।

अर्थः— राजन् जो भव्य जीव सवारीके विना ही पैदल भावोसे यात्रा करें उनको बारह भवमें मोक्ष नियम से होगी। देव मनुष्य आदिके उत्तम सुखोको भोग अनत सुखोकी खानि ऐसी मोक्षमें वे भव्य जीव बारहवे भव पर्यंत जायगे—मोक्षको नियमसे प्राप्त करेंगे। अभव्य जीवोको यह यात्रा होना दुर्लभ है।

अर्थः— हे मगधेश्वर जो शरीरमें शक्ति नहीं हो तो सवारी (वाहन) से ही समेदशिखरकी यात्रा करनी

विधिना केन वीरेश चाभोगी वा सुखी दु खी । भवेदय महावीर सुबुद्धिमान् कुबुद्धिमान् ॥ ४५ ॥
विद्वत्वं चैव मूर्खत्व धैर्येतर केन कर्मणा । लभते चैव भीरुत्वमय देही जिनेश्वर ॥ ४६ ॥
देहिन सकलार्थज्ञ विद्या भवति नि फला । विधिना केन अभ्येत्र भवत्यर्थस्य हानिता ॥ ४७ ॥
कर्मणा केन प्राप्नोति द्रव्यौघ वा स्थिरत्वता । कर्मणा केन जीवति पुत्रपौत्रोत्कराश्च नो ॥ ४८ ॥
भवति बहव पुत्रा विधिना केन कर्मणा । भवत्यय दरिद्री व बहुवित्तपतिस्तथा ॥ ४९ ॥
आतकी वा निरातकी भवति केन कर्मणा । जात्यन्ध अन्धश्चैव अय जीवो दयापते ॥ ५० ॥
स्यादो नो जीर्यते वीर अन्य नु केन कर्मणा । कुष्टित्व चैव दासत्व खजत्व मानहीनता ॥ ५१ ॥
हीनागो भवति केन विधिना टुटकस्तथा । पंगुमूकः कुरूपो हि रूपसपत्तिभाक् तथा । ५२ ॥
शरीरखेदयुक्तो वा भवति केन कर्मणा । तद्धीनो भो जिनसिंह अय देही न्युतोपम ॥ ५३ ॥

हे वीर ! सर्वज्ञ ! हे दयापते यह जीव निगोद में कौन पापके करनेमे जाता है ? नरकमे कौन पापके फलसे प्राप्त होता है ? तिर्यंच कौन २ कार्य से होता है । मनुष्य गतिको कौन कौन से कारणों मे प्राप्त करता है । स्त्रीपर्याय कौन २ से कारणोसे प्राप्त होती है । नपुमक कौन २ से कारणोमे प्राप्त होता है । इस जीवकी स्वल्पायु किस कारण से होती है और दीर्घायु किस कारण से होती है । समस्त पदार्थोंका भोगनेवाला किस कारण से यह जीव होता है । और अभोगी कब होता है । सुखी और दुखी किन किन कारणो मे होता है । बुद्धिमान कुबुद्धिमान् विद्वान् मूर्ख धैर्यशाली अधैर्यवान् भीरु निर्भय आदि किन किन कारणोसे होता है ।

केन तु कर्मणा स्वामिन् ध्रुवं पंचेन्द्रिय [illegible] । [illegible] सर्वेन्द्रियप्रकाशक ॥ ५२ ॥
स्थिरो भवति [illegible] कुरूपता । [illegible] ॥ ५३ ॥
विधिना केन [illegible] कर्मणा [illegible] । [illegible] ॥ ५६ ॥
केन केन प्रयोगेण [illegible] भवति [illegible] । [illegible] ॥ ५७ ॥
विधिना केन [illegible] भवंति निरंतरा: [illegible] । [illegible] ॥ ५८ ॥
त्वं भो नाथ दयापंन जिनरिपो [illegible] सर्वदर्शी [illegible] । [illegible] जिननाथ [illegible] ॥ ५९ ॥
मे [illegible] भो नाथ [illegible] । [illegible] ॥ ६० ॥
इत्थं प्रश्नादि [illegible] श्रेणिक [illegible] । [illegible] ॥ ६१ ॥

धनी-दरिद्री-पुत्रवान्-अपुत्र-दुःखी सुखी रोगी निरोगी-अधिक तेजवान भाग्यशाली भाग्यहीन-भोजनादि सामग्री से परिपूर्ण-और अन्य गृही किन किन कारणों से होता है।

कोढी-राजा-मानहीन हीनांग-विकल-[illegible]-पंगु-[illegible] कुरूपी रूपवान आदि किन किन कारणोंसे यह जीव होता है। विधवा और शीलवान किन किन कारणोंसे जीव होता है।

संसार का नाश करनेवाला और दीर्घ संसारी किन किन कारणोंसे होता है।

इत्यादि बहुत से प्रश्नोंको श्रेणिक महाराजने वीर प्रभुसे किये और कहा कि हे सर्वज्ञ हे त्रिलोकनाथ आपके बिना मेरा संदेह दूर नहीं होगा इसलिये समस्त जीवोंके उपकारार्थ समाधान कीजिये। यह श्रवण कर वीर प्रभुने कहा कि हे श्रेणिक ! अपने प्रश्नोंका उत्तर सावधान होकर श्रवण कर।

शुभाशुभानि कर्माणि एकैव मागधाधिप । वध्यते तत्फल चैव एकैव भुज्यते खलु ॥ ६२ ॥
त्रयो वै कारणा दुष्टा मदाष्टौ इन्द्रियास्तथा । विकथा वेदसंख्याख्या सतैव व्यसनान्यहो ॥ ६३ ॥
चत्वारो हि कपायाश्च मिथ्वात्व पचधाशुभा. । पट्त्रिंशदेभि सख्याभिरय जीवो नराधिप ॥ ६४ ॥
निकोतेनंतदु खाब्धिसभूते हि कुकर्मभि । प्रजायतेऽत्र सदेहो नास्ति पापान्न किं भवेत् ॥ ६५ ॥
पशून् हतिच यो मर्त्यो मास भक्षति वाधम । अलीकच वदत्येव मधु मद्यं पिवत्यहो ॥ ६६ ॥
अवलामपरमर्त्यस्य वचत्येव सुसुदरा । दृष्ट्वा प्रयोगमत्राधैरन्योपायोःकरैस्तथा ॥ ६७ ॥
जिनधर्मच सिद्धातं सद्गुरुं गुणमंडित । सघ चतुर्विध चैव जिनधर्मोपदेशकम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर जीवोंके शुभाशुभ परिणामही वधके कारण है । जीव अपने शुभाशुभ भावोसे कर्मोका वध करता है और फिर उनका भला बुरा फल भोगता है ।

मन वचन काय आठ मद पच इद्रिय चार विकथा सात व्यसन चार कषाय पांच मिथ्यात्व इस प्रकार छत्तीस कारणोसे निगोदका वध होता है ।

मिथ्यात्व की तीव्रताके साथ यदि मन वचन कायकी प्रवृत्ति अशुभ हो और कषायोके उद्वेगमे विषयोमें प्रवृत्ति हो तो जीव निगोदका वध करता है ।

अथवा मिथ्यात्व की तीव्रता से सात व्यसनो का सेवन करना परिणामोमें तीव्र कषायका रखना सो भी निगोद के आश्रवका कारण है ।

अर्थ—हे राजन् नरक गतिके आश्रवोंको सुनो । पशुओंका वध करना मास भक्षण करना झूठ बोलना मधुका सेवन करना मदिरापान करना दूसरोंकी सुदर स्त्रियोको मंत्रादि अथवा किसी भी प्रयोगके द्वारा

हरत्येव परस्वंच कौटिल्यादिकुकर्मभिः। आशक्तोत्येव अर्थस्य वर्द्धने भवति सदा ॥ ६९ ॥
यज्ञादौ नैव पापोस्ति जीवाना मारणस्यवै। एवं ब्रुवति रात्रौच भोजनस्यैव भक्षणे ॥ ७० ॥
इत्यादीनि कुकर्माणि करोति सैव निश्चयात्। एकादिसप्तश्वभ्रेषु व्रजत्येव नरेश्वर ॥ ७१ ॥
घोर घोरं च दुःखौघ तत्र सुचेलनाप्रिय। भुक्तेन सैव एकाकी घोरपापोदयात्खलु ॥ ७२ ॥
कियत्प्रमा जिनाधीश तत्र दुःखोत्करा प्रभो। शृणु तेषाच भो सख्या सक्षेपात् वच्म्यहं नृप ॥ ७३ ॥
वेदाष्टौच शतानि पंच भवति अकसहस्राणिवै। अष्टर्तुप्रमलक्षकाश्च नृपते पचैव कोट्यस्तथा ॥ ७४ ॥
त्वं जानीहि नगप्रमेषु सकलश्वभ्रेषु दुःखोत्करा। नानाशर्मविनायका भयप्रदा एतावता निश्चयात्। ७५ ॥

ठगना जिनधर्म जिनसिद्धात जिनगुरु चतुर्विध सघ और जिनधर्मोपदेशोकी निंदा करना अवर्णवाद लगाना उनके विषयमें मलिन चितवन करना आदि सब नरकके कारण है।

दूसरोका धन हरण करना, कुटिल परिणाम रखना परिग्रहका तीव्रतर ममत्व परिणाम रखना यज्ञमें जीवोका हवन करना अथवा ऐसा मिथ्या प्रचार कर जनताको पापके मार्गमें लगाना जीवोके वधमे पाप नही वतलाना, जीवहिंसामें धर्म मानना रात्रिमें भोजन करना इत्यादिक कुकर्मोसे जीव नरक योनिओमें जाता है। जिनधर्म जिनायतन–जिनगुरु–जिनसघमें मिथ्या अवर्णवाद लगानेसे और मिथ्यात्वकी तीव्रतासे जीव नरकमें जाता है।

अर्थः— हे राजन् जीव पापके कारण नरकमें घोर घोर दुःखोको अकेलाही भोगता है।

वहां कितने प्रकारके दुःख है ? इस प्रकारका प्रश्न सुनकर वीरप्रभुने कहा कि हे श्रेणिक ! नरकमें इस जीवको पांच करोड अडसठ लाख पाचसौ चोरासी प्रकारका दुःख प्राप्त होता है। यह एक सामान्य प्रकारसे दुःखोका पारावारही नहीं है।

तस्य यात्रासमं नास्ति ह्यपर पुण्यकारण । अतो भव्या शिवाप्त्यर्थं कुर्वीध्वं ता मुदा सदा ॥ १५ ॥
एकवारमपि तच वदयिष्यति ये नरा । अनुक्रमाच्च यास्यति शिवेव्यये धराधिप ॥ १६ ॥
मा कुरुध्व तपोवृंद भो भव्या ध्यानसहति । सम प्रत्येकवारच आमृत्यु तस्य दर्शनम् ॥ १७ ॥
भजध्वं तेन पुण्येन केवलेन शिवास्पदे । यास्यथ नात्र सदेहो द्वितीयेहि भवेऽव्यये ॥ १८ ॥
तस्य विंशतितमस्यैव कूटाना दर्शनात् नृप । कोटिश प्रोषधानाच फलोत्पत्तिश्च जायते ॥ १९ ॥
तत्फलात् कर्मवृंदाश्च नाश यात्येव तत्क्षणे । अग्रे अव्ययगोत्रस्य बंधोत्पत्तिः प्रजायते ॥ २० ॥
विना वाहनतो पच तस्य दर्शनत शिवे । द्वितीयेहि भवे भूप इतरा यास्यंति क्रमात् ॥ २१ ॥

अर्थ— श्री संमेद शिखर की यात्राके समान अन्य दूसरा कोई भी पुण्यका कारण नहीं है । इसलिये मोक्षकी प्राप्ति के लिये भव्यजीवो को यात्रा करनी चाहिये । जो कोई एकवार भी उस पर्वतराजकी वदना भावभक्तिसे करता है वह अवश्य ही अनुक्रम से मोक्षसुखको प्राप्त होता है ।

अर्थ—हे भव्यजीव जो तप और ध्यान करने की तुझमें शक्ति नही तो मत कर परतु अपनी पर्याय में वार वार समेदशिखरकी यात्रा कर । जिससे अवश्य सुखको प्राप्त होगा । और जो चतुर्विध संघ सहित विधीपूर्वक यात्रा करेगा तो दूसरे ही भवमें मोक्षसुखको प्राप्त होगा ।

अर्थ—हे मगधेश्वर! जो कोई भव्यजीव वीस कूटके दर्शन करता है उसको करोडो उपवासका फल प्राप्त होता है जिससे कर्मसमूहका नाश होता है । और मोक्ष पदके योग्य उत्तम गोत्रका बंध होता है ।

हे राजन् जो भव्यजीव वाहनके विना श्रीसंमेद शिखरकी यात्रा व दर्शन करे तो वह दूसरे भवमें ही मोक्षपदको प्राप्त होता है । और वाहन सहित यात्रा करनेवालोको अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त होती है ।

अस्य दर्शनमात्रेण कुष्टाद्या नाशता गता । रोगिणा सकलातंका ऋद्धयाप्ति ऋद्धिकाक्षिणा ॥ २२ ॥
पुत्रकाक्षावता चैव जाताहि चेलनाप्रिय । पुत्रोत्पत्तिर्धनोत्पत्ति राज्योत्पत्ति शिवस्यच ॥ २३ ॥
अस्माक्किमपि नो सति दुर्लभा दुर्घटा सुखा । शिवशर्मस्य संप्राप्तिर्जायते यपरेण किम् ॥ २४ ॥
भो भव्या शिवप्राप्त्यर्थ कुरुध्व तस्य दर्शनं । चतुर्विधेन सघेन तथा शक्त्यनुसारत ॥ २५ ॥
अस्मिन् काले नगणाच मतो भो मगधाधिप । श्रीमच्छिखरसमेदान्नान्योपाय शिवस्य वै ॥ २६ ॥
पद्भ्यामेवच कर्तव्या समेदभूभृत खलु । सकलकर्मनाशार्थ तूर्णमेव शिवाप्तये ॥ २७ ॥

अर्थः—हे राजन जो भव्यजीव इसके दर्शन भाव भक्तिसे करते हैं उनके कुष्टरोग आदि भयानक रोग नाशको प्राप्त हो जाते है। समस्त व्याधि नष्ट हो जाती है। धनार्थीको धनकी प्राप्ति होती है। पुत्रार्थीको पुत्रकी प्राप्ति होती है। और राज्यकी प्राप्ति करनेवाले को राज्य मिलता है। जीवोको संमेद शिखरके दर्शन समस्त प्रकार के सुखोको प्रदान करते है।

अर्थः—इस पर्वतराजकी वदना और दर्शनके पुण्य से ससार में कोई भी वस्तु दुर्घट नहीं है। सब प्रकारके दुर्लभ सुख स्वयमेव प्राप्त हो जाते है। जब इसकी वंदनाका फल मोक्षके सुखोकी प्राप्ति है तब अन्य साधारण सुखोकी प्राप्ति में आश्चर्य ही क्या ? इसलिये हे भव्य मोक्ष सुख की प्राप्तिके लिये तीर्थराज श्री संमेदाचलके दर्शन चतुर्विध सघ निकालकर अतिशय भावभक्तिसे कर। ऐसी शक्ति न हो तो स्वशक्तिके अनुसार ही दर्शन (वदन) कर।

अर्थ—हे मगधेश्वर पचम कालमें मोक्षकी प्राप्तिका सरल उपाय है तो एक मात्र श्रीसम्मेद शिखरकी यात्रा पैदल (विना सवारी) ही करना चाहिये जिससे समस्त कर्मोका नाश होकर मोक्ष सुखकी प्राप्ति हो।

यत्रत्या सकला जीवा सिंहसर्पादिका नरा । भव्या स्यु इतरेषाच उत्पत्तिनव तत्र वै ॥ २८ ॥
केचिदासन्नभव्यास्ते केचित् दूरतरा खलु । शिवयोग्याश्च सर्वे स्यु नायोग्या मगधेश्वर ॥ २९ ॥
सदातिशयसयुक्त खगामरादिवदित । फलपुष्पोत्करै सोद्रि सदा भात्येव सुदर ॥ ३० ॥
वराहहरिसर्पादिजीवात् यत्र भयो न च । तथात्राकारिणा भूप तत्रत्या मृदुमानसा ॥ ३१ ॥
यस्माद् ध्यानादितो मोक्षे अनंतानतशो जिना । गताश्च तस्य किं भूप महिमाच करोम्यहम् ॥ ३२ ॥
कलौ तद्दर्शनेनैव तरिष्यति घना जनाः । भव्यराशिसमुद्भवा नोऽभव्या तस्य दर्शकाः ॥ ३३ ॥
देवायुर्बंधजीवाना मनुष्यायुर्युतात्मनाम् । तस्यास्ति सभवेन्नून इतरेषाच नो भवेत् ॥ ३४ ॥

अर्थ —हे राजन् जिस सम्मेदशिखर पर समस्त जीव मात्र भव्य है। सिंह–सर्प आदि क्षुद्र जीव भी भव्य ही है वहापर अभव्य उत्पन्न नही होत है। इसका यह भाव है कि वृक्षादिक एकेन्द्रिय जीव भी वहां पर भव्य ही है।

अर्थ —हे राजन् समेदाचलपर कितनेही तो आसन्न भव्यजीव है। कितने ही दूर भव्य है। परंतु वे मन मोक्ष जानेके योग्य ही है। जिनको कभी मोक्ष होनेवाली नही है ऐसे जीव वहापर उत्पन्न ही नही होते है।

अर्थ — हे राजन् वह तीर्थराज अतिशय चमत्कार सहित है। देव विद्याधरादिसे सदैव पूजित है। फल फूल आदि लताओसे रमणीय है। यहांपर सर्प सिंह सूअर आदि क्रूर प्राणी यात्रीगणोको बाधा नही देते है। यह एक विचित्र अतिशय है क्यो कि ये क्रूर प्राणी होकर भी सदैव भद्रपरिणामी ही वहांपर रहते है। —

अर्थः—जिस सिद्धाचल तीर्थरूप श्रीसमेदशिखरसे ध्यानको धारणकर अनत तीर्थकर मोक्षधामको पधारे है उसकी महिमाका क्या वर्णन किया जाय? कलिकालमें उस तीर्थराजके दर्शन मात्रसेही बहुतसे प्राणी ससारसमुद्रसे पार होगे। भव्यजीवोको ही उसका दर्शन होता है अभव्यको नहीं। भव्योमें से जिन जीवोको देवायु अथवा मनुष्या-

कुरुष्व त्वं हृदि स्वस्य स्मरण भावशुद्धित । तस्य संमेदशैलस्य तद्धि तद्दर्शनोपमम् ॥ ३५ ॥
प्रात मध्याह्नसायान्हे भो भव्या त हृदि सदा । चिंतयथाष्टकर्मारि घातार्थं घातनक्षमम् ॥ ३६ ॥
इत्यादिमहिमां स्वामी त प्रति भव्यवोधक । सम्मेदाद्रेश्च आचख्यत स सर्वेषा सुखाप्तये ॥ ३७ ॥
विभो ध्वनिमिति श्रुत्वा पुनर्द्वीपरडानये । इमा प्रश्नावलिं चक्रे स्वातःस्था भव्यवोधदाम् ॥ ३८ ॥
वीराधिप महावीर अस्य नु केन कर्मणा । निकोते बंधनप्राप्तिर्जायते परमेश्वर ॥ ३९ ॥
भो जिनेन्द्र दयाधीश कर्मणा केन गच्छति । जीवोसौ नरके घोरदुखसहतिसभृते ॥ ४० ॥
नाके व्रजति भो नाथ केन वै शुभकर्मणा । तिर्यचाख्य च दुर्योनिं लभते केन कर्मणा ॥ ४१ ॥
मर्त्ययोनिंच द्विभेदा केन प्राप्नोति कर्मणा । स्त्रिया ना भो जिनाधीश नु वामा केन कर्मणा ॥ ४२ ॥
क्लीवकाभिधदु कर्म भो स्वामिन् अस्य नुश्च वै । भवति कर्मणा केन अल्पायुर्नामभाक् च वै ॥ ४३ ॥
दीर्घायुर्भो जिनादित्य भवेऽस्यैव केन वै । कर्मणा सार्वतीर्थेश कथं भोगी ह्ययं भवेत् ॥ ४४ ॥

युक्त भव है उनको ही तीर्थराजका दर्शन होगा । अन्यको सर्वथा नही होगा ।

अर्थ—हे मगधेश्वर तू अपने हृदय में भावशुद्धि से उस तीर्थराज श्री समेद शिखर का स्मरण कर । नह स्मरण तुझको साक्षात् दर्शनके समानही फलका प्रदान करने वाला है । जो भव्यजीव प्रातःकाल-मध्यान्हकाल और सायकाल को उस तीर्थराज का स्मरण करता है वह कर्मोका नाश करता है । इस प्रकार अचित्य महिमा धारक श्रीसम्मेदशिखरका किंचित वर्णन भव्य जीवोके उपकारार्थ श्री देवाधिदेव श्री वीर प्रभुने कहा ।

अर्थ—इस प्रकार महावीर प्रभुकी दिव्य ध्वनिको श्रवण कर श्रेणिक महाराज अतिशय प्रसन्न हुआ और इस प्रकार प्रश्नावलि भगवानसे की ।

श्रीजिनाधिपबिंबाना पचामृतरसोत्करै । स्नानकर्ता तथैवेज्याकर्ताच मृदुभावयुक् ॥ ७६ ॥
दयाभावेन संयुक्तो द्वादशव्रतपालकः चतुर्धादानकर्ताच गुरुसेवापरायण ॥ ७७ ॥
मदकषायसपन्न परदोषपरान्मुख । स्ववामारक्तबुद्धिश्च परामाविरक्तधी ॥ ७८ ॥
इत्यादिशुभभावाढ्यो य पुमान् सैव निश्चयात् । नाकलोकं लभत्येव सदा शर्मविभूषित ॥ ७९ ॥
कार्यार्थं सेवते मित्र कृत्वा कार्यं पुनश्च त । त्यजत्येव नराधीश जिनधर्मपराङमुख ॥ ८० ॥
विश्रुतो दुर्जनश्चैव परनिंदनचातुर । दुर्मते पोषक क्रूर रात्रौ भक्षी च निर्दयी ॥ ८१ ॥
ईदृश पुरुषो मृत्वा जायते दुष्टभावयुक् । तिर्यंचयोनिषु नून सदाशर्माकरेषु च ॥ ८२ ॥
स्वल्पक्रोधी च निर्लोभी मार्दवार्जवभावयुक् । स्वल्पनिद्रश्च निर्दंभी स्वात्मनिंदापरायण ॥ ८३ ॥

अर्थः—हे राजन् जो भव्यजीव श्रीजिनेन्द्र भगवानके प्रतिबिंबोका पचामृतरससे भक्तिपूर्वक स्नान करता है उसी प्रकार पूजा अष्टद्रव्यसे करता है मृदुभावोको धारण करता है दयाभावका पालन, बारह प्रकारके व्रतोका परिधारण—चार प्रकारके दानोका प्रदान करना—गुरुसेवा करना—स्वदार सतोष व्रतका पालन करना परस्त्रीका त्याग करना इत्यादिक अनेक शुभ कारणोसे स्वर्गके सुखोकी प्राप्ति होती है।

अर्थः— हे राजन् तिर्यंच योनिका वध मायाचारके परिणामोंसे होता है। जो मनुष्य मतलबके लिये तो मित्रकी उपासना करे और मतलब सिद्ध हो जानेपर त्याग कर देवे। जो सदैव मायाचारके भावोंसे विश्वासघात करता हो, जिनधर्मसे पराङ्मुख हो, सब प्रकारसे दुर्जन हो, निंदाखोर हो, दुष्टबुद्धि हो, क्रूर हो, रात्रिभक्षी हो, निर्दयी हो इत्यादि दुष्ट आचरणवाला नियमसे तिर्यंच गतिमें जाता है।

अर्थः— हे राजन् स्वल्पक्रोधी, निर्लोभी, सरल परिणामी, शुभ भावोको धारण करनेवाला, स्वल्प निद्राको

मर्त्यो हि चेदृशो भूप मृत्वा मर्त्यैव शुद्धधी । भवति नात्र संदेह पज्जन्मनि निश्चयात् ॥ ८४ ॥
सदा संतोषसंयुक्ता स्वपते भक्तितत्परा । सुशीला क्रोधसहीना विमाना दंभवर्जिता ॥ ८५ ॥
साहसधारका नम्रा शुचित्वगुणसयुता । जिनभक्तिकरा नित्यं दानेज्याव्रततत्परा ॥ ८६ ॥
निःकपटा निरालस्या आर्जवामृतपानका । स्थिरचित्ता च सत्यैव भाषिणी परपोषणी ॥ ८७ ॥
स्वल्पाहारकरा स्वल्पनिद्रा संयमपालका । कामदेवस्य क्रीडासु स्वल्पचित्तस्य धारका ॥ ८८ ॥
इत्यादिगुणसंपन्ना भवेन्नार्यत्र भूपते । ईदृशाया सुवामाया पुरुषो भवति निश्चयात् ॥ ८९ ॥

लेनेवाला, निर्दंभी अपने पापकर्मोंकी निंदा करनेवाला, पापोसे डरनेवाला, जिनधर्मका सेवन करनेवाला ऐसा जीव मनुष्य वधको प्राप्त होता है।

अर्थ– हे राजन् ! स्त्री पर्यायको छोडकर पुरुष पर्याय (स्त्रीलिंगका छेदन) कौन कौन से पुण्यकर्म से प्राप्त होती है सो बतलाते हैं।

जो स्त्री संतोष से रहती है अपने ही स्वामीकी भक्ति पूजामें अपना धर्म समझती है। शीलव्रतको ही मुख्य धर्म समझकर पालन करती है। क्रोध मान माया आदि विकारो की भावना नहीं करती है। नम्र–पवित्रताको धारण करनेवाली जिनभक्ति में तत्पर–जिनधर्म परायण दान पूजादि पुण्यकार्योंमें सावधान–सरल परिणामोंको रखनेवाली–मायाचार रहित शुद्ध चित्तसे कार्य करनेवाली स्वल्प आहार करनेवाली व्रत संयम आदिको भाव भक्तिसे पालन करनेवाली–विषयोंसे विशेष गृद्धता नही रखने वाली इत्यादि सुंदर कृत्योंको करनेवाली स्त्री अपने स्त्री लिंगको छेदनकर पुरुष लिंगको प्राप्त होती है। हे राजन् पुरुष पर्यायसे निंद्य स्त्री पर्याय इस प्रकार प्राप्त होती है।

मायाकपटसंपन्न अतिचंचलभावयुक् । कामसेवासुसंरक्त अत्यंतक्रूरधी ह्यधी ॥ ९० ॥
गायने भंडरागस्य अत्यंतचचलस्तथा । नेत्रविकारसंपन्न तथैव कामभावयुक् ॥ ९१ ॥
महामानी सदालस्यो वव्हारभस्य धारक. । बहुनिद्रारतोशुद्ध निदापैशून्यतत्पर ॥ ९२ ॥
क्रियाकर्मविहीनश्च निर्दयी निस्तपी तथा । बव्हालापी तथा हीनो विनयेन नरेश्वर ॥ ९३ ॥
कस्यापि नैव विश्वासं करोति साधुनिंदक । वचक स्वजनानाच साधूना परदोषद ॥ ९४ ॥
इत्यादिगुणसपन्नो मृत्वा मर्त्योपि निश्चयात् । परजन्मनि निंद्या च स्त्र्येव भवति सद्बुधे ॥ ९५ ॥
वृषाश्च महिष छाग माहेयीं चक्रमेलक । मातंग च खरं श्वान स्त्रिय मर्त्यंच बालकम् ॥ ९६ ॥
लोहशस्त्रच संधृत्वा पावकेभ्यो नराधम । इत्यादीना च जीवाना अंकयतेच निर्दय ॥ ९७ ॥

जो पुरुप मायाचारी है, अतिशय चपल है, सदैव कामक्रीडामें मग्न रहता है, अत्यत क्रूर है, पापो का ही सदैव संचय करनेवाला है, दूसरोके शील भ्रष्ट करनेमें ही अपनेको धन्य समझता है, जो इसी लिये अभिमानी बनता है, बहुत आरभका करनेवाला निंदा और चुगली करनेवाला, भड वचनोका बोलनेवाला, कामोत्पादक गानका करनेवाला, नेत्र विकार और शरीरसे कुचेष्टा करनेवाला, दूसरोसे द्रोहको करनेवाला, श्रेष्ठ आचरणोको छोड देनेवाला, नीच आचरणोका पालन करनेवाला, निर्लज्ज, निर्दयी, निंदक, साधु पुरुपोमें दोप लगानेवाला, गुरुजनोकी भी निंदा करनेवाला, सत्यका लोप करनेवाला, किसीका भी विश्वास नही करनेवाला और पापमार्गको प्रकट करनेवाला मनुष्य मर कर पर जन्ममें स्त्री पर्याय (स्त्रीलिंग) को प्राप्त होता है ।

हे राजन् ! यह जीव नपुसक कौन कौन से कारणोसे होता है । जो मनुष्य काम की तीव्र ज्वाला से अनर्थ कारी कार्य करे । तथा बैल घोडा भैस बकरा हाथी गदहा कुत्ता स्त्री बालक वृद्ध

छेदयति तथा तेषां कर्णे वा नासिका मल । वध वा बधनं चैव अन्यान् दिशेन ॥ १०० ॥
करोति मैव प्राप्नोति नपुंसकत्व दुःखद । कर्मेय नृप मैवं निन्दनीय न कर्मनु ॥ १ ॥
अलर्कान् च कपोलोघान तित्तरान न हरीन मृगान । काकोदरान नागकौशान् नीलकंठान खगेन्द्रान् ॥ २ ॥
शुकान् हंसान् बकाश्चैव ग्रियते यो नृप कुधी । इत्यादीन् जीवमंगोदान काष्ठादिपंजरेषु न ॥ ३ ॥
आजन्माऽत्ययपर्यंत मा खलु वंदिदु गृहे । स्थिति करोति दु गोध गुनन ग्रामामोत्त ॥ ४ ॥
मनसा निर्दयेनार्च अदयापरिणामयुक । मारत्येव जीवान् वै आपापारनादिकान ॥ ५ ॥
निर्दय तच दृष्ट्वा वै कोप्येवं ब्रुवंत पुमान् । दयालकृतमज्ञान त प्रति नास्तक ॥ ६ ॥

मनुष्योंके अंगोपांगका छेदन करे लिंग आदिको बडे २ नाखून नखोंके द्वारा काटे । अथवा लिंग आदि गुह्य स्थानोंको अग्निके द्वारा दाग लगावे अथवा मर्मभेदी स्थानोंमें दुर्भावोंसे पीडा उत्पन्न करने लायक छेद करे कर्ण नासिका आदिको छेदे और भी घोर संकट देनेवाले कुत्सित काम करे वह मनुष्य मरकर परजन्ममें नपुंसक होता है । यह सबसे निंद्य कर्म है ।

हे राजन् स्वल्पायु कौन कौनसे कारणोंसे होती है सो सुन—

जो मनुष्य कबूतर तीतर हरिण मृग काकोदर कौश (पक्षी) नीलकंठ गरुड सुआ हंस बगला आदि पशु-पक्षियोंको पकडकर काठके पींजरोंमें बंद करता है आजन्म उनकी स्वतंत्रताका हरण करता उनकी इच्छाका व्याघात करता है । जो मनमें सदैव निर्दयभाव रखता है दयाभावोंको जानता ही नहीं [जो किसीभी प्राणीको सुखी नहीं देखना चाहता] है । जो सदैव बकरादि जीवोंका वध करता है । जो कबूतर आदि जीवोंको पकडनेमें मारनेमें दत्त-चित्त रहता है । जिसके परिणामोंमें निर्दयपनेकी सदैव वासना बनी रहती हो । जिसको दयाका उपदेश कडुक मालुम

नत्वेव तेच कर्तुं वै युक्त जीवस्य घातक । मा गच्छ दुर्गति मूढ श्रुत्वेत्थमाह दुष्टधी. ॥ ७ ॥
जीवाना मरणे नैव पापोत्पत्ति पुमान् खलु । न्यादार्थंच कृता सर्वे स्वयभुवा इमेस्य नु ॥ ८ ॥
परलोकश्च नास्त्येव नैव धर्म तथा ह्यघ । एवं धृत्वा हृदि स्वस्य यो मर्त्यो दुष्टभावयुक् ॥ ९ ॥
संक्लिष्टैर्निर्दयैश्चैव सार्द्धं कुपुरुषै सदा । करोति चैव व्यापारं कुकर्मणश्च दु सह ॥ १० ॥
सोल्पायुर्भवत्येव इत्थं कुकर्मणोदयात् । सदा कालेत्र सदेहो नास्त्येव चेलनाप्रिय ॥ ११ ॥
स्वय नैव कदाप्येव मारयत्येव प्राणिन । मार्यमाणं च संदृष्ट्वा केनचित् पुरुषेण वै ॥ १२ ॥
मोचापयति त नूनं दयाभावेन मंडित । संतुष्टोभयदानेपु परघातनिवारक ॥ १३ ॥

होता हो और जीवहिंसा करनेके समय धर्मात्माके रोकनेपर जिसके परिणामोमें क्रूरता प्रकट होती है। जो जीवोंके वधमें पापोत्पत्ति नही मानता हो। जो जीवं जीवस्य भक्षण कहकर जीवोके भक्षण करनेमें धर्म मानता हो। जिसे परलोकका भय नही हो और जो परलोकको मानताभी न हो। जिसके परिणाम सदैव दुष्ट रहते हो।जो सदैव संक्लेश परिणामोंसे रहता हो। और ऐसे ही दुष्ट पुरुषोंकी संगतिमें रहता हो। जो सदैव कुकर्मका व्यापार करता हो। इत्यादि कुत्सित कर्म करनेवाले जीवोकी स्वल्पायु होती है। निगोद आदि पर्यायमें स्वल्पायुकी पूर्ति वे जीव करते हैं।

अर्थ —— हे राजन् जो किसी भी जीवको स्वत नही मारता है न दूसरोसे मारनेके लिये वचनसे कहता है और न ऐसी अनुमोदना ही करता है। जो दयालु, दूसरोके द्वारा जीवोके वधको देखकर दयाभावसे उस जीवको मारनेसे बचाता है। जो सदैव दयाभावसे अपने अंतःकरणको आर्द्र रखता है, जो जीवोके अभयदानमें संतोष मानता है, जो दूसरें जीवोंके घातको रोकता है, जो दूसरोको सुखी देखकर प्रसन्न होता है, जो दूसरोको दुःखी देखकर दुःखी

परधर्मेषु संतुष्ट परदुःखेषु दुःखभाक् । जीवस्य रक्षणे नैव सदा कालेन मन्यति ॥ १४ ॥
ईदृशस्य नरस्यैव भो भव्येन निश्चयात् । दीर्घायु मरणकाले च मृदुभावोदयान्नृप ॥ १५ ॥
आप्यैव वित्तसंदोह स पुनर्न ददात्यहो । आहारमन्य च महान पात्राय योहि मानव ॥ १६ ॥
कदापि लोकलज्जाया वशादेव ददात्यहो । दान पात्राय तर्हिचेत् दत्ते हि स्वस्य मानसे ॥ १७ ॥
पश्चात्ताप करोत्येवं वृथा दत्तो हि हा मया । अस्मै दान च मे स्वस्य व्ययो जातोऽत्र किं कृतं ॥ १८ ॥
दीयमाने महादाने अन्येषां वर्जयत्यहो । किमर्थं कुरुथ लोका व्ययो द्रव्योत्करस्य च ॥ १९ ॥
एभि कुकर्मभिर्मूत्वा मैव भो भव्येश्वर । भवति वर्जितो भोगैः सदा दुःखकभाजन ॥ २० ॥

होता है, जो जीवोंकी रक्षा करनेमें सदैव प्रयत्नशील बना रहता है ऐसे दयालु भव्यात्माको दीर्घायुकी प्राप्ति होती है। जो मृदु भावोंसे दया करता है वह भी दीर्घायुको प्राप्त करता है।

अर्थ--भोगरहित कौन कौन से पापों से होता है सो बताते हैं।

हे राजन्! जो मनुष्य द्रव्यकी यथेष्ट शक्ति रखने पर भी लोभ परिणामोंसे मुनिगणादि चतुर्विध संघ को आहार दान नहीं प्रदान करता है। न पात्र में दान प्रदान करनेकी रुचि करता है। कदाचित लोक लाज वश किसी खास मोकेपर दान अनिच्छा से देना भी पडे तो पीछेसे पश्चात्तापको प्राप्त होकर विचार करता है कि हा मैंने व्यर्थ ही दान दिया। इस दानमें मेरा इतना द्रव्य व्यय हो गया। यह सर्व व्यर्थ ही गया। इस प्रकार पश्चात्ताप करता है। अरे तुम लोग व्यर्थ द्रव्य क्यों लुटाते हो जरा तो विचार करो। इस प्रकार मनकी मलिनता से अन्य जीवोंको दान करते हुए रोकता है स्वयं भी धनादिक वस्तुओंका सेवन नहीं करता है। ऐसे कुकर्मोंसे भोगरहित मनुष्य होता है।

शयनार्थं मुनीन्द्राणां फलकैतृणादिकै शुभै । शयनोपकरणैरेभि वैयावृत्यसुपालक ॥ २१ ॥
वैयावृत्य करोत्येव तथा पादस्य धोवनं । तेषा सद्गुणसंयुक्तं स्तवनं पापनाशकं ॥ २२ ॥
पिच्छिका सर्वभूताना रक्षका गुणमंडिता । यो ददात्येव कुंडींच शौचकार्याय शोभन ॥ २३ ॥
आर्यिकायै तथा वस्त्रं शुभ्रच ब्रह्मचारिणा । गृहस्थाय तथा तेषा वामायै भूषण तथा ॥ २४ ॥
आहारादिचतुर्दानं सदा शर्मप्रदायक । अतिहर्षेण सयुक्तो मृदुभावविमंडित ॥ २५ ॥

अर्थ—नाना प्रकार के सुखोंको प्रदान करने वाले भोग कौन कौन से कारणो से प्राप्त होते हैं? हे राजन् ! जो भव्य जीव लकडेका फलक तृणादिकोंके विविध आसन आदि वस्तुओंको मुनिगणोंके शयनार्थं रखता है[1] और उसके द्वारा भाव भक्तिसे मुनिगणो की वैयावृत्य करता है। इसी प्रकार उनके निवासार्थ वसतिका–गुहा-मठ आदि बनाकर वैयावृत्य का लाभ लेता है। तथा जो मुनिगणोंके पादकमलोका धोना, सेवा सुश्रुषा का करना स्तोत्रादिके द्वारा उनके गुणोंमें मुग्ध होना आदि विशुद्ध भावोंसे करता है। जीवोंकी रक्षाके लिये पीछी देता है, शौच रक्षाके लिये कमडलु देता है, आर्यिकाओंको वस्त्र देता है, ब्रह्मचारियोंके लिये वस्त्रादि देता है, गृहस्थोंके लिये भी वस्त्रादि भूषण प्रदान कर वात्सल्य अगको प्रकट करता है, इस प्रकार चारो प्रकारका दान चार

१ मुनि गण–आर्यिका आदि के लिये गृहस्थ अपने यहांपर लकडेके फलक (तख्ते) रखता है जिसपर मुनिगण शयनादि करते हैं। इसी प्रकार आर्यिका आदिके निवासके लिये वसतिका–गुहा–मठ–आदि बनवा कर प्रदान करता है जिससे उनके शीलकी रक्षा और संयमकी सिद्धि बराबर बनी रहे। इसके बिना शीलादिककी रक्षा होना कठिन है।

[illegible] ॥ २६ ॥

[illegible] ॥ २७ ॥

शांतचित्तेन संयुक्तः [illegible] ॥ २८ ॥

ईदृशो मानवो भूत्वा [illegible] ॥ २९ ॥

तपस्विनां मुनीन्द्राणां धर्मस्थानां [illegible] ॥ ३० ॥

[illegible] संघको अत्यंत हर्षभावसे देता है और अपने परिणामोंको सदैव कोमल रखता है [illegible] होता है।

इस प्रकार चार संघको चार पकारका दान प्रदान करनेवाले भव्य जीवोंके [illegible] और वह पुण्यके प्रभावसे अनुपम सुखोको प्राप्त होता है।

अर्थः— यह जीव सुखसपन्न कौन कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे राजन् जो भव्य जीव देव, शास्त्र, गुरुओंकी [illegible] हित प्रदाता मानता अतएव उनके प्रति एक भी कटुक अक्षर नहीं बोलता, [illegible] और [illegible] सदैव शांतचित्त रहता और वृद्ध बालक मुनिगणोंकी भी विनय [illegible] सर्व प्रकारके सुखोंसे संपन्न होता है।

अर्थ—अतिशय दुःख किन किन कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। [illegible] होते हैं।

हे राजन् तपस्वी-मुनि आदि धर्मस्थापकोंकी निंदा करना [illegible]

निर्गुणी चैव गर्विष्टो मायावी अतिक्रूरधीः । जिनसिद्धांतवाक्यानामुत्थापकश्च पापधी ॥ ३१ ॥
महद्दभी च भो भूप इत्यादिगुणसंभृत । य पुमान् सैव मृत्वाच महादु खी भवत्यहो ॥ ३२ ॥
परमदु खसंयोगात् कृत्वा पापस्य सचयं । पुनर्यात्येव दु खाब्धौ अंहस्य चेदृश फलम् ॥ ३३ ॥
प्रात काले समुत्थाय तल्पात् यो हि नरेश्वर । कृत्वा सामायिक चैव जाप्यं वा परमेष्ठिन ॥ ३४ ॥
पश्चादादाय स्वर्णादिभाजने बहुमोदत. । वसुद्रव्योत्कर शुद्धमभिषेकविधिं तथा ॥ ३५ ॥
जिनवेश्मनि संगत्य तत्र श्रीमज्जिनेश्वरान् । सपूज्य परया भक्त्या सदसि आगमस्य च ॥ ३६ ॥

महत्वको गिरानेका प्रयत्न करना–उनके विषयमें झूठी झूठी विशुनता कर बडे २ श्रीमानोंको धर्म भावनासे गिरा देना। प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे अवहेलना करना, स्वयं निर्गुण होकर भी अपना मिथ्या गर्वका साहस प्रकट करना, मायाचार प्रकटकर अपना मतलव बनाना–अत्यंत क्रूर और कुटिल परिणाम रखना। जैन सिद्धांतके वाक्योंका उत्थापन करना—जैन सिद्धांतके श्लोकोंका विपरीत अर्थ कर धर्मकी पवित्रताका नाश करना। सदैव पापबुद्धि का रखना और महान दंभी बनकर ढोंग फैलाकर अपना सांसारिक स्वार्थ सिद्ध करना—इत्यादि कारणोंसे जीव अत्यत दुःखी होता है।

अर्थ—इस प्रकार देव शास्त्र गुरुके निंदको को अपरंपार भयानक दु ख प्राप्त होते हैं। और वे उन दुःखोसे पीडित होकर अन्य ऐसेही पापोका सचय करते रहते है। इसी लिये वे चिरकाल पर्यंत ससारमें दुखोंको भोगते रहते हैं। पापका फलही यह है।

अर्थ —ज्ञानवान् कौनसे कारणोंसे होते हैं? हे राजन् जो मनुष्य प्रात काल उठकर सामायिक करता है। पंच परमेष्ठीकी जाप्य देता है। फिर सौने चांदी आदिके पात्रमें अभिषेक और पूजन की सामग्रीसे श्रीजिनेन्द्रदेवकी

कथयत्येव धर्मंच अधर्मस्य नराधिप । सोधर्मोहि भवत्येव चाडाल परजन्मनि ॥ ५० ॥
तित्तरं कुर्कुट श्वान शूकरं च मृगाधिपम् । व्याघ्र वा मर्कट नागं मृग कोकं परिसृतम् ॥ ५१ ॥
शुकादिजीवजातीना दृढपासेन योऽधमः । गृहीत्वा च गृहे स्वस्य आदाय तान् पुनः नृप ॥ ५२ ॥
दृढैव रज्जुना तत्र बंधयित्वा च दुष्टधी खलु । रक्षति सैव मृत्वा च भीरुको भवति सदा ॥ ५३ ॥
मनसा वचसा चैव कायेन प्राणिना नृप । न करोत्येव त्रास हि सर्वेषा मृदुभावयुक् ॥ ५४ ॥
कारापयति नो नून नानुमोदयति कदा । अन्यायवित्तश्चैव मुक्तधीः परपोषकः ॥ ५५ ॥
ईदृशोसौ नृप मृत्वा सदैव निर्भय खलु । भवति नात्र सदेह परदुःखस्य मोचनात् ॥ ५६ ॥

मनुष्य मद्यपान सेवन करे मांस भक्षण करे–विधवा विवाह जैसे व्यभिचार को धर्म बतलावे–असदाचार को धर्म बतलाकर उसका प्रचार करे वह मरकर चांडाल होता है।

अर्थः— भीरु–भयवान् कौनसे कारणोसे होता है ?

हे राजन् तीतर, कुत्ता, मुर्गा, शूकर, सिंह व्याघ्र, बंदर, सर्प, मृग, कबूतर, सूआ (तोता) आदि जीवोको पकडकर जो दृढ बंधनोमें रखता है वह मर कर भीरु होता है।

भावार्थः— ऐसे पशु जो मनुष्योके उपयोगी नही हैं जैसे व्याघ्र, सिंह, सर्प आदि और पक्षिगणोको जाल द्वारा पकडकर मौज शौकके लिये दृढ बांधकर रखनेमें बडा भारी पाप है।

अर्थः— निर्भय मनुष्य कौनसे कारणोसे होता है ?

हे राजन् मन वचन कायसे जो कभी भी किसी जीवको कष्ट नहीं देता है, न दूसरोसे दिलवाता है और न ऐसी अनुमोदना करता है, जिससे दूसरोको कष्ट हो, जो अन्यायके कार्योंका परित्याग करता है, जो दूसरोका परि-

विद्यालोभेन पूर्वं च कृत्वा यो विनय गुरोः । विद्या गृह्णाति वा मत्र विवेकादिकसत्फलाम् ॥५७
पश्चात् पूर्णे च याते हि मन्यते नैव स्वगुरोः । मया भाग्यात्समापन्ना सर्वा विद्यादिसत्फला ॥५८
तस्य मर्त्यस्य भो भूप परजन्मनि वात्र च । कलाच सकला विद्या निष्फला भवति खलु ॥५९
श्रत्येव विनयेनैव चित्तशुद्धेन स्वगुरो । करोति विनय भूप वैयावृत्यं च सर्वदा ॥६०
तद्गुणान् मन्यते चित्ते करोति तस्य कीर्तनम् । आगते सन्मुखे शीघ्रमभ्युत्थानादिसत्क्रियाम् ॥६१
एव गृह्णाति यो विद्या सैव भोक्ता भवत्यहो । विद्याफलस्य अत्रैव परत्रापि पुनर्भवेत् ॥६२

पालन करता है वह निर्भय होता है ।

अर्थ—किसकी विद्याएं निष्फल होती हैं ।

हे राजन जो विद्या लाभकी प्राप्तिके लोभसे विद्या ग्रहण करते समय प्रथम तो गुरुका विनय सेवा सुश्रुषा करता हो उपकारी मानता हो परन्तु विद्या सपादन हो जानेके बाद कहे कि यह विद्या तो मेरे भाग्यसे मिली है इसमें गुरुने क्या कर दिया । इत्यादिक कार्योंसे जो गुरुके उपकारको भूलकर कृतघ्नी हो उस मनुष्यकी विद्या निष्फल होती है ।

अर्थ – विद्या सफल किसकी होती है?

हे राजन् जो चित्तकी शुद्धिसे गुरुका विनय करता है वैयावृत्य सेवा सुश्रुषा आदि करनेमें निष्कपट भावो से तत्पर रहता है जो परोक्ष या प्रत्यक्ष गुरुको वडा मानता है उपकारी समझता है उनके आनेपर उठकर सन्मान आदि प्रकट करता उसकी विद्या सफल होती है ।

परेषा यो हरत्येव कौटिल्यादि कुकर्मभिः । द्रव्यं तस्यैव वित्तश्च ह्रियतेऽन्यैश्च मानुजैः ॥६३
नो हरति कदाप्येव परकीय च यः पुमान् । गृहे तस्यैव द्रव्यस्य सचयो भवति सदा ॥६४
नाश कदापि नो स्याद्धि वित्तस्य परजन्मनि । मगधेश भवत्येव एवं शुभोदयात् खलु ॥६५
कथयत्येव यो मर्त्यं पूर्वमेव नरेश्वर । वस्त्र वस्तु तथा द्रव्यं त्वा दास्यामि मनोहरं ॥६६
धृत्वा लोभ हृदि पश्चात नो ददात्येव तंच ताम् । आशाभगं करोत्येव सर्वपापस्य दायकम् ॥६७
तद्धि पापेन तस्यैव नाशो यात्येव निश्चयात् । द्रव्याशायाश्च भो भूप परजन्मनि जन्मनि ॥६८

अर्थ—किसका धन अपहरण होता है ?

हे राजन् ! जो मनुष्य कुटिल परिणामोंसे और विश्वासघातसे दूसरोके धनका अपहरण करता है उसके धनका अपहरण होता है ।

अर्थः—किसके धनका नाश नहीं होता है ?

हे राजन जो मनुष्य अन्याय पूर्वक दूसरोका धन हरण नहीं करता है न कुटिल भावोसे मायाचारी पूर्वक दूसरोकी वस्तुका अपहरण करता है और न विश्वासघातसे दूसरोके धनको लेता है उसके धनका लोप इस जन्म और परजन्ममें नहीं होता है ।

अर्थः—द्रव्यप्राप्तिकी आशा किसकी नाश होती है ?

हे राजन् ! जो कोई मनुष्य विश्वास दिखलाकर प्रथम तो बतलावे कि मैं तुमको काम पडनेपर वस्त्र दूगा धन दूंगा या अमुक चीज मुझसे माग लेजाना. परंतु उसके काम पडनेपर विश्वास घात कर नहीं देवे और सब प्रकारसे उसकी आशाभग करदेवे, तो ऐसे दगाबाज मनुष्यकी आशाभग होती है । जो दूसरोंकी आशाका भंग करता हो

यद्यद्धि शोभनं वस्तु मुनीना ब्रह्मचारिणाम् । दत्वा पश्चाद्धि स्वचित्ते मन्यते यो नरो नृप ॥६९
धर्मस्य कारणं नास्ति लोकलज्जावशान्मया । वस्तवश्च इमे दत्ता एव हि मूढबुद्धित ॥७०
सुकृतस्यैव सर्वस्य तस्यैव परजन्मनि । विनाशो हि भवत्येव नात्रैव संशय खलु । ७१
मृगस्य तस्य वामाया स्त्रिया· मर्त्यस्य भो नृप । सिंहिन्याश्चैव सिंहस्य तथा पारावतस्य च ॥७२
नागिन्याश्चैव नागस्य हसिन्या हसकस्य वै । शुकस्य चैव शुक्याश्च जायायाः वर्हिणस्तथा ॥७३
इत्यादीना च जीवाना परस्परं करोत्यहो । वियोग यो हि मर्त्यश्च स्थिताना च वनावनौ ॥७४
पुत्रपौत्रादिहीनाढ्यो भवत्येव परत्र वै । स पुमान् मगधाधीश परवियोगपापत ॥७५

उसकी भी परजन्ममें आशाभंग होती है ।

अर्थः— किसका पुण्य नष्ट हो जाता है ?

हे मगधेश्वर जो उत्तमसे उत्तम और उत्कृष्टसे उत्कृष्ट वस्तुको मुनिगण या ब्रह्मचारी आदि धर्मायतनोंमें प्रदान कर फिर पीछेसे मनमें विचार करे (या पश्चात्ताप करे) कि मैंने लोक लाज वश यह वस्तु मुनिगण आदिको दी । नही तो वे देने लायक नहीं हैं । इस प्रकार धर्मगुरु आदिके विपयमें अपनी दुर्बुद्धिके कारण विपरीत श्रद्धान कर धर्मगुरुओकी महिमाकी न्हासता प्रकट करे उसके पुण्यकर्मका नाश हो जाता है ।

अर्थः— पुत्रहीन, स्त्रीविहीन कौन होता है ?

हे राजन् जो मनुष्य मृग, सिंह, कबूतर, सर्प, हंस, तोता, मयूर आदि जीवोकी स्त्रियो (मादाओं) का वियोग करता है या उनके बच्चोंका अपहरण करता है या पापबुद्धिसे दूसरोकी स्त्रियोंका हरण कर वियोग करता है अथवा दूसरोंसे बालक बालिकाओको उनके भूल वा उनके लोभसे एकांतमें मारकर वियोग करता है उसके इस प्रकार

जायतेपि कचिद्दैवात् संताना तस्य वा तदा । म्रियंते नैव जीवति तुर्ये वा पंचमे समे ॥७६
पूर्वोक्तान् नैव यो मर्त्ये कार्यान करोति निश्चयात् । सर्वजीवेषु भो भूर दयापरो भवत्यहो ॥७७
बहुपुत्रै तथा पौत्रै बांधवैश्च वेष्टित । स भवत्येव जीवानामवियोगस्य कारणात् ॥७८
जिनाननात्समुत्पन्नमागमं ह्यघनाशकं । वाच्यमानं सभामध्ये गुरूणा शास्त्रवेदिना ॥७९
तन्मध्ये कुरुते वार्तालापादिक च यो नर । वा कथा विकथोत्सन्ना निद्रा हास्यंच श्रेणिक ॥८०
बधिरो हि भवत्येव स पुमान् परजन्मनि । अश्रुतं कथयत्येव द्वापरो नात्र निश्चयात् ॥८१

के पापकारणोसे पर जन्ममें संतान नहीं होती, स्त्रीका वियोग होता है, संतान होवे तो भी वह जीवित रहती नहीं है; मर जायगी ।

अर्थ—किसके पुत्र पौत्र कुटुंब परिवार का वियोग नहीं होता है ?

हे राजन् जो सदैव दूसरे जीवोको दया भावो (परिणाम) की निर्मलता से पालन करता है । अन्य किसी भी जीव का वियोग नही करता है । जो सदैव दयाभावोंसे जीवोंको अभयदान देता है वह पुत्र पौत्र आदिका वियोगी नहीं होता है ।

अर्थ—बहिरा-(बधिर) कौनसे पापोंसे होता है ? हे श्रेणिक् ! जो मनुष्य सभामें समस्त तत्त्वोको जानने वाले गुरुके परमागम के उपदेशके समय वार्तालाप और विकथादिक कर शास्त्र श्रवण करने वाले साधर्मी भाइयोको क्षोभ उत्पन्न करता हो । जो शास्त्र स्वयं श्रवण नहीं करता हो । शास्त्र बांचनेके समय हास्य आदि कुचेष्टा करता हो या नींद लेता हो वह बधिर होता है ।

हीनश्च विनयेनैव तथा वचनवर्जित. । चारित्रगुणहीनांगो मनोवाकायवर्जितः ॥ ८२ ॥
जिनाभिषेकपूजादिवर्जितो दानतोपिच । स दरिद्री भवत्येव परजन्मनि जन्मनि ॥ ८३ ॥
महाचातुर्यसंपन्नो महाविनयमंडित । चारित्रगुणसंयुक्तो जिनवाक्येपु निश्चल ॥ ८४ ॥
चित्तवाक्यतनूना च दडको भयवर्जित । इज्यास्नानविधानस्य कर्ता च पात्रदानदः ॥ ८५ ॥
इत्यादिपुण्यकार्याणा कारक पापवर्जित । स भवत्यत्र भो भूप पुण्यतो धनवान् खलु ॥ ८६ ॥
धनवारधैर्मर्त्यो वेष्टितो भवति सदा । सैव पश्चाद्भवत्येव नाके हि निर्जराधिप ॥ ८७ ॥

अर्थ— दरिद्री कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् जो शास्त्रविरुद्ध बातको कहता हो जो सदैव जिनाज्ञामें संदेहास्पद रहता हो । देव शास्त्र गुरुकी विनय करनेमें मलिन परिणाम रखता हो। चारित्रसे रहित हो मन वचन काय से श्री जिनेन्द्र देवकी पूजा और अभिषेक आदि करने में असावधान हो । शक्ति होनेपर दान देनेमें अतिशय कृपण हो । वह दरिद्री होता है ।

अर्थ— धनवान् कौन होता है ?

हे राजन् ! जो धर्मके कार्योंमें सदैव चतुर रहता है, देव शास्त्र गुरुओंकी विनय वैयावृत्य करनेमें जो सदैव तत्पर रहता, जो चारित्र पालन करनेमें सदैव उत्सुक रहता है, जो जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा मानने में भावोंकी विशुद्धतासे दृढ रहता है, मन वचन काय से संयमका आराधन करता है, भगवानकी पूजा-अभिषेक आदि धर्मकार्योंको जो प्रेमभाव से करता है और पात्र तथा चतुर्विध सघको दान देता है वह धनवान् होता है । पुण्यकार्योंसे धनवान् होता है ।

अर्थ— जो मनुष्य सदैव दान पूजा अभिषेक आदि पुण्यकार्योंको करता है और अपने परिणामोको सदैव

निजात्मघातकारीच विषशस्त्राग्निना नृप । अतकालेच संयुक्त शल्येन क्रियते तप ॥ ८८ ॥
निजोज्वलकुलस्यैव क्षयकारीच यो नर । मृत्वा भवति स रोगी पुनः गच्छति दुर्गतौ ॥ ८९ ॥
प्राणिना रक्षको मर्त्य अंत्यशल्येन वर्जित । निजापरकुलस्यैव वर्द्धकारीच यो नर ॥ ९० ॥
निरोगी स भवत्येव परप्राणस्य रक्षणात् । सदाकाले महाशर्मभोक्ता नास्त्यत्र संशय ॥ ९१ ॥
किंचिद्वस्तुमदृष्टच मानवो योहि भूपत । दृष्टं हि कथयत्येव परदोषवदस्तथा ॥ ९२ ॥
समये जिनपूजाया पश्यति लीस्तन तनुम् । आभरण चानन सुरूपलावण्यादिकम् ॥ ९३ ॥

हर्षके साथ दान पूजामें लगाता है वह धनवान् होता है और फिर निर्जराधिप होता है।

अर्थ—रोगी कौनसे पापसे होता है ॥

हे राजन् अपनी आत्महत्या करना, विष शस्त्र अग्नि आदिसे अपघात करना—धर्म समझकर आत्म घातसे मरना—शल्यसे तप करना, अपने पवित्र कुलमें धर्मविरुद्ध कलंक लगाकर नाश करना, गुरु मातापिता आदि पूज्य पुरुषों की वैयावृत्य सेवा सुश्रुषा आदि नहीं करना इत्यादि कामोंसे मनुष्य रोगी होता है। और दुर्गतिमें जाता है।

अर्थ—निरोग कौन कारणों से होता है ?

हे राजन् समस्त प्राणियोंको औषध दान से रक्षण करना । शल्य रहित धर्म सेवन करना । अपने कुटुम्ब तथा समस्त जीवोंके कुटुम्बो की वृद्धि चाहना, दान पूजादि कार्योंमें हर्षित होना इत्यादि पुण्य कार्योंसे निरोगता प्राप्त होती है। वह जीव महान् सुखोंका प्रभोक्ता होता है।

अर्थ—जन्मांध कौनसे पापोंसे होता है ?

हे राजन् विनादेखी हुई वस्तुको देखी हुई बतलाना दूसरों के दोषोको देखते रहना। धर्मात्मा पुरुषोंके

जात्यंधो भवत्येव परजन्मनि जन्मनि । स पुमान् नात्र संदेह सदा दु खस्य भाजक ॥ ९४ ॥
वृद्धत्वेपि नराधीश स्त्रीक्रीडामक्षपोषणे । मुचति य पुमान् नैव रसैर्नानाविधैस्तथा ॥ ९५ ॥
स मृत्वाहि भवत्येव अधश्च परजन्मनि । महादु खाढ्यमोगी च मरणांतेहवारत ॥ ९६ ॥
दुर्गंधाढ्यमशुद्धं च उच्छिष्टं परकल्पनात् । मंत्राकर्षेण चानीतं शूद्रस्पृश्यं विवामितम् ॥ ९७ ।
ईदृशं स्वादपानच व्रतिना वा मुनीशिना । आर्यिकाणा ददात्येव यो मनुष्यो नराधिप ॥ ९८ ॥
निवसो जायते तस्माद्दोषात् दुर्गतिकारणम् । व्रतयुक्ताय नो देय अतोऽशुद्धच वस्तुकम् ॥ ९९ ॥

छिद्र ढूढना । भगवानकी पूजाके समय स्त्रियोंके स्तन मुख और आभूषणोंको देखकर प्रसन्नचित्त होना इत्यादि पापकार्योंसे मनुष्य जन्मांध होता है । और वह सदैव दुखको प्राप्त करता है ।

अर्थः—जो वृद्ध होकर भी कामक्रीडामें तत्पर रहना । इन्द्रियोंके पोषण में ही निमग्न रहना । पुष्ट रसोंके सेवनमें ही जीवनको व्यतीत करना, धर्मकृत्यको भूल जाना-दूसरोंकी आंखें फोडना-इत्यादि पापोंसे अंधा होता है ।

अर्थः—महान् निवस (भोगरहित) कौनसे कारणों से होता है ?

हे श्रेणिक ! जो मुनि–आर्यिका–व्रती–सयमी पुरुषोंको दुर्गंध–अशुद्ध–उच्छिष्ट–दूसरोंके लिये सकल्प पूर्वक बनाया हुआ–मंत्रके द्वारा लाया और शूद्रजन से स्पर्श किया हुआ भोजन पान देता है वह भोगरहित होता है । और मायाचारके पापसे दुर्गतिमें अनंतससार तक भ्रमण करता है । व्रती पुरुषोंको अशुद्ध अन्न देनेसे महान पाप का आश्रव होता है । इसके समान अन्य पाप नही है । इसलिये मन वचन कायकी शुद्धिका उच्चारण कर फिर भी अशुद्ध और शूद्र जनसे स्पर्श किया, आहार पान देना, दाताको पुण्यके स्थानपर धर्मकार्यमें मायाचारी परिणामोंके कारण महान पापबंध होता है । इसलिये ऐसा पापका कार्य कदापि नहीं करना चाहिये ।

मनुष्यो मगधाधीश मधुस्थानस्य यः कुधी । घात करोति दाह च अग्निना हि करोत्यहो ॥ १०० ॥
करयैव खलु जीवस्य शरीर ज्वालयत्यहो । वा ग्रामं सदन चैव भूधर जीवसंभृतम् ॥ १ ॥
प्रज्वालयत्यरण्य च तथा ह्युपवनादिकम् । सेव कुष्टी भवत्येव परत्रात्रैव निश्चयात् ॥ २ ॥
जात्याद्यष्टमदाना च करोति य पुमान मदम् । परसद्मनि स दासो भवति नात्र संशय ॥ ३ ॥
अष्टभेदमदस्यैव प्रयोगाच्च कियत्प्रमा । दोषा भवति अस्मिन् वै तान् शृणु कथयाम्यहं ॥ ४ ॥
जात्या मदेन अस्यैव नीचजातिर्भवत्यहो । कुलस्य मददोषेण कुकुलस्यैव प्राप्तिता ॥ ५ ॥
मूर्खत्व जायते चास्य ज्ञानमदस्य कारणात् । ऐश्वर्यमदतोय च दासो भवति निश्चयात् ॥ ६ ॥
निर्बली च भवत्येन बलगर्वस्य दोषत । वित्तदर्पेण अस्यापिर्गेन येव दरिद्रता ॥ ७ ॥

अर्थः—— कोढी कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् मधुमक्षिकाके छताओके नीचे अग्नि लगाकर जीवोंको मारना, नगरका दाह करना, ग्राम, घरमें, पर्वतमें अग्नि लगा देना, शूकर आदि प्राणियोसे भरे हुए वन जला देना। धर्म समझकर सती दाह करना, धर्म ममझकर पर्वतमें अग्नि दाह करना, वन या जंगलमें अग्नि लगवा देना, जीवोंको भयानक त्रास देना इत्यादिक पापसे कोढी होता है।

अर्थ—दास कौनसे पापो से होता है ?

हे राजन् जो जाति कुल ज्ञान बल वीर्य तप ऐश्वर्य और रूप इन आठके मदो (अभिमान) को धारण कर दूसरे धर्मात्मा जीवोका अपमान करता है वह मरकर दास होता है। जातिका मद करनेसे नीच होता है १। कुलका अभिमान करनेसे कुकुलीन होता है २। ज्ञानका मद करनेसे मूर्खता आती है ३। ऐश्वर्यका मद करनेसे

अत्यांतकी तपस्याया मदेन भवति क्षय । कुरूपीच सुरूपस्य मदस्य करणात्तथा ॥ ८ ॥
एभिरुन्मत्तचित्त य करोत्येव नरेश्वर । मृत्वा सैव खरो भूत्वा दासो भवति स पुन ॥ ९ ॥
पादेन ताडयत्येव ठणचारीन नरोत्तम । मानवो य भवत्येव सेव खज परत्र हि ॥ १० ॥
गडुलो जायते चायं केन दुष्कर्मणा जिन । मानुजः सर्वपापाग्निमेव पुष्पोपमप्रभो ॥ ११ ॥
सौरभेयान् तथा छागान् लुलायान् च क्रमेलकान् । रासभान् वाह्यान् चैव तथा चानेकपान् नृप ॥ १२ ॥
इत्यादिजीवसंदोहान् तृणभक्षणतत्परान् । अपराधविनिर्मुक्तान् वचनालापवर्जितान् ॥ १३ ॥
पीडयत्यतिभारस्यारोपणेन नराधमः । अतिनिर्दयभावाद्यो योहि परस्य पीडक ॥ १४ ॥
अत्रैव कुब्जको भूत्वा रोगेनि गमन सदा । यष्टिकाभ्याच हस्ता वै भुक्त्वा दुःखमनारतम् ॥ १५ ॥

दरिद्री होता है ४। बलका मद करनेसे निर्बल होता है ५। तपका मद करनेसे रोगी होता है ६ । रूपका मद करनेसे कुरूपी होता है ७ । और शरीरका मद करनेसे (साधारण दृष्टीसे) दास होता है ८ ।

अर्थ--खंजा किस कारणसे होता है ?

हे राजन् जो पादों (चरणो) से दूसरोकी चाद में ठोकर मारता है वह खजा होता है ।

अर्थ--कुबडा कौन से पापों से होता है ?

हे राजन् कुत्ता-बकरा-भैंसा-बलद-गदहा आदि तृणके भक्षण करनेवाले मूक प्राणियो पर शक्तिके बाहर भार लादना-पीडा देना निर्दय भावसे ताडना करना अन्न पानादिका निरोध करना इत्यादि पापसे मनुष्य कुबडा होता है ।

मृत्वा पश्चाच्च गत्वाहि श्वभ्रे तत्रापि निप्रभम् । अशर्म पापपाकेन तस्मादपि च स॰ पुमान् ॥ १६ ॥
आगत्य कुब्जको नून भवति नात्र संशय । पूर्वपापप्रयोगेण अशर्मवस्तुभक्षक॰ ॥ १७ ॥
दारिद्र्याढ्य नर दृष्ट्वा यो धनी स्वात्मनि नृप । जुगुप्साच करोत्येव द्रव्योत्करमदात् खलु ॥ १८ ॥
परभवे भवत्येव मृत्वाऽसौ मानवर्जित । अन्यैश्चाप्नोति धिक्कार सर्वस्थानेपु तदघात् ॥ १९ ॥
लकहस्तेन य मर्त्यो मापयित्वा ददात्यहो । परेषामशुक भूप महाकपटमंडित ॥ २० ॥
हीनतुलकया चैव धान्यादिवस्तुसंचय । यच्छति अन्यमर्त्यांना हीनमानेन वा तथा ॥ २१ ॥
गृह्णाति परधान्यादिवस्तुसंहतिमंजसा । वृद्धतुलकया वृद्धमानेनातीव्रलोभत ॥ २२ ॥
स हि मृत्वा भवत्येव परजन्मन्यघोदयात् । अगहीनो महादु ख भाजनो नात्र संशय ॥ २३ ॥

अर्थ——वह कुबडा विना अपराधी [निरपराधी] पशुओको अतिशय पीडा देनेके पापसे मरकर नरकमें दुःखोको प्राप्त होता है। और वहांसे निकलकर फिर भी कुबडा होता है। इस लिये मूक और निरपराधी पशुओंको सताना अच्छा नही है।

अर्थ——धिक्कार का पात्र कौन होता है ?

हे राजन् जो दरिद्री दीन मनुष्यको देखकर अपने मनमें धनमद से उसका तिरस्कार करता है वह मनुष्य मरकर धिक्कार का पात्र होता है। उसका सर्वत्र अपमान होता है।

अर्थ——अंगहीन कौनसे पापोसे होता है ?

हे राजन् जो मनुष्य तृष्णाकी गृद्धता से कमती तोलता है और वडती लेता है। मापसे कपडा आदि को कमती माप कर देता है। वढती लेता है। धान्यादिक वस्तुओको वढती मापकर लेता है कमती देता है। इस

स्वकरेण कदाप्यत्र दान स्नान च पूजनम् । मानुजो नो करोत्येव य स भवति टुंटकः ॥२४
तीर्थनाथस्य तीर्थं भो करोति नैव यो नर । स हि पगुर्भवत्येव परतीर्थस्य सेवनात् ॥२५
जिनेन्द्रगुणसंभूता रागविधा शिवप्रदाम् । यः विगायति नैवात्र मानवो भूपते ननु ॥२६
भडरागसमुद्भूता गायति चातिदर्पत । रागविधा नर सैव मूको भवति निश्चयात ॥२७

प्रकार जिसकी निष्ठा मनकी लोभवृत्ति से मलिन रहती है वह मरकर या उसी भवमें हीनांग होता है ।

अर्थः--- टूटा कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् जो अपने हाथसे श्रीमज्जिनेंद्र देवकी प्रतिमाका अभिषेक पूजा और मुनिगणोको दान वैयावृत्य आदि नही करता है वह टूटा होता है ।

अर्थ—पगु कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन्! जो मनुष्य देवाधिदेव श्री तीर्थंकर परमदेवके पवित्र तीर्थोंकी यात्रा अपने पैरों से न कर अन्य मिथ्या कल्पित तीर्थोंका पर्यटन करता है उसके सत्य धर्म में श्रद्धा न होने के कारण और मिथ्यात्वके सेवन करनेके कारण तीव्र पापका आश्रव होता है ।

अर्थ— मूक कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् जो मनुष्य श्री जिनेन्द्र भगवानके गुणोंकी गानविद्याको न गाकर भंडराग और वीभत्स रागोत्पादक भंड गानोंको गाता है और उसमें अनुराग करता है वह मिथ्यात्व सेवन करने के कारण मूक होता है ।

यो हि संयमयुक्तानां नराणां गुणिनां तथा । शीलालंकृतगात्राणां जिनधर्मोपदेशिनाम् ॥ २८ ॥
दिगम्बरमुनीन्द्राणां तथाहि ब्रह्मचारिणाम् । आर्यिकाणां तथा भूप श्रावकाणां सुधर्मिणाम् ॥ २९ ॥
इत्यादीनां च यः मर्त्यः अपवादं ददात्यहो । करोति पापदां निंदां वा हास्यं शर्मनाशकम् ॥ ३० ॥
स मृत्वा तद्धि पापेन कुरूपी परजन्मनि । भवत्यपरमर्त्यानां निंदनीयः सदा खलु ॥ ३१ ॥
एषामितरतो भूप महारूपी भवत्ययम् । तदेव शमभोक्तानं महामारविभूषितं ॥ ३२ ॥

अर्थ—महान् कुरूपी कौनसे पाप से होता है ? और जनतामें अपवाद किसका होता है ?

हे राजन् संयमको धारण करने वाले परम गुणी सत पुरुष, शील (ब्रह्मचर्य) से विभूषित, जिनेन्द्र मार्ग के प्रकाशक, दिगम्बर मुनिगण ब्रह्मचारी-आर्यिका-श्रावक और श्राविका आदि चतुःसंघका अपवाद करनेसे उनमें मिथ्या दूषण लगानेसे उनकी मिथ्या निंदा करनेसे और उनका हास्य आदि कुभाव करनेसे कुरूपता प्राप्त होती है और उसकी निंदा सर्वत्र होती है। इस पापके समान अन्य कोई भी पाप नहीं है। इस पापका फल प्रत्यक्ष इसी भवमें प्रकट होता है। और कोढ रोग आदि भयकर दुःसह वेदना शरीरमें इस प्रकारके पापके फलसे प्रकट होती है।

अर्थ—सुरूपी और मनोहर कौनसे कारणोसे होता है ?

हे राजन् चार प्रकारके संघकी मन वचन कायसे प्रशंसा करना सराहना करना और चतुःसंघ को मोक्ष मार्गका प्रकाशकारी समझकर अतिशय आदर करना-पूज्य मानना और सदैव उसकी भक्तिमें तत्पर रहना इससे मनुष्य सुरूपवान सुदर और कीर्तिशाली होता है।

जंतो कस्यैव पीडा च अतितीक्ष्णासिना पुमान् । वा कुंतेन करोत्येव कारापयति ह्यन्यत ॥ ३३ ॥

बहुभिर्वेदनाभिश्च सयुक्तो भवति नृप । आजन्मात्यगपर्यंतपरपीडात्र किं भवेत् ॥ ३४ ॥

अन्यस्मिन् य पुमान् जीवे पीडिते व्याधिभि सदा । तेपाहि प्राणिना चैव मोचापयति व्याधित ॥ ३५ ॥

भेपजै वा रसैर्मंत्रै अन्योपायोःकरै तथा । कारुण्यहृदयं कृत्वा सदा परदयारत ॥ ३६ ॥

स भवति नराधीश परजन्मनि मानव । वेदनारहितो नूनं परपीडानिवारणात ॥ ३७ ॥

कृषिकर्ममनताना जीवाना क्षयकारकम् । य करोति तथा त च कारापयति अन्यत ॥ ३८ ॥

कृतस्य कारितस्यैव पापस्य गदित जिनै । ममानैव फल जन राद्धात सर्ववेदिभि· ॥ ३९ ॥

अर्थः—जीवोको दुस्सह पीडा कौनसे पापसे होती है ? हे राजन् जो जीवोको विना कारणही त्रास देता है। तलवार कुंता चाकू बरछी आदि शस्त्रोसे अन्य जीवोको पीडा देता है वा अन्य किसीसे ऐसी भयानक पीडा जीवोको दिलाता है । समस्त जीवोको दु खी करनेकी क्रूर भावना रखता है वह आजन्म पीडाको प्राप्त होता है । पापसे क्या नही होता है ! जो दूसरोंको पीडा देगा उसको अवश्य ही पीडा प्राप्त होगी ।

अर्थ—वेदना रहित कौनसे पुण्यसे होता है ?

हे मगधेश्वर ! जो व्याधि–दुःख–और पीडासे सतप्त, वेदना से आक्रात जीवोंको देखकर उनकी पीडा को दूर करता है जो दूसरोंको दुःखोंसे छुडाता है जो रोग–व्याधीके समय औषधी मत्र आदिसे उनके दुःखोंका नाश करता है और जो समस्त जीवोंपर सदैव दयाभाव रखता है वह वेदना रहित होता है।

अर्थः—मोही कौनसे कारणोसे होता है ?

हे राजन् खेती आदि हिंसक व्यापार स्वय करना अथवा तीव्र मोहके कारण हिंसक व्यापार दूसरोंसे

कृषिकर्मसमं पाप नो परं भुवनत्रये । रामठं शृंगवेरादि कंदव्यापारक्रिय तथा ॥ ४० ॥
जवागूजं मधुच्छिष्टं मज्जिकामश्मज तथा । गोपरमं तथा नागभस्म क्षार च पिंजरं ॥ ४१ ॥
चपलं गंधक चैव शिलिम्रीवं च अक्षिजं । तिलोद्भवरस नैव लाक्ष जीवस्य घातकम् ॥ ४२ ॥
इत्यादीना करोत्येव क्रय वा विक्रयं तथा । कुटुम्बपोषणार्थं च धान्योत्करस्य यो नरः ॥ ४३ ॥
तीव्रमोही कुटुम्बेषु मोक्षज्ञानविवर्जितः । हाहाकारकरो दुःखे सदैव दुर्मतिस्तथा ॥ ४४ ॥
तीव्रोदयो भवत्येव यस्यैव मोहकर्मण । ज्ञानदर्शनयोर्नून अत्येवावरणस्तथा ॥ ४५ ॥
अतिकौटिल्यता चैव त्रयाणा मगधाधिप । सदा शोकी दिने भोगी स्त्रिया सद्धर्मवर्जित ॥ ४६ ॥
एभि दुःकर्मभि सैव पंचेन्द्रियोन्यजन्मनि । भवत्येकेन्द्रियोनंतदुःखराशस्य भाजन ॥ ४७ ॥

कराना इसी प्रकार अदरख, कंद, गूलर आदि अनत जीव मिश्रित पदार्थोंका व्यापार करना; मदिरा, मांस, शहत आदिका व्यापार करना कराना; रायगुडिया (जीव विशेष) का रस निकाल कर व्यापार करना कराना; जीवोंकी चर्बीका व्यापार, गंधक, लोहा, लाख आदिका व्यापार; महुआ (मधुपुष्प) का व्यापार; मशीनोंके द्वारा महान हिंसक होनेवाले व्यापार, चमडेका व्यापार आदि निंद्य और हिंसाजनक व्यापारोंका करना कराना या ऐसा उपदेश देना, तीव्र मोहोदयसे पापकी प्रवृत्तिमें लग जाना आदि कारणोंसे मोही होता है जो अनंत संसारका कारण है।

अर्थ—एकेन्द्रिय कौन से पापों से होता है ?

हे राजन् जो अन्य धर्मात्मा जीवोंके दर्शन ज्ञानका आवरण करता है कुटिल परिणामो से जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका अपवाद करता है जो सद्धर्मका लोप करता है जो आर्तध्यान से सदैव शोकातुर रहता है जो

महागूढ च आत्मोत्थं चिन्मय कर्मवर्जितम् । य पुमान् जीवतत्वंच सदा निश्चलसंस्थितम् ॥ ४८ ॥
ईदृशं कर्मकर्तारं भोक्तारं तत्फलस्यच । व्ययमपि च अभव्यानामप्राप्तव कदाग्रहो ॥ ४९ ॥
जानाति स्वहृदि नैव धर्माधर्मफल तथा । लोकाकाशमलोक च सर्वज्ञ दोषवर्जितम् ॥ ५० ॥
मुनीना सकलाचार स्वरूप च चतुर्गते । कर्मकर्मफल चैव कर्मणो बधनं तथा ॥ ५१ ॥
व्यवहारनयस्यैव स्वरूपं नाकदायकम् । निश्चयस्य नयस्यैव स्वरूपं मोक्षदायकम् ॥ ५२ ॥
सैव भो मगधाधीश एभि कुकर्मभि खलु । तिष्ठत्येव सदा काले ससारे दु खसंभृते ॥ ५३ ॥
उक्तदोषान् निजे चित्ते इतरत्वेन यो नर । जानात्येव नराधीश भव्यभावेन मडित ॥ ५४ ॥

दिवसमें स्त्रियों का सेवन करता है जो अपनी प्रवृत्ति धर्मरहित करता है वह एकेन्द्रिय पर्याय को प्राप्त होता है।

अर्थः— अनत संसारमें कोन परिभ्रमण करता है ?

हे श्रेणिक समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित आत्माका जिसके श्रद्धान नहीं है, जो चिद्रूप आत्माके अस्तित्वको नहीं मानता है, जिसके अतरग परिणाम तीव्र अज्ञान मिथ्यात्वसे सत्य पदार्थोंकी श्रद्धासे रहित है, जो लोकाकाशादि तत्वोको नही जानता है, जो मुनिधर्मके चारित्रको नहीं जानता है और जो चारो गतियोका स्वरूप कर्मका फल, कर्मोंका स्वरूप, कर्मबधका स्वरूप, व्यवहारनयका स्वरूप, निश्चयनयका स्वरूप, मोक्षका स्वरूप आदिके स्वरूपको, नही जानकर अन्यथा श्रद्धान करता है, मिथ्यात्वभावोसे तत्वोके स्वरूपका अन्यथा श्रद्धान करता है, पदार्थोंके स्वरूपको नहीं जानता है वह चिरकाल ससारमें परिभ्रमण करता है।

अर्थ—ससारके परिभ्रमणसे कौन शीघ्रही छूटता है ?

हे मगधेश्वर ! जो सात तत्वोका यथार्थ श्रद्धान करता है। जो मुनिधर्म व गृहस्थ धर्मको मोक्षोपयोगी सम-

बहुकाल च स नैव भवारण्येतिदु खदे । अमति शीघ्रतो मोक्षे यात्येव ह्यघनाशत ॥ ५५ ॥
भंजनाज्जिनबिंबाना आलयाना च भो नृप । उपसर्गान्मुनीन्द्राणामागमानाच नाशत ॥ ५६ ॥
एभिस्त्रिभि कर्मभिश्चास्य कर्मणा च दृढा खलु । ग्रंथी सबध्यतेऽनतभवदु खदायिका ॥ ५७ ॥
सम्यग्दर्शनसद्ज्ञानचारित्राणाच य पुमान् । त्रिशुद्ध्या पालयत्येव निश्चयव्यवहारत ॥ ५८ ॥
तपोयोगेन कृत्वैव ग्रथन ह्यष्टकर्मणाम् । नाशं यात्येव भो भूप मदा शर्मभयेऽक्षये । ५९ ॥
च्युतोपमे निराधारे वृद्धिन्हासविवर्जिते । सिद्धसदोहसंयुक्ते ह्यतातीतगुणालये ॥ ६० ॥

शकर विशुद्ध भावोसे धारण करता है जो निश्चयनय आर व्यवहार नयसे आत्माके स्वरूपको अच्छी तरह जानता है। जो भव्यभावो से सदैव आनंदित रहता है । जो पशम सवेगादि गुणोको धारण करता है वह शीघ्रही ससार से मुक्त होता है और आत्मीक अविनश्वर सुखको प्राप्त होता है ।

अर्थ— मोहकी गांठ किस कारण से दृढ होती है ? हे राजन् ! श्रीमज्जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमाओका भग करना-दुष्ट बुद्धिसे उनका अपमान करना—श्रीजिनदेवके मदिर का विध्वस करना—मुनियोको उपसर्ग करना-जिनागम को अवर्णवाद लगाना या जिनागमको मिथ्या कल्पित सिद्ध करना इत्यादि भयकर पापोसे मोहकी गांठ दृढ होती जिससे जीव अनतकाल पर्यंत घोर दुःखोको प्राप्त होता है ।

अर्थ—मोहकी गांठ किस कारण से छूटती है ?

हे राजन् ! सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र आदि आत्मिक गुणोंको मन वचन कायकी विशुद्धिसे धारण करनेसे मोहकी गांठ शीघ्रही नष्ट हो जाती है । जिससे आत्मीक सत्य सुख प्रकट होता है ।

अर्थ—मोहकी ग्रथी नष्ट होनेपर जीव को उपमा रहित अनुपम स्वभावरूप से प्राप्त अनत गुणोसे परिपूर्ण

इन्द्रनागेन्द्रभूपेन्द्रवृंदपूज्येक्षविच्युते । ईदृशे परमे स्थाने दुर्लभे चान्यलिंगिनाम् ॥ ६१ ॥
प्रदोषो निह्नवश्चैव तथा मात्सर्यसज्ञक । अंतरायाभिधश्चैव आसादनोपघातकौ ॥ ६२ ॥
एभि षट्कर्मभिश्चास्य वधो भवति भूपते । द्वयोर्हि ज्ञानदर्शनावरणयोर्भवप्रद. ॥ ६३ ॥
पृथक् पृथक् शृणु त्व च पणाहि लक्षण नृप । निर्विकल्पतया वक्ष्ये कर्मबधविघातकम् ॥ ६४ ॥
सम्यग्दर्शनसद्ज्ञानधारकस्यच नुः खलु । चारित्रपालकस्यैव ह्येकस्य धारकस्य वा ॥ ६५ ॥
सभायांच कृता नून मर्त्येन केनचिदियम् । प्रशमा परग तस्य अहो धन्योऽधुना सच ॥ ६६ ॥
श्रुत्वैवं नो करोत्येव पुमान् कोप्येव तस्यवै । पैशुन्यदोषितात्मस्थः परोदयविघातक. ॥ ६७ ॥

इन्द्र नागेन्द्र देवेन्द्रोस पूजित अतीन्द्रिय और अविनाशीक मोक्ष सुख प्राप्त होता है जिसकी प्राप्ति एक जैन दिगंबर लिंगमेही होती है।

अर्थ—ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका आश्रव कौन कौनसे कारणो से होता है?

हे राजन् प्रदोप–निन्हव–मात्सर्य–अतराय–आसादन–और उपघात इन छह कर्मोसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण का आश्रव होता है। इनका स्वरूप आगे खुलासा से बतलाते हैं।

अर्थः— प्रदोपादि छहो आस्रवोका पृथक् पृथक् स्वरूप आगे बताते उसे सुनो।

अर्थ—प्रदोपका लक्षण क्या है?

हे राजेन्द्र! सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान–सम्यक् चारित्र और उनका पालन करनेवाले भव्य प्राणियोंकी सभामें प्रशसाको सुनकर सहन नहीं करना–अथवा उन गुणोमें अनुराग नहीं होना, गुणोमें रुचि नहीं प्रकट करना सो प्रदोप

प्रशंसा च वदत्येव नापवादं तु तस्य वै। प्रदोषस्यैव एतद्धि जानीहि लक्षणं नृप ॥ ६८ ॥
केनचित्पुरुषेणैव प्रोक्तं भो बुधसत्तम। भवतां गृहे गस्ति अमुकं पुस्तकं शुभम् ॥ ६९ ॥
मा देहि त पठित्वाच लिखित्वैव पुनश्चैव। दास्यामि भवता तद्धि द्वापरो नात्र किंचन ॥ ७० ॥
किमपि कारणं कृत्वा लहकारंच प्रवदति। विद्यमानमपि ज्ञानादौ व्याहरत्येव स कुधी ॥ ७१ ॥
नो जानामि इदं ज्ञानमस्मत्पार्श्वे च निश्चयात्। पुस्तकोप्येव स नास्ति मा कथ्यत्येव मानव ॥ ७२ ॥
एव योहि करोत्येव ज्ञानस्याच्छादनं पुमान। नास्ति नेति कथनं तत् ज्ञानस्य विघ्नं खलु ॥ ७३ ॥
प्राप्नोति सैव दुर्दोषं निन्हवाख्यं भवप्रदम्। मानवो मगधाधीश रोषापलापनाश्च वै॥ ७४ ॥

है। ईर्षा या असहिष्णुताके लिये दूसरे पुण्य पुरुषोंके उत्तम सम्यग्दर्शनादि गुणोंके अभ्युदयको सहन न कर मनमें द्वेष बुद्धिसे उसका अपवाद करना निंदा करना—सो प्रदोष है। इससे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका आश्रव होता है।

अर्थ—निन्हव दोषका लक्षण क्या है?

हे राजन् किसी पुरुषने अपने ज्ञानकी वृद्धिके लिये किसी पुरुषके पास ज्ञानवृद्धिका साधन पुस्तक आदि की याचना की। मांगी। परंतु मेरी पुस्तकादिकोंसे यह ज्ञान संपादन कर महत्वशाली बन जायगा जिससे मेरी प्रतिष्ठा या गौरवका नाश होगा इस प्रकारके दुष्ट भावोंको हृदयमें धारण कर किसी भी बहानेसे निषेध कर देना कि मेरे पास वह पुस्तक नहीं है। इस प्रकार विद्यमान ज्ञान साधनोंको छुपाकर मनकी कुटिलतासे निषेध करना सो निन्हव है। इसी प्रकार शास्त्रकी चर्चाका अपनेको ज्ञान होनेपर भी उक्त प्रकार दुष्ट अभिप्रायको रखकर निषेध कर देना कि मुझे यह बात मालुम नहीं है। सो निन्हव है।

सम्यग्ज्ञानके प्रचारको रोकना-सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि का नाश करना-सम्यग्ज्ञानियों का महत्व गिरा देना सो

विद्यते गन्तार्थोय कठस्थो भवता खलु । अथो मा पाठय धीर चाग्रवर्द्धनहेतवे ॥ ७५ ॥
योग्योहं पठने तस्य पाठने नस्य निश्चयात् । योग्यस्त्वमसि नान्योहि महामतिप्रधारक ॥ ७६ ॥
एव श्रुत्वापि तस्यैव वाच पुंसे च तस्य वे । दानयोग्याय केनापि हेतुना दीयते न मत् ॥ ७७ ॥
यः म लभत भो भूप दोप मात्सर्यसज्ञकम् । मात्सर्यहेतुतो नूनं भवभ्रमणकारणम् ॥ ७८ ॥
सदसि विद्यमानेच व्याख्यानमागमस्य वै । केनचित् कारणेनैव तस्मिन्कोपि करोत्यहो ॥ ७९ ॥
प्रश्नेदृशं मनोक्त्यावा येनैव ह्यागमस्य च । अतरायो भवत्येव स्वकार्यवशत तथा ॥ ८० ॥

मन निन्हव दोप है । इससे अनत दुःख प्रदायी कर्म (ज्ञानावरण और दर्शनावरण) का आश्रव होता है ।

अर्थः—मात्सर्य दोप किसे कहते है ?

हे राजन् किसी शिष्यने आकर कहा कि हे स्वामिन् आपको शास्त्रोका गहन अर्थ सब कठस्थ है । मै अपने ज्ञानकी वृद्धिके लिये आपसे पठन पाठन और अभ्यास करना चाहता हूं । मै इसके योग्य हू । और आप भी सब प्रकार यथेष्ट योग्यताके धारक हो—यह विद्या आपके सिवाय अन्यत्र मुझे प्राप्त नही होगी । इसप्रकार प्रार्थना करनेपर जो मनकी मत्सरतासे सम्यग्ज्ञान के शास्त्रों का पठन पाठन नही करावे अथवा किसी दुष्ट अभिप्रायसे योग्य ज्ञानको प्रदान करने में द्वेप करे सो मात्सर्य दोपका धारक है । इससे संसारका भ्रमण होता है ।

अर्थः—अतराय दोपका लक्षण क्या है ?

हे राजन शास्त्रसभामें सम्यग्ज्ञानका उत्तम व्याख्यान हो रहा है । जिसको श्रवणकर अनेक भव्य अपना हित संपादन करते हो । उस परमागमके सर्वोत्कृष्ट व्याख्यानको मनकी दुष्टतासे रोक देना अथवा ऐसा प्रश्न खडा कर

अन्या वाहि करोत्येव कुर्वता हास्यदायकाम् । मौखर्यत्वेन यो मर्त्य स्वमदेन तथा नृप ॥ ८१ ॥
अतरायाभिध दोषमहसंततिदायकम् , उपार्जयति सो नूनं शास्त्रविच्छेदकारणात् ॥ ८२ ॥
करोति नैव यो मूढ सतो ज्ञानस्य मानव । कायेन विनय चैव हस्तकुड्मलतस्तथा ॥ ८३ ॥
पद्मासनाच्च स्तवनात स्मरणाच्च प्रकाशनात । प्रबंधाना च सोप्येव तदाछादनत खलु ॥ ८४ ॥
आसादनाख्य दुर्दोषमाप्नोति मगनाधिप । सर्वदु खप्रद हेय जैनतत्वविदावरै. ॥ ८५ ॥

देता जिससे व्याख्यान वद हो जावे । अथवा मनको दुष्टतासे परमागमके व्याख्यानमें हास्यादिक कर परमागमके प्रभाव को नष्ट कर देना अथवा मिथ्या बातें लगाकर परमागमके व्याख्यानमें विघ्न कर देना शास्त्र सभा वा पाठशाला आदिको तोड देना या किसी बहानेसे अन्यके द्वारा नष्ट करा देना सो अतराय दोष है । मूर्खता और अभिमान से परमागमका विच्छेद करना सो भी अतराय दोष है । यह अनंत पापका प्रदान करनेवाला भयकर दोष है ।

आसादन दोषका स्वरूप क्या है ?

हे राजन् ! परम उत्कृष्ट और सर्व प्रकार से सर्वदा निर्दोष ऐसे परमागमका मन वचन काय से विनय नहीं करना हाथ नहीं जोडना वदना भक्ति नही करना पूजा नही करना ऊंचे स्थानपर विराजमान नही करना परमागम के उपकारको भूल जाना और अन्य समाजमें परमागमका प्रभाव कुठित हो ऐसे आचरण करना, मनसे परमागमको हितरूप नहीं समझना वचनसे उत्तम प्रबंधमें दूषण लगा देना—सो सब आसादन नामका दोष है ।

प्रशस्त ज्ञान और उस ज्ञानको धारण करने वाले भव्योत्तमका आदर सत्कार कर महत्त्व नही प्रकट करना सो आसादन नामका दोष होता है ।

सुज्ञाने वाच्यमाने हि सदसि गुरुणा नृप । यः कोपि कथयत्येवं मदमात्सर्यकारणात ॥ ८६ ॥
इद पाठमशुद्धच कल्पोक्तमिव दृश्यते । अनुक्त भामते नून सवधोऽय कंथ भृत ॥ ८७ ॥
इत्याद्यगुणबुद्धेश्च आगमस्यैव योधम । दूषण च ददात्येव मनुजो भो नृपोत्तम ॥ ८८ ॥
सैव नूनं लभन्येवोपघाताव्हं कुदोषकम् । जिनवाक्यविघातत्वात्स्वशब्दस्यै पोपणात ॥ ८९ ॥
एतेहि षड्विधा दोषा ज्ञानावरण–दर्शना–वरणयोर्हि भवत्येव आश्रवा भवदायकाः ॥ ९० ॥
आचार्ये शत्रुता चैव अकालेऽध्ययन तथा । अरुचिपूर्वकं ग्रथपठनं पठतोपिच ॥ ९१ ॥

अर्थ—उपघात दोपका लक्षण—

हे राजन् सभामें उत्तम और सर्वथा निर्दोष परमागमका भाषण होनेपर जो अहकार या मात्सर्य भावसे (किसी प्रकारकी मलिनतासे) उस सत्यार्थको स्वीकार नही कर " यह पाठ नही है " " यह अर्थ ठीक नही है " अथवा " पदार्थका स्वरूप नही है " इस प्रकार ज्ञानका घात करना सो उपघात है ।

आगमके वाच्यार्थ में या पदार्थके स्वरूप में मनकी कुटिलतासे अन्यथा रूप प्रतिपादन करना सो उपघात नामका दोष है । आगममें दूषण या आगममें असत्यार्थ पदार्थकी नियुक्ति कर देना भी उपघात कहा जाता है ।

अपने अहंकार को सिद्ध करनेके लिये अपने मिथ्या वचनों को सत्य कहना और आगमके सत्य वचनोको मिथ्या बतलाना सो उपघात है ।

अर्थ—ऊपर बतलाये हुए निन्हवादि दोष ज्ञानावरण और दर्शनावरणके बधके कारण है ।

आचार्य से शत्रुता करना, अकालमें पठन पाठन, शास्त्र श्रवण करनेमें मनके परिणामोंकी ग्लानि रखना–ग्रथ श्रवण करनेमें प्रमाद प्रकट करना गुरुकी चुगली या निंदा करना अथवा गुरुके समक्ष मिथ्या भाषण करना सो

आत्मस्थकरणं नूनमनादरेण तस्यच । व्याख्यानश्रवणमुन्मनीकत्वं स्वगुरोस्तथा ॥ ९२ ॥
वाच्यमाने प्रथमानुयोगे धर्मप्रभावके । तत्रैव कथयत्येव कोपि पैशुन्यदोषत ॥ ९३ ॥
वाचनीयं सभामध्ये मोक्षमार्गप्रदं शुभ । द्रव्यानुयोगनामंच । सभाया नो परं खलु ॥ ९४ ॥
वहुश्रुतेष्टगर्वस्य विधान चापमाननं । परपक्ष पोषयत्येव मिथ्योपदेशकी तथा ॥ ९५ ॥
स्वस्य पक्षस्य लोकस्य पुष्टकर्मविवर्जित । ख्यातार्थं पूजनार्थंच लाभार्थमागमस्यच ॥ ९६ ॥
चोपदेश ददात्येव असंवद्ध (निरर्थक) । कपटेन ज्ञानपाठी चागमानाच विक्रयी ॥ ९७ ॥
दूषण च ददात्येव सम्यग्दृष्टे ह्यघप्रदम् । प्रशंसा च करोत्येव कुशास्त्राणा च मानवान् ॥ ९८ ॥

ज्ञानावरणी कर्मबधके कारण है। सभामें प्रथमानुयोगका व्याख्यान होरहा हो उसको श्रवण करनेमें ग्लानि प्रकट करना तथा " शास्त्र सभामें तो द्रव्यानुयोगका ही ग्रथ पढना चाहिये वही मोक्षमार्गका प्रदाता है " इस प्रकार कहकर प्रथमानुयोग शास्त्रमें अरुचि उत्पन्न करादेना या प्रथमानुयोग शास्त्रोको मिथ्या ठहरानेका भाव प्रकट करदेना, प्रौढ ज्ञानी पुरुषोको अपना गर्व प्रकट करना अथवा उनका अपमान करना।

आगमके प्रौढ ज्ञाताओं के द्वारा आगमानुसार सत्य २ पदार्थ का स्वरूप सप्रमाण कहनेपर भे तो परपक्ष को पुष्ट करनेवाले है मिथ्या उपदेश देनेवाले है अपने पक्षको पुष्ट नही करते हैं। इस प्रकार अपने मनकी कल्पनासे आगममें पक्षोंकी कल्पना कर सत्यार्थ स्वरूप को रोक देना। मान बडाई पूजा लाभ और स्वार्थके लिये शास्त्रका उपदेश देना। अपने स्वार्थके लिये मिथ्या उपदेश देकर सत्य बतलाना असबध और कपटाचारसे विरुद्ध पाठ पठन करना, आगमका क्रय विक्रय करना, सम्यग्दृष्टी जीवोंको दूषण प्रदान करना मिथ्या शास्त्रोकी प्रशंसा करना। इत्यादि बहुतसे कारणोसे ज्ञानावरण कर्मका आश्रव होता है।

दीर्घनिद्रायुतो निद्रासयुक्तो धर्मनिंदक । महाआलस्यवान् चैव जुगुप्सी निंदकी तथा ॥ ९९ ॥
दर्शनावरणस्यैव आश्रवाश्च इमे बुधै । इत्याद्या शिववधस्य कर्तारः संमता खलु ॥ १०० ॥
दु खशोकेन तापेन आक्रदेन वधेन च । तथा हि रोदनेनैव अहो मगधमडन ॥ १ ।
आत्मपरोभयत्वेन असद्वेद्यस्य बंधन । भवत्येव च नु त्व च एतेषा वर्णनं शृणु ॥ २ ॥
आधिव्याध्यादिके जाते स्वस्य परस्य वा तनौ । सक्लिष्टपरिणामेन चिंतन क्रियतेत्र यत् ॥ ३ ॥
सैव दुःखाभिधं दोषं लभत्येव नरेश्वर । वा कारितानुमोदेनाशुभमार्गस्य दीपकम् ॥ ४ ॥

दिवसमें सोना, दीर्घ निद्रा ग्रहण करना, शास्त्र पढते पढते शयन करना, धर्मकी निंदा करना, जिनदर्शनादिक शुभ कार्योंमें आलस करना, दूसरोंके दर्शनमे व्याघात पहुचाना, निंदा करना, मुनिगणोंके पवित्र शरीरको देखकर ग्लानि करना इत्यादि कारणोसे दर्शनावरण कर्मका आश्रव होता है।

अर्थः— असाता वेदनी कर्म कौन कौनसे कारणोमे होता है ?

हे मगधेश्वर दुःख, शोक, ताप, आक्रदन, वध, रोदन ये सब अपनी आत्मामें, पर जीवमें अथवा दोनोमें उत्पन्न कर देनेसे असाता वेदनी कर्मका आश्रव होता है। आगे इनका विशेष खुलासा प्रकट करते हैं।

अर्थ — आधि, व्याधि, पीडा और तीव्र वेदना आदि होनेपर संक्लेश परिणामोके द्वारा बार बार उस दु खका अनुभव करना अथवा ऐसा दु ख दूसरोको देना अथवा दुःख देनेकी अनुमोदना करना, दु खके कारणोको उपस्थित कर देना सो सब दु ख है। इस प्रकार अपनेको और दूसरे जीवोको दुःख देना सो सर्व असाता वेदनी कर्मका आश्रव है।

पुत्रकलत्र कुटुंबाना विच्छेदे स्वस्य वा नृ। । हस्त्यश्वधनधान्यानां बहुमोदप्रदायकम् ॥ ५ ॥
महाशोकं करोत्येव तेषां प्राप्त्यै सदैव हि । शोकाख्य नयत्येव दोष जन्मनि जन्मनि ॥ ६ ॥
केनचिन्निंद्यकार्यस्य कारणात्स्वस्य जायते । अपवादो महान् लोके त श्रुत्वा ह्यात्मनि स्दा ॥ ७ ॥
पश्चात्तापं करोत्येव नैव मुंचति त पुन । स पुमान् भजते तापाभिव दोष स्वदु खदम् ॥ ८ ॥
केनचित्कारणेनैव विलापाक्रदन तथा । नेत्राश्रुपातपतन पू त्कारकरणं नृप ॥ ९ ॥
स्थितोहि रोदनं चैव करोत्येव विकारणं । आक्रंदनाख्यं सो दोष लभते भवदु खदम् ॥ १० ॥

अर्थ— इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग के होनेपर शोक होता है। पुत्र स्त्री कुटुंब आदि सजीव पदार्थोंके वियोग होनेपर या अपने ही वियोग होने पर अथवा हस्ती घोडा-धन धान्य आदि पदार्थोंके वियोग होनेपर जो वेदनारूप शोक होता है उसको शोक कहते हैं। दुःखका विशेष रूप ही शोक है। इसमें असाता वेदनीय कर्मका आस्रव होता है। शोक अपनेमें करना या दूसरेमें कराना मत्र ही असाताके कारण है।

अर्थ — कोई भी निंद्य कार्य करनेसे अथवा किसी भी अनुचित कार्यके हो जानेपर संसारमें अपवाद (निंदा) हो जानेसे जो पश्चात्ताप-बार बार आत्म परिणामोंमें सक्लेश रूप ग्लानि हो सो पश्चात्ताप है। कभी कभी धनधान्यादिके नष्ट हो जानेपर, व्यापारमें हानि होनेपर, कार्यका विपरीत परिणाम होनेपर भी पश्चात्ताप होता है। यह भी एक प्रकारका दुःखका ही रूप है। यह भी असाता वेदनी कर्मका कारण है।

अर्थ — किसी भी कारणसे ऐसा विलापपूर्वक रोना कि जिसको श्रवण कर दूसरोंके मनमें आघात पहुंचे दूसरोंके मन दुःखसे पिघल जावें, नेत्रोंसे पूत्कार पूर्वक दीनताके साथ रुदन करना- अपने परिणामोंका सक्लेश भाव प्रदर्शन कर रुदन करना, दूसरोंके चित्तको विकार या क्षोभ हो ऐसा रुदन करना

झंपापात हि यो अद्रे पावके च प्रवेशन । अब्धौ च पतनं तथा श्वासोच्छ्वासप्ररोधनम् ॥ ११ ॥
करोत्येवं तथा नून खादत्येव विषादिकम् । असिना स्वस्य हस्तेन स्वात्मान घातयत्यहो ॥ १२ ॥
इत्यादिभि नराधीश स्वस्य प्राणस्य पापधी. । वियोगं च करो येव वधाख्यं सैव निश्चयात् ॥ १३ ॥
दोषं ह्यनतससारपरिभ्रमणकारणम् । प्राप्नोति आत्मघातस्य करणान्नात्र संशय' ॥ १४ ॥
परमक्लेशसंयोगात् ईदृशं रोदन नृप । य करोति पुमान् नून महादुखस्य दायकम् ॥ १५ ॥
परेषा श्रवणाद्यस्य रोदन भवति सदा । दोष परिवेदनाख्य लभते भवदु खदम् ॥ १६ ॥

सो सब आक्रदन है । यह अपनेमें और दूसरोमें करने करानेसे असाता वेदनी कर्मका आस्रव होता है ।

अर्थ—समुद्रमें पडकर आर्तरौद्र परिणामोसे मरना या दूसरोको मारना, पर्वतसे गिरकर प्राणोका नाश करना, अग्निमें प्रवेश करना सती होना नदीमें गिरकर प्राणोका घात करना श्वासोच्छ्वास क्रियाको रोककर अपघात करना विषादिक भक्षण कर प्राणोंका नाश करना तलवार बदूक आदि शस्त्रोंके द्वारा प्राणघात या आत्मघात करना धर्म समझकर प्राणोंका वियोग करना इत्यादि अनेक प्रकार से संक्लेश परिणामपूर्वक मरना—दूसरोको मारना या मरवाना सो सब वध है । इससे भी असाता वेदनी कर्मका बध होता है ।

अर्थ—आत्महत्या अथवा परघात करनेसे अनंत ससारका बध होता है । सबसे भयकर पाप आत्महत्या है । जो धर्म समझकर आत्महत्या करते है वे अनंत ससारमें परिभ्रमण करते है ।

अर्थ – हे राजन् , ऐसे संक्लेश और दु ख परिणामो से रोना कि जिसको श्रवण करते ही दूसरों को भी रुदन हो जावे । अपने और दूसरोके परिणामोंको क्लेश कारक— बीभत्स रूपसे करुणापूर्ण रुदन करना सो परिदेवन

पैशुन्यात् पापकार्यस्य प्रेरणात् चापवादतः । तिरस्कारस्य करणात् परेषां निंदनात् तथा ॥ १७ ॥
परद्रव्यापहरणात् अधर्मिजनसेवनात् । कार्याद्दतेच अनर्थदंडस्य करणात् पुन ॥ १८ ॥
जीवनार्थं च शास्त्राणामभ्यासकरणात्तथा । इत्याद्यन्यदपि नूनमस्याश्रवा भवंत्यहो ॥ १९ ॥
भूतव्रत्यनुकंपाच दान सरागसंयम । योगाना क्षांति शौचश्च एतेहि मगधाधिप ॥ २० ॥
आश्रवाहि मद्वेद्यस्य महाशर्मप्रदायका । भेद शृणुच तेषाहि वच्म्यहंच पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥
सर्वभूतेषु चिंतन कायेन वा हृदा तथा । दयाभावं करोत्येव यो नाहि भव्यभावयुक् ॥ २२ ॥

नामका दोष है । इससे भी असाता कर्मका आश्रव होता है ॥

अर्थ—चुगली करना-पाप कार्योंकी प्रेरणा करना दूसरोंमें दोष लगाकर निंदा करना, दूसरोंका तिरस्कार करना दूसरोंकी निंदा करना, दूसरोंके द्रव्यको लूट लेना पापी अधर्मी और अपने धर्मसे पतित ऐसे निंद्य मनुष्य की सेवा करना विना प्रयोजन हिंसा आरंभ करना, अनर्थदंडके कार्य करना अपनी आजीविकाके लिये विद्याभ्यास करना इत्यादि बहुतसे अन्य कारण भी असाता वेदनीय कर्मके होते हैं।

अर्थ—सातावेदनी कर्मके आश्रव कौन कौनसे है ? प्राणी मात्र पर अनुकंपा व्रती पुरुषोपर विशेष विनयके साथ अनुकंपा, दान सराग संयम क्षांति शौच इत्यादि साता वेदनी कर्म के कारण हैं। इनका स्वरूप खुलासा से बतलाते हैं ।

अर्थः—भूत अनुकंपाका क्या स्वरूप है ?

हे राजन् मन वचन कायसे समस्त जीवोंपर दयाभावोंका रखना अर्थात् जीवमात्रमें भेदाभेद विचार किये बिना ही दयाभावसे सबपर दया प्रदर्शित करना सो भूतअनुकंपा है ।

एव विचारयत्येव चतुर्गतिभवा इमे। भूता सर्वे सदैवोच्चै कर्मोदयवशात खलु ॥ २३ ॥
निजनिजैव भुजंति दु खौघ पारवर्जितम्। भविष्यंति कदा मुक्तिः एतेषा दु खतो ननु ॥ २४ ॥
स पुमान् भूतकंपाख्य गुणं शर्मप्रदायकम्। लभते नात्र सदेह सद्दयापरिणामत ॥ २५ ॥
पंचाणुव्रतयुक्ताना दृष्ट्वा सद्धर्मवृद्धये। य पुमान् स्वात्मनि नित्य दयाभावं ह्यघापहम् ॥ २६ ॥
करोति परम भूप बाल वृद्ध तपस्विनम्। धर्मस्य ज्ञानद चैव जिनधर्मोपदेशकम् ॥ २७ ॥
परपीडा च जानाति आत्मपीडामिव सदा। परोपकारकरणे हि दयार्द्रचित्तधारक ॥ २८ ॥

ऐसा विचार करना कि जीव अपने कर्मोंके विपाक (फल) से चारो गतिमें दुःखको प्राप्त हो रहे हैं। इन जीवोका कर्मका सबध कब नाश को प्राप्त हो। ये जीव कब दुःखोंसे छूट जावें। इनको सन्मार्गकी प्राप्ति कब हो जावे इस प्रकारका अभयदान समस्त जीवोंपर देनेकी इच्छासे समस्त जीवोपर परम करुणाभाव रखकर उनके दुखोका प्रतीकार करना सो भूतअनुकपा है।

अर्थः— व्रतियोपर अनुकपाका क्या स्वरूप है ?

हे मगधेश्वर पच अणुव्रतके धारक या पाच महाव्रतके धारक, सयमी, व्रती और श्रेष्ठ चारित्रके प्रतिपालक पुण्य पुरुषोको दुखी देखकर श्रेष्ठ धर्मकी वृद्धिके लिये दयाभाव प्रदर्शित करना, उनके पवित्र गुणोकी चाहना प्रकट कर पूज्य भावसे उनके दुःखोंका नाश करना, उनकी पीडाको शात करना, वृद्ध बाल तपस्वी गणोकी सेवा वैयावृत्य करना, रोगी और असमर्थ सयमी को धर्म साधनमें लगाये रहना, धर्मात्मा 'साधर्मी भाईयोंकी आदरभावसे सेवा सुश्रुषा करना, ज्ञानी विद्वानोको धर्मके अग समझकर उनका आदरभाव करना; पाठक, उपाध्याय और धर्मके स्वरूपको व्यक्त करनेवाले भव्य जीवोको सहायता कर धर्ममार्गमें दृढ बनाये रखना, दूसरोकी पीडाको आत्मपीडा समझनेवाले भव्य

व्रत्यनुकंपाभिधं सैव गुण संसारनाशकम् । प्राप्नोति मगधाधीश अनुकंपात्र किं भवेत् ॥ २९ ॥
संसारहेतुहर्तारं दानं पात्राय योजयेत । चतु प्रकारं यो भावात गुण दानाभिध लभेत् ॥ ३० ॥
ससारवर्द्धकान्येव द्रव्यकर्माणि वा तथा । भावकर्माण्यपि यो हि त्यजते मनसादित ॥ ३१ ॥
सो हि सरागसंज्ञंच गुण शिवप्रदं नृप । लभते भावशुद्धित्वात् क्रमान्मोक्षपदं खलु ॥ ३२ ॥

जीव साधर्मि भाइयोको सब प्रकारसे सुखी बनाना, परोपकार दयाभावसे करना इत्यादि अनेक प्रकारसे धर्मअंगोंकी दृढता करना सो व्रती अनुकंपा है । ससारका नाश करनेवाला एक यही गुण है । इस गुणसे समस्त पापकर्म एक क्षण मात्रमें विलीन हो जाते हैं । और अनंत पुण्यकर्म संपादन होता है ।

अर्थ—दानका स्वरूप क्या है ?

हे राजन् जिस दानसे संसारके बंधनोंका नाश हो वही सत्यदान है बाकी कुदान है । दान पात्रमें ही दिया जाता है । पात्रमे प्रदान किया हुआ दान सत्यदान कहलाता है । कुपात्र और अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान कुदान कहलाता है ।

चार प्रकारके पात्रमें (मुनि–आर्यिका श्रावक श्राविका) चार प्रकारका दान ससारका नाश करता है । और इसके व्यतिरिक्त अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान ससारको बढाता है ।

अर्थ—सराग सयम किसको कहते हैं ?

हे राजन्! संसारको बढानेवाले द्रव्यकर्म और भावकर्मों को मनकी विशुद्ध वासना से नहीं छोडना सो सराग संयम है । भावार्थ—बाह्य वचन और कायकी क्रिया संयमरूप हो परंतु मनमें संकल्प विकल्पोंकी भावना हो, द्रव्य कर्म और भावकर्मोंके परित्याग करनेमें मनकी विशुद्धता नहीं हो सो सराग सयम है । राग सहित संयम सो सराग

षड् वै जीवनिकायेषु दयापरिणामकारणात । षडिन्द्रियाणां बंधत्वात् परसंतोषकारणात ॥ ३३ ॥
स्वात्मता सर्वभूतेषु निवृत्तिता ह्यघात्तथा । आच्छादनत्वात् परेषा दोषाणा धर्मदेशनात् ॥ ३४ ॥
क्रियते य पुमान् स्वस्मिन् गुणान् चेमान् सुखप्रदान् । संयमाख्यं गुणं सैव प्राप्नोति चेलनाप्रिय ॥ ३५ ॥
सयमेन ह्ययं प्राणी शोभते नरनायकः । सर्वपापक्षयं कृत्वा मोक्षधाम व्रजत्यहो ॥ ३६ ॥
संयमेन विना सर्वा क्रियाः हि निष्फला मता । मुनीना वा गृहस्थाना तपोदानादिका' खलु ॥ ३७ ॥

सयम है । यह सराग संयम क्रमसे मोक्ष के सुखको प्रदान करनेवाला है ।

अर्थ—सयम का स्वरूप क्या है ?

चेलनाप्रिय श्रेणिक महाराज ! छह प्रकार (पृथ्वी काय–अप् काय–तेजकाय–वायुकाय वनस्पति काय और त्रस काय) के जीवो की रक्षाके लिये अपने परिणामों की विशुद्धताको धारण कर अपने मन और इन्द्रियोंको रोकना अथवा इन्द्रियोके बिषयोका परित्याग करना–दूसरोको सतोप भाव प्राप्त हो ऐसा सरलतासे दयाभाव प्रदर्शित करना समस्त जीवोको अपनी आत्माके समान समझकर समस्त जीवोपर दयाभाव रखना सब जीवोकी रक्षा करना–पापकार्यों से भयभीत होना' दूसरोके दोपोको ढांकना, धर्मोपदेशके द्वारा दयाभावका प्रचार करना–इत्यादि कार्योंसे संयम भावना प्रकट होती है ।

आत्माके परिणामोंको विशुद्ध बनानेके लिये मन और इन्द्रियोको वश करना–विषय कपायोंका परित्याग करना संयम है।

अर्थ—संयमके पालन करनेसे मनुष्यजीवन की शोभा है । संयमके पालन करनेसे ही जीव कर्मोंका नाश कर मोक्षसुखको प्राप्त होता है । संयम के विना समस्त, जप तप दान आदि क्रियाएं व्यर्थ हैं ।

तरिता तरंति भो भूप तरिष्यति नरोत्तमा । ये हि चानेन लोकेस्मिन् नान्योपायोस्ति किंचन ॥ ३८ ॥
क्रोधाद्याना त्रयाणा च निवृत्तिर्यत्र तत्र वै । क्षातिर्भवति भो नूनं सर्वाशर्मविनाशिका ॥ ३९ ॥
य इमा वारयत्येव सैव क्षात्यभिधं गुणम् । सर्वसंपत्तिकर्तारं प्राप्नोति मनुजोत्तम ॥ ४० ॥
क्रियते यद्विरमणं लोभस्यालोभवस्तुत । परलोकनिदानस्य वा पुमान् हि त्रिशुद्धिन ॥ ४१ ॥
सैव शौचाभिधं नून गुण ह्यगीकरोत्यहो । आत्मशुद्धकरं भूप निर्ममत्वस्य कारणात् ॥ ४२ ॥
जिनेन्द्रबिंबसत्स्नानकरणाच्च रसोत्करै । तत्पूजनात्सुद्रव्योघै स्तवनान्नमनात्तथा ॥ ४३ ॥
वैयावृत्यविधानाच्च बालवृद्धतपस्विनाम् । साधर्मिजनसंसर्गात् स्वस्य कुलस्य पोषणात् ॥ ४४ ॥

सयमको पालन कर ही भव्य जीव मोक्षको प्राप्त होंगे । संयमसे ही संसारसमुद्रसे जीव तरते है । तिरे हैं । और तिरेंगे । मोक्ष मार्गकी प्राप्तिका उपाय सयमके विना अन्य कोई नही है ।

अर्थ—क्रोध आदि विकार त्रयकी निवृत्ति होना सो क्षांति है ।

भावार्थ—क्रोध-मान-माया आदि विकारोंको मनकी पवित्रतासे रोक लेना-उत्पन्न नहीं होने देना सो क्षांति है- क्षातिसे समस्त दु ख नाशको प्राप्त होता है ।

अर्थ—हे राजन् लोभका त्याग करना सो शौच है । समस्त वस्तु मात्रसे निर्ममत्व भावको धारण कर अपनी पवित्र आत्मामें लवलीन होना सो शौच है । इससे महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है ।

अर्थः—श्रीमज्जिनेन्द्र देवकी प्रतिमाका भक्तिपूर्वक शुभभावो से पचामृत (दही दूध घी शर्करा सर्वौषधि) से स्नान करना-पूजन वंदना स्तोत्र आदिके द्वारा भगवान्‌के गुणोका स्मरण करना प्रभुको भक्तिसे नमस्कार करना वृद्ध बाल रोगी तपस्वियोंकी वैयावृत्य करना-साधर्मी भाइयोकी सेवा सुश्रुषा और दान मान समर्पण करना अपने कुल और

मोचनात् परबंधस्य परदुःखनिवारणात् । क्षुधिताय प्रदानाच्च भोजनस्योदकस्य च ॥ ४५ ॥
मुनीनां त्यक्तसंगानां हस्तपादादिमर्दनात् । तेषां पादारविंदानां धोवनात्प्राशुकैर्जलैः ॥ ४६ ॥
वस्त्राभरणदानाच्च गृहिणां ब्रह्मचारिणाम् । दयादानस्य सद्दानादन्येषां सर्वप्राणिनाम् ॥ ४७ ॥
इत्यादिगुणसंदोहधारणादस्य नु नृप । भवति ह्याश्रवा नूनं सद्वेद्यस्यैव सर्वदा ॥ ४८ ॥
केवलिश्रुतसंघानामवर्णवादतोऽस्य नु । तथाहि धर्मदेवानां भवत्यावरणो ननु ॥ ४९ ॥
भूप दर्शनमोहस्य यस्यैव कारणात् खलु । सम्यग्दर्शनसंप्राप्तिः नो भवति कदाप्यहो ॥ ५० ॥
एषां संक्षेपतः कुर्वे वर्णनंच पृथक् पृथक् । शिवदं त्वं शृणु भूप स्वचित्तस्य समाधिना ॥ ५१ ॥

कुटवी जनोका नीतिपूर्वक पालन करना दूसरे जीवोको वधनोंसे मुक्त करना भूखे जीवोंको भोजन पान करुणाभावोंसे देकर संतोषित करना दीन असमर्थ लोगोंकी करुणाभावसे सहायता करना रोगी और पीडातुर जीवोंको कष्ट से छुडाना मुनिजनोंके हाथ पांव आदिको दवाकर सेवा करना—भक्ति करना वैयावृत्यके द्वारा उनकी यथोचित सेवा करना उनके चरणकमलोंको प्राशुक निर्मल जलसे धोवना, जैनधर्म अनुयायी गृहस्थोंको वस्त्राभूषण प्रदान करना ब्रह्मचारी आदि संयमी जनोको वस्त्र आदिका देना दयादानका करना इत्यादि अनेक शुभ कारणोसे सातावेदनी कर्मके आश्रव होते हैं।

अर्थ·— दर्शन मोहनी कर्मके आश्रवके कौन कौनसे कारण है ?

हे राजन् केवली —श्रुत—चतुर्विध संघ और धर्ममें अवर्णवाद लगाना असत्स्वरूप कल्पना करना सो दर्शनमोहनी कर्मके आश्रव है। इनसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नही होती है। आगे इन सबका खुलासासे लक्षण बतलाते हैं।

दुर्बुद्धिधारका. केचित् ब्रुवत्येव मनोक्तित । महामिथ्यात्वसंमग्ना सदा द्वापरसंभृता ॥ ५२ ॥
कोट्यादिपूर्ववर्षाते जीवति भोजनादृते । कथं केवलिनश्चेमे इदं पश्यत सज्जना ॥ ५३ ॥
गुप्तत्वेन सदाहारं भुजति सकला इमे । अतो हि संशयो नास्ति देवाच्यों केवलेक्षणा ॥ ५४ ॥
सामान्यपुरुषोप्येव विना न्यादेन अत्र हि । महातो तदृते तेहि कथं तिष्ठति भो बुधा ॥ ५५ ॥
आतका हि भवत्येव तेषा शातिरंजसा । भेषजैश्च प्रकुर्वंति देवा तत्सेवका इत ॥ ५६ ॥

अर्थः— केवली भगवानको आवरण किस प्रकार लगाया जाता है?

हे राजन् चार घातिया कर्मोको नाश कर केवली भगवान अनत चतुष्टय युक्त होते हैं। उनकी अनत चतुष्टयता (अनत ज्ञान, अनत दर्शन, और अनंत ही वीर्य—और अनतसुख) तब ही प्राप्त होती है जब कि वे प्रभु अपने ध्यान—सयम— और योग द्वारा समस्त दोषोका नाश करदेते हैं। केवली भगवान् के उस समय क्षुधा प्यास—जरा—रोग—चिंता—शोक उपसर्ग आदि एक भी दोष नहीं रहता है। इसीलिये उनमें वह अतिशय प्रकट होता है कि जिसके प्रभावसे देव नागेन्द्र और समस्त त्रिलोकके जीव उनको सर्वोत्कृष्ट और पूज्य समझकर नमस्कार करते है, भावभक्तिसे पूजा स्तवन और गुणगान करते है। परंतु ऐसे महान पूज्य केवली भगवान् के अज्ञानी अवर्णवाद लगाकर असत कल्पना करते हैं।

अज्ञानी और सशयशील मनुष्यो का ज्ञान प्रमाणरूप नहीं होता है इस लिये मदोन्मत्त पुरुषके समान मूर्खता वश कहते हैं कि भगवान् समोसरणमें कोटि पूर्व वर्ष पर्यंत विना आहार के सजीवित नहीं रहसक्ते इस लिये गुप्त आहार ग्रहण करते होंगे। लुप छिपकर देवगण या उनके भक्त गण आहार करा देते होंगे। एक साधारण पुरुष आहारके बिना एक वर्ष नहीं रह सक्ता तो महान् पुरुष कोटि वर्ष पर्यंत किस प्रकार सजीवित रह सक्के है?

उपसर्गोपि जायंते किंचित्पापोदयाच्च वै । निर्जरा तद्विनाशं च कुर्वंति नात्र संशय ॥ ५७ ॥
न नग्नापि तथाप्येव षोडशाभरणान्विता । सर्वेषां च प्रदृश्यते देवातिशयमंडिता ॥ ५८ ॥
तुंबी वा कंबलं दंडं रक्षति न न संशय । कालभेदेन वर्तेत तेषां ज्ञानोपि निश्चयात ॥ ५९ ॥
केवलज्ञानिनामेव सर्वेषु महता खलु । तारकाणां च सर्वेषां निर्दोषाणां विमानिनां ॥ ६० ॥
निर्लिंगाभिधनागेन्द्रखचरेन्द्रनरेन्द्रभि । पुज्यपादारविंदाना गुणवतां गुणेष्वपि ॥ ६१ ॥

केवली भगवानको रोग भी होता है । जब भोजन करते है तब उसका विकार कफ वात और पित्त अवश्य ही रोगोकी उत्पत्ति करेंगे । और उसकी शांति देवगण करते है । अथवा उनके भक्तगण अनेक प्रकारकी औषधियोके द्वारा शांति करते हैं ।

केवली भगवानके उपसर्ग भी होते है । क्योकि अभी उनके पापका कारण असाता वेदनी कर्मका उदय मौजूद है । असाता कर्मके उदयसे दुख और उपसर्गोका होना स्वाभाविक बात है । पापसे क्या नही होता है । भगवानके असाताका उदय होना यह भी तो पाप है ।

केवली भगवान यद्यपि नग्न है तो भी उनकी शोभा देवगण षोडश भूषण पहनाकर करते हैं । क्योकि भगवान त्रिलोक के प्रभु है और वे नग्न रहें तो उनका अतिशय ही क्या रहा ? और उनकी प्रभुताही महान कैसी मानी जावे ? क्योकि महान वही है जो उत्तमोत्तम पदार्थोसे सुसज्जित रहता हो ।

केवली भगवान् तुंबी-दड-और कंबल रखते है क्योकि इसके विना वे प्रभु शौच क्रिया किस प्रकार करें । तथा भयका निवारण किस प्रकार करें एव शीत आदिकी वाधा से अपनी रक्षा किस प्रकार करें ।

इत्यादिगुणयुक्ताना येऽन्मा कल्पयंत्यहो । असद्भूताभिध दोषमनंतभवदायकम् ॥ ६२ ॥
प्राप्नुवंति नूनं ते हि केवल्यावरणाभिधम् । दोषं भो मगधाधीश भवाकूपारवर्द्धका ॥ ६३ ॥
प्राशुकस्य पलस्यैव मधो मद्यस्य वा तथा । नवनीतस्य वा प्राशे नो दोष किमपि खलु ॥ ६४ ॥
मातृस्वस्रादिकस्यैव मेथुने कदभक्षणे । रात्रिभोजनपानादौ अंहो नास्ति कदाप्यहो ॥ ६५ ॥

केवली भगवानका ज्ञान भी कम बढ (न्यूनाधिक) हो जाता है । कालभेदसे केवली भगवानके ज्ञानमें हीनता प्रकट होती है ! भगवानके शयन समय ज्ञान ठीक ठीक नहीं रहता है और जाग्रत अवस्थामें वे सावचेत रहते हैं ।

इस प्रकार केवली भगवान में अनेक प्रकारकी असत् कल्पना अपने मनोनीत भावोंसे कितने ही अज्ञानी करते हैं। परतु केवली भगवान में उक्त प्रकार की असत् कल्पना किसी प्रकारभी सभावित हो नहीं सक्ती है। जब कि केवली भगवानने समस्त कर्मोंका प्रचड राजा मोहनीय कर्मका ही नाश कर दिया है तब फिर उनके दोषोत्पत्ति किस प्रकार हो सक्ती है। समस्त दोष मोहनीय कर्मके उदयसे होते हैं। उसके अभावमें दोषोंकी सत्ता रह नहीं सक्ती।

इसलिये भगवान में दोष नहीं होते हुए भी कल्पित कर मिथ्या स्वरूप मानना सो केवलीका अवर्णवाद है। इससे मोहनीय कर्मका आश्रव होता है। जिससे अनत ससारका बंध हो।

अर्थ—मांस पकाकर प्राशुक होता है। उसका भक्षण करनेमें धर्म शास्त्रकी आज्ञा है। इसी प्रकार मद्य—मधु [शहत] और नवनीतके सेवन करनेमें कोई भी हानि नहीं है। दोष नहीं है। इस प्रकार मलिन और त्रसहिंसासे निरंतर परिपूर्ण पदार्थोंका सेवन करना पवित्र मानना और ऐसी शास्त्रकी आज्ञा बतलाना यह श्रुत [शास्त्र] का अवर्णवाद है ।

कामबाधा यदा साधो उत्पद्यते तदैव हि । सेवनीयं च वित्तस्य स्त्रिय दासीं च कन्यकाम् ॥ ६६ ॥
वा साधो सेवका नूनं स्ववैयावृत्यसिद्धये । अर्पणीयाश्च स्वनामा कामार्तायैव साधवे ॥ ६७ ॥
अर्पण न करोत्येव स्वस्त्रिया साधवे च य । सैव स्वधर्मतो बाह्यो मतो नास्त्यत्र संशय ॥ ६८ ॥
इत्याद्ये ये वजंत्येव उन्मार्गे चाक्षपोपका । केचित् पृच्छति तानेव बाहो कुमार्गपोपका ॥ ६९ ॥

माता बहिन पुत्री आदि परस्त्रीके सेवन करनेमें मूलकंदके भक्षण करनेमें-रात्रिमें भोजन पान करनेमें पापकी प्रवृत्ति नही मानना इस प्रकार नीति और सदाचार विरुद्ध पदार्थोंका सेवन करना और उसको उत्तम समझ धर्मशास्त्रकी आज्ञा मानना सो श्रुतका अवर्णवाद है।

जिस समय साधु (मुनिजन) को कामपीडा उत्पन्न हुई हो। तो वह अपनी पीडाको वेश्या दासी और किसीकी भी कन्याका सेवन कर शात कर सक्ता है। इसमें कुछ भी पाप नही है। यहा साधुका धर्म है कि पीडाको किसी प्रकार भी शांत कर सुखी रहे-ऐसी आज्ञा धर्मशास्त्रकी बतलाना-इस प्रकार अपने मनकी मलिनतासे धर्मशास्त्रमें मिथ्या दोप लगाकर कहना सो श्रुतका अवर्णवाद है।

अथवा साधुकी कामपीडाको शांत करनेके लिये उनके भक्तगणोको अपनी अपनी सुदर स्त्रियोका दान कर देनेमें विशेष वैयावृत्य होता है। जो भक्त इस प्रकार अपनी सुंदर स्त्रीको साधुकी कामपीडाको शात करनेके लिये प्रदान करता है वह धर्मको स्थिर करनेवाला वैयावृती है। कदाचित् कोई भक्त इस प्रकार कामपीडाकी शांतिके लिये अपनी स्त्रीको साधुके लिये नहीं प्रदान करे तो वह अपने धर्मसे बाह्य है, इसमें जरा भी सदेह नहीं है । इस प्रकार अपने अपने स्वार्थको सिद्ध करनेके लिये महानसे महान भयंकर पापको भी उत्तम मानना और उसको धर्मशास्त्रकी ज्ञा बतलाना यह सब श्रुतका अवर्णवाद है।

काचार मर्वनिंद्य च भवद्भि पापकारकम् । इद कस्यानुसारेण आगमस्य च स्वीकृतम् ॥ ७० ॥
अगीकृत च अस्माभि दत्त्वा सकल बुधा । आचरण तद्धि शास्त्रोक्त तद्विना न किमपि नो ॥ ७१ ॥
इमे सर्वे च संप्रोक्ता आगमेषु न संशय । स्त्रीसेवनादिका कार्या नो निन्दातो भजामहे ॥ ७२ ॥
शास्त्रादृते किमप्येव नास्त्येवाचरण खलु । अस्माक शास्त्रमर्यादात्सर्वमस्ति क्रियादिकम् ॥ ७३ ॥
इत्युक्त्वा गुणरतो महतो हि श्रुतस्य च । असद्भूत च दुर्दोष ददाति यो हि मानव ॥ ७४ ॥
श्रुतावर्णवादाढ्य सो हि दोष कुदु स्वदम् । स्वीकरोत्येव भो भूप शास्त्रदोषप्रदानत ॥ ७५ ॥
यथा हि पर्वतो विप्र गतो हि मतमात्मनो । कथयित्वैव जीवौघा घातयोग्या इमे खलु ॥ ७६ ॥

अर्थः--इस प्रकार धर्मशास्त्रमें मिथ्या अवर्ण वाद लगानेवालोंसे कितनेही विचारशील मनुष्योंने पूछा कि हे नीति और सदाचारकी पवित्र मर्यादाको अपने स्वार्थसे नष्ट करनेवाले हो और इसी लिये पवित्र धर्मशास्त्रको बद-नाम कर अपना मतलब सिद्ध करनेवाले हो, यह निंद्य पापकारक मलिन आचरण कौनसे आगमसे कहते हो और आ-चरण करते हो ?

यह सुनकर पापीने कहा कि जो कुछ हम आचरण करते हैं वे सब धर्मशास्त्रसे ही करते है। धर्मशास्त्रकी आज्ञाविरुद्ध कुछभी नहीं करते हैं। " कामपीडित साधुको स्त्री देना " मांस मद्य मधु नवनीत आदिका भक्षण कर-नेमें हानि (पाप) नही बतलाना इत्यादि जितने कार्य है वे सब शास्त्रमें बतलाये है। इसमे संदेह नही मानना चाहिये। शास्त्रविरुद्ध चलनेमे हम भी पाप समझते है। परतु हमारे शास्त्रोमें उक्त समस्त क्रिया करनेकी आज्ञा दी है। इसप्रकार परम पवित्र धर्मशास्त्रमें असद्भूत दोषोको लगाना सो श्रुतका अवर्णवाद है ।

तथा हि किं न यास्यति ग्रंथदोपस्य कारणात् । ते मूढा इन्द्रियाणा च पोपका शास्त्रनिंदका ॥ ७७ ॥ *
धूर्ता पशूपमाश्चेमे शूद्रा दिगंवरा खलु । तथा त्रयीवहिर्भूता शुचित्वकर्मवर्जिता ॥ ७८ ॥
निर्लज्जा मललिप्तागा अत्रैव दु खभाजना । परत्रापि भविष्यति महादु खस्य भाजना ॥ ७९ ॥
महता कथयत्येव य पुमान् सैव निश्चयात् । सघावरणवादाख्य दुर्दोपच लभत्यहो ॥ ८० ॥
निर्गुणोय खलु धर्मो जिनोक्तो धर्मवर्जित । वर्तंते ये हि लोकेस्मिन् पुरुषा तद्विधायका ॥ ८१ ॥

हे राजन् यह श्रुतावर्णवाद महान् पापका आश्रव करनेवाला है । पर्वत ब्राह्मणसमान सातवें नरकमें ले जाने वाला है । पर्वतने भी जीवहिंसाको धर्म बतलाया था और यह शास्त्रमें लिखा है गुरूजीने धर्मशास्त्र इसी प्रकार बतलाया है इस प्रकार श्रुतमें मिथ्या स्वकल्पित दोपोंका लगाना सो सब श्रुतका अवर्णवाद है ।

अर्थ—सघका अवर्णवाद क्या है ?

हे राजन् पवित्र और सर्वोत्कृष्ट सदाचारको पालन करनेवाले—कुल और जातिसे अतिशय विशुद्ध—त्रिवर्णमें से किसी एक वर्णको अपने शरीरमे धारण करनेवाले शांत—मन और इन्द्रियोंको विजय करनेवाले समस्त दोपोंसे मुक्त ऐसे दिगंबर साधुओंको धूर्त—पशुसम शूद्र कहना मलिन बतलाना निर्लज्ज कहना दुःखके पात्र मानना सो यह सब सघका अवर्णवाद है । संघमें असद्भूत दोपोंकी कल्पना कर मिथ्या निंदा करना है ॥

अर्थ—धर्मका अवर्णवाद किस प्रकार होता है ? हे मगधेश्वर ! श्रीजिनेन्द्र देवद्वारा प्रतिपादित (अहिंसा

* कितने ही मत मास सेवनादिक अपने धर्मशास्त्रोंमें बतलाते है । तथा कितने ही साधुओंको अपनी स्त्री प्रदान करनेमे पुण्यकी प्राप्ति बतलाते हैं ।

तेहि सर्वेपि चाग्रेहि भविष्यंत्यसुरा. खलु । अतोयं सर्वतो वाह्यः संप्रोक्तो वेदधारिभिः ॥ ८२ ॥
वेदधर्म्मेण सर्वेहि लोका तरति चान्यत । नो तरंति कदाप्येव अस्माद्वाह्या परे मता ॥ ८३ ॥
महति गुणवति चैव तारके भव्यदेहिनाम् । ईदृशे सर्वदेवेन्द्रै पूज्ये धर्मेच्युतोऽमे ॥ ८४ ॥
केवलज्ञानसपन्नै प्रणीते दोषवर्जिते । य पुमान् स्थापयत्येव दोषं पूर्वोक्तसंज्ञकम् ॥ ८५ ॥
धर्मावरणवादाव्हं दोष प्राप्नोति सैव वै । अनंतभवदुःखाना कारक मगधाधिप ॥ ८६ ॥
सर्वज्ञोक्तसमं धर्म नो परं भुवनत्रये । मोक्षदं पापहतारं मताऽन्ये दु खदायका ॥ ८७ ॥
पिबंत्येव इमे सर्वे निर्जरा नात्र संशय । मद्य अदति मास च मधु वा चामृतोपमम् ॥ ८८ ॥
होमस्य सकलाते हि साग्री स्वात्मतोपदाम् । स्वीकुर्वत्येव रक्तंच सद्योजान च निश्चयात ॥ ८९ ॥

परमो धर्म) अहिंसास्वरूप सर्वोत्तम पवित्र सदाचार विशिष्ट-इन्द्र नरेन्द्र विद्याधरादि त्रिलोकके उत्तम पुरुषोंसे सेवनीय ऐसे पवित्र जैन धर्मको निर्गुण बतलाना अधर्म स्वरूप बतलाना उसके धारण करने वाले मरकर असुर-राक्षस आदि होंगे ऐसा असद्भूत दोष लगाना जैनधर्म वेदको नही मानता है अतएव नास्तिक है धर्मबाह्य है ससार के समस्त जीव वेदसेही तरेंगे । अन्य धर्मसे नहीं । इस प्रकार अपने अज्ञान भावोंसे हिंसा (पशुबलि) करने वाले वेदके धर्मको सत्य समझकर परम दयामयी सत्य जैन धर्ममें असद्भूत दोषोकी कल्पना करना और असत् दोषोको अपनी मनोनीत कल्पना से पवित्र जैन धर्ममें लगाना सो समस्त धर्मका अवर्णवाद है ।

अर्थ—देवोका अवर्णवाद किस प्रकार होता है ?

हे श्रेणिक देवोंका शरीर वैक्रियक होता है-इस लिए उनके शरीरमें मद्य मांस आदिका कुछ भी सबध नही है । देव स्वय पवित्र होते है । वे मद्य मांसका सेवन नही करते हैं । परतु मिथ्यात्व कर्मके उदयसे ऐसे पवित्र

एषामर्थ च सर्वेहि रचिता जंतवोखिला॰ । स्वयंभुवा अतो नून होमविधिरपि तथा ॥ ९० ॥
देवार्थ मारयं.येव ये जीवा तेहि सत्पदम् । प्राप्नुवंत्यत्र सदेहो नास्त्येव तद्धि शर्मणात् ॥ ९१ ॥
होमाग्नौ पतिता येहि वामा वा पुरुषोत्करा । हस्त्यश्वा. सौरभेयाश्च अजावृदा नपुसका. ॥ ९२ ॥
तेहि सर्वे गता नाकलोके शर्माब्धिसभृते । एषा मास च देवाहि स्वीकुर्वंति सदैव हि ॥ ९३ ॥
होमकाले अतो यज्ञ विधि प्रोक्त स्वयंभुवा । नास्त्यत्र सशयो नून नानाशर्मप्रदायकम् ॥ ९४ ॥

देवोको मद्यपायी बतलाना मांस भक्षी कहना–मधुसेवी कहना सो देवोका अवर्णवाद है ।

इसी प्रकार (देवोके विषयमें) होमके समय देवगण तत्काल काटे हुए बकरा आदि पशुओका रक्तपान करते है । उनका मांस भक्षण करते है । इसीके लिए समस्त जानवर प्राणी बनाए गए है ।

जो देवोको प्रसन्न करनेके लिए जीवोको मारकर बलिदान देते है वे सत्पथके गामी हैं । उनको स्वर्गके सुख प्राप्त होते हैं । इसलिए देवोके सामने पशुओको मारकर चढाना यह उत्तम धर्म है ।

स्त्री-पुरुषोंके हाथसे होममें पडे हुए हाथी घोडे कुत्ते बकरे नपुंसक मनुष्य और दूसरे प्राणि मरकर नियमसे स्वर्गको प्राप्त होते हैं ।

होममें बलि चढाए हुए जीवोका मांस देवगण स्वीकार कर भक्षण करते है । इसीलिए ब्रह्माने ऐसे जीवोकी सृष्टि निर्माण की है ।

इस प्रकार ब्रह्माने जीवोको स्वर्गकी प्राप्तिके लिये होम विधि बतलाई है । और होममें जीवोको मारकर

इत्यादि उक्तितो येहि ब्रुवति तेहि निश्चयात् । लभते दु खदं दोषं देवस्यावर्णवादजम् ॥ ९५ ॥
अदोषे दोपकथनादस्य नुरेभि कर्मभि । मिथ्यात्वाभिधमोहस्य आश्रवा हि भवंत्यहो ॥ ९६ ॥
शृणु चारित्रमोहस्य कारण कथयाम्यहम् । तीव्रभावो भवत्येव कषायोदयतो ननु ॥ ९७ ॥
यस्य तस्यैव चारित्रमोहस्य भवति खलु । बंधो भो मगधाधीश सर्वदु खप्रदायक ॥ ९८ ॥

बलि चढाना बतलाया है ।

यदि देवोको जीव मारकर नही चढाये जावें तो देवगण कुपित हो जायंगे । इसलिये उनकी प्रसन्नताके लिये जीवोकी बलि देना चाहिये ।

इस प्रकार पवित्र देवोमें असद्भूत दोपोकी अपने स्वार्थके लिये मिथ्या कल्पना कर अवर्णवाद लगाना सो देवावर्णवाद है । यह अनत दुःखोंको प्रदान करनेवाला है, इसमें संदेह नहीं है ।

अर्थः— इस प्रकार केवली, श्रुत, सघ, धर्म, देवके सर्वथा निर्दोप स्वरूपमे दोप कहना, असद्भूत कल्पना करना सो मिथ्यात्व कर्मका कारण है । अनत ससारको बढानेवाले मिथ्यात्वका आश्रव इससे होता है ।

अर्थः— हे मगधेश्वर चारित्र मोहनी कर्मके आश्रव बतलाते ह — कपायोंके उदयसे परिणामोंमे तीव्र कपाय पूर्वक सक्लेश भावोके होनेसे चारित्र मोहनी कर्मका आश्रव होता है । कपायोका उदय और तीव्र परिणाम चारित्र मोहनी कर्मके बधके कारण है ।

व्रतिना शीलयुक्ताना मुनीना ब्रह्मचारिणाम् । वृथैव दूषण दुःख ददात्येवापवादकम् ॥ ९९ ॥
स्वस्य वा हि परस्यैव करोत्युत्पादन वृथा । कषायस्यैव यो नून तथा हि धर्मध्वसकम ॥ १०० ॥
मात्सर्य चैव पैशुन्य निंदा हास्य च धर्मिणाम् । शीलव्रतस्य त्याग हि विभ्रमोत्पादकं तथा ॥ १ ॥
अतराय च सद्धर्मकार्ये क्रोधादिक तथा । संस्थासिजगमादीना सेवा वा व्रतधारणम् ॥ २ ॥
इत्यादिभिर्नराधीश अस्य जीवस्य निश्चयात् । बंधश्चारित्रमोहस्य भवत्यनतदुःखद ॥ ३ ॥

अर्थ--व्रती-सयमी-सदाचारी-मुनि-ब्रह्मचारी आर्यिका-श्रावक-श्राविकाओपर व्यर्थ दूषण लगा देना उनकी निंदा हो और धर्मका प्रभाव घटे ऐसा कार्य या अपवाद प्रकट कर देना धर्मको ध्वस करनेवाली हसी या कथा कहकर जीवोको सन्मार्ग मे हटानेका प्रयत्न करना धर्मात्मा पुरुषोमे मात्सर्यभाव रखना उनकी चुगली कर उनको सन्मार्ग से गिराने के भाव रखना शीलव्रतोके धारक पुरुषोको शीलका माहात्म्य घटानेके अभिप्राय मे विभ्रम

१ कुशिक्षा और विषयोंकी अनर्गल प्रवृत्ति जिस समय उत्पन्न होती है उस समय मनुष्यकी बुद्धिमें कुत्सित स्वार्थके वश दुर्वासना हो जाती है जिससे वह विवेकको भूलकर निर्दोष और पवित्र पुण्यपुरुषोंको अपने समान पापी बनानेका प्रयत्न करता है। उत्तम सदाचारीके गुणोको उनके सन्मान को उनके आदर्श चरित्र से उत्पन्न हुए निर्मल यशको देखने में असमर्थ होता है इसलिये किसी प्रकार मे उनकी निंदा कर जगतमें उनकी महिमा को न बढने दू इस प्रकारकी धारणासे अनेक प्रकार के दोष असद्भूत दोष-मनोनीत भावोंसे कल्पित कर जगत्के सामने रखता है। परतु इसमें संयमी या पवित्र चारित्रके धारक मुनिगणोंकी हानि नहीं होती है। उनका यश और अधिक उज्वल होकर विश्वव्यापी बनता है। परतु इसप्रकार कुत्सित कर्मसे अपनी आत्माको वह अवश्य ठगकर नरकादि दुर्गतियोका पात्र बनाता है।

यस्योदये हि कस्यैव नो भवत्येव श्रेणिक । चारित्रपालने शक्तिश्चाल्पमात्रापि नुर्ननु ॥ ४ ॥
वधो भवति भो भूप तीव्ररागस्य कारणात । परद्रव्यापहरणात् निश्चल्वैरकारणात् ॥ ५ ॥
मिथ्यादर्शनसंसर्गात शीलव्रतादिनाशनात् । अत्यैव कृष्णलेश्यत्वादत्यंतरौद्रध्यानत ॥ ६ ॥
बालवृद्धपशूनांच वधनान्मारणात्तथा । हिंसादिक्रूरकार्यस्य करणात्प्रेरणात्तथा ॥ ७ ॥
विषयाणामतिगृद्धत्वादनृतस्य च पोषणात । सेवनात्पररामाया निशाभोजनकारणात् ॥ ८ ॥
अगालितजलस्नानकरणात् कंदभक्षणात् । मधुमद्यादिमासानामदनाज्जिनर्निदनात ॥ ९ ॥

उत्पन्न कर देना धर्मकार्यमें अतराय कर देना सन्यासी-पाखंडी कपाली और बाह्य पुरुषोंकी सेवा करना इत्यादि सर्व चारित्र मोहनीके आश्रव हैं। हे श्रेणिक महाराज इस कर्मके उदयसे चारित्र पालन करनेकी अल्पमात्र भी शक्ति नहीं होती है।

अर्थ—नरक गति कौन कौन से कार्योंसे होती है ?

हे राजन् तीव्र राग का करना तीव्र मोह युक्त परिणामोको रखना दूसरोंके द्रव्यका अपहरण करना निश्चल वैर बांधना मिथ्यादृष्टियोंका संसर्ग करना ब्रह्मचर्यका नाश करना अथवा दूसरों के ब्रह्मचर्यका नाश कराना कृष्ण लेश्यामय होना-अत्यंत आर्त रौद्र ध्यानका सतत चितवन होना- बाल वृद्ध पशुओंको कोडा आदिसे पीटना अथवा क्षुद्र प्राणियो को मारना-असमर्थ दीन पशुओंको मारना-हिंसादि पाप कार्यों में सतत लगे रहना पापकार्योंकी तीव्र अभिलाषा रखना विषयोंमें अतिशय गृद्धता [विशेष अनुराग] रखना परस्त्री सेवन करना रात्रिमें भोजन करना विना छाने पानीसे स्नानादि समस्त क्रियायें करना कदमूलका सेवन करना-मद्यका पान करना-मांस

नर्कगत्यायुपश्चास्य कर्मण पुरुषस्यवै । इत्यादिकर्मतो नूनं सदा दु खविधायक ॥ १० ॥
वंचनात्परमर्त्यस्य असत्यानंदधारणात् । नीलकापोतलेश्यत्वात सदार्त्तध्यानकारणात् ॥ ११ ॥
लोपनात् सद्गुणानाच इतराणाच कीर्तनात् । अनर्थवचनस्यैव कथनात्परपीडनात ॥ १२ ॥
करणात् कृत्रिमवस्तोः दूतत्वाच्च परस्य वै । लोपनात् वचनस्यैव अन्यथैव प्रजल्पनात ॥ १३ ॥
मायाकुकर्मभिश्चैव इत्याद्यैर्भववृद्दे. । तिर्यग्योनिसम नून दु कर्मान्यो नाह नृप ॥ १४ ॥
तैर्यग्योन्यायुषो बंधो भवत्यस्यैव प्राणिन । अनंतानतदु खाना दायको वा भयप्रद ॥ १५ ॥
विनीतप्रकृतित्वाच्च परद्रव्यस्य हापनात् । स्वभावभद्रसंभावात् असूयत्वात्परस्य च ॥ १६ ॥

भक्षण करना शहतका सेवन करना श्री जिनेन्द्र भगवान और उनके पवित्र शासन की निंदा करना, जिनवाणी में दूषण लगादेना इत्यादि कारणों से नरक गति (नरकायु)का आश्रव होता है।

अर्थ—तिर्यंच कौन कौनसे पापोंमे होता है।

हे मगधेश्वर मायाचारी रखना, दूसरोंको ठगना, झूंठ वचन बोलना, नील कपोत लेश्याके परिणाम रखना आर्त्तध्यानके परिणाम बनाये रखना दूसरो के सद्गुणोका लोप करना और अपनी अपने आप प्रशसा करना अनर्थकारी वचनोंका बोलना दूसरोको पीडा देना कृत्रिम वस्तुका उत्पन्न करना, दूतकर्म करना, अन्य जीवोंको ठगना, मिथ्या प्रलाप करना, मिथ्या प्रजल्प करना, मायाचारसे ठगना इत्यादि पापकर्मोंसे तिर्यंच गतिका आश्रव होता है।

अर्थ — मनुष्य आयुका बध कौन कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे राजन् [नम्र स्वभाव रखने । सरल भाव रखनेसे दूसरोंकी द्रव्यकी चोरी अपहरण आदि नहीं करनेसे स्वभावसे भद्रपरिणामी होनेसे अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह रखनेसे मनुष्य आयुका आश्रव होता है।

शोषणात्स्वतनो व्रतध्यानाद्यै शुद्धकर्मभि । अतकाले चासक्लेशभावस्य करणात्तथा ॥ १७ ॥
भाषणान्मिष्टवाक्याना त्रसजीवादिरक्षणात् । शिकतारेखसमानक्रोधस्य धारणात्तथा ॥ १८ ॥
षट्कर्मपालनाच्चैव मिथ्यादर्शनवर्जनात् । क्रयाणा विक्रयाणा च शुद्धाना कार्यकारणात् ॥ १९ ॥
मिश्रपरिणामतश्चैवाल्पसंक्लेशभावत । जिनेन्द्रपूजनान्नित्य गुरूणा सेवनात्तथा ॥ २० ॥
श्रवणाज्जिनशास्त्राणा लिखित्वा अर्पणाच्च वै । गुरवे स्वस्य हस्तेन वा धनेनोपदेशत ॥ २१ ॥
भवभोगागशर्मादौ उदासीनस्य कारणात् । कापोतपीतलेश्यत्वात्परजीवस्य रक्षणात् ॥ २२ ॥
मानाभावात् मृदुभावादल्पारभस्य धारणात् । तथाल्पपरिग्रहत्वाच्च यथाविनयपालनात् । २३ ॥
इत्यादिकर्मतश्चास्य मानुषस्यैव आयुष । बधो भवति भो नून शर्माशर्मप्रदायक ॥ २४ ॥

सब जीवोंके साथ दया परिणाम रखना, व्रत ध्यानादिकके द्वारा अपने शरीरको कृश करना, उत्तम शुभाचरणोंका पालन करना, अत समयमें असंक्लेश परिणामोंका रखना मिष्ट हितकारी वचनोंका प्रतिपादन करना, त्रसजीवोंकी रक्षा करना बालूके समान क्रोधके परिणाम होना षट्कर्मोंका पालन करना मिथ्यात्वका परित्याग करना व्यापारमें नीति और श्रेष्ठ निष्ठका रखना परिणामोमें असक्लेशताको धारण करना जिनेद्र भगवानका पूजन करना, गुरुओंकी सेवा सुश्रुषा वैयावृत्य करना जिनवाणी शास्त्रोंका उद्धार करना अपने द्रव्यका जिनशासनकी वृद्धिमें उपयोग करना संसार भोग और देहसे विरक्त भावोका धारण करना पर पदार्थोंसे उदासीन रहना कापोत पीत लेश्या के परिणाम होना समस्त जीवोंकी दया पालना निरहकार भावसे सरस परिणाम व कोमल भावोंका होना गुरुजनोंका विनय करना इत्यादि कार्योंसे मनुष्य आयुका आश्रव होता है ।

पालनात् द्वादशाना च व्रतानां धर्मसंग्रहात् । मूलादिगुणव्रताना अगीकारस्य कारणात ॥ २५ ॥
धारणात् स्वेदमलाना बुभुक्षत्वस्य रोधनात् । सहनत्वाच्च तृष्णाया भूशयनस्य कष्टत ॥ २६ ॥
कष्टेन ब्रह्मचर्यस्य धारणात् वदिदुर्गृहे । परितापादिकाना च सहमानादिहादृते ॥ २७ ॥
एकदडी त्रिदडीना सन्यासितापसा पुन । तथा परमहसाना परिव्राजादिका पुन ॥ २८ ॥
इत्यादीना च वालाना सदाहिंसादिकारकाम् । परममिथ्यादृष्टीना तपसः सेवनादपि ॥ २९ ॥
कायक्लेशव्रतस्यैव धारणात्कष्टसेवनात् । तथाहि शुद्धसम्यक्त्वात् नित्येज्याकर्मकारणात् ॥ ३० ॥

अर्थ—देवगतिका आश्रव कौन कौनसे भावोंसे होता है ?

हे राजन् बारह प्रकार के व्रतोंका पालन करना धर्मका सेवन करना अठाईस मूलगुणोंका पालन करना आदि उत्तम चारित्र के धारण करनेसे देव आयुका आस्रव होता है। स्वेद मलको धारण करनेवाली दीक्षा लेना भूख प्यास आदि बाधाओंका सहन करना पृथ्वीपर शयन करना वदीगृह आदिके निमित्त से ब्रह्मचर्य पालना अकाम निर्जरा के कारण उत्पन्न करना परिताप-धूप-गर्मी-शीत-आदि बाधाओंका सहन करना एकदडी त्रिदडी सन्यासी बावा आदिके अज्ञान भेषोंको धारण कर मिथ्या तपश्चरण करना परमहस परिव्राज बनकर नग्न होकर तपश्चरण करना बाल तप-बाल चारित्र और बाल (हठ) योग ध्यान आदि क्रियाकांड करना हिंसादि क्रूर भाव वाली दीक्षाको धारण कर कष्ट सहना मिथ्या दृष्टियो के मलिन आचरणोंको धारणकर कष्ट सहन करना काय क्लेश का सहन करना कष्ट पूर्वक व्रतोंका धारण करना इत्यादि कारणोंसे देवगतिका आस्रव होता है।

शुद्ध सम्यग्दर्शन-शुद्ध चारित्र का पालन नित्य भगवानकी पूजादिक शुभ कर्मोंका पालन शुभ भाव-कषा-

इत्यादिहेतुतश्चास्य देवानामायुषो नृप । प्राप्तिर्भवति नुर्नूनं सदाशर्मप्रदायक ॥ ३१ ॥
केचिदेषांच मध्येहि कर्मवधा नरेश्वर । कुदेवयोनिकर्त्तार: केचित्सुदेवदायका ॥ ३२ ॥
पराधीनस्य मृत्यत्वात् वालादितपसस्तथा । अय जीव प्रयात्येव कुदेवयोनिपु सदा ॥ ३३ ॥
महावृताणुनतत्वात् सम्यक्त्वशुद्धभावत । यात्येव शुद्धदेवाना पदेपु वार्चनादितः ॥ ३४ ॥
शुद्धभावेन संप्राप्तिर्भवत्यस्यैव निश्चयात् । परमशातभावस्य उत्तरेणेतरस्य हि ३५ ॥
सिद्धिर्भवति मोक्षस्य चित्तशुद्ध्याहि अस्य नु । तथाहि इतरत्वेन श्वभ्रनिकोतकन्यवं ॥ ३६ ॥
मत्वेति सकला भव्या दानेज्याव्रतसत्त्वयम् । परिणामस्य संशुद्धया कुर्वीध्व च सदैव हि ॥ ३७ ॥

योकी शांतता ध्यानकी प्रवृत्ति सामायिक आदि व्रतोंका पालन इत्यादिक कारणोंसे उत्तम देवगतीका आश्रव होता है।

अर्थ—देवोंके भवनत्रिक और कल्पवासी ऐसे दो भेद है। भवनत्रिक सर्व कुदेव कहलाते हैं और कल्पवासी सुदेव (सम्यग्दृष्टी) कहलाते है। पराधीन और परवशसे व्रतोंका पालन करनेसे या बालतप (अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंका) तपश्चरण करनेसे कुदेव गतिका आस्रव होता है।

अर्थ—सम्यग्दर्शन सहित शुद्धभावोंके धारण करने से और सम्यग्दर्शन पूर्वक महाव्रत अणुव्रत आदि धारण करने से उत्तम देवायुका बंध होता है। विशुद्ध भावो से उत्तम देवगतिका बध होगा और मलिन भावोसे कुदेवगतिका बंध होगा।

अर्थ—इस जीवको मोक्षकी प्राप्ति सम्यग्दर्शनादिपूर्वक चित्तशुद्धि से होती है। जिनके ऐसी चित्तकी शुद्धि प्राप्त नही हुई है और मिथ्यात्व के उदयसे चित्तकी मलिनता प्रतिसमय मलिन हो रही है ऐसे जीवोको नरक या निगोद गतिका बंध होता है। इसलिये जिस प्रकार हो भावोकी शुद्धि सदैव निर्मल रखनी चाहिये। जिनके भाव निर्मल

भावशुद्धया च यो मर्त्यश्चाल्पमात्रमपि बुधा । दानपूजादि सत्कार्यं करोति सैव निश्चयात ॥ ३८ ॥
लभत्येव वरा पंक्ति शर्मणांच फलस्य हि । अंतरेण विनाचाग्रे जन्मनि जन्मनि सदा ॥ ३९ ॥
योगाना वक्रत्वाच्चैव विसंवादाच्च भो नृप । कुनाम्नश्च भवत्येव अस्याश्रवाश्च कर्मण ॥ ४० ॥
सक्षेपतश्च एतेषा शृणु व्याख्यानमजसा । त्याज्यं संसारभीतैश्च दयार्द्रचित्तधारकै ॥ ४१ ॥
कायेनाऽन्यत्करोत्येव वचसान्यद्ब्रवीत्यहो । अन्यद्धि चिंतयत्येव दुर्मनसा सदैव हि ॥ ४२ ॥

नहीं रहते है वे व्रत तप करनेपर भी उत्तम फल प्राप्त नहीं करसक्ते हैं। और जिनके भाव निर्मल हैं वे विना व्रत तपके भी सुगतिका लाभ सपाद्न करते हैं। इसलिये हे भव्यजीवो अपने अपने भावोंको भगवान की पूजा-दान-अभिषेक प्रतिष्टा महोत्सव जिन धर्मकी प्रभावना आदिसे विशुद्ध बनाओ जिससे भव भवमें उत्तम सुखकी प्राप्ति होती रहे।

कुनाम कर्मका आश्रव कौन कौन से कारणों से होता है ? हे राजन् ! मन वचन कायकी कुटिलता साधर्मि भाइयोंके साथ विसवाद करना इत्यादिक कार्योंसे कुनामकर्मका आश्रव होता है। आगे इसका विशेष खुलासा करते हैं।

अर्थ— कायसे कुछ अन्य कार्य करना वचन से कुछ अन्य ही भाषण करना और मनमें कुछ अन्य ही भाव रखना— [अर्थात् मन वचन और कायकी कुटिलता रखना— मायाचार पूर्वक प्रवृत्ति करना]-सो योगोंकी वक्रता कहलाती है। इस प्रकार योगोंकी वक्रतासे कुनामकर्मका आश्रव होता है।

(मन वचन कायकी कुटिलता) आत्मगत हो तो वह योगोंकी वक्रता कही जाती है। और वही दूसरो के लिये उत्पादिका हो तो उसीको विसवाद कहेंगे।

एवंहि त्रिविधानां च योगाना यस्य वक्रता । भवत्येव हि तस्यैव योगवक्रत्वमुच्यते ॥ ४३ ॥
मता आत्मगतत्वाच्च अस्यैव योगवक्रता । तथा परगतत्वाच्च विसंवादोहि सम्मत ॥ ४४ ॥
स्वस्य कौटिल्ययोगेन स्वस्मिन् कर्माणि यः पुमान् । वर्तते कुटिलान्येव स्यात्मदु खकराण्यहो ॥ ४५ ॥
सैव प्राप्नोति दोष च योगवक्रत्वमेहदम् । विसंवादस्य भेदोत्र कथ प्रोक्तो द्वितीयक ॥ ४६ ॥
सम्यक् प्रवर्त्तते कश्चित् क्रियासु मनुजोत्तम । परमाभ्युदयदायकेषु हि भद्रभावयुक् ॥ ४७ ॥
पुमांसं वर्तमान तं तत्रैव कोपि दुर्मति । दृष्ट्वा हि मानव स्वस्य विपरीतस्य तान्नमि ॥ ४८ ॥
मिथ्या प्रेरयति ह्येव माकार्षी भो नरोत्तम । त्वमेव च इदं कार्यं मयोक्त त्व कुरु सदा ॥ ४९ ॥

भावार्थ—अन्य मनुष्य के परिणामो में कुटिलता उत्पन्न कर वाद विवाद करना या अन्यके लिये अपने परिणामोमें कुटिलता लाकर वाद विवाद करना सो विसंवाद है।

अपने मन वचन काय अपने ही (आत्म कार्यके लिये) कार्यके लिये कुटिलताको धारण करे, मायाचार पुर्ण मन वचन कायकी प्रवृत्ति बनी रहे वह योगोंकी वक्रता है। इस प्रकार योगवक्रतासे कुनामकर्मका आश्रव होता है।

अब शका यह होती है कि दूसरा भेद विसंवाद है वह जुदा क्यो बताया है? इसलिये आगे विसवादका स्पष्टार्थ करते हैं —

अर्थ —— एक भद्रपरिणामी भव्य जीव श्री जिनागमकी आज्ञानुसार सम्यक् प्रकारसे एक शुभ क्रियामें प्रवृत्त हो रहा है। और शुभाचरणोको पालन कर रहा है। उसकी इस शुभ प्रवृत्तिको देखकर कोई दुष्ट जीव विपरीत भावोंको धारण कर अपने मन वचन कायकी कुटिलतासे कहे या मिथ्या प्रेरणा करावे या मिथ्यामार्गमें (स्व मनकल्पित असन्मार्गमे) लेजानेके लिये मीठी बातोसे समझावे कि, आप यह काम क्या करते हो? यह तो ठीक नहीं है।

इमे कार्या हि दातारो नो शिवस्य कदाप्यहो। कुर्वाणाश्च त्वया नून मया प्रोक्ता हि शर्मदा ॥ ५० ॥
इत्येव नाहि यो भूप मोचापयति यत्नरम्। शुभकार्यात्तथा त च दुर्मार्गे पातयत्यहो ॥ ५१ ॥
सैव तत्कर्मतो नून विसंवादाभिध नृप। प्राप्नोत्येव महादोषमशुभनामकारकम् ॥ ५२ ॥
मिथ्यादर्शनतश्चैव पशून्यत्वतस्तथा। धारणात्कूटमानाना तुलकायाश्च कूटतः ॥ ५३ ॥
कूटेन परद्रव्यस्य हरणान्मानकारणात्। वचनार्थं परेषा च वेषोज्वलत्वधारणात ॥ ५४ ॥

इससे आपकी हानि होगी। इस कर्मके करनेसे लाभ नहीं है। इस (पूजाभिषेक ब्रह्मचर्यकी रक्षा के लिये दान देनेसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होगी। यह मत करो और मै बतलाऊ वह कार्य करो जिससे सुख मिले लाभ हो। इस प्रकार उस भव्यजीव को शुभ कार्य से छुडाकर कुमार्गमें पात करादेवे पापकार्योंमें लगादेवे सो विसंवाद कहलाता है।

भावार्थ-विसवाद का यह अभिप्राय है कि मायाचारको धारण करनेवाले मनुष्योंकी मनकी दुष्टतासे जो स्वार्थ सिद्धिके लिए वचनकी मीठी मीठी प्रवृत्ति और कार्यकी मोहक चेष्टा जिससे सामनेवाला अपने अभिप्रायको नहीं जानकर अपनी बातोंमें और अपनी चेष्टामे फँस जावे और इससे सन्मार्गको छोडकर पाप मार्गमें लग जावे वह विसवाद कहलाता है।

अर्थ—मिथ्यादर्शन के प्रभावसे अशुभ नामका सदैव आश्रव होता है। चुगली करना-झूठे माप करनेके गज पाली मानी आदि माप रखना कमती बढती तोलना मायाचार से दूसरोंकी द्रव्य हर लेना-दूसरोंको ठगनेके लिये ऐसी सोमापटी बनाना कुशेशके अभिमान स दूसरोको पीडाकारक मंत्र तन्त्रोंकी रचना करना दूसरोंको ठगनेके

दु मंत्रतंत्रयोगेन तथा चूर्णरसेन वै । सौभाग्योत्पादनादन्यद्वशीकरणकार्यत ॥ ५५ ॥
दावानलप्रदानाच्च इष्टकोच्चयपाचनात् । तदोपदेशानुमोदात्तत्कर्तुः व्यवहारत ॥ ५६ ॥
आरामखंडनाच्चैव वृक्षाना छेदनात्तथा । वापिकाकूपकासारकरणाद्वास्य कारणात ॥ ५७ ॥
देवागमगुरूणाच पूजाद्रव्यस्य भक्षणात् । परकुतूहलोत्पादनात्परेषा विडंबनात् ॥ ५८ ॥
क्रोधाद्याना चतुर्णाच वर्द्धनात्परपापदात । पापकर्मोपजीवित्वान्महा आक्रोश धारणात ॥ ५९ ॥
इत्यादिकार्यतो भूप भवत्यस्यैव आश्रवा । दुर्नामधारकस्यापि अशुभनामकर्मण ॥ ६० ॥

लिये ऊंचा भेष धारण करना । झूठे मंत्र तंत्र प्रयोग कर पाप कर्मकी चेष्टा करना पुत्र पौत्र का लोभ देकर दूसरोंकी स्त्रियोंको वश करना दावानल लगाकर बतलाना ईंधनका ढेर लगाकर जलाना (होली बनाकर जलाना) अथवा ऐसे ही पापिष्ट कार्योंकी अनुमोदना करना ऐसा पापिष्ट उपदेश देना कुमार्ग या पापमार्ग में ले जाने वाले मिथ्या लेख लिखना । ऐसे व्यवहार करना कि जिससे कुमार्गकी वृद्धि हो जीव हिंसाके कार्य करना बागबगीचा कटवाना वृक्षोंके जंगलके काटनेका ठेका लेना कुआ बावडी तलाव आदि खोदनेका पापारंभ करना या कराना और उसमें धर्म मानना । देवशास्त्रगुरु संबधी द्रव्यका भक्षण करना दूसरो को कौतूहल उत्पन्न करनेवाले वचन कहना दूसरोकी विडंबना करना क्रोधमान माया-लोभ कषायोंको बढाना या ऐसे भावोंमे कषायोत्पादक कार्य करना पाप मार्गका उपदेश देना मिथ्या मार्गकी प्रशंसा कर उपदेश देना पापकर्मकी आजीविका बतलाना आक्रोशको धारणकर कुचेष्टा करना काम वासना मे मनवचनकायकी कुचेष्टा करना कामके राग से हसना विभ्रम उत्पन्न करना इत्यादिक कुकार्योंसे अशुभ नाम कर्मका आश्रव होता है ।

कारणान् त्वं शृणु भूप शुभनाम्नश्च कर्मण. । तद्विपरीतत्वेनास्यैव आश्रवा हि भवंत्यहो ॥ ६१ ॥
त्रयाणा चैव योगाना ऋजुभावस्य कारणात् । परेषा सज्जनाना हि अविसंवादनात्तथा ॥ ६२ ॥
साधर्मिजनसंमिलनादत्यंतहर्षधारणात् । अभ्युत्थानस्य करणात् अत्यादरप्रजल्पनात् ॥ ६३ ॥
मायाभावस्य सन्त्यागात् प्रमादवर्जनात्तथा । परपैशून्यसत्यागात् स्थिरचित्तस्य धारणात् ॥ ६४ ॥
परप्रशंसनत्वाच्च आत्मनिंदनकारणात् । जल्पनात्सत्यवाक्यानां कूटसाक्षित्ववर्जनात् ॥ ६५ ॥
वर्जनात्परद्रव्यस्य अल्पारंभपरिग्रहात् । सतोषाच्च परेषां वै परदुःखविमोचनात् ॥ ६६ ॥
रूपादिमदनिर्नाशात् उज्वलवेषधारणात् । सदस्य नम्रत्वाच्चैव मृदुवचनभाषणात् ॥ ६७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! शुभनामकर्मके आश्रवको सुनो । जो जो कारण अशुभ नाम कर्मके आश्रवके बतलाये हैं । उसके विपरीत कारण शुभ नाम कर्मके आश्रव हैं । तो भी विशेषतासे स्पष्ट बतलाते हैं । मन वचन काय योगोंकी सरलता परिणामोंकी कोमलता सज्जन पुरुषोंके साथ अविसवाद साधर्मी भाइयोंके मिलनेपर अतिशय हर्ष भाव सगमी जनोंके सयोग होनेपर खडा होना अन्यत आदरके साथ नम्र भावोसे वचनालाप करना, मायाचार परिणामोंका परित्याग करना प्रमादका परित्याग करना चुगली और निंदाका परित्याग चित्तकी स्थिरता का धारण करना धैर्यसे धर्म सेवन करना दूसरोंके गुणोंकी प्रशसा करना अपनी आत्मनिंदा करना सत्य वचनोका सभाषण, कूट कर्कश गुह्य—हास्य—और कामोत्पादक वचनोका परित्याग झूठी साक्षीका परित्याग करना दूसरों की द्रव्यका अपहरण नही करना, अल्प आरंभ और परिग्रह रखना सतोष पूर्वक शांत भावोसे रहना दूसरोंके वैर भावका परित्याग करा देना जीव मात्रके साथ मैत्रीभाव प्रकट करना । अन्य जीवोंको दुःखो से छुडाना । अपने स्वरूपका अभिमान नही करना । अभिमानका परित्याग करना । ब्रह्मचर्यादि उत्तम भेषका धारण करना सत्य भाषण

संघस्य सेवनाद्धर्मकार्यस्य करणात्तथा । जिनयात्राप्रतिष्ठानां जिनधर्मोपदेशनात् ॥ ६८ ॥
अवशीकरणाच्चैव परसौभाग्यवर्द्धनात् । हास्यत्यागात्परेषां च अकूतुहलकारणात् ॥ ६९ ॥
इष्टकापाकदावाग्नेर्वर्जनात् धनरक्षणात् । निर्मापणात्तथा जैनबिंबाना धातुवस्तुभि ॥ ७० ॥
तत्प्रसादादस्य करणात् जीर्णोद्धारणात्तथा । आमणात्तद्रथस्यैव पुरवाह्यवने शुभे ॥ ७१ ॥
तन्नामस्तवनाच्चैव अविड्वस्य धारणात् । चतुर्णां च प्रशमनात् क्रोधाद्यानां सदैव हि ॥ ७२ ॥
अपापकार्यजीवित्वात् परवस्तुविवर्जनात् । परापवादसत्यागात् परुषवाक्यलोपनात् ॥ ७३ ॥
बुभुक्षुसत्वदानाच्च जिनगुणस्य गायनात् । मृगादिपशुजातीना बधनिर्नाशतात्तथा ॥ ७४ ॥

करना , मृदु वचनोका उच्चारण करना चतुर्विध संघकी सेवा करना धर्मकार्य में अत्यंत हर्ष सहित उत्साहित रहना । तीर्थ यात्रादि धर्म कार्योंमें तत्पर रहना श्रीमज्जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमा आदिका प्रतिष्टा महोत्सव करनेमें समुत्सुक होना । श्रीजिनेन्द्र भगवानके शासनकी वृद्धिके लिये सत्य धर्मका उपदेश करना दूसरोको ठगने के लिये वशीकरण आदि प्रपच नही करना समस्त जीवोको सुखी करनेका प्रयत्न करना । हास्य और कौतूहल का त्याग करना वनमें अग्नि नही लगाना होली इत्यादि हिंसक क्रियाका परित्याग करना जैन मूर्ति निर्माण कर प्रतिष्ठापूर्वक श्रीजिनालय में विराजमान करना जैन चैत्यालय का वनवाना श्री जिनमंदिरकी स्थापना करना श्री जिनागम की वृद्धि और रक्षाके लिये सरस्वतीभवन खोलना गुरुओकी सेवाके लिये वसतिका (मठ) गुफा आदि का वनवाना प्राचीन जीर्णक्षीर्ण श्री जिनमदिर का जीर्णोद्धार करना भगवानका रथ महोत्सव करना जलयात्रा विधान करना अष्टोत्तर कलशों से प्रभु (श्रीजिनदेव) का महाभिषेक करना । अनेक प्रकार के गीत नृत्योके द्वारा भगवानके गुणोंका स्मरण करना रात्रि जागरण कर प्रभुके गुणोका गान स्तुति भक्तिके द्वारा करना हिंसादि पंच पापोंका परित्याग करना

अस्यैव आश्रवाश्चेमे भवंत्येव नरेश्वर । इत्यादिशुभसभावात् शुभनाम्नश्च कर्मण· ॥ ७५ ॥
सदैव शुभनामं च प्राप्नोत्येव अयं पुमान् । एभिः सुकर्मभिर्नूनं सदा शर्मप्रदायकै ॥ ७६ ॥
तीर्थकराभिधो गोत्र अस्यैव परमेश्वर । बध्यते कर्मभि कैश्च निर्लिपाधिपवंदित· ॥ ७७ ॥
षोडशभावनाभिश्च भव्योत्तमस्य अस्य वै । श्रीतीर्थकरगोत्रस्य बधो भवति भूपते ॥ ७८ ॥
तेषा नामानि त्वं भूप शृणु एकाग्रमनसा । अनंतशर्मसदानि सर्वपापाग्नितोयदै ॥ ७९ ॥
सम्यग्दर्शनशुद्धिमहनिकर शैलेति वज्रोपमा—माद्या सर्वव्रतेषु मोक्षसुखदा भव्यैर्नरै सधृताम् ॥ ८० ॥

क्रोधादि कषाय भावोंको छोडना पाप कार्योंकी आजीविका नहीं करना पशुओंके बधन छुडाकर अभयदान करना दूसरोंका अपवाद नहीं करना भूखोंको अन्नदान देना, दीन, अपगु, अंधा, कोढी, दुःखी जीवोंकी रक्षा करना, जीवोंको पापमार्गसे बचाना, श्री जिनेंद्र भगवानके भक्त साधर्मी भाइयोंकी सेवा सुश्रुषा विनय तथा आदरभाव करना, भोजन पानादिकसे संतुष्ट करना, स्थिरभाव करना वात्सल्य प्रकट करना, जिनमार्गकी प्रभावना प्रकट करना इत्यादिक शुभ कार्योंसे शुभनामकर्मके आश्रव होते है ।

अर्थः— श्रीमत्तीर्थंकर प्रभुका गोत्र कौनसे शुभ कार्योसे होता है ?

हे मगधेश्वर इन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्र आदि समस्त त्रिलोकी जीवोंसे सदैव पूजित पचकल्याणोंके द्वारा जगतमें परमाश्चर्यको प्रकट करनेवाले ऐसे श्री तीर्थंकर प्रभुका गोत्र षोडश भावनासे बंध होता है । उनका स्पष्टीकरण विशेष रूपके द्वारा बतलाते है उसको हे राजन् एकाग्र मनसे सुन जिससे पापोंका नाश हो ।

अर्थ—हे मगधेश्वर ! समस्त पापरूपी पर्वतों के नाश करनेके लिये वज्रके समान, समस्त व्रतोंमें मुख्य से सदैव आराध्य समस्त दोषोंसे रहित समस्त जीवोंका उपकार करनेवाली यह दर्शनशुद्धि भावना है। जो

दोषं सर्वविवर्जितां मुनिवरो यो धारयत्येव भो । नूनं स एव लभन्यहो वरमतिं सद्भावना भूपते ॥ ८१ ॥
यो रत्नत्रयपालकेषु मुनिषु अत्यंतहर्षात्सदा । कुर्यादेव विनाकषायमुद्दा निर्वाणशर्मप्रदम् ॥ ८२ ॥
नानाशर्मप्रदायकंच विनयं प्राप्नोति सैव ध्रुवं । सर्वेषु विनयाभिधा मनिनुता सद्भावना श्रेणिक ॥ ८३ ॥
सर्वेषु योहि व्रते असमगुणनिधि शीलव्रतेषु मौनी । अनतीचारत्वमेवानुदिनं सर्वनेत्रैव शुद्धया नरेन्द्र ॥ ८४ ॥

मुनीश्वर इस पवित्र भावना को परिणामोकी विशुद्धता से धारण करता है वह श्रीतीर्थंकर गोत्रका बंध अवश्यही करता है।

पच्चीस दोष रहित आठ गुणो सहित निर्मल परिणामो से श्रीजिनदेव जिनागम-और श्रीजिनगुरूका श्रद्धान पूर्वक सम्यग्दर्शनको धारण करना सो दर्शनविशुद्धि है।

अर्थ—हे श्रेणिक! रत्नत्रय और रत्नत्रयको पालन करने वाले मुनिजनोकी अतिशय भक्तिपूर्वक और अत्यंत हर्षके साथ निष्कषाय शुद्ध भावोसे विनय करना उनके गुणोंमें आसक्त होना, हाथ जोडकर नमस्कार करना अंतरंग परिणामोंसे अतिशय पूज्य मानना लोकोत्तम शरणभूत और मोक्ष मार्गके हितकारी समझना सो विनय नामकी भावना है। इसमे सर्व सुखकी प्राप्ति होती है।

देव शास्त्र और गुरुको सत्य सत्य प्रमाणित मानकर आत्महितके लिये सेवा भक्तिपूर्वक विनय करना चाहिये। इसी जिन धर्म जिनचैत्य जिनचैत्यालय धर्मको धारण करनेवाले भव्यजीव आदि की यथा योग्य विनय करना चाहिये।

अर्थ–हे श्रेणिक! जो भव्यजीव समस्त व्रतो में अतीचार नहीं लगाता है, मन वचन कायकी विशुद्ध भावना से सम्यक् श्रद्धा पूर्वक पालन करता है और अपने व्रतोको सर्वोत्कृष्ट समझकर निर्मल भावोंसे निस्पृह (निर्वांछा)

अनतीचारत्वसज्ञा परमपददा भावना धर्मवीना । वद्या इन्द्रादिदेवै सकलमलहरा पालयत्येव नूनम् ॥ ८५ ॥
ज्ञानं दोषविवर्जित जिनमुखादुत्पन्नमेव शुभ । पापापापविभेदक रविप्रभ त्रेधा विशुद्धया मुनि ॥ ८६ ॥
काले काले सदैव सु पठति य ईदृश धर्मबीज । शुद्धा सैव सुभावनामघहरा ज्ञानाभिधा शप्रदाम् ॥ ८७
संसार दु खमूल बुधजननिकरै सर्वकालेषु हेयं । निस्सारं शर्महीनं सकलविधिकरं पारहीन अभव्यै ॥८८॥

पूर्वक पालन करता है वह समस्त उत्तम सुखोंको प्रदान करनेवाली देवोंसे पूजित शील व्रतेषु अनतीचार नामकी भावना को धारण करता है।

अर्थ—हे श्रेणिक जो भव्यजीव दोष रहित–श्रीजिनद्र भगवानके मुख कमलसे उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञान का मन वचन कायकी विशुद्धिसे कालमें पठन पाठन मनन स्वाध्याय करता है वह ज्ञान भावनाको धारण करता है।

श्रीजिनागमके श्रद्धापूर्वक विशुद्ध भावोंसे पठन पाठन करना सो ज्ञानभावना है। जिनागम ही धर्मका बीज है। पापोंका नाश करने वाला है और आत्मा आदि अमूर्तीक अतीन्द्रिय पदार्थोंको प्रकाशने के लिये सूर्यके समान है। कल्याण मार्ग इससेही प्रकट होगा। वस्तुका यथार्थ परिज्ञान जिनागम से ही प्राप्त होगा। इस प्रकारके भावोसे श्रीजिनागमका अभ्यास करना और इसके सिवाय अन्य ज्ञानको ससारका मार्ग समझकर त्याग करना सो ज्ञानभावना है। अपने बालक बालिकाओंको भी जिनागमका अभ्यास सबसे प्रथम कराना चाहिये। अन्य ज्ञानके अभ्याससे बुद्धि मलिन और सस्कार मलिन होते है।

अर्थ— ससार दुःखका मूल है। विचारशील भव्यजीव इस ससारको सर्वथा हेय और निस्सार समझते है। इसमें रच मात्र सुख नही है। समस्त उत्तम कार्योंका नाश करनेवाला है। उसका पार पाना अभव्योसे कठिन

एव चित्ते विचारं सकलविधिद्दरं गो मुनिर्भावशुद्ध्या। सैव संवेगसंज्ञा सुभजति नृपते भावनां कुर्वते हि ॥ ८९ ॥
शक्त्यनुसारतोवै सकलसुखकरं पुण्यवीजं सुदानम्। पात्राय यच्छति यः सकलमतिप्रदं शुद्धभावाद्यतेन्द्र ॥ ९० ॥
त्यागाख्या सैव नूनं लभति च नृपते भावना भावशुद्ध्या। अहाना वारनाशे ह्यसुखप्रवहरा वज्रतुल्या सदैव ॥९१
प्रोक्तं श्रीजिननायकैर्मुनिनुतं संसारपारप्रदम्। नानाकर्मविनाशक मुनिवरो य शक्तिलोपादृते ॥ ९२ ॥
पालत्येव विशुद्धितो हि अमलं द्विषट्प्रमं सत्तप। सैव भो मगधाधिप सुतपजा ता भावना सेवते ॥ ९३ ॥
साधूना साधुबुद्ध्या अमलगुणप्रदा य करोति नरेन्द्र। तेषामुत्पन्नविघ्नेनशनतपवशात शीलसद्युतानाम ॥ ९४ ॥

है। ऐसे ससारको अपना हितरूप न समझकर संसार संबंध भोगोपभोगोपर ममत्व भावका त्याग करना और ससार की चाहना मन वचन कायकी शुद्धिसे नहीं करना सो संवेग भावना है। समारसे विरक्तता और आत्मभावना सो सवेग भावना है।

अर्थ—हे राजन् अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिपूर्वक भावोकी विशुद्धिसे मन वचन काय और द्रव्यकी शुद्धिसे पात्रमें दान देना सो त्याग भावना है। इस प्रकार नित्य ही पात्रमें दान देनेकी उत्कट भावना और अत्यत हर्षित परिणाम त्यागभावना के उत्पादक है। इस प्रकार की भावनास समस्त सुख प्राप्त होते है।

अर्थ–हे मगधेश्वर श्री जिनेंद्र भगवानने संसारका नाश करनेके लिए और समस्त कर्मोंका विध्वंस करनेके लिए अत्यंत पवित्र बारह प्रकारका तप प्रतिपादन किया है। उसको जो यतीश्वर भावोकी विशुद्धिसे अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर धारण करते है वे तपोभावनाका पालन करते हैं।

अर्थः— हे मगधेश्वर शील संयम व्रत तपयुक्त साधुगणोंके व्रत नियम तपादि अनुष्ठानमें आनेवाले विघ्नोंका दूर करना, अतिशय कठिन पाषाण आदि पर योग धारण करनेपर आये हुए दुस्सह उपसर्गोंके विघ्नोंको दूर कर

योगाना धारणाद्वै अतिकठिनशिलातिष्ठनाच्चोपसर्गात् । दुष्टाना योगतो वै त्रनयमनिग्रहपालकाना सदैव ।।
राद्धातालापबोधे परमसुखपदे पापसतापहारे । वान्योपायैर्मुनीन्द्र तदुपशमनं भो वाहि विघ्नस्य नाश ॥ ९५ ॥
नद्या पूज्या मुनीन्द्रै शुभगगुणप्रदा भावना मोक्षबीजा । साधुसमाधिसज्ञा परमहितकरा सैव प्राप्नोति नूनम ॥
वृद्धाद्याना मुनीना परमगुणरता क्रियते यो मुनीन्द्र । पादादिमर्दनाद्धि सकलसुखप्रदा सैव नृपेन्द्र नूनम् ॥ ९६ ॥
वैयावृत्य च सैव लभतिच शिवदा सर्वव्रतेषु सारा । वैयावृत्याख्ययुक्ता सकलविधिकरा भावना भव्यवर्याम ॥
विधीयते गत्नस्नपनादिजाप्य स्तव तथा तद्गुणचिंतनच । श्रीमदर्हता शुभभावशुद्ध्या सदैव काले मुनिसत्तमोहि ॥ ९७ ॥

रत्नत्रय की रक्षा करना । आधि व्याधि और देवी उपसर्ग आजाने पर संयम और रत्नत्रय की रक्षा करना दुष्ट मनुष्य तिर्यंच और देव आदि से होनेवाले उपद्रवोंसे रत्नत्रय की रक्षा करना मरणादिक भयकर उपद्रव उपस्थित होनेपर शास्त्रों का उत्तम धर्मोपदेश-सम्यग्ज्ञानका सदुपदेश ससारकी निस्सारता आदिका प्रदर्शन कर रत्नत्रयकी रक्षा करना समाधिमरण समय संक्लेश परिणामोसे सद्बोध द्वारा रक्षा करना सो सब साधु समाधि है। इस भावना से आत्मा स्थिर-शात-और आत्म भावनामें लवलीन रहता है ।

अर्थ—हे राजन् ! वृद्ध बाल असमर्थ रोगी ऐसे परम गुणवान् मुनीश्वरोंकी हृदयसे भक्तिपूर्वक सुश्रुषा पाद मर्दन—आदि अनेक प्रकार से वैयावृत्य करना सो वैयावृत्य भावना है। रोगी मुनियोंको ओषधी (प्रासुक और रोग को नाश करने वाली) प्रदान करना असमर्थ और शीतादिसे पीड़ित मुनियोंको वसतिकादि प्रदान कर वैयावृत्य करना वाले मुनियों को जिस प्रकार धर्ममें दृढता प्राप्त हो वैसे वैयावृत्य करना चाहिये ।

अर्थ—हे राजन् ! जो श्रीमान् जगत पूज्य अरहत भगवानकी प्रतिमाको साक्षात् अरहत मानकर भक्ति-

सैव नरेन्द्र भजते विशुद्धा भक्ति मन पापविभंजकानाम्। तन्नामजा ता शुभभावनाहि सत्सातदा भव्यनरैः प्रपूज्याम् ॥ ९८ ॥
आचार्याणा करोति परमरुचिवशात्पादपद्मस्य पूजा— । मभ्युत्थान तदासे सन्मुखप्रगमनं सन्नमस्य विधानम् ॥
आज्ञादानंच तेषा पुन प्रणतयो यतीन्द्र त्रिशुद्ध्या । प्राप्नोति भावना स सकलमुनिनुता सूरिभक्त्याल्ययुक्ता ॥ ९९ ॥
शास्त्राब्धिपारगेषु सुमुनिषु मतिमान् यो विधत्तेनुराग । वचनालापैरनल्पै गुणयश कथनैरभ्युत्थानादिकैश्च ॥
सैव बहुश्रुतज्ञा सदा सुखप्रदा भो भूपते भावना । लभते सयमश्री सुभगगुणयुक् द्वापरो नात्र भव्य ॥ १०० ॥

पूर्वक विशुद्ध भावोंसे (मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक) पचामृताभिषेक पूर्वक पूजा करना गुणगान करना स्तवन करना पूजन करना वदन करना अष्टविधार्चन करना आदि समस्त रूपसे श्री जिनेन्द्र भगवानके स्वरूपका चिंतन करना सो सब अरहत भक्ति है ।

हे राजन् जो हृदयकी विशुद्धि और भक्तिभावनासे आचार्य परमेष्ठीके चरणकमलोंकी पूजा करना आचार्य महाराजको सामने आतेही [देखकर । खडे होजाना हाथ जोडकर विनय से नमन करना उनके पीछे पीछे विनयसे चलना उनकी आज्ञाको शिरसा वंद्य ममझकर बहुत सन्मान पूर्वक धारण करना उनका योग्य सन्मान कर सदैव अर्चना करना उच्च आसन देकर अभ्यर्थना करना और उनकी सेवा सुश्रुषा करना सो आचार्यभक्ति है ।

अर्थः— हे राजन् जो समस्त शास्त्रके पारगामी और आगमको जाननेवाले ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीकी भक्ति करता है, उसके बहुश्रुत भक्ति होती है । उपाध्याय परमेष्ठीकी आज्ञाको शिरोधारण करना, विनय करना, सेवा सुश्रुषा करना, हाथ जोडना, नमस्कार करना, मधुर वचनालापसे संतोषित करना, पाद मर्दन करना इत्यादि अनेक प्रकारसे भक्ति की जाती है ।

जिसके आगमपर पूर्ण विश्वास है ऐसे भव्य जीव अपना हित आगमसे ही मानकर आगमके ज्ञाता

शुद्धे श्रीमज्जिनोक्ते सकलसुरगणैर्माननीये प्रपूज्ये । भव्याना तारके हि अमलमतिप्रदे तत्वदीपे मनोज्ञे ॥
भूपेदृक्षे करोति मुनि च प्रवचने भावशुद्ध्यानुराग– । माप्नोति शर्मदां य प्रवचनसुनामजां वरां भावनां स' ॥ १०१ ॥
आवश्यकानि मुनिसत्तमाना यो विभृते पट् शिवदायकानि । काले च काले सकलांहहान्यै त्रिशुद्धितो वै मुनिसत्तमश्च ।१०२
सो भावना संभजते हि आवश्यकापरिहाण्यभिधा विशुद्धाम् । सामायिकाद्यानि सुशुद्धकानि तेषाच चित्तस्य अतो हि कार्या ॥१०३॥

उपाध्याय परमेष्ठीकी पूजा भक्ति कर समस्त सुखको प्राप्त होते है ।

अर्थः— हे राजन् जैनागम समस्त देव, इद्र, नरेंद्र और गणधरेंद्रोंसे पूज्य है । भव्य जीवोको ससारसमुद्रसे पार करनेके लिये समर्थ है, उत्तम निर्दोष ज्ञानका प्रदान करनेवाला है, जगत उपकार करनेवाला है, समस्त तत्वोका प्रकाश करनेवाला है । ऐसे सर्वोत्कृष्ट जिनागमकी भाव शुद्धिसे श्रद्धा कर भक्ति करना सो श्रुतभक्ति है ।

एक श्रुतभक्तिसे जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर मोक्षसुखको प्राप्त होता है। देशनाके विना किसी जीवका हित नही हुआ है । इसलिये जिनागमपर पूर्ण श्रद्धान रखकर आत्मकल्याण करना चाहिये ।

अर्थ—हे राजन् ! पट् आवश्यक क्रियाओका पालन करना नितांत आवश्यक है । जो भव्यजीव शरीरादिके अस्वस्थ हो जानेपर–और (गृहादिकके) आवश्यक कार्य उपस्थित होनेपर भी पट आवश्यक क्रियाओके पालन करनेमे प्रमादी नहीं होता है वह इस भावनाको पालन करता है ।

सामायिकादि पट् आवश्यक कर्मोको जो अपना मुख्य कर्तव्य समझता है और समस्त कार्योको छोडकर समस्त प्रकारकी क्रियाओको रोककर मन वचन काय की एक भावनासे पट् आवश्यक कर्मोका पालन करता है वह इस श्रेष्ट भावनाका आराधक होता है । इस लिये जिस क्रियाका जो समय है उस समय वह आवश्यक क्रिया अवश्य ही करनी चाहिये ।

शुद्धं ज्ञानयोगात्तुन जिनमतनाद्वा चतुर्दानदानात् । निगमनाद्य नैगादनिनप्रकृगातीर्थयात्राभिगानात् ॥
इत्यादिहेतुनावै परममतिमयुक् य करोति त्रिशुद्ध्या । श्रीमज्जिनेन्द्र मेहरन खलु नृपनं सुप्रनाव मनोज्ञम् ॥ १०४ ॥
पाप्नोति मेव नूनं शिवपदजनका नित्यभावारिदर्त्री । मार्गप्रभावनांन जिनवरगदा धर्मवृद्धि प्रयोगात् ॥

अर्थ—हे राजन जो भव्य जीव सर्वोत्कृष्ट जिनागमके ज्ञानके द्वारा समस्त मत मतांतरके असत् (मिथ्या) तत्वोंका खंडन कर सत्य और प्रमाणित अनेकांत स्वरूप तत्वोंका प्रकाश कर जैन शासनकी दृढता करता है वह मार्गप्रभावना प्रकट करता है। अथवा शास्त्रार्थके द्वारा जैन मतकी सर्वोत्कृष्टताका प्रकाशना सो मार्गप्रभावना है।

भगवानकी प्रतिमाका विशुद्ध भावोंसे और उत्तम गीत नृत्यादि पूर्वक पंचामृताभिषेक जलयात्रा प्रतिष्ठा महोत्सव-रथमहोत्सव-और चतुःसंघको दान प्रदानके द्वारा महान प्रभावना की जाती है।

इसी प्रकार मंत्रकी शक्तिसे अनेक प्रकारके चमत्कार दिखलाकर धर्मका प्रभाव प्रकट कर समस्त दुर्वादि और जड अज्ञानी जीवोंको सन्मार्ग में लगा देनेसे भी प्रभावना होती है।

इसी प्रकार जप-तप-तीर्थयात्रा-जिनमंदिर निर्माण आदि धार्मिक कार्यों की महिमा प्रदर्शन करनेसे मार्ग-प्रभावना होती है।

अथवा चतुःसंघ (मुनि-आर्यिका श्रावक श्राविका) निकालकर धर्मका उद्योत करने से भी मार्गप्रभावना होती है।

जीवों का अभयदान प्रदान करने से और परोपकार केलिये करुणादान करनेसे भी प्रभावना होती है।

इस प्रकार जैनधर्मकी महिमा अन्य मिथ्यामतियोंमें प्रकट कर देनेसे धर्मका प्रभाव प्रकट होता है। अपनी शक्तिके अनुसार जैनधर्मका प्रभाव प्रकट करना सो मार्गप्रभावना है।

वृद्धया धर्मस्य लोके किमपि न भवति दु खपंक्ति शरीरे । शक्त्यानुसारयोगात्सुमुनिवरगणै सर्वदैव प्रकार्या ॥ १०५ ॥
पुरूपे भूप करोति य सुहृदा स्नेह महानददं । स्ववत्से हि यथा च श्रृंगिणि तथा सद्य प्रसूता मुदा ॥
धर्मे जैनेन्द्रसत्थे भजति प्रवचनवत्सलत्वाख्ययुक्ता । सैव सच्छर्मकारा परमगुणपदा भावना भो मुनीन्द्र ॥ १०६ ॥
एतानि मगधाधिप हृदि सदा जानीहि तीर्थकरस्यैव । तानि षोडश कारणानि सुखदान्येवाहु सुश्र्मण ॥
अस्यैवाश्रवकारणानि सकललेखादिवद्यस्यैव । संसारातपघातकस्य सुमते हे हि भवत्येवच ॥ १०७ ॥
लोपनं सद्गुणानां च इतराणा प्रकाशनम् । एभिर्हि कर्मभि सैव चतुर्भि दु खदायकैः ॥ १०८ ॥
लभत नीचगोत्रंच श्रृणु त्व वर्णनं द्याग । एतेषामेकचित्तेन प्रवक्ष्येहं पृथक् पृथक् ॥ १०९ ॥

धर्मकी वृद्धि—धर्मकी स्थिरता—और धर्मकी महिमा प्रकट होने से यह भावना सर्वोत्कृष्ट है। समस्त पापोंके नाश करने वाली है और समस्त प्रकार के सुखोंको प्रदान करनेवाली है।

अर्थ—हे राजन् जो भव्यजीव श्रीजिनेन्द्र देवके पवित्र धर्मको धारण करनेवाला है और जिसके देव शास्त्र गुरुका पूर्ण श्रद्धान है उसको अपना धर्मबंधु समझकर गाय और बछडेके समान प्रेमभाव करना उसको साधर्मी भाई मानकर आदर सत्कार करना सो प्रवचनवात्सल्य भावना है।

अर्थ—हे राजन्! उपर्युक्त दर्शनविशुद्ध्यादि षोडश कारणभावनाए तीर्थंकर गोत्रके आश्रव करने वाली है। देवोसे पूज्य और लोकोत्तम महिमाको प्रदान करने वाली है और संसारके समस्त पापोको नाश करनेवाली है इसलिये भावोंकी विशुद्धिसे नित्यही भावना चाहिये।

अर्थ—हे राजन्! दूसरोंके सद्गुणोको ढक देना। अपने सद्गुणोंका प्रकाश करना, दूसरोंके मिथ्या दोषोंको प्रकट करना और अपने दोषोंको ढक देना इससे नीच गोत्र कर्मका आश्रव होता है जिसका स्पष्टीकरण करते हैं सो

परनिंदाभिधं दोष भजते परनिंदनात । अयं पुमान् न संदेह अनंतभवदुःखदम् ॥ ११० ॥
विधीयते च य स्वस्य प्रशंसा परमा मदा । प्रशंसाख्य न दुर्दोषं मव सर्वागमे नृप ॥ १११ ॥
ज्ञानसत्तपोयुक्तस्य पूज्यस्य महतस्तथा । परोपकारकर्तुश्च जिनधर्मरतस्य च ॥ ११२ ॥
पालकस्यैव शीलस्य धर्मोपदेशकस्य च । मुन वा श्रावकस्यैव वीतरागमतस्य च ॥ ११३ ॥
इत्यादिसद्गुणानाच धारकस्य नस्यति । सद्गुणान तस्य यो मर्गे पैशुन्यागुणदायन ॥ ११४ ॥

एकाग्र मनमें श्रवण करना चाहिये ।

अर्थ—हे राजन् ! दूसरोंकी निंदा करना दूसरे जीवोंके परोक्षरूप अपवाद या मलिन वचन बोलना बुराई करना—उसको निंदा कहते हैं। (समाचार पत्रोंमे भी यह निंदा की जा सक्ती है) मनकी कुटिलता से दूसरोंका अभ्युदय सहन नहीं होनेके कारण उसको गिरा देनेके भाव प्रकट करना सो निंदा है ।

हे राजन् ! जो अपने गुणगान अपने आप करना अथवा अपने में गुण नहीं रहनेपर मिथ्यारूपसे करना अपनी प्रशंसा कीर्ति और बढाई के लिये कहना सो आत्मप्रशंसा है।

अर्थ—सम्यग्ज्ञान सम्यक्तप और सम्यक् चारित्र सहित महान पूज्य पुरुष तथा जगतके जीवोंको सन्मार्ग में लगानेवाले श्रेष्ट उपदेशक—श्री जिनधर्मको पालन करनेवाले मिथ्यामार्गका परित्याग करानेवाले शील धर्मको बढाने-वाले ब्रह्मचर्यकी महिमाको व्यक्त करनेवाले धर्मका उपदेश देनेवाले ऐसे मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका—जिनधर्म धारक भव्य जीवोंके उन सर्वोत्कृष्ट गुणोंको धारण करने वालो को मनके दुष्परिणामोंसे ढक देना उनकी प्रशंसा और उनका आदरभाव नहीं करना सो सद्गुणोच्छादन नामका दोष है ।

आच्छादयति यो भूप महान् दुर्बुद्धिमण्डित । सद्गुणोच्छादनाख्यच स दोष भजते खलु ॥ ११५ ॥
केनचित्कारणेनैव कस्यैव पुरुषस्य च । किमपि आगत दोष प्रकटं त करोत्यहो ॥ ११६ ॥
असद्गुणोद्भावनच स दोष भजते पुमान् । महाद्‌दु खस्य कर्तार नीचगोत्रप्रदायकम् ॥ ११७ ॥
चत्वारि खलु कर्माणि एतानि मगधेश्वर । अस्य मलिनगोत्रस्य आश्रवकारणान्यहो ॥ ११८ ॥
भवत्येव पुन त्वं च शृणु अन्यानपि नृप । कारणानस्य सक्षेपात् दु गोत्रकर्मदायकान् ॥ ११९ ॥
करणाद्यातिमदस्यैव कुलरूपमदस्य च । शिल्पिज्ञानबलस्यैव तपश्चैश्वर्यकस्य च ॥ १२० ॥
परेषामपमानस्य चापवादस्य कारणात् । वृथा हास्यैव काणात् परवधस्य दानत ॥ १२१ ॥

गुणोकी प्राप्ति गुणोंमें और गुणी जनोमें अनुराग करनेसे होती है । परन्तु जिस मनुष्यका मन दुष्ट है वह मनकी दुष्टतासे उन गुणी जनोका आदर नहीं करता है और न उन सर्वोत्कृष्ट गुणोको धारण करनेकी भावनाही व्यक्त करता है बल्कि उन गुणोको ढाकता है। ऐसे समय वह सद्गुणोच्छादन नामके दोषको प्राप्त होता है।

अर्थः— हे राजन् किसी एक कारण विशेषसे (अनिवार्य कारण विशेषसे) किसी एक भव्य जीवको कोई भी दोष लग गया हो तो उसको प्रकट कर देना सो असद्गुणोद्भावन नामका दोष है। अथवा मिथ्या दूषण लगाकर प्रकट करना सो भी असद्गुणोद्भावन नामका दोष है। इससे नीच गोत्र कर्मका आश्रव होता है।

अर्थः— हे मगधाधिप उपर्युक्त चार कारण नीच गोत्रके आश्रव करनेवाले है। कुलमद १, जातिमद २, रूपमद ३, शिल्पिज्ञानमद ४, बलमद ५, तपमद ६, ऐश्वर्यमद ७, ऋद्धिमद ८ आदि आठ प्रकारका अभिमान दूसरोका अपमान करना, दूसरोका तिरस्कार करना, वृथा हसना, दूसरोकी हसी कर नीचा दिखाना, दूसरोका वधबंधन

उद्घाटनाद्गुरूणां च पराभवस्य कारणात् । दोषाणां कथनाच्चैव तथापमानकारणात् ॥ १२२ ॥
निर्भर्त्सनैः पुनर्मन्त्रैः अञ्जल्ययोजनाद्यथा । स्तुतनमस्कारणाच्चैव अनभ्युत्थानस्य कारणात् ॥ १२३ ॥
इत्याद्या हि नरस्यास्य आस्रवाश्च भवन्त्यहो । मयाद्य तस्य ख्याताः नीचगोत्रस्य दायकाः ॥ १२४ ॥
आत्मनो निन्दनाच्चैव परेषां च प्रशंसनात् । सद्गुणाच्छादनाच्चैवासद्गुणोद्भावनात्पुनः ॥ १२५ ॥
तथा नीचैर्वृत्तित्वादनुत्सेकाच्च अन्याहि । भवन्ति आस्रवा उच्चगोत्रस्य इमे गुणा ॥ १२६ ॥
नीचवृत्तेस्तथा स्वामिन् अनुत्सेकस्य लक्षणम् । किं स्यादिति तत्त्वतो ब्रूहि महाश्रमणेन्द्र नृप ॥१२७॥
स्वात्मनो गुणवृद्धेषु ज्ञानाद्येषु यो हि मानवः । प्रह्वीभावं करोत्येव चित्तशुद्ध्या नरेषु हि ॥१२८॥

करना, गुरुओंके दोषोंका उद्घाटन करना पराभव करना, गुरुओंकी निंदा करना, गुरुओंको अवर्णवाद लगाना, अपमान करना, गुरुको देखकर खड़े नहीं होना, हाथ नहीं जोड़ना, नमस्कार नहीं करना, धर्मका अनुराग नहीं करना, धर्मकी निंदा मजाक और हसी करना, श्रेष्ठ आचरणोंकी हसी करना, निंदा करना, चारित्र धर्मका लोप करना इत्यादि अनेक नीच गोत्रके आश्रव हैं।

अर्थ—अपनी निंदा करना-दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करना अपने गुणोंका आच्छादन करना और दूसरोंके गुणोंको प्रगट करना दूसरोंके दुर्गुणोंको ढांकना अपने दुर्गुणोंको निकालनेका प्रयत्न करना इत्यादि कारणोंसे ऊंच गोत्रका आश्रव होता है।

अर्थ-हे भगवन् नीचवृत्ति नामक गुणका क्या लक्षण है ? हे राजन् जो अपने से अधिक गुणवान् चारित्रवान्-और सम्यग्दर्शनादि उत्तम गुणोंसे संपन्न हो उसको देखकर हर्ष करना, गुणी और संयमी देखकर प्रमोद भावना प्रकट करना धर्मात्मा भाईको देखकर हर्षित होना, मनकी प्रफुल्लता प्रकट करना- गुरुजन (गुणोंसे वृद्धिगत) को देखकर

नमस्कारं तथा हर्षादभ्युत्थान सुभाषणम् । उपवेशनं तस्माद्धि नीचस्थानेषु नंददम् ॥१२९॥
नीचैर्वृत्त्यभिध सैव गुणमाप्नोति शोभनम् । नम्रत्वात्सर्वकार्याणा सिद्धिर्भवति निश्चयात् ॥ १३० ॥
ज्ञानसत्तपोयुक्तोपि तथान्यगुणमडित । तथापि नो करोत्येव यो मद स्वात्मनि नृप ॥ १३१ ॥
मेव संभजते नूनमनुत्सेकाभिध गुणम् । समारवनदावाग्ने सदृश मोक्षशर्मदम् ॥ १३२ ॥
ऽसि षट्कर्मभिश्चास्य वधो भवति भूपते । उच्चगोत्रस्य मर्त्यस्य नाकमोक्षस्य दायक ॥ १३३ ॥
अष्टाना मदसत्यागात्परेषा मानवर्द्धनात् । अनहास्यैव करणात् मृदुवचनभाषणात् ॥ १३४ ॥
अपरिवादनस्यैव करणाज्जिनपूजनात् । सुपूज्याना नराणा व सत्कारादिककारणात् ॥ १३५ ॥

नमस्कार करना उच्चासन देना हाथ जोडना मिष्ट सभाषण कर उनके नीचे बैठना दृष्टिको नीचा कर विनयभावसे रहना उनकी आज्ञाको शिरसा वद्य समझना भोजन पान दान सन्मान आदिद्वारा उनकी पूजा करना—स्तुति करना प्रशसा कर उनके गुणोको महान पूज्य मानना सो नीचवृत्ति नामका गुण है ।

अर्थ—अपनेमें निर्दोष ज्ञान और उत्तम तप विद्यमान होने पर भी अथवा अन्य चारित्रादि उत्तमोत्तम गुण विद्यमान होनेपर भी अभिमान नही करना और अपने परिणामोको सरल व कोमल रखना-सो अनुत्सेक नामका गुण है । इस प्रकार षट् कारणोसे उच्चगोत्रका आश्रव होता है ।

अर्थ—आठ प्रकारके मदोका परित्याग करना, गुणवान् व्यक्तियोका योग्य सन्मान करना उनका आदर भाव—प्रशसा—गुणकीर्तनादि करना दूसरोकी हसी नही करना सदैव मीठे वचन बोलना दूसरोको तिरस्कार करनेके भाव नही करना मुनिजनके स्वभावसे मलिन और रत्नत्रयसे पवित्र ऐसे शरीरको देखकर ग्लानि नही

गुरूणा सद्गुणाढ्यानामनुद्धतप्रवर्तनात् । तेषाच स्तवनादभ्युत्थानस्य करणात्तथा ॥ १३६ ॥
स्थानार्पणाच्च सन्मानवि ानाद्गुणख्यापनात् । निवारणात्परेषाच पीडादिकर्मणस्तथा ॥१३७॥
इत्यादयोपि अस्यैव वर्ध्यंते आश्रवाश्च नु । महागोत्रस्य कर्तारि शुद्धभावान्नराधिप ॥ १३८ ॥
ाभि सुकर्मभिश्चाय षट्खंडपालकस्यच । बलभद्राच्युतस्यैव कामदेवस्य भूपते ॥ १३९ ॥
इत्यादिकस्य संशुद्धे नाना सपद्विभूषिते । नरोत्तमस्य भो नूनं सद्गोत्रे सुरवंदिते ॥ १४० ॥
उत्पद्यते महाशर्म तत्र भुक्त्वा ह्यनुक्रमात् । निहत्य कर्मसंदोहं तपसा याति सत्पदम् ॥ १४१ ॥
महत्कुलोद्भवा मर्त्या ये भवति शुभोदयात् । सारवीर्यादिसपन्ना तेजसा भास्करोपमा ॥ १४२ ॥

करना श्री जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का नित्य पूजन अभिषेक और इसी प्रकार स्तवन गुणकीर्तन करना पूज्य पुरुषोका सत्कार करना गुरुओंके साथ नम्र भावोसे विनीत स्वरूपमें रहना—उद्धतताका परित्याग करना गुरुओकी पूजा सन्मान प्रभावनाके साथ शुद्ध भावोसे करना अभ्युत्थान प्रणामांजलि करना उच्चासन प्रदान करना उनके गुणोंका यशोगान करना दूसरोंके दु खोको निवारण करना गुरुओको योग्य वसतिका गुफा बनवाकर प्रदान करना और गुरुओंके लिये योग्य औषधी बनाकर प्रदान करना इत्यादिक शुभ कार्योंसे ऊच गोत्रका कर्माश्रव होता है।

अर्थ—इस प्रकार उपर्युक्त शुभ कार्योंसे चक्रवर्ती बलभद्र नारायण कामदेव आदि पदवी धारक पुरुषोंके ऊच गोत्रको प्राप्त होता है। जिस गोत्रम उत्पन्न हुए पुरुषोंकी देवगण भी नित्य सेवा करते हैं और जो लोकमें उत्तम समझा जाता है। जिस ऊच गोत्रको प्राप्त करने पर ही भव्यजीव मोक्ष मार्गके योग्य होता है। ऊच गोत्रके प्रभावसे ही जीव कर्मोंका नाशकर मोक्षसुखको प्राप्त होता है। ऊच गोत्रसे जीव महान उत्तम कुल उत्तम जाति और उत्तम

चद्रप्रभसमा कात्या प्राप्नुवत्येव ते तथा । शिवशर्म निराबाधं कर्मातीत च्युतोपमम् ॥ १४३ ॥
पचभिः कर्मभिश्चैव भवति आश्रवोऽस्य नुः । नानादु खप्रदैर्नूनमतरायस्य कर्मण ॥ १४४ ॥
दानस्य चैव लाभस्य भोगोपभोगकस्यच । वीर्यस्यैव करो येन विघ्न स्वरय कुबुद्धित ॥ १४५ ॥
दातुः पात्रस्य भो भूपास्थवहि बध्यते च यः । स्वात्मनि शर्महतारमतरायाभिध विधिम् ॥ १४६ ॥
यच्छति कोपि पात्राय दानमाहारसंज्ञकम् । वर्जयत्येव त कोपि महाकृपणभावयुक् ॥ १४७ ॥

वशको प्राप्त होते है । जिनको अतुल बल वीर्य प्राप्त होता है । जिसका प्राप्त करना बडा ही दुर्लभ है । जिस कुलमें तेज कातिरूप आदि सर्व आश्चर्यकारी महिमा होती है। और अतमें मोक्षसुखको प्राप्त होते है ।

अर्थ— हे राजन्! इस जीवको पाच प्रकार कारणोमे अंतराय कर्मका बध होता है ।

दानांतराय—लाभातराय—भोगातराय—उपभोगातराय—वीर्यान्तराय । इस प्रकार पांच कार्यों में विघ्न करना सो इससे अतराय कर्मका बध होता है ।

यदि दाता इस प्रकार दानादिक कार्योमें विघ्न करता है तो दाताको अंतराय कर्मका आश्रय होगा । यदि मात्र इस प्रकार विघ्न करावे तो उसको आश्रव होगा । इसका स्पष्टीकरण आगे लिखा है ।

दानातराय —

अर्थ—हे राजन् कोई भव्य जीव किसी पात्रको आहार दान करनेका भाव करता हो या देता हो उसको देखकर कृपणबुद्धि से या दुर्भावो से निषेध करना, अथवा कोई विशेष कारण बतलाकर दान करनेसे रोक देना या कुबुद्धि को धारण कर पात्रकी अयोग्यता (मिथ्या कल्पनाकर) प्रकट कर दान देने में विघ्न कर देना इत्यादि

केनचिद्वा कुबुद्धेन भ्रान्तिमुत्पादयत्यहो । येन तस्यैव दातुश्च मतिर्दाने न जायते ॥ १४८ ॥
दानान्तरायदुःकर्म स लभत्येव मूढधीः । अनेन कर्मणा तस्य दानासिर्नो भवत्यहो ॥ १४९ ॥
लाभाप्तिर्जायते कस्य विघातार्थं न तस्य वै । कुबुद्ध्या यः करोत्येव लाभस्यैव विनाशकम् ॥ १५० ॥
बध्यते सैव दुःकर्म लाभान्तरायसंज्ञकम् । अनेन विधियोगेन लाभाप्त्यस्यैव नो भवेत् ॥ १५१ ॥
भोगवस्तो करोत्येव वियोगं यो हि मानव । कस्यैव पुरुषस्यैवासहमानस्तदोदयम् ॥ १५२ ॥
भोगान्तरायसंज्ञं स सैव दुःकर्म दुःखदम् । परजन्मनि प्राप्नोति संशयो नात्र भूयते ॥ १५३ ॥

कार्यों से दानांतराय कर्मका आश्रव होता है जिससे जीवोंको सब कुछ साधन मौजूद होनेपर भी दान देनेके भाव नहीं होते है या दान देनेका नियोग नहीं प्राप्त होता है ।

अर्थः— जिस किसी जीवको धनादिक वस्तुका लाभ प्राप्त हो, व्यापारादिकके द्वारा धन प्राप्त होता हो तो कुबुद्धि या दुर्भावनासे उसके लाभ प्राप्तिमें विघ्न कर देना या उस लाभको ही नष्ट कर देना अथवा ऐसे व्यापारको किसी प्रकार जानकर स्वतः उसका फल (लाभ) लेकर उसको लाभसे वंचित रखना सो इससे लाभान्तराय नामका कर्म बंधता है । जिससे जीवको लाभ प्राप्तिका योग नहीं होता है ।

अर्थ - हे राजन् ! जो मनुष्य दूसरोंके भोग वस्तु की प्राप्ति में विघ्न करे अथवा किसीको भोग प्राप्त होते हों तो उसको नष्ट करदेना भोगोंको भोगने में विघ्न करदेना भोगने नहीं देना इससे भोगांतराय नामका कर्मबंध का आश्रव होता है ।

उपभोगस्य सद्वस्तो नाशं करोति य कुधी । कस्यैव सैव भो नूनमग्रजन्मनि जन्मनि ॥ १५४ ॥
लभते उपभोगातरायस्यं शर्मनाशकम् । कुकर्म मगधाधीश परोपभोगवर्जनात् ॥ १५५ ॥
केनचित्कारणेनैव कोपि कस्यैव भूपत । नाशं करोति वीर्यस्य नानादु खप्रदायकम् ॥ १५६ ॥
वोर्यान्तरायसंज्ञच विधिंच बध्यते खलु । सैव संसारकांतारभवभ्रमणकारकम् ॥ १५७ ॥
यात्रादिधर्मकार्येषु कृपणत्वान्नराधिप । कारणाद्दानर्निदाया देवनैवेद्यभक्षणात् ॥ १५८ ॥
जिनकोशस्थवित्तस्य क्रयविक्रयकारणात । तदशनाल्लोपनाच्चैव धारणाद्गृहि स्वापणे ॥ १५९ ॥
छेदनाज्जिनधर्मस्य परविश्वासद्दापनात् । अधर्माचरणाच्चैव वधनाद्बधनात्तथा ॥ १६० ॥
कर्तनाच्चैव जिह्वाया विपस्यचैव दापनात् । अवकोशाटनाच्चैव तथातंकविवर्द्धनात् ॥ १६१ ॥

अर्थ—हे राजन् ! उपभोग वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न करना दूसरोंको उपभोगोके भोगने में विघ्न कर देना उपभोगोको नष्ट कर देना सो इससे उपभोगान्तराय नामका कर्मका आश्रव होता है ।

अर्थ—किसी कारणसे या दुर्भावोसे किसी जीवके वीर्यका नाश करना उसकी शक्तिका न्हास करना या लोप कर देना इससे वीर्यांतराय नामका कर्मबंध होता है । यह वीर्यांतराय संसारके भ्रमण करानेमें मुख्य सहायक है ।

अर्थ—हे राजन् यात्रा-प्रतिष्ठा-रथमहोत्सव जिनमंदिर निर्माण आदि धर्मकार्योंमें विघ्न करना । कोई प्रतिष्ठादि करता हो तो उसको रोकना " अभी प्रतिष्ठा व प्रतिमा बहुत होगई अब जरूरत नहीं " इस प्रकार प्रलोभन या दुर्भावोसे उत्तम प्रतिष्ठादिक कार्योंमें विघ्न करना, कृपणतासे धर्मकार्य नही होने देना, देवकी पूजाके लिये अर्पण किया हुआ धन जमीन आदि द्रव्यका भक्षण करना । ये सब अंतरायके कारण है ।

इत्याद्या आश्रवा भूप अंतरायस्य कर्मण । भवति सर्वमर्त्यानां शर्मान्तरायकारका ॥ १६२ ॥
सदैव णभि भो भूप अस्य नु. चाष्टकर्मभि । वध्यते कर्मणो वंधा शर्माशर्मप्रदायका ॥ १६३ ॥
सातासिश्चैव दु खाश्चि यतद्धि प्राणिना नृप । जायते नात्र संदेह शुभाशुभैकर्मणा ॥ १६४ ॥
मृते भर्तरि या नारी व्यभिचारं करोत्यहो । तथा भरणवस्त्राद्यै. बहुमूल्यात्समुद्भवै ॥ १६५ ॥

अर्थ—तीर्थ-जिनमदिर-जिनशास्त्र भडार और जिनायतनोके भंडारका भक्षण करना । जिनधर्मका ध्वस जिनमूर्ति का खंडन करना । जिनधर्मका विश्वास (सत्यता) का लोप करना पविन्त्राचरणोंका नाश करना अधर्माचरणोको बढाना वध बधनादि हिंसा कार्योकी वृद्धि करना दूसरोकी नाक काटना जिव्हाका छेदन करना, विना प्रयोजन वृक्षोका छेदन कराना गुह्य अगोका छेदन भेदन करना इत्यादिक बहुतसे कारणोंसे अतराय कर्मका आश्रव होता है ।

हे राजन् ! इस प्रकार आठ कर्मोके आश्रव बतलाये हैं इनमें कितने ही पुण्योत्पादक है और कितनेही पापोत्पादक है । जीवोको शुभाशुभ कर्मोसे सुखदुःख प्राप्त होता है ।

अर्थ—विधवा स्त्री व्यभिचार सेवन करे । अथवा व्यभिचार सेवन करनेके कारणो (पुनर्विवाह) को धारण करे । शरीरपर सुदर मनको लुभानेवाले वस्त्राभूपण पहने बहुमूल्य साडी पहने । शरीरका शृंगार करे । केशो की रचना करे नेत्रमें सुरमा आदि लगा कर कामोत्पादक वेशको वनावे । भड राग को गान करे ऐसा कि जिससे ब्रह्मचर्य नष्ट होजावे। पुष्ट रसोसे अपने शरीरको कामोत्पादक योग्य वनाये रखे। या पुष्ट रसभोजन पान सेवन कर कामोत्पादक बनावे । दूसरो की निंदा और अपनी प्रशंसाके गान करे । मायाचार और मानको धारण कर धर्म धारण करनेका ढोढ वतलावे । कुकथा और कुशिक्षाका ऐसा पठन पाठन और अभ्यास करे कि जिससे काम-

नेत्राणा नंददैश्चैव भूषयत्येव स्वतनो । नेत्राजन करोत्येव केशादिमडन तथा ॥ १६६ ॥
गायति भडराग च ब्रह्मचर्यविनाशकम । तथैव पोषयत्येव शरीरं च रसात्करै ॥ १६७ ॥
परनिंदात्मशसा च मायामान च स्वात्मनि । कुकथा प्रकरोत्येव कुशिक्षा कामवर्द्धका ॥ १६८ ॥

वृद्धि हो व्यभिचार की वृद्धि हो । अथवा मिथ्या शास्त्रोका पठन पाठन करे जिससे कि सदैव कुबुद्धि बनी रहे और कुमार्ग (धर्मलोप करनेके मिथ्यामार्ग) की वृद्धिकी वासना वढे इत्यादि कारणोसे स्त्री मर कर भवभवमें जन्म जन्मांतरो में विधवा होती है क्यो कि उसने अपने धर्माचरण वैधव्य दीक्षाका नाश किया ।

विधवा स्त्रीका वैधव्य दीक्षा देना ही जरूरी है धर्म शास्त्रोमे विधवाके लिये वैधव्य दीक्षाका विधान वतलाया है । वैधव्य दीक्षाको धारण कर वह केशका उत्पाटन-शृंगारका त्याग-सुंदर वस्त्र जिसे सौभाग्यशाली स्त्रिया पहनती है उनका त्याग करना पडता है ।

असलमें जो स्त्री वैधव्य दीक्षाको धारणकर सयमसे धर्माचरण पूर्वक रहती है वह एक प्रकारकी घरमें रहने वाली आर्यिकाके समान है परम साध्वी है । उससे समस्त कुटबको शीलकी शिक्षा प्राप्त होती है वह सवको पवित्र आचरण सिखलाती है और शीलकी रक्षा और माहात्म्यका आदर्श जगतके सामने रखकर स्त्री समाजका और अपना कल्याण करती है । किंतु जो विधवा वैधव्य दीक्षाको स्वीकार न कर शृंगार करती है उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण पहनती है और ऐसी कुशिक्षा प्राप्त करती है कि जिससे व्यभिचार बढे और धर्माचरण का लोप हो शील (ब्रम्हचर्य) व्रत नष्ट हो जावे । ऐसी ही विधवायें धर्मका लोप कर केवल व्यभिचार बढाती है ।

पठति पाठयत्येव मिथ्याशास्त्रं कुबुद्धिदम् । इत्यादिकर्मभि नारी निधवा च भवे भवे ॥ १६९ ॥
भवति शोकसयुक्ता धर्माचरणविघातनात् । अतिनिर्दयभावेन स्वपतिं मारयत्यहो ॥ १७० ॥
मुक्त्वा तं सेवते चान्यं जीवंत स्वपतिं खला । पापाचार सदा पालयत्येव धर्मवर्जिता ॥ १७१ ॥
कर्मणामितरत्वेन एतेषा साहि भूपते । शीलव्रतान्विता चात्र जन्मनि जन्मनि तथा ॥ १७२ ॥

कुशिक्षाका फल—

असलमें व्यभिचार की जड कुशिक्षा है, कुशिक्षा के प्रभाव से विधवा स्त्रियें ब्रह्मचर्य की मर्यादाका परित्याग कर निर्लज्ज बनकर व्यभिचार में प्रवृत्त हो जाती हैं और उसको निर्भर्त्स कर तथा धर्मका लोप कर पुनर्विवाह के द्वारा व्यभिचार बढाती हैं।

कुशिक्षा से सब कुछ हो जाता है कुशिक्षा से समस्त मार्ग खुले हैं। और कुशिक्षाका परिणाम सबसे प्रथम धर्म लोप—तथा ढीट बनना है।

अर्थ—हे राजन्! कुशिक्षासे स्त्री अपने पतिको सजीवन अवस्थामें अतिशय निर्दय भावोसे मार डालती है। अथवा जीवित सुदर पतिको छोडकर भग जाती है। दूसरोको पति बना लेती है। यह पापाचार कुशिक्षाके प्रभावसे धर्मका नाश करनेवाला होता है।

अर्थ—ऊपर जितने कारण विधवा होनेके बतलाये हैं उनसे विपरीत कारण सधवा होनेके जानना चाहिये। जो स्त्री शीलव्रतका पालन करती है श्री जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका श्रद्धान कर अपना आचरण आगमके अनुकूल रखती

भवति नात्र संदेहो नानाशर्मविमडिता। अत्ययात्येन सधवा महासौभाग्यमडिता ॥ १७३ ॥

वित्तागनाश्च मृत्वाहि शीलहीना भवंत्यहो। सदैव कामदेवस्य क्रीडाशक्ता मदोद्धता ॥ १७४ ॥

म्लेच्छोत्पन्ना नरा नार्यः मृत्वाहि मगधेश्वर। भवंति व्रतहीनाश्च इमे वामाश्च मानवा ॥१७५॥

है। वैधव्य दशा प्राप्त होनेपर वह वैधव्य दीक्षा धारण कर ससार देह भोगो से उदास रहती है। न शृगारादि कामोत्पादन दुष्ट कार्योंको करती है वह भवभवमें सधवा होती है। महान् सौभाग्य उसको प्राप्त होता है।

अर्थः—वेश्यायें जो व्यभिचारका धदा फैलाकर शीलसे रहित होती हैं वे मरकर पर जन्ममें शीलविहीन मदोद्धता[1] अनत पापोको सेवन करनेवाली और समारमें परिभ्रमण करनेवाली होती हैं।

अर्थ—जिनके यहां पुनर्विवाहादि मलिन आचरण हैं जिनको उत्तम व्रत धारण करनेकी योग्यता ही नहीं प्राप्त होती है उनको म्लेच्छ वा शूद्र कहते हैं। शूद्रोको शीलव्रत किसी प्रकार भी पालन नहीं हो सक्ता है। क्योंकि उनके यहां उनकी जातिमें पुनर्विवाह होता है। पुनर्विवाह व्यभिचार है। व्यभिचार करनेवालोंके शीलव्रत हो नहीं सक्ता है। शीलव्रतके अभावसे अन्य व्रतोंका पालन भी परिपूर्ण नहीं होता है। अतएव ऐसे जीव मरकर व्रतविहीन होते हैं।

---

१ म्लेच्छ व शूद्र जो स्त्रीका पुनर्विवाह करते हों अतएव व्यभिचार जिनके सुतरां होता है व्रत होनेकी योग्यता उनको नहीं प्राप्त होती है। शीलव्रत धारण करनेका जिनको अवसर ही प्राप्त नहीं होता है ऐसे म्लेच्छ जीव मरकर व्रतविहीन अनत संसार के बढानेवाले पापी होते हैं।

भूत भातमभूतमेव ह्यखिल ससारतापापहं । वीरो वीरगुणाकरो मुनिनुतो वृतातमेवाजसा ॥
आयु:कायसुमारवैभवयुतान पुण्योदयात सत्सुखान् । मर्त्यांना च पृथक्पृथक् जिनपति त्रिषष्टिकाना शुभम् ॥१७६॥
योगणाश्च तथाहि अन्यमनुजाना च चरित्रं महत । तत्वातत्वविभेदकं च स्मरतो मोक्षस्वरूप तथा ॥
कर्त्तव्य च जिनेश्वरो ह्यवहरो व्याख्यानक चोत्तम । मोक्ष ह्याप दयार्द्रधी जितरिपु सर्वाधिपैर्वदित ॥ १७७ ॥
इत्थ कर्णसुखप्रदा मुनिवरैर्वंद्याच मोक्षप्रदाम् । श्रीतीर्थंकरवक्त्रजामघहरा श्रुत्वा गणास्तेऽखिला ॥
वाणीमानुमनदाच वै निरुपमा मदेहवृदापहा । मोद मोदकरा सुरासुरगणै पूज्याच पुण्योदयाम् ॥ १७८ ॥

अर्थः— हे मनुष्येश्वर जो कुछ संसारमें जितना वृत्तात हो गया है, आगे होगा और वर्तमानकालमें हो रहा है वह सब वीर प्रभु अपने दिव्य ज्ञानसे परिपूर्ण यथार्थ रूपसे जानते हैं। इसी लिये वीर प्रभु सर्वज्ञ वीतराग और त्रिलोक वदित है। मुनिगणोसे पूज्य है। जो मनुष्य वीर प्रभुके वचनोका श्रद्धान कर उनको ही अपना ध्येय समझता है, अपना कर्तव्य मानता है वही आयुः काय भोग सपदा आदि उत्तमोत्तम सामग्रीको प्राप्त कर महान् पुण्यका सपादन करता है। वह पुण्य त्रिषष्टि पुरुषोके चरित्रादिकोका श्रवण करनेसे सपादित होता है।

अर्थ— श्री वीर प्रभूने त्रिषष्टी शलाका पुरुषोका पुण्योत्पादक जीवन चरित्र, तत्वातत्वका विवेचन मोक्षका स्वरूप आदि समस्त पदार्थोका व्याख्यान समोशरण में दिया। वे दयालु भगवान् सदैव जयवत रहो।

अर्थ—इस प्रकार मुनिगणोंसे भी पूजित समस्त प्रकारके सुखोको प्रदान करनेवाली निरुपम-समस्त सदेहोंको विनाश करनेवाली समस्त जीवोको आनंद प्रदान करनेवाली- समस्त पापोका नाश करनेवाली महान् पुण्योदय से प्राप्त होनेवाली ऐसी वीर प्रभुकी मनोहर श्री जिनवाणीको प्रभुके मुखकमल से श्रवण कर समस्त गणधर देव प्रसन्नताको प्राप्त हुए।

केचिद्भव्यास्तदा भीत्वा संसारात्शर्मतः खलु । स्वीचक्रु जिनमुद्राञ्च श्रावकाचारजं व्रतम् ॥ १७९ ॥

दानेच पूजने केचित मतिं चक्रु शिवाप्तये । दिनाभिषेकनियमं पञ्चामृतरसोत्करै ॥ १८० ॥

निशाया भक्षणस्यैव त्यागं चक्रुश्च केचन । स्वस्त्रिया नियमं केचित् पर्वण्या चाग्रशर्मणे ॥ १८१ ॥

अष्टान्हिकविधिं केचित् कर्मादहनं व्रतम् । रत्नत्रयव्रतं केचित जगृहु कनकावलिम् ॥ १८२ ॥

पञ्चकल्याणनामापि पञ्चकल्याणदायकम् । पल्यास्य व्रतमुख्यञ्च केचिच्च जगृहुस्तदा । १८३ ॥

समेदाचलयात्रार्थं मतिं चक्रुश्च केचन । दुष्टाष्टविधिनाशार्थं शुद्धभावेन मंडिता ॥ १८४ ॥

श्रेणिकोपि नरवीशो भाविनीर्थकराग्रणी । शुद्धसम्यक्त्वभूषाढ्यः वीरनाथस्य भाक्तिकः ॥१८५॥

महावीरस्तदाकाले भावनामास भावनाम तथा यात्राव्रतादीना स्वहृदि शुद्धभावत ॥ १८६ ॥

अर्थ—वीर प्रभुकी दिव्यध्वनि श्रवणकर कितने ही भव्योने संसारके दुःखोसे भयभीत होकर श्रीजिनदीक्षा धारण करली। श्रावकाचारके व्रतोंको धारण किया। कितनोने दान करनेकी प्रतिज्ञा ली कितनोने जिनपूजनका नियम ग्रहण किया। कितनोने पञ्चामृतसे नित्य जिनाभिषेक करनेका नियम लिया। रात्रिमें भोजनका त्याग कितनोने किया। स्वदारसंतोष नियम पालन करनेको प्रतिज्ञा बहुतोने ली। ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया। कितने ही जीवोने अष्टान्हिक रत्नत्रय-कर्मदहन पल्यव्रत-पञ्चकल्याणव्रत कनकावलि-द्विकावलि मेरुपंक्ति आदि व्रतोको पालन करनेका नियम लिया। श्री समेदाचलकी यात्रा चतुर्विध संघ सहित करनेका पुण्यकार्य कितने ही भव्यजीवोने स्वीकार किया।

इस प्रकार शुद्ध भावोसे मंडित भव्यजीवोने श्री वीर प्रभुकी दिव्य ध्वनिको श्रवण करके दुष्ट अष्ट कर्मोंको नाश करने के लिये विविध प्रकारका चारित्र धारण किया।

अर्थ—भावि तीर्थंकर ऐसे श्रेणिक महाराजने श्री वीर प्रभुकी भक्तिसे शुद्ध सम्यक्त्व से अपनेको विभुषित

इत्याद्यं धर्मसंदोहं स्वस्वशक्त्यनुसारत. । गृहीत्वा सह भूपेन ययुस्ते स्वपुरे मुदा ॥ १८७ ॥
चेलनाद्या· प्रियास्तस्य वारिषेणादय· सुताः । नागरा भव्यभावाढ्याः तेषां वामाश्च नंदना ॥ १८८ ॥
इत्याद्याः सकला भव्याः व्रतं तं कर्मनाशकम् । यथोक्तविधिना चक्रु कर्मादिदहनाभिधम् ॥ १८९ ॥
राज्ञ· सजायते भव्या धर्मोत्पत्तिर्न संशयः । यत्र राजा च धर्मात्मा भवत्येन प्रजापिच ॥ १९० ॥

किया और जो देशना (धर्मोपदेश) वीर प्रभुने दिया था उसकी भावना की तीर्थ यात्रादिको की भावना की । इस प्रकार धर्म श्रवणकर समस्त भव्यलोक अपने अपने स्थानको गये ।

अर्थ—श्रेणिक महाराजकी चेलना आदि महादेवी वारिषेण आदि राजकुमार और नगरके समस्त नरनारी गणने इस कर्मदहन व्रतको यथोक्त विधिसे धारण किया ।

अर्थ—इस प्रकार श्रेणिक महाराजकी धर्म भावना को देखकर समस्त प्रजा धर्ममय बन गई । नीति है कि राजा धर्मात्मा होने से प्रजा भी धर्मात्मा होती है क्योंकि राजाके भले बुरे आचरण प्रजा सीख लेती है ।

धर्मकी वृद्धि और धर्मकी मर्यादा राजाओमे ही स्थिर रह सक्ती है । क्योंकि राजगण दंड आदिके द्वारा प्रजाको अनीति और असदाचार (अधर्म) से रोक सकते हैं । राजाओंकी आज्ञा समस्त प्रजाको पालन करनी ही पडती है। राजाकी आज्ञा धर्मरूप—नीतिसे पूर्ण होगी तो प्रजा भी वही नीति वही धर्मव्यवस्था सांगोपांग स्वीकार करेगी।

वर्तमान में वर्णव्यवस्था लोप विधवा विवाह स्पर्शास्पर्श लोप—समान हक—आदि समस्त धर्मविरुद्ध नीतिविरुद्ध मर्यादाविरुद्ध—वातोंको धर्म नीति और कर्तव्य बतलाया जारहा है यह मब राजा और राजाकी ऐसी ही कुशिक्षाका फल है। यह बात सच है कि यथा राजा तथा प्रजाः ।

इमा च महिमां मत्वा बुधा व्रतस्य चास्य वै । कुर्वीध्व सद्व्रतं चेमं तूर्णमेव शिवप्रदम् ॥ १९१ ॥
जिनवक्त्रोद्भवा वृता इमे सर्वे नरोत्तमाः । विधिना क्रियमाणाश्च शिवशर्मप्रदायकाः ॥ १९२ ॥
शास्त्रोक्तविधिना व्रतमेकमप्येव ये नरा । करिष्यति भजिष्यंति मोक्षसौख्यं न संशय ॥ १९३ ॥
मातंगाद्याश्च ये मर्त्या शुद्धैकव्रतपालनात् । सुखमाप्ता अतो भव्या बहुभिः कारणं च किम् ॥ १९४ ॥
कर्तव्यं यत्र भो भव्या निरारंभेण तद्व्रतम् । आरंभेणैव संयुक्ता इमे हि भवदायकाः ॥ १९५ ॥
कृत्वा चैवोपवासं च आरंभं य करोत्यहो । गजस्नानसमं शर्म प्राप्नोति सैव मानव ॥ १९६ ॥

अर्थः— हे राजन् कर्मदहनकी महिमा अपरंपार है। इस प्रकार जो भव्य जीव इस महिमाको सर्वोत्कृष्ट और परम दुर्लभ समझते हैं वे मोक्षको प्रदान करनेवाले इस व्रतको भावोंकी विशुद्धिसे करें। हे भव्य जीवो ! यह व्रत श्री जिनेन्द्र देव भगवानके मुखकमलसे प्रकाशित है । इसलिये जो भव्य जीव शास्त्रोक्त विधिसे इस व्रतका पालन करते हैं वे मोक्षसुखको प्राप्त होते हैं।

अर्थः— हे भव्य जीवो, मातंग आदिक अनेक भव्य प्राणी इस व्रतके माहात्म्यसे सुखको प्राप्त हुए है तो आप लोगोंको भी निःसंदेह भावसे शुद्ध व्रत पालन करना चाहिये।

अर्थः—समस्त प्रकारके हिंसक और मोहोत्पादक आरंभोंका परित्याग कर व्रतोका परिपालन करना चाहिये। जो उपर्युक्त प्रकारका आरंभ कर व्रतोंका पालन नहीं करता उसके संसारके मार्गकी वृद्धि होती है।

अर्थः— इस प्रकार जो मनुष्य आरंभ सहित उपवास करते हैं उनके व्रत सुख प्रदायी नहीं होते है। गजस्नानके समान उनकी क्रिया हैं।

अथ श्रीमज्जिनाधीशो महावीर सुरार्चित । विहारं कृतवान् आर्ये वर्षे भव्यनरैर्भृत ॥ १९७ ॥
तर्पयतिस्म तान् भव्यान् वचनामृतवर्षणै । मिथ्यातमो हि तेषाच वाग्मयूखैर्विघट्टयन् । १९८ ॥
स्थापयन् श्रीजिनेन्द्रोक्तं सद्धर्मं मोक्षदायकम् । उत्थापयन् कुधर्मंच भवसततिदायकम् ॥ १९९ ॥
एव कृतेच भव्यौघा तद्वदनेन्दुजं वरम् । गद्धान्तामृतमत्पानमितरेषाच दुर्लभम् ॥ २०० ॥
जहुरनादितो लग्न भवाकूपारवर्द्धकम् । मिथ्या विष महाक्रूर शर्मलेशविनाशकम् ॥ २०१ ॥
ततश्च जग्रहु शुद्धसम्यक्त्वं भवनाशकम् । यस्यैव धारणात्सर्वे तरंति भवतो नरा ॥ २०२ ॥
याता याति तथा भव्याः यास्यंति शिवसत्पदे । अस्यैव पालनात्कोपि अन्योपायो हि नो बुधा ॥२०३॥

अर्थ—इस प्रकार त्रिलोकगुरु श्री वीर भगवानने अपने वचनामृतसे समस्त भव्य जीवोंको परम संतोष करते हुए अपने वचन किरणोसे जगतके निबिड मोहाधकारको नाश करते हुए श्रीमज्जिनेन्द्र देवके अनादिनिधन जैन धर्मको समस्त जगतमे स्थापन करते हुए तथा कुधर्मोंका नाश करते हुए भारत क्षेत्रके आर्यखडमें विहार किया। और अगणित भव्योंको ससारसे पार कर परमसुख धाममें पहुंचाया ।

अर्थ—इस प्रकार त्रिलोकबधु श्री भगवान् महावीर प्रभूके मुखकमलसे विनिर्गत वचनामृत का पानकर अनेक भव्योने अनादि कालसे सलग्न ऐसे मिथ्यात्वरूपी हालाहलका परित्याग किया ।

अर्थ—हे राजन् श्रीवीर प्रभुके वचनामृतके पानसे बहुतसे भव्यजीवोने शुद्ध सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति की। जिस सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर अनतभवके समस्त पाप एक क्षणमात्रमें नाश होजाते हैं। और भव्यजीव ससार समुद्रसे पार होजाते हैं ।

अर्थ—इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ही भव्यजीव संसार से पार हुए। होते हैं। और होगे। इसके सिवाय मो-

एव संबोधयन् भव्यान् पावापुरस्य सो जिन । प्रत्यागूर्णस्थकासारे सिताम्भोजैर्विमंडित । २०४ ॥
तन्मध्ये रचिते देवैश्चन्द्रकांतमये शुभे । शिलापट्टे निरौपम्ये सर्वदेवाधिपै सह ॥ २०५ ॥
आययौ तत्प्रभावाच्च पूर्वमेव सुरार्चित । तस्योपरि तदा दध्रे प्रतिमायोगमुत्तमम् ॥ २०६ ॥
अंत्यशुक्लासिना हत्वा कर्मारातीन् ततो जिन । बाहुलाभिधसन्मासे दर्शे च शर्वरीक्षये ॥ २०७ ॥
मोक्षमाप सुखाङ्कच नक्षत्रे स्वातिकाभिधे । महावीरो गुणं पूर्णः तारको भव्यपाणिनाम् ॥ २०८ ॥
चतुर्निकायदेवेन्द्रा तदैवासनकपनात । आजग्मु तस्य पूजार्थं ज्ञात्वा निर्वाणसद्गतिम् ॥ २०९ ॥

क्षपद प्राप्त करनेका अन्य उपाय नही है ।

अर्थ— इस प्रकार त्रिलोकगुरु देवाधिदेव श्रीवीर भगवान् समस्त भव्यजीवोंको संबोध (रत्नत्रयका परिज्ञान) कराते हुए पावापुरके तलावके मध्यभाग भूमिपर आये । देवगणोने कमलोसे विभूषित उस तलावके मध्यभाग में चन्द्रकांतिमणि की दिव्य और परम सुदर एक शिला स्थापन की । देवगणोसे पूज्य श्रीवीर प्रभुने उस रत्नमयी शिलापर प्रतिमायोग धारण किया और कार्तिक वदी चतुर्दशीकी रात्रिके अंतिम समय स्वाति नक्षत्रके उदयमें वे अंत्य शुक्ल ध्यानके प्रभाव से समस्त कर्मशत्रुओका समूल नाश कर निर्वाण पदको प्राप्त हुए ।

भव्य जीवोको ससार से पार करनेवाले समस्त आत्मीक शुद्ध गुणोसे परिपूर्ण ऐसे वीर [महावीर] प्रभु पावापुरके तलावके मध्यभाग से मोक्ष को पधारे ।

अर्थ—वीर प्रभुके मोक्ष पधारनेके समय देवोके आसन कपायमान हुए। जिससे चतुर्णिकाय देव प्रभुके निर्वाण के समयको जानकर भगवानकी निर्वाण पूजा करनेके लिये वहांपर आये ।

महदानदसंपन्ना. सैन्यसप्तविमडिता । नानाशोभाभिसंपन्ना. सागना सहवाहना. ॥ २१० ॥
पदे पदे प्रकाशार्थं चक्रु देवा मुदान्विता· । नाकरत्नोद्भवानां च प्रकाश तमनाशकम् ॥ २११ ॥
सुराधिग. विभो देहं दृष्ट्वा वस्वंगतस्तदा । नत्वाच स्थापयामासु· शिबिकाया सुरैः कृताम् (?) ॥२१२॥
अग्नीन्द्रमुकुटोद्भूतपावकेन पुन शुभे. । काश्मीरागुरुकर्पुरैरन्यैर्द्रव्यैः सुरोद्भवै. ॥ २१३ ॥
पर्यायांतरमेवाशु चक्रुस्ते सुरनायका । तं काय अतिहर्षेण शिवशर्मकर वरम् ॥ २१४ ॥
तदग्रे मृतपिंडेज्या शुभां चक्रु. शिवाप्तये । महामंत्रेण सौधर्मप्रमुखाश्च सुरेश्वरा ॥ २१५ ॥

अर्थ--महान् आनद और हर्षसे प्रफुल्लित सात प्रकारकी सेनासे विभूषित अपनी अपनी देवांगनाओं सहित अपने अपने वाहनोपर बैठे हुए देवता अपूर्व शोभाके साथ वहांपर आये ।

अर्थः— उस समय हर्षसे प्रफुल्लित देवगणोंने अधकार नाश करनेवाले और अपूर्व प्रकाशको प्रकट करनेवाले ऐसे स्वर्गके रत्नमयी दीपक स्थान स्थान पर रखे । अगणित दीपकोसे दीपावली (दिवाली को प्रकट किया । उसी दिवस से यह उत्सव दीपावलि के नामसे दिवाली आजतक प्रचलित है ।

अर्थः— देवगणोंने त्रिलोकपूज्य वीर प्रभुके उस परम औदारिक दिव्य देहको एक सुंदर पालकीमें विराजमान कर महान उत्सव प्रकट किया ।

अर्थः— पावापुरके उस तलावके मध्यभागमें ही अग्निकुमारके देवोंके मुकुटोसे प्रज्वलित अग्निके द्वारा अत्यत सुगधित केशर, अगर, चदन, कपूर आदि स्वर्गकी पवित्रतम दिव्य वस्तुओंसे वीरप्रभुके परम पुनीत उस दिव्य देहको देवेंद्रोने पर्यायांतर किया ।

अर्थ— सौधर्म इन्द्र आदि मुख्य देवेन्द्रोने भगवानके उस (पर्यायांतर अवस्थाको प्राप्त हुए) शरीरको मोक्षकी प्राप्तिके लिये महान मन्त्रोके द्वारा पूजा की (मृतपिंडकी पूजा की)।

मोक्षाभिरेहि कल्याणे मोदकेन मता बुधा. । गणाधीशैर्जिनेन्द्रस्य इज्या मोक्षप्रदायिका ॥ २१६ ॥
प्रपेठु. शांतिसत्पाठं सर्वशांतिप्रदायकम् । सर्वेन्द्राश्चातिहर्षेण महदानंदसभृता. ॥ २१७ ॥
तद्भस्म भुजयो. भाले नेत्रेच हृदये सुराः । तथा सर्वशरीरेषु विभो कायसमुद्भवम् ॥ २१८ ॥
सधृत्वा चेति दध्युस्ते इयमस्तु हि नो शुभा ।, शिवदा स्वामिनो नून मतिर्नास्त्यत्र संशय· ॥ २१९ ॥
आनदनाटकं चक्रे सौधर्मेन्द्रो हि हर्षत । अग्रे निर्वाणसद्भूमे· सह शच्या तथा सुरै· ॥ २२० ॥

अर्थ—मोक्ष कल्याणक की कल्याणक पूजा गणधर देवोंने मोक्षको प्रदान करनेवाली बतलाई है इस लिये प्रत्येक भव्यजीवको अतिहर्षभावसे करना चाहिये ।

देवगणोने अति हर्षभावसे मंत्रपूर्वक विधिक्रमसे निर्वाण कल्याणक पूजाको कर अंतमें शांतिपाठ जगतकी शांतिके लिये किया ।

अर्थ—भगवानके शरीरकी भस्मको देवगणोंने अतिशय पूज्य भावोसे उस भस्मको अतिशय पूज्य समझकर सुखकी प्राप्तिके लिये अपने भुजोंपर हृदयमें भाल नेत्र और समस्त शरीर में लगाई और अपनेको पवित्र माना ।

अर्थ—देवगणों ने उस पवित्रतम और मोक्षको प्रदान करनेवाली भगवानके शरीरकी भस्मको उत्तम और शुभ-वस्तु को अत्यन्त सरक्षणीय समझकर अपनी अपनी रत्नोंकी पिटारियोंमें बडे यत्नसे गोप्य कर रखी । और उससे देवोने अपनेको मोक्षगति प्राप्त होगी ऐसा निश्चय किया ।

अर्थः— सौधर्म इन्द्रने उस समय निर्वाण भूमिपर अपनी इन्द्राणी और देवगणोंके साथ आनंद नाटक अत्यंत हर्षसे किया ।

आतोद्यानां तदा श्रुत्वा ध्वनिं कर्णसुखप्रदम् । श्रेणिकाद्याश्च भव्यौघाः प्रचेलु सह भीरुभिः ॥ २२१ ॥
इज्याद्रव्येण सयुक्ता मोदभारविमंडिता. । एवं सर्वे च संप्रापु यत्र देवेश्वराश्च ये ॥ २२२ ॥
तमुत्सवं च संदृष्ट्वा चितां ते भूमिपादयः । मुदमापुश्च संचक्रु प्रणतिमचलां च ताम् ॥ २२३ ॥
सुनासीरकृतानंदनाटकं नंददायकम् । विभो भूमे पुम्स्त च ददृशुस्ते नरोत्तमा ॥ २२४ ॥
परिपूर्णं विधायाशु सुनृत्यं नृत्यागमार्थवित् । मघवा सह देवौघैः सर्वेषां चकनंददम् ॥ २२५ ॥
सुनासीरस्ततश्चाह शृणु श्रेणिक भूपते । षष्टिसहस्रप्रश्नानां कर्तारं मगधाधिप ॥ २२६ ॥
अद्य प्रभृतितो जाता वृषभाद्या जिनेश्वरा । तेषां निर्वाणसत्पूजा अस्माभी रचिता वरा ॥ २२७ ॥

अर्थः—वीर प्रभुके निर्वाण हर्षमें देवोंने दुंदुभि वाजे त्रिलोकको शब्दायमान करनेवाले बजाये । जिनकी ध्वनिको श्रवण कर श्रेणिक प्रमुख राजाओंने वीर भगवानका निर्वाण महोत्सव जान लिया । और उस महोत्सवकी पूजा करनेके लिये सपरिवार सेना और समस्त प्रजासहित सुंदर सुंदर पूजाकी द्रव्यको साथ लेकर पावापुरके तलावपर वीरप्रभुको निर्वाणभूमिपर आये ।

प्रभुके शरीरकी चिताको देखकर अतिशय हर्षको प्राप्त हुए । और भक्तिभावसे मोक्षकी प्राप्ति के लिये उस चिताकी पूजा की । नमस्कार किया और देवोंके उस निर्वाण महोत्सवको देखकर हर्षित हुए ।
देवेंद्रोंके उस आनंद नाटकको समस्त राजाओंने देखा और वीरप्रभुकी महिमाको अपूर्व समझ हर्ष प्रकट किया ।

अर्थ—नृत्यकलामें प्रवीण ऐसे इन्द्रने नृत्यकी विधिको समाप्त किया ।

अर्थ—आनद नाटकको समाप्त कर इन्द्रने श्रेणिक महाराज आदि प्रमुख राजगणोंसे कहा । श्री वृषभादि पार्श्वनाथ पर्यंत तेवीस तीर्थंकर प्रभुकी निर्वाण पूजा (निर्वाण कल्याणक) विशुद्ध भावोंसे उत्तम की । और आज

अद्यैव वीरनाथस्य गतिर्निर्वाणकाऽभवत् । अस्यैव चिंतनार्थेच मोक्षसौख्यासये नृप ॥ २२८ ॥
प्रत्यब्दं मोदकेनैव दीपव्रातैर्घृतोद्भवैः । राव्यंते वीरनाथस्य इज्या कार्या शुभावतः ॥ २२९ ॥
इत्युक्त्वा तं च नाकेन्द्रः सहलेखैः सुरास्पदं । जगाम वीरनाथस्य चिंतयन् सद्गुणोत्करान् ॥ २३० ॥
सह भव्यैस्तदा भूपो मोदकेन शुभेनच । कृत्वेज्यां सिद्धभूमेश्च आयातवान् स्वमास्पदम् ॥ २३१ ॥
तदा प्रभृतितो भव्याः आर्यवर्षे च सद्विधिः । अयं विख्याततां जातः सर्वकार्यकरावहः ॥ २३२ ॥

ही श्री वीर भगवानकी निर्वाण पूजा की है। इस महान महोत्सवके स्मरणार्थ प्रत्येक वर्ष (रात्रिके अंतप्रहर) इसी समय में घृतोंके उत्तमोत्तम दीपसमूह को प्रज्वालित कर और महा सुंदर-दिव्य रससे परिपूर्ण इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले ऐसे लाड्से निर्वाण पूजा करनी चाहिये।

इस प्रकार कहकर वीर प्रभुके गुणोंको स्मरण करता हुआ इंद्र अपने स्थानपर गया।

अर्थ—इन्द्रकी आज्ञा से श्रेणिक महाराजने अनेक भव्य राजगणोंके साथ सुंदर लाड्से श्रीवीर भगवानकी निर्वाण पूजा की तथा उस सिद्ध भूमिकी (पावापुरके तलावमध्य जहां से श्री वीर प्रभु मोक्ष धामको पधारे) पूजा मुख्यता से की। इस प्रकार समस्त प्रजाके समक्ष निर्वाण पूजा व सिद्धभूमि पूजाको यथाविधिसे परिपूर्ण कर श्रेणिक महाराज वीर प्रभुके गुणोका स्मरण करते हुए अपने स्थानको गये।

अर्थ—श्रीवीर भगवानकी निर्वाण पूजा भारतवर्षमें सर्वत्र उत्तमोत्तम लाड् और घृतोंकी सुंदर दीपावलीसे भव्यजीव तब से आजपर्यंत करते आ रहे हैं। कर रहे हैं। और जबतक जिन शासन है तबतक करते रहेंगे।

दिवालीके दिवस लाड् चढानेकी विधिकी प्रवृत्ति उसी समयसे हुई है।

कृत्वा सुरचनां तत्र कासारे जलसभृते । तदालयस्य स भूप' प्रतिष्ठां तस्य स्थापना ॥ २३३ ॥
अंतकाले च त्यक्त्वा हि रौद्रध्यानस्य भावत । प्रस्तरे प्रथमस्यैव श्वभ्रस्य गतिबंधभाक् ॥ २३४ ॥
प्राणान् जगाम दु खाढ्ये तत्र भुक्त्वाच आयुषम् । मित्राष्टसहाब्दांत पश्चान्निर्गत्य तत्रत ॥ २३५ ॥
अत्रैव कोशले देशे अयोध्याया भविष्यति । महापद्माख्यसयुक्त' आद्यस्तीर्थकराग्रणी ॥ २३६ ॥
क भूप नारकी चैव क पुन' तीर्थनायक । अहो भव्याश्च पश्यध्वं चरित्रं कर्मणोद्भुतम् ॥ २३७ ॥
के के न कर्मणा प्राप्ता दु खवृंदं बुधोत्तमा । देवमानवसंसेव्या भरताद्या नरोत्तमा' ॥ २३८ ॥

अर्थ—श्रेणिक महाराजने (जलसे परिपूर्ण) उस पावापुरके तलावके मध्यभागमें (जहांसे श्रीवीर प्रभु निर्वाण पदको प्राप्त हुए थे ।) श्रीवीर प्रभुका जिनालय बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा अतिशय धूमधामसे की । उस जिनालयमें श्रीवीर प्रभुके स्मरणार्थ वीरप्रभुकी चरण पादुका स्थापित की ।

अर्थ —श्रीवीर प्रभुसे साठ हजार प्रश्नोंको करनेवाले शुद्ध सम्यग्दृष्टि भव्य श्रेणिक महाराजने रौद्रपरिणामोसे नरक आयुका बंध किया था और इसीलिये अंतसमयमें संक्लेश परिणामोसे प्राणोका परित्याग कर श्रेणिक महाराजका जीव प्रथम नरकके प्रथम पाथडेमें चौरासी हजार वर्ष की आयु पाकर उत्पन्न हुआ । वहां से निकलकर कोशल देश अयोध्या नगरमें महापद्मनामके प्रथम तीर्थंकरका महान पद प्राप्त करेगा ।

अर्थ:—कहां तो महा मंडलीक राज्यपद और कहांपर नारकी अवस्था तथा कहांपर फिर तीन जगतसे पूज्य तीर्थंकर पद ! ये सर्व बातें एकसे एक आश्चर्य करनेवाली हैं । हे भव्य जीवो ! परंतु इसमें कुछ भी आश्चर्य मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये सब कर्मके चरित्र हैं । कर्म इससे भी अधिक आश्चर्यकारी घटनाको कराता है । संसारमें कर्मोसे कौन कौन जीवोको दुःख प्राप्त नहीं हुए । अरे भरत महाराज सरीखे चक्रवर्ती पुण्य पुरुष भी

मत्वेत्थं सकला भव्याः कर्मारातिविहानये । एक श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तं कुर्वीध्वं धर्ममुत्तमम् ॥ २३९ ॥

अथ श्री गिरनारि सिद्धक्षेत्र प्रकरण.

अथ शृणुथ भो भव्या वृत्तातमपरं शुभम् । संक्षेपत प्रवक्ष्येह जिनमार्गस्य सूत्रकम ॥२४० ॥

श्रीनेमिनाथस्य सुशोभितेन । पादारविंदेन मनोहरेण । यदूर्जयतामिधभूधरोहि । पवित्रता भो गतनिर्जरार्च्यं. ॥२४१॥

यस्याद्गता मोक्षपुरे मुनीन्द्रा । द्विसप्ततिकोटिप्रमात्मध्यानात् । जायाशतं सार्धमहो सुराच्यो । वंदाम्यहं तान् सकलान् त्रिकाले॥२४२

तस्य गुहाया वसनैर्विहीनो धरादिसेन सुरपूज्यपाद । तपोदयांकंकृतगात्रमूर्ति वासं चकार मुनिराट् शिवार्थं ॥२४३॥

कर्मोके द्वारा दुःखको प्राप्त हुए तो अन्य साधारण जीवोंकी क्या बात ? इसलिए समस्त भव्य जीवोको कर्मोके नाश करनेके लिये श्रीजिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रतिपादित दयामयी पवित्र एक जैनधर्मका पालन करना चाहिये ।

अर्थ--हे भव्यजीवो समस्त जीवोके कल्याणके लिये अब एक दूसरा वृत्तांत संक्षेपसे कहते हैं । जिससे जैनमार्गकी महत्वता प्रकट होगी ।

त्रिलोक पूजित देवाधिदेव श्री नेमिनाथ भगवान के पवित्र चरण कमलों से पवित्र तीर्थ अवस्थाको प्राप्त हुआ ऐसा पवित्र नेमिनाथ भगवानकी निर्वाण भूमि श्रीगिरनार पर्वत सोरठ देशमें प्रसिद्ध है । जहांसे बहत्तर कोडि मुनीश्वर मोक्ष धामको पधारे है । उस पर्वतराजको मै त्रिकाल भाव विशुद्धि से नमस्कार करता हू ।

अर्थः— गिरनार पर्वतकी गुफामें नग्न दिगंबर धरसेन नामके एक योगीश्वर ध्यान धारण कर रहते थे ।

श्रीधरसेन योगीश्वर देवगणोसे साक्षात् पूजित थे । दया, तप, सयम आदि उत्तमोत्तम गुणोसे विभूपित अगके कुछ अश पर्यंत महान ज्ञानके धारक, तपसे तैजस, ऋद्धिको प्राप्त, ध्यान क्रियामें अतिशय निपुण, समस्त तत्वके

अंगांशधारी तपदीप्तिधारी ध्यानाधिकारी सकलार्थचारी । श्रीजैनधर्माब्धिसुसोमकारी पुनातु न स वसुभावधारी ॥ २४४ ॥
तेन मुनीन्द्रेण विचारितेयं अंगाश्च पूर्वा. ह्यखिलाः गताश्च । स्वस्य हृदि ह्येकदिने शुभाख्ये श्रीजैनमार्गस्य प्रवर्त्तनार्थम् ॥ २४५ ॥
शास्त्रादृते नैव नराखिलाश्च । धर्मस्य मार्गं श्रुतपाठनं च ॥ ज्ञास्यंति नैवात्र श्रुतार्णवं च । अतो रचिष्यामि दलेषु मध्ये ॥ २४६ ॥
जयादिशुभ्रं प्रथम चकार । ग्रंथ ह्यकूपारसमं मुनीन्द्र ॥ अनेकभेदार्थभृतं मनोज्ञं । श्रीवीरनाथस्य ध्वनेश्च तुल्यं ॥ २४७॥
प्रमाणं तस्य ज्ञारव्यं सहस्रसप्तति खलु । बुधैर्नमाम्यहं तंच शिरसा समये त्रिके ॥ २४८ ॥
विचित्रशब्दं गहनार्थयुक्तं महादि अंते धवलंच ग्रंथम् । तत परं भो मतिराट् चकार बुद्ध्याबलेन द्वितीयं शुभंच ॥

येना, श्रीजिनधर्म रूपी समुद्रको वढानेके लिये चद्र समान प्रभुताको धारण करनेवाले ऐसे श्रीधरसेन मुनीश्वर हमारी रक्षा करो ।

अर्थः— श्रीभगवान् श्रीधरसेनाचार्यने अंगको अपने हृदयमें धारण कर जैन मार्गकी प्रवृत्तिके लिये ग्रंथोंकी रचना की ।

श्रीधरसेनाचार्यने विचार किया कि अव आगे जीव मंदज्ञानी धारणा शक्ति विहीन होगे । इसलिये वे धर्ममार्ग व श्रुतका पठन पाठन नहीं जान सकेंगे । इसलिये मैं श्रुतको पत्रोंपर लिखकर जगतमें प्रकाश करू ?

श्री धरसेनाचार्यने सवसे प्रथम समुद्रके समान गंभीर अनेक शब्दार्थों से मनोज्ञ जगतके हित कारक श्रीवीर भगवानकी ध्वनी समान परमपूज्य जयधवलादि ग्रंथ निर्माण किये ।

अर्थ— जयधवल ग्रंथकी श्लोक संख्या सत्तर हजार श्लोक प्रमाण है । उस ग्रंथराजको मैं शिर नमाकर त्रिकाल वंदना करता हूं ।

अर्थः— विचित्र शब्दरचनासे गुम्फित और गंभीर अर्थका प्रतिपादक ऐसा महाधवल ग्रंथ वनाया जिसके

चत्वारिंशत्सहस्रस्य मानमस्य वुधैर्मतम् । तस्मै ग्रंथाय शुद्धाय नमोस्तु समय प्रति ॥ २५० ॥

विजयादिअंते धवलंच ग्रंथं । गूढार्थयुक्तं तृतीय वरंच । मतांतराः यच्छ्रवणात्प्रयाति विखंडिता ह्युत्तरवर्जिताश्च ॥

षष्ठिसहस्रसंख्याढ्यं भव्यजीवैश्च पूजितम् । साष्टांगेन सदा तंच वदे कर्मारिनाशकम् ॥ २५२ ॥

एषा त्रयाणां रचना कृता वै ज्येष्ठस्य मासे शुभध्यानयोगात् । तेन मुनीन्द्रेण दलेपुमध्ये शुक्लाभिधे पंचमीवासरेच ॥

मुन्यार्यिकाश्रावकश्राविकौघैश्चतु:प्रकारैं महते सुसंघे । इज्या कृता वै अभिषेकमुख्या तेषांच गानैर्वरदानमानै ॥

सद्धर्मध्यानेन ह्यसून् प्रत्यक्त्वा धरादिसेनो यतिराट् गतश्च । स्वर्गेन्वभूत शर्मततिं शुभाच्च किं किं न यात्येव शुभोदयाद्धि ॥

त्रयाणा धारकास्तस्य शिष्या बुद्धयब्धिपारगा । भूतवल्यादयो जाता योगीन्द्रा वसनोज्झिता ॥ २५६ ॥

श्लोकोंका प्रमाण चालीस हजार है ऐसे समय ग्रथको मैं त्रिकाल नमस्कार करता हू ।

अर्थ — विजयधवल ग्रंथ अतिशय गूढार्थ वनाया जिसको श्रवण करतेही मतांतर खडित हो जाते हैं और वडे २ प्रवादि निरुत्तर होकर सत्य मार्गको ग्रहण करते है । यह ग्रथ साठ हजार श्लोक प्रमाण वनाया । उस ग्रंथ राजको त्रिकाल मै वदना करता हू ।

अर्थः— उक्त तीन ग्रंथोंकी ज्येष्ट सुदी ५ को ताडपत्रपर लिपिरूप स्वामी श्री धरसेनाचार्यने रचना की ।

अर्थ — श्री धरसेनाचार्यकी चार प्रकारके संघने (मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका) महान् उत्सव और भक्तिपूर्वक अभिषेकपूर्वक पूजा की ।

श्रीधरसेनाचार्य शुभ ध्यानसे प्राणोका परित्यागकर स्वर्गमें उत्तम सुखोको प्राप्त हुए । शुभ ध्यानसे क्या क्या नहीं होता है ।

अर्थ—उक्त तीनों ग्रथराजोको धारण करनेवाले आगमके पारगामी श्रीभूतवली आदि अनेक दिगंबर योगीश्वर उत्पन्न हुए ।

ग्रंथप्रवर्तना कृत्वा गतास्तेपि दिव खलु । मुनीन्द्रा ध्यानयोगेन त्यक्त्वा प्राणान् शिवाप्तये ॥ २५७ ॥
ह्यनुक्रमेण योगीन्द्रो नेमिचन्द्रो मुनीश्वर । आसीत् क्षितौ प्रविख्यातः तत्रयाणां च वाचनात् ॥ २५८ ॥
तदनुसारतस्तेन ग्रथाना स्वस्य बुद्धित । कृता च रचना लोके ग्रंथवर्द्धनहेतवे ॥ २५९ ॥
संस्कृतापि कृता ग्रथा प्राकृतापि कृता पुन । तेन धर्मप्रकाशार्थं चात्मकल्याणसिद्धये ॥ २६० ॥
त्रयाणा रचना तेन महाधवलग्रंथत । ग्रंथानाच कृता नूनं सर्वार्थस्य प्रकाशिका ॥ २६१ ॥

अर्थ—श्रीमान् भूतबली आदि आचार्यगण भी उन ग्रथोकी प्रवृत्ति समस्त ससार में कराकर शुभध्यानसे उत्तम सुखको प्राप्त हुए ।

अर्थः—आचार्य भूतबलि आदि महर्षियोंके बाद अनुक्रमसे श्रीनिखिल परमागमके वेत्ता श्रीदिगंबर योगीश्वर सूरि श्रीनेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती उत्पन्न हुए । जिनने उक्त तीनो ग्रथोको पढकर अपनी प्रसिद्धि सर्वत्र अखड रूपसे व्याप्त कर दी थी ।

श्री आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीने उन ग्रंथोको [जय धवल महा धवलादि] पारगत कर उन ग्रथोके अनुसार प्राकृत संस्कृत के बहुतसे ग्रंथ बनाये । प्राकृतके ग्रथ गोमटसार आदि प्रसिद्ध हैं । कितने ही ग्रथ संस्कृत भाषामें भी बनाये । जिससे जैनधर्मकी महिमा बढे और अपनी आत्माका कल्याण हो ।

महाधवल ग्रथसे उनने तीन ग्रथोकी संस्कृत भाषामें रचना की । उसमें अनागत प्रकाश नामका ग्रंथ निर्माण किया, जो समस्त मत मतांतरोका खडन करनेमें एक अद्वितीय श्रेणिको (छटा) धारण करता है और जिसमें समस्त क्रियाओका स्वरूप वर्णन किया है ।

अनागतप्रकाशाख्यमाद्यमानन्ददं खलु । सर्वक्रियादिकथक मतातरविघातकम् ॥ २६२ ॥
द्वितीय मोक्षद तत्वप्रकाशाख्यमघापहम् । ग्रथ सकलतत्वाना प्रकाशकरणे रविम् ॥ २६३ ॥
मुनीना वा गृहस्थाना सद्धर्मोत्पादक शुभम् । धर्मप्रकाशसंज्ञ च नाकशिवप्रदायकम् ॥ २६४ ॥
इमे च निर्मिताः शुद्धा· त्रयो ग्रथाश्च तेन वै । सभृताश्च विवेकाद्यै कलाभि शिवदायका ॥ २६५ ॥
अनागतप्रकाशस्यानुसाराच्च प्रनिर्मित । सूर्यप्रकाशसन्नामा ग्रथ मया बुधोत्तमा ॥ २६६ ॥

दूसरा ग्रथ तत्वप्रकाश नामका बनाया जो समस्त तत्वोओ प्रकाश करनेके लिए सूर्य समान है । और समस्त पापोका नाश करनेवाला है ।

तीसरा ग्रंथ धर्मप्रकाश बनाया जिसमें मुनि और गृहस्थोके धर्मका पूर्ण रूपसे वर्णन है । जिसको पढनेसे स्वर्ग और मोक्षके सुख प्राप्त होते है । आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीने उक्त ग्रंथोकी रचना की जिनमें विविध प्रकारकी कलाएं गुम्फित की ।

इस ग्रंथका अवतरण

अर्थ—श्री आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीके बनाए हुए अनागत प्रकाश नामक ग्रथके आधार से यह सूर्यप्रकाश नामका ग्रथ मैंने हे विद्वानो बनाया है ।

१—सूर्यप्रकाश यह स्वतत्र ग्रथ है । परन्तु इसकी रचना आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धात चक्रवर्तीके बनाए हुए अनागत प्रकाश नामके ग्रंथसे की है ।

५०

अनेकनयसंयुक्तो मिथ्याघरविसद्दश । सज्जनैर्भव्यभावाढ्यै सदा मान्यो न दुर्जनै ॥ २६७ ॥
अस्य श्रवणमात्रेण कुपथपोषका नरा । मूकवत् येत्र स्थास्यंति यथा नागाश्च कीलिता ॥२६८॥
सार्थनामयुतं चेदं सकलार्थप्रकाशकम् । सुमत्या दायकं भव्या पठध्व शिवसिद्धये ॥ २६९ ॥
अस्मिन् ग्रंथे वृता केचित् सबंधाश्चान्यग्रथत । केचिद्धि मूलग्रथाच्च जैनमार्गप्रकाशका ॥२७० ॥
ग्रथोऽय सज्जनाना न महद्धर्षप्रवर्द्धक । दुर्जनाना पुनश्चाय महत्क्रोधस्य वर्द्धक ॥ २७१ ॥

यह सूर्यप्रकाश अनेक नय सहित मिथ्याधकारको नाश करनेके लिये सूर्यके समान है और भव्यभावोसे सज्जन पुरुष इसको सर्वोत्कृष्ट समझते है । और सदैव मान्य करते हैं। परंतु दुर्जन पुरुष इसको श्रवणकर मनोनीत भावना करेंगे।

अर्थ —इस ग्रथके श्रवण मात्रसे कुमार्गको पुष्ट करनेवाले मनुष्य मूंकके समान स्थगित रह जांयगे। जैसे सर्प मंत्र से कीलित होकर स्थगित हो जाते है।

अर्थः— यह सूर्यप्रकाश ग्रंथका नाम सार्थक है। समस्त अर्थको प्रकाश करनेवाला और सुमतिका प्रदान करनेवाला यह ग्रंथ है। इसलिये इसका पठन पाठन मोक्षकी सिद्धिके लिये करना चाहिये।

अर्थः—इस ग्रथ में कितने ही संबध अन्य ग्रथो से लेकर किये हैं। कितने ही मूलग्रथ का प्रबंध जैसा का तैसा रखदिया है।

अर्थ — यह सूर्यप्रकाश नामक ग्रथ सज्जनोको महान हर्षको बढानेवाला है और दुर्जन पुरुषोंको क्रोधको उत्पन्न करनेवाला है।

सज्जना दुर्जना लोके हिताहितकरा घना । संति ह्यनादित अस्मिन् गोपन्नगसमा बुधाः ॥ २७२ ॥

तत्क्षणे सज्जना नैव परकाव्य गुणोज्वलम् । दूषयत्येव त दृष्ट्वा मुदमेव प्रयात्यहो ॥ २७३ ॥

चरत्यहो तृणानेव यथा गौ पयसततिम् । ददात्येव न रक्तं च कदापि तद्धि द्वेषत ॥ २७४ ॥

तथा हि सज्जनाना च सदा प्रकृति निर्मला । स्वयमेव मनोमोददायका द्वेषवर्जिता ॥ २७५ ॥

दह्यमानोपि भो भव्या पावकेनैव चदन । तथापि नैव दुर्गंध ददात्यहो न सशय ॥ २७६ ॥

तथाहि सज्जनो नैव पीड्यमानोपि दुर्जनै । मुंचति सज्जनत्व च शत्रुमित्रसमानधी ॥ २७७ ॥

अर्थः— सज्जन और दुर्जन पुरुष गाय और सर्पके समान हिताहित करनेवाले अनादिसे ही है।

अर्थः— सज्जनोका यह स्वभाव ही है कि दूसरोके निर्माण किये हुए काव्यको गुणसपन्न देखकर प्रसन्न होते हैं।

अर्थः— जिस प्रकार गाय तृणोको भक्षण कर दूध देती है परतु कभी भी द्वेषसे रक्त नहीं देती है। ऐसे ही सज्जन पुरुष सदैव गुणग्राही ही रहते हैं।

अर्थः — सज्जन पुरुषोंका ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे मनको आनंद ही प्रदान करते हैं परतु किसीसे भी द्वेष नही करते है।

अर्थः— चंदन जिस प्रकार जलानेपर भी अपनी सुगंधीको नहीं छोडता है और कभी किसी अवस्थामें दुर्गंध नहीं देता है। यह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार सज्जनोंका भी ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे गुणोको ग्रहण करते है।

अर्थ—चंदनके समान सज्जनोंका भी यही स्वभाव है कि दुर्जनोंके त्रासको सहन कर भी सज्जन पुरुष

शर्करामिश्रितं दुग्धं पिबत्येव भुजंगमा. । तथापि गरलं येहि मुंचंत्येवामृतं न च ॥ २७८ ॥
तथाहि दुर्जनाना च स्वभावोय न संशय । दोषाणा ग्रहणे दक्षा गुणग्रहणविच्युता ॥ २७९ ॥
दर्शने परदोषस्य खलाश्चात्येवचातुरा । स्वदोषदर्शने ते हि जन्मांधसदृशाः खलु ॥ २८० ॥
रुच्यते नैव दुष्टानां परोदय कदाप्यहो । रवेस्तेजो यथा लोके दिवाधाना तथैव हि ॥ २८१ ॥
परोदय च दृष्ट्वा हि वृथा कोप भजंत्यहो । ये ते च दुर्जना नूनं धिक् वृथा कोपकारिण ॥ २८२ ॥
परकीय महाकाव्यं निंदयत्येव दुर्जना । मनोहरहि तेषाच स्वभावोयं सनातन. ॥ २८३ ॥

अपनी सुजनताका परित्याग नहीं करते है और शत्रु मित्रपर एक समान हित रखते है।

अर्थ—मिश्री मिश्रित दूध सांपको पिलानेपर भी सांप विष ही उत्पन्न करता है अमृत नहीं । वैसे ही दुर्जनोका यह स्वभाव ही है कि वे दोषोको ग्रहण करते है और गुणोका परित्याग करते है।—

अर्थ-दुर्जन पुरुष दूसरोंके दोष देखनेमें ही अतिशय निपुण होते हैं। परंतु कभी भी अपने दोषोको जन्मांध पुरुषके समान चक्षु रहने पर भी नहीं देखते हैं।

अर्थ—दुष्ट पुरुषोंको दूसरोका अभ्युदय (उन्नति) रुचकर नहीं होता है। जैसे सूर्यका प्रकाश उल्लू नामके जीवको नही रुचता है। दुष्ट पुरुष दूसरोके उदयको देखकर वृथा ही क्रोध करते हैं इस प्रकार विनाकारण क्रोध करनेवाले दुर्जनोंको धिक्कार है।

अर्थ—दुर्जन पुरुष दूसरोके बनाये हुए काव्य की निंदा करते हैं यह उनका सनातन स्वभाव ही है।

सज्जनाना गुणानाच गृह्णार्थं निर्मिता इमे । सज्जना अत्र लोके वा स्वयंभुवा बुधोत्तमा ॥ २८४ ॥
गृह्णार्थं दोष वस्तुना इमेच निर्मिता खलाः । ब्रम्हणा चात्र सदेहो नो खलु सज्जनोत्तमा ॥ २८५ ॥
सुज्ञानधारका लोके कुज्ञानधारका खलु । माहेपीसदृशा येहि ज्ञेयाः पन्नगसदृशा ॥ २८६ ॥
वचनाडबरैः किं स्यात् सज्जना गुणपोषका । भो बुधा दुर्जना नूनं दोषपोषणसरता ॥ २८७ ॥
मे काव्योपरि कोपव मा कुरुध्व वृथाच भो । कोपोहि सर्वपापस्य वर्द्धको नात्र संशय ॥ २८८ ॥
हृदिहि भवता नैव रुच्यते भो नरोत्करा । अथोय भजथ नून माध्यस्थं पापनाशकम् ॥ २८९ ॥

अर्थ—– सज्जन पुरुषोंका निर्माण गुणोको ग्रहण करनेके लिये ही हुआ है । परंतु दुर्जन पुरुषोका निर्माण दुर्गुणो (दोषो) को ग्रहण करनेके लिये हुआ है । इसमें हर्ष विषाद नही करना चाहिये । जिसका जैसा स्वभाव होता है वह वैसा ही करता है ।

अर्थ—-इस विशाल संसार में सुज्ञान और कुज्ञान के धारक अनेक मनुष्य है । कितने गायके समान सुजन हैं और कितने ही सांपके समान दुर्जन है । इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है । परन्तु सबका साराश मात्र यही है कि सुजन गुणोका पोषण करते हैं और दुर्जन दोषोको पुष्ट करते है ।

अर्थ—– मेरे इस काव्य के लिये वृथाही क्रोध किसीको नहीं करना चाहिये क्योंकि क्रोध समस्त पापोका मूल कारण है ।

अर्थः—हे सज्जनो ! जो आपको यह मेरा बनाया हुआ सूर्यप्रकाश नामका ग्रंथ रुचिकर न हो तो आप मध्यस्थ भावको धारण करे ।

आत्मनिंदां च कुर्वंति परेषा सज्जनाश्च न । परकाव्यं च ते दृष्ट्वा हर्षोल्लासं भजन्त्यहो ॥ २९० ॥
वातातंकप्रयुक्तश्च यद्वत् कश्चित् ब्रुवति ना । वचसा सतति नूनं शब्दाशब्दविवर्जिताम् ॥ २९१ ॥
तद्वत् उक्ता मया ह्यस्मिन् ग्रंथेच वचनावलि । यां दृष्ट्वा सज्जनास्ता च मा भजध्व क्षमापहम् ॥ २९२ ॥
अभिमानेन ग्रस्यैव नो कृता रचना बुधाः । मया केवलधर्मस्योद्योतनार्थे शिवप्रदा ॥ २९३ ॥
आलस्ययोगाद् बुधसत्तमा हि । अस्मिन् कृतादित्यप्रकाशग्रंथे ॥
शब्दा अशुद्धा यदि चेन्मया वै । क्षमध्वमेवाखिलसज्जनाचार्याः ॥२९४॥
मा यातु ज्ञानसंपन्ना बालकोपरि मे खलु । रोपत्व सज्जनास्तेहि हीनशब्दार्थदर्शनात् ॥ २९५ ॥

अर्थः—सज्जन पुरुप दूसरोकी निंदा नही करते है। और दूसरोके काव्यको देखकर वे अतिशय हर्षित होते है ।

अर्थ–जिस प्रकार वात रोगी यद्वा तद्वा बकवाद करता है कुछ भी शब्दाशब्दका बोलने न बोलनेका विचार नही करता है। ऐसे ही यह मेरी वचनावलि इस ग्रथमें गुफित की है। सज्जन पुरुप इससे दुर्भावको धारण नहीं करेंगे।

अर्थः—मैंने यह ग्रथ अभिमान या किसी अन्य स्वार्थकी सिद्धिके उद्देश्यसे नही बनाया है। केवल धर्मका उद्योत हो एक इसी सद्भावनासे प्रेरित हो यह ग्रंथ निर्माण किया है।

अर्थः—इस सूर्यप्रकाश ग्रंथमें प्रमादसे कोई अशुद्ध शब्द रखे हो। उस पर सज्जन पुरुप क्षमा भाव धारण करें। ज्ञानसे विभूषित सज्जन पुरुप मुझे बालक समझकर क्रोधभावका प्रकाश नहीं करें।

वीरः शर्मप्रदायको मुनिनुतो वीरं श्रिता ज्ञानिनो— । वीरेणैव समाप्यते शिवपदो वीराय मूर्ध्ना नमः ॥२९६॥
वीरान्नास्त्यपरोहि देव भवने वीरस्य शुद्धा गुणा । वीरे चित्तमहं दधे ह्यनुदिन हे वीर मेघं नहि ॥ २९७ ॥
देवेश पूज्यपाद हतसकलमलश्चिन्मय शांतरूपः । वीरेश स्वात्मसंस्थो गणधरमहितो लोकभागाग्रसंस्थ ॥
पापाना वारनाशे अतुलपविसम काममातङ्गसिंहः । ह्यस्तु मेसौ जिनेन्द्रो विमलमतिप्रदो भगलाय शिवाते ॥२९८॥
शेषास्ते जिननायका शिवप्रदाः ससारविच्छेदका । देवेन्द्रैः खचरेश्वरैर्मुनिवरैः सेव्या सदा शप्रदा ॥
पापातकविघातका सुविमला नानागुणैः सभृता । कुर्वंतु मम मंगलं शिवपदं वद्या मया संस्तुता ॥ २९९ ॥
सिद्धा कर्माष्टहीना गणधरमहिता लोकभागाग्रसंस्था । वद्या नेमीन्दुनाम्ना शिवपदजनका सर्वपापाग्निमेघा ॥

अर्थ—वीर भगवान् ही सर्व सुखोको प्रदान करनेवाले हैं। श्री वीर प्रभुका ही शरण सज्जन पुरुष स्वीकार करते है। श्री वीर भगवान्के प्रसादसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसलिये श्री वीर प्रभुको मस्तक नमाकर नमस्कार है। श्री वीर भगवान्के सिवाय अन्य कोई इस जगतमें देव नही है। वीर भगवान्के शुद्ध गुण है। मै वीर भगवान्में अपने चित्तको लगाता हूं। हे वीर प्रभो मेरे पापोको दूर करो।

अर्थः—देवाधिदेव पूज्यपाद समस्त कर्ममल कलकको नाश करनेवाले चिन्मय परमशात अपने स्वरूपमें स्थिरीभूत गणधर देवोसे पूजित लोकके अग्रभागमें विराजमान पापोके नाशक काम रूपी हाथी का नाश करनेकेलिये सिंह समान और विमल ज्ञानके प्रदान करनेवाले ऐसे अरहंत श्रीवीर परमात्मा हमे मंगल प्रदान करें।

अर्थ—मोक्षको प्रदान करनेवाले ससारका नाश करनेवाले देवेन्द्र विद्याधर और मुनीश्वरोसे सदैव पूज्य, पापोका नाश करनेवाले अनंत गुणोंको प्रदान करनेवाले ऐसे चतुर्विंशति वृषभादि देव हमे मगल प्रदान करो।

अर्थः— आठ कर्मोसे सर्वथा रहित गणधर देवोसे पूज्य लोकके अग्रभागमें विराजमान मोक्षपदको प्रदान

निष्काया निर्विकल्पा गुणगणनिलया सर्वकालेषु सस्था~। ते मे कुर्वंतु नित्य सकलसुखकर मंगल पावनं च ॥ ३०० ॥
आचार्या धर्मतीर्था मुनिवरनिवहै पूजिता सत्पदाब्जा । राम शत्रुर्गुणाना सुधरणकुशला सर्वपापारिहीना ॥
धीरा वै वीरसेव्या सुरअसुरनुता पूर्णज्ञानाब्धिचद्रा । नो वो यच्छतु शुद्ध शिवपथजनक मगल सत्तपाद्या ॥ ३०१ ॥
वदेहं पाठकाना पदद्वयमनिशं पावनाना त्रिशुद्धया । येषा शक्त्यस्ति नित्य श्रवणपठने पाठने लेखपूज्यम् ॥
शिष्याना तेच दध्यु परममतियुता पापसतापहारा । ते शुद्धं मगलौव कविमतिजनका शुद्धभावाय शुद्धा ॥३०२॥
पक्षे वा मासमध्ये मुनिवसकरणे विद्यतेनल्पशक्ति । मूले वृक्षस्य चापि गिरिशिरसि तथा वा तटे चैव नद्या ॥

करनेवाले समस्त पापोको नाश करनेवाले शरीर रहित समस्त प्रकारके संकल्प विकल्पोसे रहित गुणोके स्थानभूत सब कालमें अनादिनिधन रूपसे विराजमान और नेमिचन्द्र (ग्रंथकर्ताका नाम) आचार्य से वंदनीक ऐसे सिद्ध परमात्मा परम पवित्र मगल प्रदान करो ।

अर्थः— धर्मतीर्थके नायक मुनिवरोसे पूज्यपाद छत्तीस गुणोसे विराजमान समस्त पचाचारके धारण करनेमें कुशल समस्त पापोके नाशक सुधीर वीर पूर्ण ज्ञानके समुद्र ऐसे आचार्य परमेष्ठी हमे मोक्ष पथमें जानेके योग्य मगल प्रदान करो ।

अर्थ — जिनमें समस्त द्वादशागके पठन पाठनकी अपूर्व शक्ति विद्यमान है देवोसे पूजित समस्त संतापका नाश करनेवाले और परमबुद्धिके प्रदान करनेवाले (पाठक) उपाध्याय परमेष्ठी मगल प्रदान करो । मै सतत वदना करता हू ।

अर्थ — पन्द्रह दिवस-अथवा एक मास पर्यंत प्रोषध (उपवास) धारण करनेकी जिनमे अपूर्व शक्ति होती है। जो वृक्षके मूल या पर्वतके शिखर अथवा नदीके किनारेपर योगासन लगाकर अपने आत्मध्यानमें लवलीन होते है

साधूना सर्वकाले पदयुगलमहं वा त्रिशुद्धया च येषां । ते मे हि साधुवर्गाः परमसुखप्रदाः मंगलाय भवंतु ॥३०३॥
एतेषां परमेष्ठिना बुधजना गात्रस्थपापोत्करा । नानादुःखप्रदायका ह्यतिदृढाश्चैव प्रयांत्येव वै ॥
नाशत्वं अमलासये शुभहृद सस्मरणत तत्क्षणे । कुर्वीध्वं शिवशर्मदं हृदि सदा स्मरण ह्यत पापहम् ॥ ३०४ ॥
आधिव्याधिहरा सुशर्मजनका पापादिनाशकरा । वद्या. पूज्या. सुरेंद्रैः सकलगुणधरा पापसतापहीना ॥
चेमे वद्या. यथावै भवभयहतकाः ते दिशंतु च नो व । शर्म मोक्षस्य नून गुणनिवहकरा तारकाहि भवाब्धे ॥ ३०५ ॥
त वदे सर्वकाले परमसुखपद श्रीजिनेन्द्रैः प्रणीतम् । भव्याना तारणेशं सकलसुरगणैः सेव्यमान सदास्थम् ॥

ऐसे साधु परमेष्ठी के चरण कमलोको त्रिशुद्धिसे नमस्कार करता हूं । वे साधु परमेष्ठी परम सुखको प्रदान करने वाला मगल प्रदान करो ।

अर्थ—ये उपर्युक्त अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और सर्व साधु पंच परमेष्ठी भव्यजीवोंके समस्त प्रकारके पापोंका नाश करनेवाले हैं । और जिनके स्मरण से अमल गुणोंकी प्राप्ति होती है । वे पंचपरमेष्ठी हमे मंगल प्रदान करो । और हमारे पापोंका नाश करो ।

अर्थ—समस्त प्रकारकी आधिव्याधियोको दूर करनेवाले पापोके सतापको हरनेवाले देवेंद्रोंसे पूज्य समस्त गुणोको धारण करनेवाले ससारके समस्त दुःखोका नाश करनेवाले संसार समुद्रसे तारनेवाले ऐसे पंचपरमेष्ठी मोक्षसुख प्रदान करो ।

अर्थः— परम सुखको प्रदान करनेवाली भव्य जीवोंको संसारसमुद्रसे पार करनेवाली समस्त देवगणोंसे पूज्य

निर्दोषं सत्यपूज्यं विपथनगपविं धीरवीरैर्गणेन्द्रैः । सेनाद्यस्यैव भव्या अमलगुण (युता·) याति मोक्षे सदा हि ॥२०६॥

यो धर्मोऽधर्महंता जिनवरपददो वंदनीयो मुनीन्द्रैः । यावन्मुक्त्यगनाया: परमतपवशान्नैव प्राप्तिर्भवेन्मे ॥

तावन्मे शुद्धचित्ते दुरितनगपवि तिष्ठतु सर्वपूज्य । दुःपाप्यो दुर्जनानाममलमतिप्रदः सो हि संसारहंता ॥ २०७ ॥

वंदे तं धर्मनाथं नरसुरखचरैः सेव्यमानं गणेशैः । प्रान्याशा ब्रह्मरूपं सकलमुनिगणैः सद्दिशायां च सस्थम् ॥

श्रीमत मुक्तिकांतं सकलभयहरं वंदनात्सेवकानां । भक्त्या सीमधराख्यं हरतु मम हृदं सो जिनः पापशत्रुम् ॥२०८॥

नरसुरपतिवंद्यं पापदावाग्निमेघ—। समसगुणनिधानं सर्वतत्वार्थसारं ॥

समस्त दोषोंसे विमुक्त, कुमार्गका नाश करनेवाली, पूर्वापर विरोध रहित, निर्मल गुणोंसे पूर्ण ऐसी श्री जिनेन्द्र भगवानके मुखकमलसे विनिर्गत श्री शारदा देवीको मैं त्रिकाल वंदना करता हूं।

अर्थ — अधर्मका नाश करनेवाला, श्री जिनेन्द्र भगवानका उत्तम पद प्रदान करनेवाला, मुनिगणोंसे वंदनीय, परम तपसे प्राप्त, समस्त पापोंको नाश करनेवाला, संसारका विध्वंस करनेवाला, विमल बुद्धिका प्रदान करनेवाला और दुष्ट जीवोंको अप्राप्य ऐसा पवित्र जैनधर्म जब तक मोक्षसुखकी प्राप्ति न हो तब तक मेरे हृदयमें विराजित रहो।

अर्थः— धर्मके ईश, नर सुर विद्याधरोंसे पूज्य, गणधरोंसे सेव्यमान, पूर्व दिशामें ब्रह्माका स्वरूप धारण करनेवाले, मुक्तिके वल्लभ, समस्त भयोंको हरनेवाले ऐसे देवाधिदेव श्री सीमंधर स्वामी मेरे पापशत्रुओंका नाश करो।

अर्थ—नर देव इन्द्र चक्रवर्ती आदि त्रिलोकके जीवोंसे पूज्य पापरूपी दावाग्निको शांत करनेके लिये मेघके समान समस्त गुणोंका निधान सर्व तत्त्वोंका सारभूत ऐसी दिव्य ध्वनिरूप (जिनवाणी) को नमस्कार करता हूं।

जिनवरमुखजातं गौतमाद्यैः प्रणीतं । सकलमुनिप्रसेव्य हि इद भो भजध्वम् ॥ ३०९ ॥

अस्यैव श्रवणाद्भवेन्नरवरा ज्ञानं क्रियाणा तथा । धर्मस्यैव फलस्य शर्मजनक मुक्ते स्वरूपम्य वै ॥

अन्यस्यापि सदैव भो हृदि खलु एव च ज्ञात्वा हृदि । कुर्वीध्व ह्यघहानये अनुदिनं स्वाध्यायमस्यैव वै ॥ ३१० ॥

अस्य प्रयोगात्सकलाश्च अहा । प्रयात्यहो दूरतरा जनाना ॥ खगेश्वरदर्शनतो यथा हि । पवनाशना दुर्जनरूपयुक्ता ॥३११॥

पठंतु चेम वुधसत्तमास्त ग्रथ मन पापविभजक हि । वादस्य कर्तुं गजसिंहतुल्यमनेकभेदार्थभृत मनोज्ञम् ॥ ३१२ ॥

यह वाणी श्रीगौतम स्वामीने प्रतिपादन की है । और क्रमसे गुरुपरपराद्वारा वैसीही अविच्छिन्न धाराप्रवाह रूप चली आ रही है ।

अर्थ--इस ग्रथराजके श्रवण करनेसे मनुष्य समस्त क्रियाओके ज्ञाता हो जाते है धर्म और धर्मफलके स्वरूप को जानने लग जाते है । जो इस ग्रथराजका स्वाध्याय करेंगे वे समस्त तत्वोंके ज्ञाता होगे । इस लिये पापोके नाश के लिये इस ग्रथराजका स्वाध्याय नित्य प्रतिदिवस करना चाहिये ।

अर्थ—जिस प्रकार गरुडके दर्शन मात्रसे सर्प भाग जाते है । उसी प्रकार इस ग्रंथके पठन पाठन स्वाध्याय और श्रवण करनेसे समस्त पाप शीघ्रही नष्ट हो जाते है ।

अर्थ — इस ग्रंथका पठन पाठन हे भव्यगणो अवश्य ही करिये इससे मनके समस्त पाप शीघ्रही नाश को प्राप्त हो जायगे । यह ग्रंथ वाद विवाद करनेवाले को सिंहके समान है और अनेक भेदार्थ को प्रकट करनेवाला है ।

सूर्य प्रकाश ग्रंथ प्रशस्तिः

श्रीमूलसंघे विदित भगाया गच्छे हि तस्मिन् वरभारतीये । तस्मिन् बलात्कारगणेतिरम्ये श्रीकुंदकुंदाख्यसुवंशयुक्ते ॥ ३१३ ॥
तपर्द्धियुक्ते वरनंदिनाम्न आम्नायेषु तस्य गुणज्ञमुनेश्च । स्वर्णादिकीर्तिर्वरसूरिनाम्ना चंपावतीनामपुरे प्रशस्ते ॥ ३१४ ॥
सूरेः हि तस्य वर बोधयुक्त । बभूव सुनाम्ना विदुषान्च मान्य ॥ विद्वद्वर श्रीयुतराजमल्ल । शिष्यो नृपै पूजितपादपद्म ॥
नाम्ना फतेचंद्र सुबुद्धियुक्त । शिष्यो बभूवस्य मनोभिराम ॥ शास्त्राब्धिपारगतचित्तवृत्ति । रवीव देवेवरधर्मकारी ॥ ३१६ ॥
तस्याप्यभूच्छ्रीवरगोववान् वै । वृंदावनाख्य सुरपूज्यपाद ॥ प्रतापवान् शुभगुणांकितश्च ॥ जिनेन्द्रपादाब्जद्विरेफतुल्य ॥३१७॥

अर्थ-संसार मात्रमें प्रसिद्ध ऐसे मूलसंघमें भारतीय नामक गच्छमें बलात्कारगण में और श्रीकुंदकुंद आम्नाय में तप ऋद्धि से विभूषित-पद्मनंदी मुनिकी आम्नायमें स्वर्णकीर्ति नामके प्रसिद्ध आचार्य चंपापुर नगर में थे ।

अर्थ—स्वर्णकीर्ति आचार्यके पट्ट पर विद्वानोंसे मान्य श्रेष्ठ विद्वद्वर्य श्रीयुक्त राजमलजी हुए । जिनके अनेक राजा शिष्य थे ।

श्रीराजमलजी के फतेचंद्रजी नामके सुजन शिष्य थे । फतेचंद्रजी समस्त शास्त्रों में पारगत सरस्वतीको अपने चित्तमें धारण करनेवाले और धर्मको प्रकट करनेवाले थे ।

अर्थ—फतेचंद्रजी के वृंदावन नामके शिष्य थे । वे प्रतापी गुणवान् श्रीजिनधर्म के प्रेमी देवताओंसे पूजित ज्ञानकलामें अतिशय निपुण थे ।

स्मारारिहता सकलार्थवेत्ता, परोपकारे धृतशुद्धचित्त । धराधिपै. सेवितपादपद्म धर्मोब्धिइन्दुसमभावयुक्त ॥ ३१८ ॥
कलाकलापांकितविग्रहश्च पचाक्षशर्माद्विमुख सदा वै । मायाभिमानेन विवर्जिताग नि.क्रोधरूपश्च्युतलोभशत्रु ॥ ३१९ ॥
मतातरपालकभिश्च पादौ सद्वंदितौ यस्य प्रतापतेजसा । तस्यापरा किं कथयामि शोभा धर्मोपदेशे धृतचित्तवृत्ति ॥ ३२० ॥
वृन्दावनस्यापि ह्यभूद्वरेण्य· सीतादिरामाभिधशिष्य वाग्मी । भव्यै नृभि सेवितपादपद्मो मृद्वाशयो वा वरपुण्यमूर्तिः ॥३२१॥
विवेकधर्ता वररूपयुक्त दयाव्रतपालनचचु शुद्ध' । श्रीजैनधर्मस्य प्रकाशकारी विद्वज्जनाना मनमोदकारी ॥
षट्कर्मधर्ता विहताहवारः श्रीसिद्धभूमेश्च कृता सुयात्रा । सच्छीलव्रतेन विभूषितागो मानापमाने समधी सदैव ॥

अर्थ—श्रीवृंदावनका वर्णन ऊपर कहा जा चुका है। फिर भी तीन श्लोकोमें विशेष दिखलाते हैं।

कामदेवको नाश करनेवाले समस्त तत्वको जाननेवाले परोपकार करनेमें विशेष लवलीन राजाओसे सदैव मान्य धर्मको वृद्धिगत करनेके लिए चद्रमाके समान अनेक कलाओसे जगतमें चमत्कार प्रकट करनेवाले पांच इन्द्रियोको जीतनेवाले विषयोसे विरक्त-मान माया लोभ आदि कषायोसे रहित क्रोधादि दुर्भावनासे विरक्त परमशात अनेक मतांतरोका खडन कर समस्त वादियोमे पूजित परम प्रतापी और तेजस्वी ऐसे वृंदावनके गुणोका कौनसे शब्दोसे वर्णन करें। उनके समस्त गुण कह नही सक्ते।

अर्थः— वृंदावनके शिष्य सीता[illegible] थे। सीतारामजी वाग्मी भव्य जीवोसे पूजित, सरल परिणामी, पुण्य-मूर्ति, विवेकी, सुरूपवान, दयाव्रतके पालनेमें विशेष उपयोग लगानेवाले, अतःकरणकी शुद्धताको धारण करनेवाले, श्री जैनधर्मके प्रभावक विद्वानोसे मान्य, आनद स्वभाववाले, षट्कर्ममें प्रवीण, पापोको नाश करनेवाले, सिद्धभूमिकी यात्रा करनेवाले, शील और व्रतसे विभूषित, मानापमानमें चित्तको सावधान रखनेवाले, परम शांत थे।

श्री राम ब्रंते शिवजीहि आदौ शिष्यो धराया विदित. कृपालु । अभूच्च तस्यापि गुणोत्कराढ्यो विपश्चिदोघेषु सुमुख्यमूर्ति ॥
अनेकविज्ञानप्रकाशकारी सद्धर्मध्याने धृतधीः निशान्हि ॥ सिद्धांत पौराणविचारदक्षः सद्धी सदासेवितधर्मवर्त्मा ॥ ३२२ ॥
कियत्प्रमाब्दैर्विहिताच तेन तत्रैव चंपावति सत्पुरे हि ॥ सद्धर्मयुक्तेन गुणाकरेण भव्याब्जभानुसदृशेन येन ॥ ३२३ ॥
तस्माद्धि चागत्य पुरे मनोज्ञे तक्षाभिधे सैव स्थितिं चकार । कियन्समैर्वा सुखतश्च वाग्मी श्रीधर्मवर्त्मैव प्रवर्द्धनार्थम् ॥
आगत्य तस्मादपि सोहि भव्य द्रोणीपुरे वा विदिते क्षितौ हि ॥ अनेकशोभाभिभृते मनोज्ञे सत्खातिकाशालविमंडिते च ॥
तस्मिन् विभात्येव मनोहरोहि जिनेंद्रसद्मो वरभूतियुक्तः ॥ सशोभते तस्मिन् पापहंता श्रीपार्श्वनाथो हि जिनेन्द्रदेव ॥

अर्थः— सीतारामके शिष्य शिवजीराम प्रसिद्ध हुए । शिवजीराम कृपालु, गुणगणोसे विभूषित, विद्वानोमें सबसे अग्रेश्वर, विज्ञानको प्रकट करनेवाले, धर्मध्यानमे अपनी बुद्धिको लगानेवाले, धर्मके सर्व सिद्धांत समुद्रके पारगन् श्रेष्ठ वाणीको प्रकाश करनेवाले और धर्ममार्गकी सदैव सेवा करनेवाले थे ।

अर्थः— शिवजीरामजी चपापुर नगरमे विशेष रहे । और धर्मकी महिमा चपापुरमें विशेष रूपसे प्रकट की । फिर वहासे तक्षाभिध नगरमें कुछ समय सुखसे रहे । और यहांपर भी धर्मका उद्योत करते रहे ।

शिवजीरामने अपनी पर्यायमें अपनी शक्तिसे असीम धर्मकी महिमा प्रकट की । और स्थान स्थानपर धर्मके प्रकाशनके लिये विहार करते थे ।

अर्थ—श्रीयुक्त शिवजी रामजी वहांसे (तक्षनगर से) कुछ दिवस वाद चले आये और द्रोणी नामक ग्राममें रहे । उस समय द्रोणीपुर समस्त ससारमें प्रसिद्ध था । खातिका कोट-सरोवर आदिसे विशेष शोभायुक्त और व्यापार का केन्द्र था । द्रोणीपुरमें एक पार्श्वनाथ भगवान्का दिगंबर जैन मंदिर था । यह जिन मंदिर बडी बडी भारी विभूतिसे सुशोभित था । उस मंदिरमें समस्त पापोका नाश करनेवाले स्वर्णके सिंहासन पर विराजमान समस्त प्राणि-

मृगारिपीठोपरि सस्थितं हि दर्विकराक मनमोददच । छत्रादि शोभाभि विराजमानं पद्मासनस्थं वरसौम्यमुर्तिम् ॥३२७॥
आतंकमातंगमृगेन्द्रतुल्यं । सुरेन्द्रपूज्यच नगेन्द्रवद्यं ॥ चित्तस्थपापालिविनाशक तं । हंतारमेवाखिलदुःखकाना ॥३२८॥
इत्यादिशोभाभि विमडित तं दृष्ट्वाच नत्वा हृदि प्राप्य मोदं । वासं चकार विदितो धरित्र्या धर्मोपदेशार्थमहो हि तस्मिन् ॥
तत्रैव तस्यापि अभूच्च शिष्यो । नेमीन्दु नाम्ना वरधीप्रयुक्त । श्रीशारदासेवनचित्तवृत्ति तस्या' प्रसादाच्च अयं कृतोवै ३३०
ग्रंथेऽस्मिन् जिनवक्त्रजे तनुधिया किंचिद्विरुद्धच यत् । मात्राशब्द पदाक्षरादिरहितं आलस्यसंयोगत ॥
राद्धातागमतश्च भो शिवप्रदे नानाकथासभृते । प्रोक्तंच क्षमता सुतद्धि विमले सर्वं ममाग खलु ॥ ३३१ ॥

योको आनंद के देनेवाले छत्र चमर भामडलसे अनुपम आत्माको धारण करनेवाले पद्मासन विराजमान सौम्यमूर्ति परम शांत मुद्राके धारक समस्त रोग शोक आदि व्याधिको दूर करनेवाले देवगणोसे पूजित व भव्य जीवोसे वंदनीय सबके मनके पापोको शांत करनेवाले समस्त प्रकारके कष्टोंको नष्ट करनेवाले सातिशय चमत्कार को धारण करनेवाले इत्यादि बहुतसी शोभासे विभूपित श्री पार्श्वनाथ भगवान् देवाधिदेव विराजमान थे।

शिवजी रामजीने यह स्थान धर्मसाधनके लिये सुयोग्य समझा। और यहांपर वही धर्मोपदेश देकर (धर्मका प्रकाश कर) धर्मकी महिमाको बढाने के अभिप्राय से निवास किया।

अर्थ—द्रोणी नगरमे शिवजीरामके शिष्य नेमिचद्रजीने अनेक शास्त्रोका पठन पाठन किया था और सरस्वती माताकी विशेप सेवा की थी जिसके प्रसाद से इस ग्रथकी रचना हुई।

अर्थ—इस ग्रथ में (सूर्यप्रकाशमें) श्रीजिनवर भगवान् के मुखकमलसे विनिर्गत दिव्यध्वनि (जिनागम) के विरुद्ध जो हो और अक्षरपद मात्रादि दोप तथा व्याकरणके दोप सहित जो कुछ कहा गया हो विद्वान भव्य मेरे अपराधोंको क्षमा करे। शास्त्र समुद्रमें कौन नही भूल खाता है?

यस्याः प्रसादाद्रचयंति ग्रंथान् कवीश्वराः धर्मप्रकाशकान् हि । श्रीशारदायाः शुभबुद्धियोगात् ईडे हि तां सन्मतिसिद्धयेहं ॥
पूजार्थं ख्यातितार्थं ननुच बुधजना नो कृतोयंच ग्रंथः । द्वेषाद्वा रागभावात् शिवपदजनको वा कवित्वाभिमानात् ॥
बोधार्थं आत्मनो वै पुनश्च शिवपदप्राप्तये सज्जनानां । संबोधार्थं पुनातु ममच खलु हृदं वा शरीरंच वाक्यम् ॥३३२॥
बुधाश्चेमे ग्रंथं प्रवरगुणद धर्मजनकम् । अघा नाशं याति श्रवणपठनादस्य निखिलाः ॥
ततो नूनं दुःखनिवहविषमाः दुर्जनसमाः । सदाकाले शुद्धे अमलमतिभा भो पठथ वै ॥ ३३३ ॥

अर्थ—जिस सरस्वती के कृपाकटाक्षसे कवीश्वर धर्मकी महिमाको प्रकट करनेवाले ग्रथोंकी रचना करते हैं। उस सरस्वती माताको मैं भाव विशुद्धिसे सन्मति की प्राप्तिके लिये पूजा करता हूं।

अर्थः— मैने यह ग्रंथ अपनी प्रसिद्धिके लिये या मान बढाई प्राप्त करनेके अभिप्रायसे नही बनाया है या द्वेष और राग भावसे अभिमानके वश होकर नहीं बनाया है। मैने केवल अपनी आत्माको बोध करनेके लिये और सज्जनोको सबोध करनेके लिये पवित्र भावोंसे बनाया है। इसलिये यह ग्रथ मेरे हृदय, वचन और शरीरको पवित्र करो।

भावार्थः— ग्रंथकारका अभिप्राय है कि इस ग्रथकी रचना किसी दुष्ट बुद्धिसे अभिमानकी रक्षाके लिये राग द्वेषके विकार भावोसे या किसी भी स्वार्थ बुद्धिसे नही की है। जिससे इस ग्रंथमें जिनागमके विरुद्ध वर्णन लिखा जाय। जो कुछ वर्णन किया है वह श्री जिनागमका स्वरूप ही है। मात्र शब्द योजना मैने की है।

अर्थः— हे विद्वज्जन हो यह ग्रंथ अनेक गुणोको प्रदान करनेवाला और धर्मका बीजभूत है। इसके श्रवण करने और पढनेसे पाप नाशको प्राप्त होते हैं। परतु दुर्जनोको यह न रुचेगा। सुजन जन तो सदा काल इसका पठन पाठन करेंगे।

नो सति सज्जनात्र परममुनिनुताः पंचमज्ञानिनो हि । लोकाना तारणेशाः सकलसुरनुताः संपदासारयुक्ता ॥
एपु हि संगतान् बुधजननिकरा तेऽपि शास्त्रेपु नूनम् । तत्तुल्या सति भव्या कलियुगभवने नो खलु सशयोत्र ।३३३।
ग्रथो बुद्धिप्रद सदा सुखकरो ग्रथ श्रिता ज्ञानिनो । ग्रथेनैव समाप्यतेऽमलपदो ग्रथाय तस्मै नम ॥
ग्रथाच्चास्त्यपरो हितोत्र भवने सच्छर्मद सज्जना । ग्रथस्यैव शुभा गुणा शुभप्रदे तस्मिन् हि ग्रथे सदा ॥ ३३४ ॥
नानासारकथाश्रिते बुधजनैर्वद्येच देवेश्वरै । प्रोक्ते श्रीजिनदेवभिश्र महति सर्वैव ग्रंथा खलु ॥
चित्त मोक्षपदे दधेच शुभगं भो ईदृशे नद्दे । मा त्व चोद्धर शीघ्रमेव भवत ईहाहि नो चापरा ॥ ३३५ ॥

अर्थः— इस विषम पचम कालमें, मुनियोसे पूज्य, समस्त जगतके तारक, अनत चतुष्टय और समोसरणादि विभूतियुक्त ऐसे तीर्थंकर केवली भगवान् साक्षात् नहीं है । परतु उनके वचन ही गणधरोंने तीर्थंकर केवली भगवान माने है । केवली और उनके वचनोमें भेद नही है । इसमें कुछ सदेह नहीं करना चाहिये ।

ग्रथ ही बुद्धिके प्रदाता है सुखको करनेवाले है । ज्ञानी पुरुषोने ग्रथोका आश्रय ग्रहण किया है । ग्रथो से ही अमलपदकी प्राप्ति होती है । ग्रथके लिये मेरा नमस्कार हो । ग्रथके सिवाय अन्य कोई इस ससार में सुखका प्रदाता नही है । ग्रथके शुभ गुण सर्वत्र प्रसिद्ध है—ग्रथमें शुभ गुण रहते है ।

अर्थ—अनेक कथाओसे विभूषित बुध जनोसे मान्य श्रीजिनराजके मुखकमलसे प्रतिपादित समस्त प्रकारके आनदको प्रदान करनेवाले मोक्षको देनेवाले और ससारका नाश करनेवाले ऐसे शास्त्रोको भव्य जीव अपने हृदयमंदिर में विराजमान करते है ।

ग्रंथेमं बुधसत्तमा· शिवप्रदं विद्वद्वरेणैव वै । प्रोक्तं पापप्रणाशक बुधनुतं सद्बुद्धिद पावनम् ॥
सारं सिद्धान्तसिन्धो. सकलमन प्रियं नेमिचन्द्रेण धीरा. । बुद्धयब्धे पारप्राप्ता सकलमदच्युतास्ते मुदा शोधयतु ॥
जिनेन्द्रपादाब्जमधुव्रतेन ग्रथ कृतोय शुभचेतसा वै । तेन मुदा भव्यप्रबोधनार्थं शिवाय वोऽस्तु ननु नोपि शुद्ध ॥३३७
कराच्च स्वस्यैव लिखति चेद वित्ताच्च स्वस्यैव च लेखयति । श्रीजैनमार्गस्य प्रवर्द्धनार्थं तेऽग्रे भविष्यति सुबोधयुक्ताः ॥
ग्रंथ सूर्यप्रकाशनामकलितो विद्वज्जनैर्वंदित । सूर्याचंद्रमसा उडुपनिकरा अभ्रे महानिर्मले ॥
स्थास्यंत्येन ह्ययं यथाक्षितितले मिथ्यामतध्वसनो । मान्यो भव्यनृभिस्तथाहि भवने पूज्यश्चिर नदतु ॥ ३३९ ॥

अर्थ—समस्त पापोका नाश करनेवाला बुद्धिका प्रदाता मोक्षके सुखको देनेवाला परमपवित्र सिद्धांतका सार भूत समस्त जनोको प्रिय यह सूर्यप्रकाश ग्रथ श्री विद्वद्वर्य श्री नेमिचद्रने बनाया है। इसका निरभिमानी विद्वान गण शोधन करें।

अर्थः— श्री जिनराजके पवित्र चरणोकी सेवा करनेमें तत्पर, विशुद्ध भावोंसे विभूषित ऐसे नेमिचद्रने भव्य जीवोके प्रबोधके लिये तथा अपने आत्मकल्याणके लिये यह ग्रंथ बनाया है।

अर्थः— जो सज्जन इस ग्रथको अपने हाथोसे लिखेंगे या जो भव्य जीव अपनी संपत्तिसे लिखायेंगे और इसका विस्तार करेंगे वे जैन धर्मकी वृद्धि करेंगे उनको भविष्यमें श्रेष्ठ ज्ञान सपादन होगा।

अर्थः— विद्वज्जनोसे वदनीक भव्य जीवोसे सदैव मान्य और मिथ्या मतका ध्वंस करनेवाला यह सूर्यप्रकाश नामका ग्रथ संसारमें जब तक सूर्यचंद्र या ग्रहनक्षत्र हैं तब तक सदैव स्थिर रहो। चिरकाल तक जैनधर्मका प्रकाश करो।

अयच ग्रथ पठकस्य नित्यं करोतु पापालिविनाशनंहि । सन्मगलं बुद्धिवरा तथाहि हृद्वाछितं शर्मततिं पुनश्च । ३४०॥
समाधिमृत्यु सुगतिं तथैव सद्दर्शन ज्ञान तथाच व्रतम् । पुत्रादिवृद्धिं जिनधर्मसिद्धिं जिनपादद्वयसन्नुतिंच ॥३४१॥
ममापि सर्वे सुगुणा भवतु इमेहि मोक्षपददायकाश्च । दु पापसंदोहविनाशकाश्च नाकादि स्यात् तस्य कथाहि नास्ति॥
अकाभ्रनंदेंदुप्रमेहि चाब्दे मित्राद्रिशैलेन्दु सुशाकयुक्ते । मासे नभाख्ये शुभनदपक्षे विरोचनस्यैव सुवारके हि ॥ ३४३ ॥
द्रोणीनगर्या विदितेऽचलायामनेकशोभाविमडिते च । मध्यान्हकाले अरुणस्य शुद्धे । राधानक्षत्रे शुभनामयोगे ॥३४४॥
श्रीपार्श्वनाथायतने हि तस्मिन् सपूर्णता हि अगमदय च । सदा पुनातु प्रवरो हि ग्रंथो नो वश्च चित्त जयति धरित्र्याम् ॥३४५॥

अर्थः— यह सूर्यप्रकाश ग्रथ पढनेवाले भव्य जीवोके पापोका नाश करो, मगल करो, बुद्धि प्रदान करो और मनके मनोरथ सफल करो।

अर्थः— यह ग्रथ पढनेवालोको समाधि मरण, सुगति गमन, बोधि लाभ, पुत्रकलत्र आदिकी प्राप्ति और जिनधर्मकी सिद्धि प्रदान करो।

अर्थः--यह सूर्यप्रकाश ग्रथ ग्रथकर्ता श्रीनेमिचदको भी समस्त गुणोकी प्राप्ति करो जिससे मोक्षसुख की प्राप्ति हो और पापोका नाश हो। स्वर्गके सुखोंकी आवश्यकता नही है।

अर्थः--यह सूर्यप्रकाश ग्रथ सरा।में प्रसिद्ध विचित्र शोभा से सुशोभित द्रोणी (दूनी) नगरमें मध्यान्ह के समय राधा नक्षत्र शुभयोगमें विशुद्ध भावोंसे श्रीपार्श्वनाथ दिगबर जैन चैत्यालय मे पूर्ण किया। यह ग्रंथ चिरकाल पर्यंत ससारमें जैनधर्मकी वृद्धि करो, हमारे चित्तको पवित्र करो।

पश्चादिज्या च गानं च स्तवनं तद्गुणोद्भवम् । कृत्वा पुनः चचालासौ तस्माच्च स्वपुरं प्रति ॥ ५५४ ॥
तावत्तद्गह्वरस्थानात् निःसृतो गंधदुस्सहः । जनैः सोढुमशक्योपि दुष्टैर्जातजुगुप्सकैः ॥ ५५५ ॥
आघ्राय तं च दुर्गंधं तया पृष्टः पतिस्तदा । अस्मिन्नामोदसंयुक्ते वने हि नंदनोपमे ॥ ५५६ ॥
दुर्गंध कुतः स्वामिन् आयातो देहदुःखदः । कथय सत्वरं भूप कारणं मम शातदः ॥ ५५७ ॥
श्रुत्वा इत्याह तां भूपः शृणु त्वं प्राणवल्लभे । कश्चिद्योगीश्वरो ह्यत्र दृश्यते ध्यानतत्परः ॥ ५५८ ॥
मलाविलो महाधीरस्तस्य देहस्य योगतः । आगतश्च प्रिये चायं दुर्गंधो नात्र संशयः ॥ ५५९ ॥

अर्थ–फिर उस विद्याधरने श्रीजिनेन्द्र भगवानकी अष्ट द्रव्यसे भक्तिपूर्वक पूजा की, भगवानका गान किया, स्तवन किया और प्रभुके गुणोंका स्मरण किया। फिर वहांसे (कैलाशसे) अपने नगरको आनेका विचार किया ॥ ५५४ ॥

अर्थ — उसी समय पर्वतकी एक गुफामें से अत्यंत दुस्सह दुर्गंध ऐसा निकला कि जिसको निर्विचिकित्सा अंगके पालनसे रहित (सम्यग्दर्शन विहीन) जीव सहन करनेको सर्वथा असमर्थ हो ॥ ५५५ ॥

अर्थः— उस दुर्गंधको सूंघते ही शुभमतिने अपने पति विद्याधरसे पूछा कि हे स्वामिन् इस परम सुगंधित नंदन वनके समान महान उत्कृष्ट वनमें शरीरको दुःख देनेवाली यह दुर्गंध कहांसे आई? हे प्रभो मुझे सुख देनेवाला इसका कारण कहिये ॥ ५५७ ॥

अर्थः— अपनी धर्मपत्नी शुभमती रानीके ऐसे वचनोंको सुनकर विद्याधरने कहा कि यहांपर कोई योगीश्वर अतिशय तपस्वी महान् मलसे पूर्ण हो रहा है और यह दुस्सह दुर्गंध उसीके शरीरसे आ रही है इसमें संदेह नहीं है ॥

पते वाचमिति श्रुत्वा सा गत्वा तस्य सन्निधे । ददर्श तत्तनु दीप्त तपसा कृषता गतम् ॥ ५६० ॥
व्याप्तागं स्वेदमलौघै ध्यानमग्न निरंबरं । कायोत्सर्गं स्थितं सौम्य चिद्रात्मरससभृतम् ॥ ५६१ ॥
ईदृगस्य मुनीन्द्रस्य किंचिच्चकार सा हृदि । तस्मिन् काले जुगुप्सा च दृष्ट्वा सर्वार्थनाशकाम् ॥ ५६२ ॥
पश्चात्प्रासुकनीरेण पक्षाल्य तत्तनुंच सा । चकार लेपन तस्य कृष्णागुर्वादिजै रसै ॥ ५६३ ॥
मुनिं नत्वा तकौ पश्चात् स्तुत्वा स्वपुरमागतौ । शृणु त्व चान्यवृत्तातं यज्जातं तत्र कौज ॥ ५६४ ॥
लेपजातसुगधेन तदा मत्ता मधुव्रता । लग्नाश्चागत्य देहस्य मुने. सहस्रश प्रमा ॥ ५६५ ॥

अर्थ—अपने स्वामीके ऐसे वचनो को सुनकर वह शुभमती रानो शीघ्रही मुनि समीप गई । और परम दै-दीप्यमान तपसे कृपितशरीर ऐसे दिव्य मुनिको देखा । जिनके शरीरमें स्वेद (परसेव) के कारण मल बहुत होगया था । तो भी ध्यानमें लवलीन थे । कायोत्सर्ग स्थिर थे । शांत थे । और अपने चैतन्य परमानद रसका पान करने में दत्तचित्त थे ॥ ५६० । ५६१ ॥

अर्थ—ऐसे परमध्यानी और शरीर से सर्वथा मोह रहित मुनीश्वरको देखकर प्रथम तो उस रानीने अपने मनमें समस्त प्रकार के अनर्थोंको करनेवाली किंचित् जुगुप्सा (ग्लानि) की । फिर तत्कालही प्रासुक और पवित्र जल से मुनीश्वरके शरीर को प्रक्षालकर अगर तगर आदि सुगधी द्रव्यो का सुगंधित लेप किया ॥ ५६२ । ५६३ ॥

अर्थ—मुनीश्वर को नमस्कार कर और स्तुति कर वे दंपति (विद्याधर व रानी) अपने नगरमें आये । इसके वाद वहां पर दूसरी कथा बनी वह सुनो । उस सुगधी लेपकी सुगधसे मुनीश्वर के शरीर पर हजारो भ्रमर आकर लिपट गये । ५६४ । ५६५ ॥

चैतन्यजडरूपे च पश्यन् भिन्नत्वमंजसा । आत्मन्येव तदा तस्थौ स मुनिः धीरभावयुक् ॥ ५६६ ॥
नात्यजत् आत्मनो ध्यानं तदा घोरोपसर्गके । वायुना किं नगाधीशः प्रचलत्येव निश्चयात् ॥ ५६७ ॥
तदोपसर्गे संजाते स यतिरात्मवेदक । स्थिरोऽभवत् शिवाकांक्षी आत्मनि मेरुवत् क्षयी ॥ ५६८ ॥
मुने देहात् पलं सर्वमश्नंति शोणित तका: । तथाप्येष मुनिश्चित्ते न चचाल स्वध्यानत ॥ ५६९ ॥
एव पक्षपमे घस्रे याते स भार्ययान्वित । पूर्वोक्तश्चाययौ तत्र यात्रार्थं खचरेश्वर ॥ ५७० ॥
नो दृष्ट स यतिश्चात्र सा चाह स्वपतिं प्रति । क गत स मुनि स्वामिन् अस्माभि पूजितश्च य ॥ ५७१ ॥

अर्थ — वे धीर वीर मुनीश्वर आत्मा और शरीरको सर्वथा भिन्न भिन्न विचार करते हुए अपने आत्म विचारमे लवलीन होगये ॥ ५६६ ॥

अर्थः— यह घोर उपसर्ग आनेपर भी मुनिराजने अपना ध्यान नहीं छोडा। सच है कि मेरुपर्वत कही वायुसे कंपित होता है ? ॥ ५६७ ॥

अर्थः — इस प्रकार भ्रमरोका घोर उपसर्ग आनेपर भी वे मुनीश्वर अपने आत्मीक ध्यानसे रच मात्र भी चलायमान नही हुए। मेरुके समान अडोल रहे ॥ ५६८ ॥

अर्थः— मुनीश्वरके शरीर का सर्व मांस और रक्त भ्रमर (भोरा) भक्षण करने लगे परन्तु मुनिराज अपने ध्यानसे रच मात्र चलचित्त नहीं हुए ॥ ५६९ ॥

अर्थ–इस प्रकार यह घोर उपसर्ग पंद्रह दिवसपर्यंत रहा। पंद्रह दिवस बाद वही विद्याधर और शुभमती रानी कैलाश गिरीकी वदनाके लिए पनः वहांपर आए ॥ ५७० ॥

अर्थ–शुभमती रानीने अपने स्वामी विद्याधरसे पूछा कि जिन मुनीश्वरकी हमने प्रथम पूजा की थी,

सर्वत्रालोकनां चक्रे श्रुत्वा राज्ञ्युदितं वच. । स खगो भ्रमरैर्युक्तं ददृशाग्रे मुनीश्वरम् ॥ ५७२ ॥
प्रियामाह खगाधीश पश्य पश्य दयोज्झिते । त्वया भक्त्या कृतो लेप स्तत्रानिष्टस्तु जातवान् ॥ ५७३ ॥
सापि श्रुत्वा पते. वाच दृष्ट्वा योगीश्वरं तदा । आत्मनः परमां निंदा चकार खचरप्रिया । ५७४ ॥
निर्घाटितास्तत· सर्वे तया षट्पदसंचया । तदा ध्यानप्रभावेन स लेभे केवलोदयम् ॥ ५७५ ॥
समाययु· सुरेन्द्राश्च तस्य पूजार्थमञ्जसा । कृत्वा पूजा जिनेन्द्रस्य तस्थु तत्रैव भावत ॥ ५७६ ॥

लेप किया था सो वे यहांपर दीखते नहीं है कहांपर गए ॥ ५७१ ॥

अर्थ—शुभमती रानीके कहनेसे विद्याधरने मुनीश्वर को सर्वत्र देखा, तब भ्रमरो से आच्छादित उसी स्थान पर मुनीश्वर को देखा ।

अर्थ—हे वल्लभे हे निष्ठुरे ! देख देख तेंने मुनीश्वर को भक्ति से सुगंधी पदार्थों का लेप किया परतु विना विचारे हुए कार्यका कैसा अनिष्ट परिणाम हुआ है । ५७३ ॥

अर्थ—शुभमती रानीने अपने स्वामीके ऐसे वचनोको सुनकर और मुनीश्वर का घोर उपसर्ग देखकर अपनी घोर निंदा की । ५७४ ॥

अर्थ—शुभमती रानीने उन समस्त भ्रमरोंको दूर किया । उपसर्ग के निवारण होते ही ध्यानके प्रभावसे चार घातिया कर्मोंका नाश हुआ और मुनीश्वर को केवलज्ञान प्रकट हुआ ॥ ५७५ ॥

अर्थ—उसी समय मुनिराजके केवलज्ञानकी पूजा करनेके लिये देवगण आये और भगवान्‌की पूजा कर वहांपर धर्मोपदेश श्रवण करनेके लिये ठहरे ॥ ५७६ ॥

तावदवधिनेत्रेण पूर्वोक्त खचरेश्वर । तस्या. पति. गत स्वर्गे ज्ञात्वा तस्या सुदुःखक ॥ ५९० ॥
आजगाम सुरस्तत्र तस्याग्रे सकल स्वकं । वृत्तांतं पूर्वजं निंद्य कथयामास मोदत ॥ ५९१ ॥
पुन इत्याह त्व भावात सप्ताहानि प्रमाणिच । पचामृतमै शुद्धं जिनाना स्नपन कुरु ॥ ५९२ ॥
तत काश्मीरकर्पूरगंधसाग्जसद्रवै । जिनाना शुद्धभावेन पादयो लेपन कुरु ॥ ५९३ ॥
अनेनैव प्रयोगेण त्वत्तनौ शातता खलु । भविष्यति प्रिये नात्र सदेहमाकुरुष्व भो ॥ ५९४ ॥
इत्याख्याय सुरो दक्ष स्वस्थानंच गतस्तत । तच्छ्रुत्वा सापि तत्सर्व चकार स्वस्य शातये ॥ ५०५ ॥

अर्थ—हाय ! हाय ! पापिनी मैने पूर्वभवमें ऐसा कौनसा भयकर पाप किया होगा कि जिसके फल से यह दारुण दुःख मुझे प्राप्त हुआ । ऐसा विचार मदनावली अपने मनमें कर रही थी कि उसी समय पूर्वभवके स्वामी विद्याधरका जीव (जो विद्याधरकी पर्याय से स्वर्गमें देव हुआ था) स्वर्गसे मदनावलीके पास आया। मदनावलीके जीवने पूर्व भवमें मुनिनिंदा की थी और उसके फलसे ही यह रोग होगया है ऐसा मुनिनिंदा करनेका समस्त पूर्वभव का वृत्तात उस देवने बतलाया ।

अर्थ—उस देवने फिर कहा कि हे मदनावलि ! तू सात दिवस पर्यंत भावोसे श्री जिनदेवका पचामृत रस से अभिषेक कर और पवित्र सुगधित केशर-कर्पूर-चदन आदि पदार्थों के रस से श्रीजिनदेवके पवित्र चरण कमलोंका लेप कर तो ऐसा करनेसे तेरी यह दुस्सह व्याधि शीघ्रही शमन हो जायगी । इसमें जरा भी सदेह नहीं । ऐसा कहकर वह देव अपने स्थानको गया और मदनावलीने वह सब विधि समस्त सांगोपांग की । ५९२ । ५९३ । ५९४ ।

अर्थः— मदनावलीने अपने रोगकी शांतिके लिये तीनो काल पचामृतसे श्रीजिनदेवका अभिषेक किया और सुगंधी पदार्थोंके रससे प्रभुके पवित्र और सुगधित चरणोपर लेप किया । इस प्रकार करनेसे उसकी देह अत्यंत सुगधित

त्रिकाले सा जिनेन्द्राणामभिषेक विधानत । चक्रे च पादयोर्लेपं नित्यं सुगधजै रसै ॥ ५९५ ॥
एवच क्रियमाणे हि तस्या देहोऽभवन्महान् । सुगधाढ्यश्च सर्वेषा प्रिय स्नानप्रभावत ॥ ५९६ ॥
प्रतिघस्र तत सापि चकार घनमोदत । अभिषक जिनेन्द्राणा पादयो लेपन तथा । ५९७ ॥
काललब्ध्या तत सापि, लात्वा दीक्षा जगन्नुताम् । दुर्धरं च तपस्तेपे कर्मवृंदाविहानये ॥ ५९८ ॥
अन्ते सन्यासमादाय विशुद्धमनसा तप -- । प्रभावात् सा विहत्याशु स्त्रीलिंगं निंदितं बुधै ॥ ५९९ ॥
समाप पचमे नाके देवत्व शर्मसंभृते । धर्मत शिवसंप्राप्ति का कथा नाकसद्मन ॥ ६०० ॥
सोमरो दिव्यसौख्यानि प्रभुज्यति स सर्वदा । पुर्नधर्मप्रभावेन धर्मतो दुर्घट च किम ॥ ६०१ ॥

तथा सुदर होगई ॥ ५९४ । ५९५ ॥

अर्थः -- तदनतर वह मदनावली हर्षके साथ प्रति दिवस श्रीजिनदेवका पचामृताभिषेक करने लगी । और सुगधी द्रव्योसे जिनेद्र चरणोका लेप करने लगी । काललब्धि प्राप्तकर वह मदनावली श्रीभगवती जिनेंद्रदीक्षाको धारण कर दुधर तपश्चरण करने लगी । अतमें विशुद्ध भावोसे सन्यास धारण कर स्त्रीलिंगको छेद पाचवें स्वर्गमें देव हुई । सच है धर्मसे सब कुछ होता है । जब मोक्षकी प्राप्ति धर्मसे होती है तो स्वर्गकी प्राप्ति में क्या आश्चर्य ?

अर्थ-वह देव स्वर्गके दिव्य सुखोको प्राप्त हुआ । सो ठीक ही है क्योकि धर्मके प्रभावसे कोई भी कार्य दुर्घट नहीं रहता । ६०१ ॥

तस्माच्च्युत्वा स्वकालाते नरजन्म शुभे कुले । संप्राप्य सयमं धृत्वा मोक्षं शिवसिद्धये ॥ ६०२ ॥
यास्यति कर्मनिर्णाशात सिद्धस्थानेच्युतोरमे । पुनि भो मगधाधीश तत्रापि सर्वपूजितम । ६०३ ॥
भो भव्य श्रीजिनेन्द्रस्य पादयोश्च प्रलेपनात् । सुखमाप्ताच सा राज्ञी प्रत्यक्ष खलु पश्यत ॥ ६०३ ॥
चन्दनस्य प्रलेपेन सुखमाप्ता घना जना । लेपनीयौ जिनपादौ यतश्चंदनकुंकुमै ॥ ६०४ ॥
शुकः कीरी जिनेन्द्रस्य पादाग्र धृतमजसा । शालिकण पुन तौहि गतौ स्वर्गे मनोहरे ॥ ६०५ ॥
यास्यत क्रमतो मोक्षे बुध नित्य जिनोत्तमम । पूजयन्त्व वरै शुद्धैरक्षतैरक्षनाशये ॥ ६०६ ॥
पुष्पौघै कुंदपद्मोर्थ विभो पूजा कृता यत । लीलावत्यभिध श्रेष्ठश्रेष्ठिन्या प्रतिवासरम ॥ ६०७ ॥

अर्थ-यह देव स्वर्ग से चयकर मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर और जिनेन्द्र भगवानकी पवित्र दीक्षाको धारण कर मोक्षको प्राप्त होगा। हे श्रेणिक महाराज यह सब महिमा भगवान पर चदन चढानेके पुण्यके फल की है। भगवानके चरणकमलोंकी चदन से पूजा करने का महान् फल है। ६०१ । ६०२ ॥

अर्थ—हे भव्य जीवो ! श्रीजिनेंद्र देवके पवित्र चरण कमलोंपर चदनका लेप करनेके फलसे मदनावली ने प्रत्यक्ष फल प्राप्त किया। भगवानके चरण कमलपर चदनका प्रलेप करनेसे बहुत से जीव सुखको प्राप्त हुए है इस लिये चंदन स पूजा नित्य ही करनी चाहिये ॥ ६०३ । ६०४ ॥

अर्थ—एक तोता दपती (तोताके जोडा) ने श्रीजिनेन्द्र भगवानके पवित्र चरण कमलोंकी अक्षत के कणोंसे बडी भक्तिपूर्वक पूजा की। उसके फलसे वे दोनों स्वर्ग को प्राप्त हुए। और क्रमसे मोक्षको प्राप्त होंगे। इसलिये भव्य जीवों को शुद्ध अक्षतोंसे श्री जिनेन्द्र देवकी पूजा नित्यही करनी चाहिये ॥ ६०५ । ६०६ ॥

अर्थ--श्रीजिनेन्द्र भगवानके पवित्र चरण कमलोंकी कुंद-पद्म चमेली गुलाब आदिके फूलोंसे पूजा कर

दिवि साच गता ह्यग्रे मोक्षं यास्यति निश्चयात् । अतो भव्या जिनेन्द्राश्च पूजयध्व सुपुष्पत ॥ ६०८ ॥
हालिकाभिधवैश्यो यत्सुपदेशात् कृतीति वै । नियमं एकग्रासेन पूजयिष्यामि वै जिनम् ॥ ६०९ ॥
सोपि नृपार्चितो जात तत्फलेन पुनश्च स । दीक्षा जैनेश्वरीं धृत्वा दिवि देवोऽभवत्खलु ॥ ६१० ॥
मोऽमर स्वर्गतश्च्युत्वा लप्स्यति मोक्षमक्षयम् । कुर्वंतु सर्वदा भव्या नैवेद्यै पूजन प्रभो ॥ ६११ ॥
जिनपादारविंदाग्रे नाशार्थं मोहकर्मण । यत् खलु शुद्धभावेन दीपस्योद्योतनं कृतम् ॥ ६१२ ॥
धूपश्रीकन्यका जाता दिवि देवागनापि सा । चाग्रे यास्यति मोक्ष हि अनुक्रमाच्च सा सुरी ॥ ६१३ ॥

लीलावती नामकी सेठानीने स्वर्ग पद प्राप्त किया और क्रमसे मोक्षको जायगी । इस लिये भव्य जीवोको भगवान जिनेंद्र देवकी फूलोसे पूजा नित्य करना चाहिये ।

अर्थः— एक मुनीश्वरके धर्मोपदेशसे हालिक नामके एक अतिशय दरिद्र वैश्यने श्रीजिनेंद्र भगवानके पवित्र चरणकमलोके समक्ष एक ग्रास मात्र चढानेका नियम लिया था । उस पुण्यके प्रभावसे उसका उसी पर्यायमें समस्त दरिद्रताका दुःख दूर होगया और राजासे पूजित हुआ । अतमे मरकर वह स्वर्गमें देव हुआ । और आगे वह मोक्षको नियमसे प्राप्त होगा । इसलिये भव्य जीवोको भगवान जिनेंद्र देवकी पूजा नैवेद्यसे प्रतिदिन करनी चाहिये ॥ ६०९ । ६१० । ६११ ॥

अर्थः— मोहनीय कर्मका नाश करनेके लिये श्रीजिनदेवके समक्ष शुद्ध भावोसे दीपकोंका उद्योत अवश्य ही करना चाहिये । धूपश्री नामकी कन्याने दीपकी पूजाके फलसे स्वर्गमें देवांगनाकी पर्याय प्राप्त की । और क्रमसे मोक्षको भी प्राप्त करेगी ॥ ६१२ ॥ ६१३ ॥

विनयधरो नाम्नेति श्रेष्ठिपुत्रश्च शुद्धधी । धूपपूजाप्रभावेन तुर्यकल्पेऽमरोभवत् ॥ ६१४ ॥
सोपि यास्यति भो भव्या ह्यनुक्रमात् शिवास्पदं । पूजयध्वं जिनेंद्रं वै धूपव्यूहै शिवाप्तये ॥ ६१५ ॥
रूपिणी नामत ख्याता दरिद्रवणिजात्मजा । केलाम्रादि फलौघ च सा जिनाग्रे फलाप्तये ॥ ६१६ ॥
धृत्वा इत्याह भो स्वामिन् देहि मोक्षफल च मे । कृत्वा प्रतिदिनं चैव मृत्वा समाधिना तत ॥ ६१७ ॥
आद्ये स्वर्गेमरो जातश्चाग्रे मोक्ष गमिष्यति । फलेज्याफलतो भव्या किं न स्यात् शर्मसंतति ॥ ६१८ ॥
एकैकद्रव्ययोगेन पूजयित्वा जिनाधिपम् । संप्राप्ता शर्मनिकरं नराश्च बहवो भुवि ॥ ६१९ ॥
विष्णुभट्टो द्विजश्चैको वसुद्रव्यैर्जिनं मुदा । पूजयित्वा दिवि चाद्ये संजातो देवराट् खलु ॥ ६२० ॥

अर्थः— विनयंधर नामके एक सेठके पुत्रने शुद्ध भावोसे श्रीजिनेंद्र भगवानकी धूपसे पूजा की । उसके फलसे वह चौथे स्वर्गमें देव हुआ । और वहासे चयकर क्रमसे मोक्षको जायगा । इसलिये हे भव्य जीवो धूपसे भगवानकी पूजा महान फल देनेवाली है । इसे प्रति दिन करो ॥ ६१४ ॥ ६१५ ॥

अर्थ—मोक्षफलकी इच्छासे रूपिणी नामकी एक दरिद्र वणिकपुत्रीने केला आम—नारगी—नीबू आदि उत्तम फलोसे श्री जिनेन्द्र भगवानकी पूजा की उसके फलसे वह मर कर स्वर्गमें देव हुई । और फिर वहासे चयकर मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर मोक्षको प्राप्त होगी । फलोकी पूजा से भव्यजीवोको समस्त प्रकार के सुख प्राप्त होते है ।

अर्थ—एक एक द्रव्यसे ही भावभक्ति पूर्वक श्रीजिनेन्द्र देवकी पूजा करनेवाले बहुतसे भव्य जीव उत्तम सुख को प्राप्त हुए है ।

अर्थ—विष्णुभट्ट नामक एक ब्राह्मणने श्रीजिनेन्द्र देवकी आठ द्रव्योंसे पूजा की थी उसके फलसे वह इन्द्रपद को प्राप्त हुआ था ।

भेकाद्या शुद्धभावेन जिनपूजात्तमानसा । तेपि स्वर्गं गता भव्या अत कुर्वंतु ता सदा ॥ ६२१ ॥
पूजा ये नरसत्तमा सुविधिना कुर्वंति ते निश्चयात् । इन्द्रस्यैव खगेन्द्रपन्नगपते भूतिं समाप्याशु वै ॥
यास्यंत्येव शिवास्पद मुनिनुतं नाशादिकर्मोज्झितं । मत्वेत्येव वुधोत्तमा जिनपते इज्या कुरुध्व च भो ॥ ६२२ ॥
अनेन विधिना भूप कलौ मूढाश्च ये नरा । करिष्यंति जिनेन्द्राणा पूजा नैव मदोद्धता ॥ ६२३ ॥
तस्मिन् तदुद्भवा क्रूरा सुवोधलववर्जिताः । वचनोत्थापका स्वस्यागमस्यैव प्रतिश्चयात् ॥ ६२४ ॥
अंगपूर्वा नराधीश स्थास्यंति मत्पर खलु । पक्षर्तुसोमवर्षाते प्रत्याष्टहीनतश्च ये ॥ ६२५ ॥

अर्थ—मेंढक आदि क्षुद्र पर्याय के धारक जीवोने भावोकी विशुद्धिसे श्रीजिन देवकी पूजा की और स्वर्गादिक उत्तम पदकी प्राप्ति की। इसलिये भगवान जिनेन्द्र देवकी पूजा सदा करते रहना चाहिये। ६२१ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव भव्य भावोसे विधिपूर्वक श्रीजिनेंद्र भगवानकी पूजा करते हैं वे निश्चय से इन्द्र धरणेन्द्र आदि की महान् दिव्य विभूतिको प्राप्त होते हैं। वे भव्य जीव मुनियोसे पूज्य और समस्त प्रकारके कर्मोंसे रहित ऐसी मोक्षको प्राप्त होते हैं। इसलिये भव्य जीवोंको भगवानकी नित्य पूजन करनी चाहिये ॥ ६२२ ॥

अर्थ—हे राजन् शास्त्रोकी उपर्युक्त विधिसे जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवानकी पूजा नहीं करते हैं वे मदोद्धत उसी भवमें क्रूर और हठग्राही बन जाते है उनका सम्यग्ज्ञान नष्ट हो जाता है। जो आगमके वचनोका उत्थापन करता है उसका क्या हाल नहीं होता। ६२३। ६२४॥

अर्थ—श्रीसर्वज्ञ देव महावीर स्वामीने राजा श्रेणिक से कहा कि हे राजन् मेरे निर्वाण होनेके बाद एकसौ बासठ वर्ष पर्यंत अंगपूर्वोंका ज्ञान पूर्ण रूपसे रहेगा।

चाग्रे धर्मप्रकाशार्थं करिष्यति मुनीश्वरा । ग्रथाना सकलानाच पर्णेपु रचना खलु ॥ ६२६ ॥
हायन प्रति तस्मिन् वै मुनिमार्गस्य हानिता । भविष्यति शरीरस्य हीनसहननाश्च वै ॥ ६२७ ॥
जिनधर्मात् भविष्यति भूदेवा भूमिपास्तदा । सुबोधवर्जिताश्चास्य निंदकाश्च परान्मुखा ॥ ६२८ ॥

अर्थ—इसके बाद मुनीश्वर गण निःस्वार्थ और पवित्र वृत्तिसे धर्म प्रकाशनके लिये श्रीजिनदेवकी ही वाणी को ताड पत्र पर लिखकर ग्रथोकी रचना करेंगे।

अर्थ—इसके बाद क्रमसे प्रतिवर्ष मुनिमार्गकी हानि होती जायगी। पचम कालमें हीन सहनन होनेसे सिंह वृत्तिके चारित्रको धारण करने वाले विरले ही होगे। ६२७ ॥

अर्थ—हे राजन्! पचम कालमें राजा और ब्राह्मण जिनधर्मसे परान्मुख हो जांयगे। उनमें सम्यग्ज्ञानका अभाव हो जायगा जिससे वे उलटे जैन धर्मके निंदक बन जायगे ॥ ६२८ ॥

---

१ धर्मकी स्थिति और वृद्धि के कारण राजा धर्मगुरु और निर्ग्रंथ ऋषिगण माने है। राजा यदि नीतिवान सदाचारी और सत्य धर्ममें तत्पर है तो प्रजा भी राजाके समान नीतिमान सदाचारी और धर्ममें तत्पर होगी। यथा राजा तथा प्रजा। वर्तमान समयमें राजाओंमें धर्मवासना–नीति–और सदाचारका अभाव होगया तो प्रजा भी वैसी होगई। ऐसे कायदे कानून बन गए जिनसे अधर्म फैलाया जासके–हिंसा की जासके—व्यभिचारमें धर्म कायदा कानूनसे होने लग गया। इसी प्रकार धर्मगुरु ब्राह्मण गृहस्थाचार्योंके अभाव होनेसे(ब्राह्मण लोगोंने जैनधर्म छोड देनेसे) सोलह संस्कार और उत्तम आचरणोंका अभाव होगया नीति प्रतिदिन उठने लग गई। ब्राह्मणोकी देखा देखी अन्य प्रजा भी धर्मसे परान्मुख होगई। निर्ग्रंथ ऋषियोका अभाव होनेसे धर्मका मूल ही नष्ट होगया। लोगोने धर्ममें मनमानी कल्पना करली और ऋषिगणोंके अभावके कारण उपदेश न होनेसे जैनसंख्या का अभाव हुआ। नवीन जैन बनते नहीं, जो हैं सो अन्य धर्म स्वीकार करने लगे।

अतो मुनिपदस्यैव धारका पुरुषाः कलौ । तुच्छा जानीहि त्वं भूप यथा भूपास्तथा प्रजाः ॥ ६२९ ॥

आदिवीरस्य पुत्रेण रचिता ब्राह्मणाश्च ये । जिनधर्मप्रकाशार्थं पूज्या, सर्वेषु चोत्तमाः ॥ ६३० ॥

जिनधर्मविनाशाय तेच जाता बुधोत्तमाः । दुष्टकालप्रदोषेण न दोषः कस्यचिद् भुवि ॥ ६३१ ॥

तुर्यकाले समा सर्वे वैश्याश्च क्षत्रिया द्विजा । खलु चैकेव चेष्टाढ्या जिनधर्मप्रसेवकाः ॥ ६३२ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक उपर्युक्त कारणो से मुनिपदके धारक वीर पुरुषो की सख्या स्वल्प होगी । सो ठीक ही है जैसा राजा वैसी प्रजा होती ही है ।

अर्थ —हे श्रेणिक–श्रीआदिप्रभु भगवान ऋषभ देव के पुत्र भरत चक्रवर्तीने जिन ब्राह्मणोकी स्थापना धर्म-की वृद्धि और धर्मकी पवित्रता स्थिर रखनेकेलिये की थी—इसीलिये जिन ब्राह्मणो को पूज्य माना था और सर्व वर्णोंमें श्रेष्ठता प्राप्त हुई थी वे ही ब्राह्मण जैनधर्मके नाशक–निंदक–और द्वेष करने वाले हो जायगे । यह सब कालका ही दोष है । इसमें किसी का अपराध नहीं । ५३० । ६३१ ॥

अर्थः— चौथे कालमें समस्त वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणोंकी एक समान क्रिया–आचरण और धार्मिक प्रवृत्ति थी । इसलिये सब एक ही जिनधर्मके सेवन करनेवाले धार्मिक थे ॥ ६३२ ॥

---

१ धर्मकी वृद्धि और पवित्रताकी स्थिरता रखनेवालों में मुख्य मुनिराजही होते है । वे एकसाथ हजारो जीवो से अ-धर्म छुडाकर सबको धर्म मार्गमे लगा सक्ते है । ऐसी सामर्थ्य गृहस्थमें नहीं होतीं है—परतु कालके दोषसे अपने धर्मभाई ही मुनियो की निंदा कर मुनिधर्म का उठाने का प्रयत्न करेंगे । मुनियोमे मिथ्या अवर्णवाद लगावेंगे । इन कठिनाइयों से मुनि धर्मका अभाव होगा । और मुनि धर्मके अभाव होनेसे जैनधर्मकी भी अत्यत हानि होगी ।

अस्मिन् भूपा द्विजाः सर्वे भ्रामाश्चैकत्वता खलु । केवलञ्च स्थिता वैश्याश्चैकाश्चास्य प्रपालका ॥ ६३३ ॥
अतो हि श्रीजिनेन्द्रोक्तो धर्मोय दृश्यते च वै । अल्पवत्तस्य दृष्टांत शृणुथ यन्मयोदितम् ॥ ६३४ ॥
कंठीरवो यथा मत्तवारणावारसंक्षयम् । क्षणेनैकेन सकुर्यात् एकश्च नात्र संशय ॥ ६३५ ॥
स च आम्रनरुस्थाना फलानामदनेपु च । नो क्षम कारण किं तु विपक्षत्वात् वुधा खलु ॥ ६३६ ॥

अर्थः— हे राजन् ! पचम कालमें तो समस्त ब्राह्मण एव राजा गण विधर्मी क्रियाभ्रष्ट और सदाचार विहीन होगये । एक केवल वैश्य ही जिनधर्मके प्रतिपालक रह गये ॥ ६३३ ॥

अर्थः— हे राजन् ! इसी लिये यह सर्वोत्कृष्ट जैनधर्म इस पचम कालमें अल्प सख्याधारक जीवोंमें ही देखा जाता है । इसका दृष्टात बतलाते है— ॥ ६३४ ॥

अर्थः— हे राजन् ! महाविक्रमशाली सिंह अकेला ही समस्त गजोंको मार कर शीघ्र ही भगा देता है । इसमें कुछ भी संदेह नही है । सिंहकी शक्ति सर्वोपरि और सर्वोत्कृष्ट है । तो भी वह पर्वतपरके आम्रके फलोंको तोडनेके लिये समर्थ नही है । इसका कारण क्या है ? इसका कारण यही है कि उसके पक्ष (पख) नही है । यद्यपि कौआ शक्ति रहित है और जातिसे हीन है । तथापि वह पक्ष वा पंखोंको धारण करनेवाला है । इसलिये अर्थात् केवल पक्ष धारण करनेसे ही वह कौआ उन पर्वतके आमके फलोंको खानेमें समर्थ हो जाता है । अभिप्राय यह है कि फल एक सर्वोत्तम पदार्थ है । उसको पक्षधारी पक्षी ही खा सकते हैं । पक्ष रहित होनेसे सबसे अधिक बलवान सिंह भी उनको नहीं खा सकता । इसी प्रकार मोक्ष भी एक सर्वोत्तम पदार्थ है । उसको वही पा सकता है जिसके भगवान अरहत देवका पक्ष है । जिसके अरहत भगवानका पक्ष नही है, उनके वचनोंमें जिसका श्रद्धान नहीं है उसे कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती । इसलिये मोक्ष प्राप्त करनेके लिये भगवान

धाक्षश्च शक्तिहीनाढ्य तथापि पक्षभाक् खलु । स्याददनेपु तेषा च जातिहीनोपि स क्षम ॥ ६३७ ॥
ह्यस्त्यनतश्च ससारे पक्षः स्यात यस्य दृश्यते । महत्त्वं च तस्यैव तद्वते अमहत्वता ॥ ६३८ ॥

अरहत देवके वचनोका पक्ष अवश्य रखना चाहिये। भगवान अरहंत देवके वचनोका श्रद्धान करना ही मोक्षका मूल कारण है ।

अथवा समुदाय शक्तिसे जातिहीन मनुष्य अपने ऐसे कार्य निकाल लेते है । जो समुदाय शक्ति रहित उत्तम जाति वालोसे भी नही हो सके। परंतु इसमें बडप्पन नही है । बडे २ शक्तिशालियोको नीचा दिखा देते हैं ॥ ६३५ ॥ ६३६ ॥ ६३७ ॥

अर्थ – हे राजन् कलिकालमें इस ससारम जिसके पक्षमें बहुतसी सख्या है वह अपना बल प्रकट करेगा उसका महत्व प्रकट होगा। और जिनके पक्षमें सख्या स्वल्प है वे सर्वांग शक्तिशाली होने पर भी अपना महत्व प्रगट नही कर सकेंगे। अपना जैन धर्म यद्यपि ससारमें सर्वोत्कृष्ट है सर्वोत्तम है पवित्र है सदाचार से परिपूर्ण है परतु राजाओका पक्ष न रहने से कमजोर होगया है। इसी प्रकार मुनिवर्गका पक्ष जबसे कम होनेलगा तबसे उसका महत्व छुपता जाता है। इसलिये जो लोग धर्मका महत्व प्रगट करना चाहते हैं उनको धर्मगुरुओकी आज्ञा शिरोधार्य कर धर्मके रहस्य जाननेवाले सच्चे विद्वान त्यागियो की पक्षमें रह कर अपने धर्मकी रक्षा और वृद्धी करनी चाहिये। जो सुधारक मुनिगण और विद्वानोंको सत्य और आगमोचित पक्षको छोडकर धर्मके बहाने अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते है और धर्मकी पवित्रता विधवाविवाह, जाति पांति लोप और विजातीय विवाह आदि धर्मविरुद्ध कारणोसें नष्ट करना चाहते है उनको विचार करना चाहिये कि इस प्रकार पक्षभेद कर देनेसे धर्मका सत्यानाश ही होगा । समुन्नति नहीं ॥ ६३८ ॥

मित्रकालेच अस्यैव पालका धारका नृपा । प्रजा सर्वा द्विजा सर्वे अत सर्वेषु भो बुध ॥ ६३९ ॥
उत्तमता च ह्यस्यैव अन्यस्य न्यूनता खलु । तद्हते ननु विज्ञेयं विपरीतस्य कारणम् ॥ ६४० ॥
ततो धर्मप्रकाशार्थं सर्वोकस्य माक्षिनः । नूतना स्थापना लोका करिष्यन्ते च नाथिन ॥ ६४१ ॥

अर्थः— चतुर्थ कालमें इस जैनधर्मके प्रतिपालक राजा और ब्राह्मण आदि सभी प्राणी थे। इसलिये इसका डंका सर्वत्र अविच्छिन्न रूपसे बजता था ॥ ६३९ ॥

अर्थः— यह धर्म सर्वोत्कृष्ट है। त्रिलोक पूजित है। और सर्व मान्य है। और धर्म इस धर्म (जैनधर्म) से सब बातोंसे अधम है। परन्तु जैनधर्मका पक्ष मुनियोंके सदुपदेशके विना समस्त जीवोंको मिलना कठिन है। इसलिये इस जैनधर्मके पालन करनेवालोंकी संख्या कम होगई है। इसलिये मुनिधर्म और सच्चे आगमके जानकार विद्वानोंकी पक्षको एकदम सबल बना देना चाहिये जिससे धर्मकी विपरीतता नष्ट हो जाय ॥६४०॥

---

१ कलिकालमें जैनधर्मके भीतर इस प्रकार धर्मकी स्थापना मायावी लोगोंसे कितनी बार हुई है। परन्तु दिगम्बर जैन महर्षियोंने उनको सबबाह्य समझकर उनका बहिष्कार ही किया है। जैन संख्या बढानेके लोभमें उनको भ्रष्ट शिथिलाचारी सबबाह्य नकली जैनधर्मधारक जैनोंको अपने में नहीं मिलाया। भद्रबाहुके समय जो श्वेताम्बर संघ उत्पन्न हुआ तब भी दिगम्बर जैन महर्षियोंने उनको (श्वेताम्बर) अपने में नहीं मिलाया। मायावी लोगोंने लोगोंका धर्मका बहाना बतलाकर नवीन धर्म—अपने स्वार्थको सिद्ध किया। समाजमें भेदभाव डालकर कितने ही मनुष्योंको अनुकूल बनाया। और जो सच्चे धर्मात्मा थे उनको द्वेषी माना। इसी प्रकार बार २ जैन धर्ममेंसे कितनेही नकली धर्म उत्पन्न हुए।

केचिच्च द्वेषका मर्त्या केचिच्च सेवका खलु । एवं तस्मिन भविष्यति कलौ च मगधाधिप ॥ ६४२ ॥

जैनागमेषु रुच्येषु अमीषा मगधेश्वर । विश्वासो न भविष्यति संशयाधीनचेतसाम ॥ ६४३ ॥

अथाना पूजका केचित् जिनबिंबस्य निंदका । कलौ भेदा अनेके च ज्ञातव्या श्रेणिक त्वया ॥ ६४४ ॥

अर्थ--हे मगधाधिप कलिकाल में मायावी मनुष्य धर्म प्रकाशनके लिये समस्त लोगोंकी साक्षीमें नूतन स्थापना करेंगे। कितने ही मनुष्य उनके द्वेषी हो जायगे । और कितने ही सेवक बन जायगे ॥ ६४२ ॥

अर्थ--हे श्रेणिक महाराज! संशय से मन और बुद्धि जिनकी भ्रमित होगई है ऐसे उपर्युक्त मनुष्य श्री जिनागमके सत्य २ वचनोंका भी विश्वास (श्रद्धान) नहीं करेंगे ॥ ६४३ ॥

अर्थ--हे श्रेणिक! कितने ही तो केवल अशोक पूजक बन जायगे । कितने ही जिन बिंबोंको पूजा करनेका निषेध करेंगे । हे राजन! कलिकालमें जैनधर्ममेंसे बहुत से पंथ अपने अपने मनमें असत्य कल्पना कर अनेक प्रकार से जैन धर्मका रूप बिगाडेंगे । ६४४ ॥

---

१ वर्तमान समयमें कितनेही अल्पज्ञानी अपने मतलबके लिये सब ग्रन्थोंकी अमान्यता कर रहे हैं। उनके जिनागमका सर्वथा श्रद्धान नहीं है तो भी अपने को जैनावलम्बी बताकर लोगोंको यह जाहिर करते हैं कि हम भी जैन हैं। परंतु उनके जब आगमका सर्वथा ही श्रद्धान नहीं है तब जैनपना कैसा? उनका जैनपना कुछ स्वार्थ पर है। जो अतिशय भयानक है।

२ श्वेताम्बरों में से ढूंढिया जिनबिंबोंकी पूजाका निषेध करते हैं। दिगम्बर में तारण पंथी भी जिनमंदिर में पूजन नहीं करते। परंतु दिगम्बर जैन धर्ममें या उसके आगममें अवर्णवाद नहीं लगाते। जो लोग दिगम्बर जैन भी जैनबिंबोंकी पूजन करनेका निषेध करते हैं इसका कारण उनको आगमके श्रद्धान का अभाव है।

वसुभूपालवत् स्वस्य मतस्य ते नरा खला । दृढ पक्ष करिष्यति मप्तपावनिदु खदम् ॥ ६४५ ॥
जिनात्तपुरुषाणा च केचिच्छ्राद्धानिका नरा । खला निंदा करिष्यंति जिनागमप्रघातका ॥ ४५६ ॥
पूर्वाचार्यकृता सर्वामभिषेकादिका क्रियाम् । तस्मिन्नुत्थापयिष्यति न मूढा पंचमोद्भवा ॥ ६४७ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज ये लोग वसुभूपालके समान अपने अपने मिथ्या मतका हठग्राही पक्ष कर सातवें नरक जाने लायक पाप सचय करेंगे ।

भावार्थ—सत्यधर्म (जो अरहत भगवानने कहा है) को दूपण लगा कर ये लोग जैनधर्मम से नवीन धर्म अपने मनकल्पना से गढ कर अरहंत भगवान का कहा हुआ है ऐसी मिथ्या घोपणा करेंगे । और अपने मिथ्यामतके पक्षको दृढ करेंगे । श्वेतांबर—दूढिया-ओर भी अनेक पथवालोने इसी प्रकार अपने २ मत दिगबर जैनमतमें से निकाल कर वनाये । और कितने ही दुष्ट मनुष्य अब भी ऐसा ही पाप कर रहे है ॥ ६४५ ॥

हे राजन् ! कितने दुष्ट श्रावक अतरग से श्रीजिनागमका घात कर मूलोच्छेद करेंगे परतु फिर भी अपनेको श्रावक कहला कर जिनात्त पुरुषोकी (मुनियोकी) अथवा साधर्मी सज्जनो को निंदा करेंगे । भावार्थ, कितने दुष्ट हृद-यके श्रावक मनकी दुष्टता और मिथ्यात्वके तीव्रोदयमें जिनागमका तो नाश करेंगे ही परतु जिनागमके अनुसार चलने वाले मुनिगण तथा भव्य धर्मात्मा श्रावको की निंदा भी करेंगे । इस प्रकार अपने धर्मका मूलोच्छेदन वे स्वयं कर पापके भागी वनेंगे ॥ ६४६ ॥

अर्थ—हे राजन् पचम कालके श्रावकगण पूर्वाचार्यप्रणीत और तीर्थकर द्वारा प्रतिपादित अभिषेकादि पवित्र आगमोक्त क्रिया का उच्छेद करेंगे ॥ ६४७ ॥

नूतनां नूतनां सर्वां करिष्यति जडाशया । ते नराश्च क्रिया भूप स्वस्वमतिविकल्पत. ॥ ६४८ ॥
वय श्रद्धानिका यूयं मिथ्यात्वपथसेवका । मानयिष्यंति ते चित्त क्रियालेशोज्झिता खलु ॥ ६४९ ॥
स्वधीकल्पितग्रंथान् वै स्वाध्याये पुजनादिके । कार्ये प्रवर्तयिष्यति नो तद्धिते खलाशया ॥ ६५० ॥
इत्थ जैनेन्द्रधर्मस्य मध्ये भेदोत्करा खलु । तस्मिन्नेव भविष्यति स्वस्वमतविनाशका ॥ ६५१ ॥
भवंत्येव कलौ भेदा प्राक् चतुर्थाच निश्चयात् । चेलनाकात वुद्धस्व शर्मलेशविवर्जिते ॥ ६५२ ॥

अर्थ—हे राजन पचम कालके श्रावकगण नवीन नवीन क्रियायें अपने मनसे गढकर करेंगे। और धर्मके सत्य मार्ग का लोप करेंगे ॥ ६४८ ॥

अर्थ— हे राजन्! श्री जिनदेव प्रदिपादित प्राचीन क्रियाओका लोप करनेवाले श्रावकगण अपनेको सम्यग्दृष्टी प्रसिद्ध करेंगे। और जो श्री जिनदेवके मार्ग पर आगमानुकूल चल रहे हो उनको मिथ्यात्वी बतलायेंगे इस प्रकार की पवित्र क्रियाओका परित्याग करेंगे। ६४९ ॥

अर्थ—हे राजन्! अपने मनकी कल्पना से अपने मतलबके ग्रंथ बनाकर उनका ही स्वाध्याय करेंगे, प्रचार करेंगे और उन ग्रंथोसे ही पूजन आदि धर्मक्रियाओकी प्रवृत्ति करायेंगे। ऐसे लोग आत्महितके लिये कुछ नही करेंगे।

अर्थ—इस प्रकार इस जैन धर्ममें अनेक भेद होगे और वे अपने अपने धर्मका नाश करने वाले ही होगे।

अर्थः— हे श्रेणिक! जिसमें कल्याणमार्गका सर्वथा अभाव है ऐसे इस कलिकालमें आगामी चौथे कालके पहले पहले इस जैनधर्ममें बहुतसे भेद हो जायगे।

भावार्थः— इस पंचमकालमें जैनधर्ममें भी बहुतसे भेद हो जायगे जो आत्मकल्याणसे सर्वथा रहित होंगे॥६५२॥

हुडासर्पिणि काले हि भवति नो कदाचन । जिनधर्मस्य हानिश्चान्यत्र भो मगधेश्वर ॥ ६५३ ॥
चेदृग्विभो ! दयाधीश कियत्काले गते सति । आयात्येव तदा चाह त प्रति दिव्यभाषया ॥ ६५४ ॥
वसुवेदेन्दुसंख्यानां चतुर्विंशतीना गत । हुडको जायते ह्येको । तत्रयाणा मतश्च स ॥ ६५५ ॥
अस्मिन्नेव भवत्येव ह्यनर्था चेलनापते । तीर्थंकरस्य पुत्र्यौ चक्रेश्वरस्यापमानता ॥ ६५६ ॥
प्रभोर्गात्रादप्यधिको दोर्बलेरुच्चता तनो । जेमनार्थंच भ्रमता धराया वृषभस्य वै ॥ ६५७ ॥
पदवीधारकाणा च ह्रासोपसर्गमेव च । धार्मिकाणा कलंकाश्च सतीनामवमानता ॥ ६५८ ॥

अर्थः— हे राजन् यह इतना धर्मका भेदभावका विप्लव हुंडासर्पिणी कालमें ही होता है । अन्य कालोंमे नही । इसी लिये इस कालमें जैनधर्मकी हानि विशेष होगी ॥ ६५३ ॥

अर्थः— महाराज श्रेणिकने हुंडासर्पिणी कालको ऐसा दुष्ट सुनकर भगवानसे पूछा कि हे स्वामिन् ! हे वीर प्रभो ! कितने कालके बाद हुंडावसर्पिणी काल आता है ? तब दिव्य ध्वनिसे भगवानने कहा कि १४८ एकसौ अडतालीस चौवीसी व्यतीत होनेपर एक हुडक काल आता है ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! हुडक कालके प्रभाव से बडी २ विपरीत बातें उस भरतक्षेत्रमें होगी । महान् अनर्थ होगे

१ तीर्थंकरोंके पुत्रीका जन्म होना । २ चक्रेश्वरका अपमान होना । ३ प्रभु तीर्थंकरके शरीर से अधिक ऊंचा शरीर बाहुबलि का होना । ४ श्रीवृषभदेवका आहारकेलिये षट्मास पर्यंत परिभ्रमण होना । ५ पदवी धारक त्रेषठि सलाका पुरुषोंका ह्रास होना । ६ तीर्थंकर देवको छद्मस्थ अवस्था में उपसर्ग होना । ७ धर्मात्मा पुण्यपुरुषोंको कलंकका लगना । ८ सतियोंका अपमान होना । ९ सिद्ध क्षेत्रोंकी अतिशय दूर स्थापना होना । १० जिनशासन यक्षगणोंका अतिशय कम होना । ११ मिथ्या शासन देवोंकी महिमा का बढना । १२ पाखंडियोंकी बढवारी

स्थापना सिद्धक्षेत्राणा चातिदूरा शिवार्थना । जिनशासनयक्षाणा तुच्छाश्चातिशया. खलु ॥ ६५९ ॥
मिथ्याशासनदेवाना पचार सघनो ननु । श्रीजिनाधिपबिंबानामपमान कुमानवै ॥ ६६० ॥
साधर्मिपुरुषाणा च निंदा ते श्रावका खला । करिष्यंति कलौ भूय निंदाया किं फलं भवेत ॥ ६६१ ॥
भवति परनिंदाया जाताधा परजन्मनि । मूका सदातकमना कुब्जा दुष्टाश्च कुत्वना ॥ ६६२ ॥
बधिरा विकलागाश्च षडा दारिद्रधारका । कुरूपा दु नमोक्कार पुनपौत्रादिवर्जिताः ॥ ६६३ ॥
सदा शोकधरा क्रूरा निर्भाग्या मतिर्निंदता । नराश्चेदृग्विधा भूर ज्ञानलेशविवर्जिता ॥ ६६४ ॥
मुन्यादिवर्जिता धर्ममार्गपरान्मुखा खलाः । गुणमानविहीनागा परसद्मनि सेवका । ६६५ ॥

होना। १३ श्री जिनबिंबोका कुमनुष्यो के द्वारा अपमान होना। १४ और श्रावको के द्वारा ही सत्यमार्गपर जिनागमके अनुकूल चलने वाले साधर्मी पुरुषो की निंदाका होना। १५ जैनधर्ममें भेदभावका होना। इत्यादि बहुत से अनर्थ कालके प्रभाव से इस भरत क्षेत्र में होगे।

उपर्युक्त दिव्य ध्वनिके द्वारा सुनकर श्रेणिक महाराजने पूछा कि हे प्रभो श्रावकगण सच्चे धर्मात्माओ की निंदा करेंगे उसका क्या फल है? ६५६। ६५७। ६५८। ६५९। ६६०। ६६१ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज जिनागम के अनुकूल चलने वाले भव्य जीवोकी निंदा करनेसे पर जन्ममें अधे-गूगे-बधिर-रोगी-कूबडे-विकलाग-नपुसक-दरिद्र-कुरूपी-दुःखी-कुटुब परिवार रहित-भाग्यहीन शोकातुर और ज्ञान रहित होते हैं। वे बडे भयकर दुखोको प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं। उनसे मुनियोका धर्मपालन नहीं होता। इतनाही नही बल्कि वे धर्ममार्ग से परान्मुख-गुणविहीन-दूसरोके गुलाम होते है।

हुंडासर्पिणि काले हि भवति नो कदाचन । जिनधर्मस्य हानिश्चान्यत्र भो मगधेश्वर ॥ ६५३ ॥
चेद्दविभो ! दयाधीश कियत्काले गते सति । आयात्येव तदा चाह त प्रति दिव्यभाषया ॥ ६५४ ॥
वसुवेदेन्दुसंख्याना चतुर्विंशतीना गते । हुडको जायते ह्येको । तन्वयाणा मतश्च स ॥ ६५५ ॥
अस्मिन्नेव भवत्येव ह्यनर्थां चेलनापते । तीर्थंकरस्य पुत्र्यौ चक्रेश्वरस्यापमानता ॥ ६५६ ॥
प्रभोर्गात्रादप्यधिको दोर्बलेरुच्चता तनो । जेमनार्थंच भ्रमता धराया वृषभस्य वै ॥ ६५७ ॥
पदवीधारकाणा च ह्रासोपसर्गमेव च । धार्मिकाणा कलङ्काश्च सतीनामपमानता ॥ ६५८ ॥

अर्थः— हे राजन् यह इतना धर्मका भेदभावका विप्लव हुडावसर्पिणी कालमें ही होता है । अन्य कालोमे नही । इसी लिये इस कालमें जैनधर्मकी हानि विशेष होगी ॥ ६५३ ॥

अर्थः— महाराज श्रेणिकने हुडावसर्पिणी कालको ऐसा दुष्ट सुनकर भगवानसे पूछा कि हे स्वामिन् ! हे वीर प्रभो ! कितने कालके बाद हुडावसर्पिणी काल आता है ? तब दिव्य ध्वनिसे भगवानने कहा कि १४८ एकसौ अडतालीस चौवीसी व्यतीत होनेपर एक हुडक काल आता है ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! हुडक कालके प्रभाव से बडी २ विपरीत बातें इस भरतक्षेत्रमें होगी । महान् अनर्थ होगे १ तीर्थंकरोके पुत्रीका जन्म होना । २ चक्रधरका अपमान होना । ३ प्रभु तीर्थंकरके शरीर से अधिक ऊंचा शरीर बाहुबलि का होना । ४ श्रीवृषभदेवका आहारकेलिये षट्मास पर्यंत परिभ्रमण होना । ५ पदवी धारक त्रेपठि सलाका पुरुषोका ह्रास होना । ६ तीर्थंकर देवको छद्मस्थ अवस्था में उपसर्ग होना । ७ धर्मात्मा पुण्यपुरुषोको कलंकका लगना । ८ सतियोका अपमान होना । ९ सिद्ध क्षेत्रोकी अतिशय दूर स्थापना होना । १० जिनशासन यक्षगणोका अतिशय कम होना । ११ मिथ्या शासन देवोकी महिमा का बढना । १२ पाखंडियोकी बढनारी

स्थापना सिद्धक्षेनाणा चातिदूरा शिवार्थदा । जिनशासनयक्षाणाः तुच्छाश्चातिशया खलु ॥ ६५९ ॥
मिथ्याशासनदेवाना पचार सघनो ननु । श्रीजिनाधिपबिंबानामपमान कुमानजे ॥ ६६० ॥
साधर्मिपुरुषाणा च निंदा त श्रावका टाला । करिष्यंति कलौ भूय निंदाया किं फल भवेत ॥ ६६१ ॥
भवति परनिंदाया आताधा परजन्मनि । मूका सदातकामना कुब्जा दुष्टाश्च कुत्वना ॥ ६६२ ॥
वधिरा विकलागाश्च पडा दारिद्रधारका । कुरुपा दु नभोक्तार पुनपौनादिवर्जिताः ॥ ६६३ ॥
सदा शोकधरा क्रूरा. निर्भाग्या मतिनिंदिता. । नराश्चेदृगिधा भूर ज्ञानलेशविवर्जिता ॥ ६६४ ॥
मुन्यादिवर्जिता धर्ममार्गपराङ्मुखा. खलाः । गुणमानविहीनागा परसद्मनि सेवका । ६६५ ॥

होना। १३ श्री जिनबिंबोका कुमनुष्यो के द्वारा अपमान होना। १४ और श्रावको के द्वारा ही सत्यमार्गपर जिनागमके अनुकूल चलने वाले साधर्मी पुरुषोकी निंदाका होना । १५ जैनधर्ममें भेदभावका होना। इत्यादि बहुत से अनर्थ कालके प्रभाव से इस भरत क्षेत्र में होगे।

उपर्युक्त दिव्य ध्वनिके द्वारा सुनकर श्रेणिक महाराजने पूछा कि हे प्रभो श्रावकगण सच्चे धर्मात्माओं की निंदा करेंगे उसका क्या फल है ? ६५६ । ६५७ । ६५८ । ६५९ । ६६० । ६६१ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज जिनागम के अनुकूल चलने वाले भव्य जीवोकी निंदा करनेसे पर जन्ममें अधे-गूगे-वधिर-रोगी-कुबडे-विकलांग-नपुसक-दरिद्र-कुरूपी-दुःखी-कुटुब परिवार रहित-भाग्यहीन शोकातुर और ज्ञान रहित होते है। वे वडे भयकर दुखोको प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं। उनसे मुनियोका धर्मपालन नहीं होता। इतनाही नही वल्कि वे धर्ममार्ग से पराङ्मुख-गुणविहीन-दूसरोके गुलाम होते है।

प्रतिपद्दर्शनीवाते म्रियते मगधाधिप । अष्टमैकादशे चैव हायने द्वादशे तथा ॥ ६६६ ॥
षोडशे यौवने काले अत्रामुत्र धवाश्च ये । जानीहि परनिंदाया तच्च भो कारणं खलु ॥ ६६७ ॥
संसारभयभीतैश्च महादुःखप्रदायका । अतोहि परनिंदाच नो कर्तव्या कदाचन ॥ ६६८ ॥
परदोष न दातव्यं मा वक्तव्यमसत्यवाक् । प्रमादं नैव कर्तव्यं देवपूजादिकर्म्मसु ॥ ६६९ ॥
सोमशर्मद्विजस्येय सुता लक्ष्मीमती वरा । रूपयौवनसम्पन्ना किंचिन्निंदा यते कृता ॥ ६७० ॥
तेन पापेन तत्रैव तस्या गात्रेऽसुखाकर' । उदंबरमहाकुष्ट समुत्पन्नोतिदुस्सह ॥ ६७१ ॥
व्याधिना तेन संतप्ता महादुःखेन सा मृता । शुनी च गर्दभी पश्चात्सूकरीत्यादियोनिषु ॥ ६७२ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! धर्मात्मा भव्य जीवोंकी निंदा करनेवाले प्रतिपद चंद्रमाके समान शीघ्रही मरण को प्राप्त होते है। अथवा आठ-दश-ग्यारह-बारह-और सोलवे वर्ष जवानी अवस्थामें ही मरण कर जाते हैं। इस लोक तथा परलोक मे विधुर अथवा विधवा हो जाते है। ६६६ ॥ ६६७ ॥

अर्थ—इसलिये संसारके दुःखोंसे भयभीत पुरुषोंको चाहिये कि महान् दुःखकी देनेवाली दूसरोंकी निंदा न करे। न किसी धर्मात्मासें मिथ्या दूषण लगावें। न झूठ वचन बोलकर गुणोंका निन्हव करें। तथा देवपूजादि महान पुण्यकार्यमें प्रमाद न करे। सच्चा धर्मात्मा वही है जो निंदाके भयसे सत्य धर्मका त्याग नही करता है। प्राणात होनेपर भी जो अपने धर्मसे च्युत नही होता वही धर्मात्मा है।

अर्थः— हे श्रेणिक ! सोमशर्मा नामक एक ब्राह्मणकी लक्ष्मीमती नामकी पुत्रीने मुनियोंकी किंचित् निंदा की थी। उस निंदाके फलसे उसको उसी भवमें भयंकर कुष्टरोग होगया था। जिससे उसको महान दुःख प्राप्त हुआ और परलोकमें-वह मर कर कुत्ती, गधी-सूकरी आदि कुत्सित योनिमें भ्रमण कर महान दुःखको प्राप्त हुई। तथा

अमित्वा च खला तत्र प्राप्यातिदु खंततिम् । जनगमसुता पश्चाज्जाता च दु:खभोजका ॥ ६७३ ॥
मत्वेति भो स्त्रिय माच नरा: शर्मविनाशका । कदापि नैव कर्तव्या सर्वेषा स्वात्मशुद्धये ॥ ६७४ ॥
कार्यात स्वस्य निंदा भो स्वस्यैव पापघातका । उच्चगोत्रकरा नानाशर्मसंहतिदायका ॥ ६७५ ॥
परनिंदासमो लोके ह्यन्यत् पापहि प्राणिना । नास्त्येव तत्र कर्तव्य यदीच्छा शर्मसततेः । ६७६ ॥
यत्कलंक समापैव सीता शीलगुणान्विता । तद्धि निंदाप्रभावेण मा कुर्वंतु परस्य वै । ६७७ ।
खलाना सज्जनानाच ह्यन भेद पदृश्यते । खलेच्छा चेत्तदा कार्या परनिंदा ह्यनर्थदा ॥ ६७८ ॥

पीछे वह अनेक दु:खोंको भोगनेवाली चांडालकी पुत्री हुई । और किंचित् मुनिनिंदाका इतना महान कष्ट सहन करना पडा । इसलिये भव्य जीवो तथा स्त्रियों अपने आत्माको शुद्ध रखनेके लिये धर्म-धर्मायतन-साधर्मी भाई और मुनि आदिकी निंदा कभी भी नही करनी चाहिये ॥ ६७० ॥ ६७१ ॥ ६७२ ॥ ६७३ ॥ ६७४ ॥

अर्थः— जो अपनेसे पापकर्म अज्ञान या प्रमादसे हो जावे तो उसको दूर करनेके लिये अपनी आत्माकी निंदा करनी चाहिये । जिससे मोक्ष सुखका प्रदान करनेवाला ऊच गोत्रका बंध हो ॥ ६७५ ॥

अर्थः— परनिंदाके समान अन्य कोई पाप नही है । इसलिये अपने आत्मकल्याणके लिये या स्व-मात्र रूपसे भी किसीकी निंदा नहीं करनी चाहिये ॥ ६७६ ॥

अर्थ—सती शिरोमणी सीताको कलंकका योग प्राप्त हुआ इसका मूल कारण पूर्वभवमें गुरु-देव-और साधर्मीकी निंदा है ॥ ६७७ ॥

अर्थ—सज्जन और दुर्जन में मात्र यही एक भेद है कि सज्जन जन किसीकी निंदा नहीं करते है । और दुर्जन करते है । जो सज्जन बनना हो तो निंदा करना छोड देना चाहिए । ६७८ ॥

ये ये दुःखाश्च जायते प्राणिना दुखदायका । ते ते ज्ञेया शरीरेषु परनिंदाया भो फलम् ॥ ६७९ ॥
दुर्जनाना स्वभावोय परनिंदनतत्परा । स्वात्मदोप न जानंति ह्यनर्थधारकाश्च ते ॥ ६८० ॥
प्रत्यक्ष येत्र मूढा वै निंदा कुर्वंति सर्वदा । ज्ञेया श्वपचसा तुल्या स्वमतस्य क्षयकरा ॥ ६८१ ॥
एव सर्वे भविष्यंति कलौ भूप न संशय । स्वचित्ते मानयिष्यति वयं श्राद्धानिका खलु ॥ ६८२ ॥
ग्रथलोपेज पापेन ते च श्राद्धानिका[1] खलु । नरकावनौ च यास्यति सर्वेहि मगधेश्वर ॥ ६८३ ॥

अर्थ-जो जो दुःख शरीरमें प्राप्त होते है वे प्रायः परनिंदाके फलसे उत्पन्न होते हैं ॥ ६७९ ॥

अर्थ—दुर्जनोका स्वभाव ही निंदा करनेका होता है। परंतु वे अपने दोषोको नहीं जानते हैं । वे केवल अनर्थ धारण करनेवाले होते हैं। ६८० ॥

अर्थ—जो मनुष्य सर्वदा साधर्मी भाइयोंकी निंदा ही करते रहते है, एक प्रकारसे वे प्रत्यक्ष ही चांडालके समान हैं और अपने धर्मका नाश करनेवाले हैं। ६८१ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक कलियुगमें ऐसे निंदक मनुष्य बहुत उत्पन्न होंगे। जो जैन धर्म के धारकोंकी व जैन धर्मकी निंदा करेंगे। और अपनेको अपने आपही श्रावक मानेंगे ॥ ६८२ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर! ग्रथोका लोप करनेके पापसे श्रावकगण अवश्यही नरक वा निगोदमें जांयगे ॥६८३॥

---

१ ग्रथोंको असत्य ठहराना मानो ग्रथोंका लोप करना है! इसके समान संसारमें अन्य पाप नहीं है। आगमकी सत्यता व प्रामाणिकता सर्वज्ञ प्रभुकी सत्यतापर निर्भर है। सर्वज्ञ प्रभु वीतराग, त्रिकालमें उनकी प्रामाणिकता स्वत सिद्ध है। जो मनुष्य सर्वज्ञके वचनोंमें अपनी दुष्ट बुद्धिकी कल्पनासे असत्यता प्रकट कर प्रामाणिकता नष्ट करे तो वह आगमका या ग्रथका लोपी

यद्वत् वै ब्रह्मदत्ताख्य चक्री धर्मस्य लोपनात् । गतो हि सप्तमे श्वभ्रे नानादुःखभयाकिते ॥ ६८४ ॥

न्यायोयं लोकमान्य स्यात् यदुक्तं वचन वरम् । सर्वज्ञाज्ञाऽविरुद्ध यन्महता पुरुषेण वै ॥ ६८५ ॥

अर्थ--जैसे ब्रह्मदत्त नामके चक्रवर्ती ने जिनागम को असत्य ठहराकर जिनागमका लोप किया था तो वह पापके फलसे मरकर अनेक दुखोंसे परिपूर्ण ऐसे सातवें नरकमें प्राप्त हुआ ॥ ६८४ ॥

अर्थः-- यह एक साधारण न्याय है कि संसारमें लोगोंको वेही वचन माननीय होते हैं जो किसी महापुरुषके द्वारा सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अविरुद्ध कहे जाते । सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके विरुद्ध वचन कभी मान्य नहीं होते ॥ ६८५ ॥

है । उसके न तो आगमकी श्रद्धा है और न सर्वज्ञप्रभुकी । ऐसी अवस्थामें वह अपनी इन्द्रियजनित बुद्धिको ही कुत्सित तर्क और अनुमान जनित विचारसे स्थिर रखकर शास्त्रोंकी मिथ्या समालोचना कर पापका भागी बनता है । कितनेही ढोंगी--जिनधर्मकी श्रद्धासे रहित जैनसुधारक मिथ्यात्वके उदयसे शास्त्र और गुरुओंकी मिथ्या समालोचना करते हैं, सत्य शास्त्रोंमे अवर्णवाद लगाकर सर्वज्ञ प्रभुके आगमको असत्य ठहराना चाहते हे । उनको संस्कृत प्राकृतका ज्ञान नहीं है, आगमका श्रद्धान नहीं है । अपने आप श्रावक बनकर ब्रह्मदत्तके समान प्रत्यक्षमें पतित होरहे है ।

१ धर्मरहस्य सुलोचना आदि ग्रंथ, आगम ग्रंथोंका लोप करनेके अभिप्रायसे बनाये जारहे हैं । धर्मरहस्यके कर्ता तो मिथ्यादर्शनके प्रभावसे जैनधर्मसे बहिर्भूत हैं । उनके ज्ञानमें रजस्वला स्त्री जिनमंदिर जासक्ती है । ढेड और भंगीके साथ खाना पीना आदि तथा विधवाविवाह (व्यभिचार) आदि धर्मविरुद्ध आचरणोंको धर्मरूप कहलवानेके लिये महावीर स्वामी तथा गौतम गणधरका सवाद जोडा गया है । यह भी आगममें अवर्णवाद लगाकर आगमका लोप करना है ।

यदुक्तं वीतरागेण प्रोक्तं गणधरादिभिः । मर्यादायाश्च ग्रंथेषु तदेव सधृताः खलु ॥ ६८६ ॥
यत्याचारक्रिया सर्वाः श्रावकाणां क्रियास्तथा । पूजास्नानक्रियाश्चैव नानाशर्मप्रदायकाः । ६८७ ॥
भद्रबाहुर्माघनदी पूर्वांशधारको यमी । महापुराणकर्ता च जिनसेन ऋपीश्वरः ॥ ६८८ ॥
सुराचार्यो गुणभद्रो वै तत्पट्टाब्जदिवाकरः । सकलागमवेत्ता च मारवारणकेसरी ॥ ६८९ ॥
सीमंधरजिनेन्द्रस्य दर्शकः सयताग्रणी । नाम्ना श्रीकुंदकुंदो वै जिनधर्मप्रकाशकः ॥ ६९० ॥
वसुनंदी तथा धीरः सकलकीर्तिर्धर्मभाक् । शुभचंद्रो गुणैः पूर्णो मिथ्यामार्गविघातकः ॥ ६९१ ॥
इत्याद्यैर्वरयोगीन्द्रैः दिशावासोधरैः वरैः । पूज्यैश्च लेखसदोहैः फलादिगुणधारकैः ॥ ६९२ ॥
जिनधर्मप्रकाशार्थं मानमायाविवर्जितैः । भो बुधा जिनधर्मस्य वर्द्धनैककृतोद्यमैः ॥ ६९३ ॥
तत्क्रियोत्थापका किन्न यास्यति ये च सततु । श्वभ्रेषु दुःखपूर्णेषु नरा कापट्यपूरिता ॥ ६९४ ॥

अर्थः—जो सर्वज्ञ वीतराग अरहत भगवानने कहा हो और गणधरादि देवोंने प्रतिपादित किया हो तदनुकूल ही आचार्य परपरासे उन सर्वज्ञदेवकी मर्यादाको कायम रखनेवाले ही ग्रथ भव्य जीवोको मान्य करना चाहिये ॥ ऐसे आचार्य भद्रबाहु जिनसेन कुंदकुंद सकलकीर्ति आदि अनेको हुए है । ये सर्व धर्मके प्रकाश करनेमें अत्यत उद्यमी थे, इन्होंने मुनियोके आचरण निरूपण करनेवाले अनेक ग्रंथ बनाये है । तथा श्रावकों के आचरणोका निरूपण करनेवाले तथा कल्याण करनेवाले पूजा अभिषेक आदि की क्रियाएं बतलाई हैं । क्रियाओको जो कपटी मनुष्य उठा देना चाहते हैं उन क्रियाओंका लोप करना चाहते हैं वे अवश्य ही दुःखोंसे भरे हुए नरकोमें प्राप्त होगे ॥ ६८७।६८८।६८९।६९०।६९१।६९२।६९३।६९४ ॥

अथापरं शृणु भूप पठनीयं विभोः पुरः । स्तवनं तद्गुणप्राप्त्यै तद्गुणैर्मंडितं वरम् ॥ ६९९ ॥
प्रभोः स्तवनपाठेन सर्वाहा दुःखदायका । तत्क्षणात् प्रलयं यान्ति नागा खगेश्वरेक्षणात् ॥ ७०० ॥
विभोः गुणानुवादाढ्य नानाशर्मप्रदायकम् । पठतु सर्वदा भव्या, स्तवनं त्वघरोधकम् ॥ ७०१॥
कर्तव्या गानविद्या च मनोमोदाप्तये खलु । प्रभोः पुरो बुधैर्नित्य दुःखदावाग्निवारिदा ॥ ७०२ ॥
नृत्यं गान जिनस्याग्रे ये कुर्वन्ति नरोत्तमा । तेषा पुरो दिवि लेखा करिष्यंति सदा मुदा ॥ ७०३ ॥
गानविद्याप्रभावेण चित्तरोधश्च जायते । चित्तरोधात शुभं ध्यान ध्यानाद्धि परम पदम् ॥ ७०४ ॥

अर्थ—हे राजन् अब भगवानके समक्ष प्रभुके गुणानुवाद नामकी क्रियाको कहता हूं । जो मनुष्य भगवानके समक्ष प्रभुके गुणोका स्तवनो द्वारा गुणगान करता है वह प्रभुके गुणोको प्राप्त होता है ।

अर्थ—प्रभुके गुणोके स्तवन पठन पाठन आदि करनेसे समस्त पापोका नाश होता है । तथा देव विद्याधर आदि सब दुष्ट क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं ।

अर्थ—प्रभुके गुणानुवाद करनेसे अनेक सुख प्राप्त होते हैं इसलिये भव्य जीवोको भगवानका स्तवन अवश्य ही करना चाहिये ।

अर्थ—दुखःरूपी दावानल को बुझानेके लिये बादलोके समान प्रभुके गुणोका गान संगीत और वाद्यघोप आदि सब नित्यही करना चाहिये जिससे मनको प्रसन्नता हो ।

अर्थ—जो भव्य जीव भगवानके सामने नृत्य गान और सगीत आदि भाव भक्तिसे करते हैं उनका गान देवो से होता है ।

अर्थ—गान विद्यासे भगवानके गुणोमें चित्त सलग्न होता है । गुणों में चित्त सलग्न होनेसे शुभ ध्यान होता है और शुभ ध्यान से परम पद प्राप्त होता है ॥७०४॥

मत्त्वैव जिननाथाग्रे भो बुधा स्वात्मशुद्धये । स्तवन तद्गुणैर्युक्त प्रपठंतु त्रिशुद्धित ॥ ७०५ ॥
गात्राह पाठकाना क्षयमपि स्तवनस्यैव तस्य सुभक्त्या । दु खाना दानदक्षं सकलसुखहरं श्रीजिनेशै प्रहेयम् ॥७०६॥
पापाना घातनार्थं नरखचरपते श्रीजिनस्य प्रधीरा । यात्येवग्त सदा वै शिवसुखसदनप्राप्तये तत् पठतु ॥ ७०७ ॥
जपाभिधा क्रिया वच्मि शिवशर्मकरा वराम् । अतस्थिताघवृदानां नाशका त्वं शृणु मुदा ॥ ७०८ ॥
ॐ नम अर्हद्भ्यो नम ओं सिद्धेभ्यो नमोस्तुवै । आचार्येभ्य पाठकेभ्यः साधुभ्य सर्वदा नम ॥ ७०९ ॥
ओ ह्रीं श्रीं क्लीं भगवति सरस्वतिदेव्यै नमः । श्रीजैनधर्माय सदा नमोस्तु सः । सदा मे हृदि तिष्ठतु ।

इसलिये भव्य जीवोको अपनी स्वात्माकी विशुद्धि के लिये प्रभुके गुणोका गान अनेक प्रकार के स्तोत्रो द्वारा मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक करना चाहिये ।

अर्थ—जो पुरुष भक्तिपूर्वक श्री अरहंत भगवान के स्तोत्रोका पाठ करते है उनके, दु ख देनेमें चतुर समस्त सुखोको नाश करनेवाले और श्रीजिनेन्द्र देव द्वारा सर्वथा त्याज्य ऐसे शरीरसंबंधी समस्त पाप, दूर हो जाते है । इस लिये भव्य जीवोको अपने समस्त पाप दूर करनेके लिये देव विद्याधरोके स्वामी भगवान जिनेंद्र देवका मोक्ष सुख देनेवाला स्तोत्र सदा पढते रहना चाहिये ।

अर्थ—अब आगे जप क्रिया को कहता हू । जिससे भव्यजीवोको सुख प्राप्त होता है और समस्त पापोका नाश होता है । उसको हे राजन् ! श्रवण कर ।

अर्थ— ॐ नमः अर्हद्भ्यः । ॐ नम सिद्धेभ्यः । ॐ नमः आचार्येभ्यः । ॐ नमः पाठकेभ्यः । ॐ नम सर्वसाधुभ्यः । ये पंच परमेष्ठि के वाचक मत्र है । ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं भगवति सरस्वति देव्यै नमः । श्रीजैनधर्माय सदा नमोस्तु सः । सदा मे हृदि तिष्ठतु । यह सरस्वती मत्र है ।

ओं ह्रीं श्रीवृषभादिवर्धमानांततीर्थंकरेभ्यो नमोस्तु चित्तकल्पदानये ।

ॐ ह्रीं श्रीं सप्तर्द्धिमंडितगात्रा तुर्यज्ञानालंकृता प्रभूणा सन्निधौ यौवराज्यपदस्था वृषभसेनादिगौतमान्तगणधरा सकल-होनाशका श्रीवीतरागप्रकाशका स्वात्मतेजसा निर्जितार्का केशरीसमा प्रचंडमोहमदांधगजकरकेशरिणः प्रचंडमोहनगवज्रिणः अनेकगुणधारकेभ्यो नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु । ' इत्यादि

जिनधर्मधारकेभ्यो हतकर्मकलंकराजेभ्य सदा नमोस्तु । '

श्री जैनधर्मो जयतु । ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः । ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः । ॐ सम्यक्चारित्राय नमः । त्रय एते मे हृदि तिष्ठतु ।

ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिवर्द्धमानांततीर्थंकरेभ्यो नमोस्तु चित्तकल्पदानये । श्रीवृषभादि महावीरपर्यंत चौबीस तीर्थंकरोंको नमस्कार हो ।

अर्थ—जिनका शरीर सप्त ऋद्धियोंसे सुशोभित है, जो चार ज्ञानके धारक हैं भगवान अरहंत देवके समीप जो यौवराज्य अवस्थामें विराजमान है, जो समस्त पापोंका नाश करनेवाले हैं, वीतराग अवस्थाको प्रकाशित करनेवाले हैं, अपने आत्माके तेजसे सूर्यको भी जीतने वाले हैं, ससारमें सारभूत वीतरागता सहित हैं, कामदेवरूपी हाथीकेलिये जो केशरी सिंहके समान हैं, प्रचंड मोहनीय कर्मरूपी पर्वतके लिये जो वज्रके समान हैं, इत्यादि और भी अनेक गुणों से सुशोभित ऐसे वृषभसेन से आदि लेकर गौतम पर्यंत गणधर देवोंके लिये मैं तीन बार नमस्कार करता हूं ।

भगवान अरहंत देवके कहे हुए धर्मके धारण करनेवाले और कर्मरूपी कलंक को नाश करनेवाले श्री अरहंत भगवान में लीन ऐसे गणधर देवोंको मैं सदा नमस्कार करता हूं ।

श्री जैन धर्मकी जय । ॐ सम्यग्दर्शनको नमस्कार हो, ओं सम्यग्ज्ञानको नमस्कार हो, ओंसम्यक् चारित्र को नमस्कार हो । ये तीनो मेरे हृदयमें सदा विराजमान रहें ।

ओं ह्रीं आदिधर्मप्रकाशकाय श्रीवृषभनाथाय जिनेन्द्राय नमोस्तु । श्रीवीतरागाय नमः ।

समस्तकर्मरहिताय श्रीमते महावीरजिनेश्वराय सदा नम ।

ओं ह्रीं पंचपरमेष्ठिभ्यो नम —

ओं ह्रीं सर्वसिद्धान्तेभ्यो नम —

ओं श्रीसीमंधरप्रत्यक्षदर्शनप्रासाय भव्याब्जमार्तंडसदृशाय मारवारणकेशरितुल्याय नरामरपूज्यपादाब्जाय मिथ्यात्वतमोविध्वंसनतरणितुल्याय श्रीकुंदकुंदयतीश्वराय दिगम्बरधारकाय सदा नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु ।

श्रीवीतरागाय नम — श्री वीतराग परम देवको नमस्कार हो ।

इस अवसर्पिणी कालके प्रारंभमें सबसे पहले धर्मका स्वरूप प्रकाशित करनेवाले श्रीवृषभनाथ जिनेंद्र देवको बार बार नमस्कार हो ।

समस्त कर्मोंसे रहित अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीसे सुशोभित ऐसे जिनेंद्र श्री महावीर स्वामीको नमस्कार हो ।

ओं ह्रीं पंच परमेष्ठियोंको नमस्कार हो ।

ओं ह्रीं समस्त सिद्धान्तोंको मैं नमस्कार करता हूं ।

जिन्होंने श्री सीमंधर स्वामीका प्रत्यक्ष दर्शन किया है, जो भव्यरूपी कमलोंके लिए सूर्यके समान है, कामदेवरूपी हाथीको वश करनेके लिए केशरी सिंहके समान हैं। देव विद्याधर मनुष्य आदि सब जिनके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं, जो मिथ्यात्वरूपी अंधकारको नाश करनेके लिए सूर्यके समान है और जो केवल दिशारूपी वस्त्रोंको धारण करनेवाले अर्थात दिगम्बर है ऐसे श्री मुनिराज कुंदकुंद स्वामीको मैं बारबार नमस्कार करता हूं ।

व्युच्छ्वासेन जपति ये मन्त्रराज नरोत्तमाः । भजति ते चतुर्थेन षष्ठोत्तरशतप्रमम् ॥ १ ॥
अहो भव्या महाकाले दुःखेऽदुःखे इमं वरं । परमेष्ठिमन्त्रराज जपंतु शुद्धभावतः ॥ २ ॥
बहुना कथनेनालं सर्वाहोघातने क्षमम् । मंत्रराजसमं मन्त्र न स्याद्धि मन्त्रागमे ॥ ३ ॥
एका ह्यपि शिवाप्त्यर्थं कालकला सुपोषिता । प्रमादे नैव नेतव्या मंत्रराजादृते खलु ॥ ४ ॥
अतो भव्या जपन्तं वै मन्त्रमिदं जिनोद्भव । महामन्त्रसमं ध्यात्वा नानादुःखविनाशकम् ॥ ५ ॥
ये नरा न जपंत्येव मंत्रराज जगन्नुतम् । पशुसमा मतास्ते हि विवुधैर्मतिवर्जिता ॥ ६ ॥
कुरुध्वं मोक्षप्राप्त्यर्थं जाप मंत्रस्य भो बुधा । शक्त्यनुसारतः शुद्धया मत्वेति शिवदायक ॥ ७ ॥
मन्त्र दुर्गतिनाशकं पापहरं जैनेन्द्रवक्त्रोद्भवम् । दुःखार्तकविनाशक मुनिनुत स्वर्गापवर्गप्रदम् ॥
संसारार्तपघानने पवमम नानर्द्धिसंपादकम् । त्वक्त्वान्य सुमतयः सततं प्रतिदिन नेम जपन्तु खलु ॥ ८ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव णमोकार मंत्रको ३ श्वासमें जपता है तथा इसी प्रकार एकसौ आठ बार जपता है वह सर्वोत्कृष्ट मोक्ष फलको प्राप्त होता है। णमो अरहंताणं णमो सिद्धाण—यह प्रथम श्वासोच्छ्वासमें, णमो आयरीयाणं णमो उवज्झायाण—यह द्वितीय श्वासोच्छ्वासमें, णमो लोए सव्वसाहूणं—यह तृतीय श्वासोच्छ्वासमें जपना चाहिए। हे भव्यजीवो इस पचपरमेष्ठी वाचक मन्त्रराजका जप दुःख सुख सब समयमें एकाग्र मनसे शुद्ध भावसे करो। इससे समस्त प्रकारके पाप सहजमें विलीन होजाते हैं और सर्व प्रकारकी सिद्धि स्वयमेव प्राप्त होजाती है। इसके बिना अपने जीवनकी एक घडी भी व्यर्थ कभी मत खोओ। इस मत्रके समान ससारभरमें अन्य कोई मत्र नहीं है।

अर्थ—जप क्रियाको बतलाकर अब ध्यान क्रियाका स्वरूप बतलाते हैं। ध्यानके समान समस्त प्रकार सुखों को प्राप्त करनेवाला और दुःखोंका नाश करनेवाला अन्य कोई धर्म नहीं है ॥ ८ ॥

ध्यानकी विधी—

ध्यानाख्या वह्नि हे भव्य क्रिया सकलदु खहाम् । यत्सम नापरं धर्म गृहस्थाना जिनागमे ॥ ९ ॥
पद्मासनेन सस्थित्वा त्यक्त्वा सर्वविकल्पकम् । एकाते शुद्धभूमौच सन्निधौ वा प्रभो मुदा ॥ १० ॥
मानस्तभादिस्तूपाता सभाद्वादशमडिताम् । सर्वा समवसारस्य रचना देवजा खलु ॥ ११ ॥

अर्थ—इसलिये हे भव्य जीवो भगवान जिनेंद्र देवके कहे हुए तथा समस्त दुःखोको दूर करनेवाले ऐसे मत्रोको हजारो लाखोकी सख्यामें जप करो। जो मनुष्य समस्त संसारद्वारा पूज्य ऐसे मत्रराजका—नमस्कार मत्रका जप नही करते है वे बुद्धिहीन तथा पूछ रहित पशुओंके समान है। हे विद्वानो यह नमस्कार मत्र का जप मोक्ष देने वाला है इसलिये मोक्षकी प्राप्तिके लिये अपनी शक्तिके अनुसार शुद्ध भावोसे इसका जप अवश्य करो। यह भगवान जिनेंद्र देवका कहा हुआ नमस्कार मत्र समस्त दुर्गतियोको दूर करने वाला है, पापोका नाश करनेवाला है, रोग और दुःखोको दूर करने वाला है, मुनिराज भी इसको नमस्कार करते है, यह स्वर्गमोक्षके सुख देनेवाला है, ससाररूपी अग्नि को शांत करनेके लिये मेघके समान है, और अनेक ऋद्धियोको देनेवाला है। इसलिये हे विद्वानो अन्य सब मत्रोको छोडकर प्रतिदिन इस मत्रका जप करो ॥ ९ ॥

अर्थ—सर्वांग शुद्ध होकर—मन वचन कायकी सर्व प्रकारकी शल्य मिटाकर—स्वस्थ चित्त होकर—समस्त प्रकार की चिंताओको छोडकर—और सकल्प विकल्पोका सर्वथा त्यागकर निराकुल होकर निराबाध स्थानमें पवित्रताके साथ पवित्र भावोसे पद्मासनपूर्वक ध्यान करनेके लिये स्थिर चित्तसे बैठना चाहिये। अथवा अरहंत प्रभुके समक्ष ध्यान करना चाहिये ॥ १० ॥

चिंतनीयं त्रिधा शुद्धया चित्तकल्मषहानये । ततः शास्त्रानुसारेण पश्चात् सिद्धपदाप्तये ॥ १२ ॥
गंधकुट्युपरिमध्ये तत्प्रहाटकनिर्मिते । सिंहासने निरौपम्ये मेरुवत्समुन्नते ॥ १३ ॥
तस्योपरि निरौपम्यं सर्वबाधाविवर्जितं । सर्वैराराधितं च वृषभादिजिनेश्वरम् ॥ १४ ॥
चतुरंगुलनभःस्थं तस्मादपि प्रभास्वरं । जिनेन्द्रनागेन्द्रार्च्यं चतुःषष्टिचामरैर्युतम् ॥ १५ ॥
वसु वै प्रातिहार्यैः चतुर्वक्त्रविभूषितं वरं । मेघवद् गर्जनायुक्तं सप्ततत्त्वप्रकाशकम् ॥ १६ ॥
अनंतमहिमोपेतं यतीश्वरनमस्कृतम् । अष्टादशमहादोषवर्जितं विबोधकम् ॥ १७ ॥
सौम्यरूपं दयारूपं शस्त्राभरणवर्जितम् । निर्भयं निर्विकारं च मानमायाविवर्जितम् ॥ १८ ॥

अर्थः— सबसे पहले मानस्तंभसे लेकर स्तूपपर्यंत समवसरणकी देव रचित सब शोभाका चिंतवन करे फिर सिद्धपद प्राप्त करने और सब पापोंको दूर करनेके लिये शास्त्रानुसार श्रीमंडपका चिंतवन करे। मध्यमें एक गंधकुटी उसपर मेरु पर्वतके समान उपमारहित सुवर्णमय सिंहासन है। उसपर चार अंगुल ऊपर अधर सब उपमाओंसे रहित तथा बाधाओंसे रहित भगवान वृषभदेव विराजमान हैं। देव विद्याधर इन्द्र नागेंद्र सब उनकी पूजा कर रहे हैं। चौसठ चमर उनपर ढुल रहे हैं। आठ प्रातिहार्य शोभायमान हैं। चारों ओर चार मुख शोभायमान हैं। मेघकी गर्जनाके समान जिनकी दिव्य ध्वनि खिर रही है। जो सातों तत्वोंको प्रकाशित कर रहे हैं। अनंत महिमा संयुक्त विराजमान हैं, सब मुनिराज जिनको नमस्कार करते हैं, जो अठारह दोषोंसे रहित हैं, पूर्ण ज्ञानरूप हैं, सौम्य हैं, दयामय हैं, वस्त्राभरण रहित हैं, निर्भय हैं, निर्विकार हैं, मानमायासे रहित हैं, मोह रहित हैं, तीनों लोकोंके स्वामी हैं, पूज्यपाद हैं, घातिया कर्मोंसे रहित हैं, सब जीवोंको पार कर देनेवाले, सब जीवोंको निर्भय करनेवाले, समस्त कर्मरूपी अग्निको शांत करनेके लिये मेघके समान, शुद्ध और मोक्षमार्गको प्रगट करनेवाले भगवान विराजमान हैं—ऐसा ध्यान प्रतिदिन

विमोहं सर्वलोकेशं पूज्यपाद निरजनं । तारकं मर्वजोवाना सर्वजीवाभयकरम् ॥ १९ ॥
ईदृश ह्यात्मनि भव्या' सर्वकर्माग्निमेघदम् । शिवमार्गकर शुद्धं चिंतयंतु दिन प्रति ॥ २० ॥
अनेन ध्यानयोगेन सर्वाहो दु खदायकम् । तत्क्षणात् प्रलय याति ध्यानिना वज्रतो नगा. ॥ २१ ॥
कुरुथ सकलभव्या भावतश्चात्मशुद्धयै । परमरसयुताना ध्यानमानदरूपम् ॥
शिवयुवतिविलासादायक धीरध्येय । सकलकलुपवन्हे मेघपुष्पोपमं वै ॥ २२ ॥
पष्ठीं च क्रिया वक्ष्येह महदानददायकाम् । यत्प्रसादात्तरंत्येव सर्वे जीवा भवात् खलु ॥ २३ ॥
वीतरागमुखोद्गीतान् ग्रथितान् मुनिनायकै । ख्यातपूजाव्यतिक्रातचित्तैर्मायाविवर्जितै, ॥ २४ ॥

करना चाहिये । इस प्रकार ध्यान करनेसे जिसप्रकार वज्रसे पर्वत चूर चूर हो जाते हैं उसी प्रकार दुःख देनेवाले सब पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाते है । यह ध्यान मोक्ष देनेवाला है । समस्त पापरूपी वन्हिके लिये मेघके समान है, धीर वीर पुरुष ही इसका चिंतवन कर सकते हैं और आत्मरसास्वादियोके लिये यह आनंद देनेवाला है । ऐसे ध्यानको भो भव्य हो शुद्ध भावोसे प्रतिदिन करो ।

अर्थ--गृहस्थोकी षष्ठी क्रिया स्वाध्याय है । स्वाध्याय सब क्रियाओ से अधिक आनद प्रदाता है । जिस स्वाध्यायके प्रसादसे भव्य जीव संसार समुद्रसे पार होते है ।

स्वाध्यायके ग्रथ कैसे होने चाहिये ?

जो ग्रथ– श्रीवीतराग सर्वज्ञ अरहंत भगवानकी दिव्य ध्वनि के ही प्रतिरूप हो और जिनकी रचना मुनीश्वरोने की हो और वह राग द्वेषके वश या अपनी पूजा प्रतिष्ठा बढानेके लिये नहीं की हो अथवा जो ग्रंथ स्वार्थ या किसी मतलबके कारण स्वकल्पित बातोसे न बनाये गये हों । जिनमें मात्र एक श्री जिनेन्द्र भगवानकी वाणी की ही

त्यक्तलोभैर्दिशावासोधरैर्मार्गप्रभावकै । ग्रंथान् भव्याः गुरोरास्यात शृणुध्वमीदशान् वरान ॥ २५ ॥
त्रिषष्टिपुरुषाणा च पुराणं वा चरित्रकम् । चान्येपा मनुजाना वै श्रोतव्यं वासरं प्रति ॥ २६ ॥
श्रावकाचारग्रंथं वै सर्वाचारप्ररूपकम् । गृहस्थै कर्मनाशार्थं नित्य पापविनाशक ॥ २७ ॥
शास्त्राणा श्रवणात्सर्वाः क्रिया स्वर्मोक्षसाधिका । जानात्येव ह्यय प्राण्यभिषेकाद्यास्तथा बुधा ॥ २८ ॥
पात्रापात्रस्य भेदंच हेयोपादेयक तथा । सुखासुखस्य भेद वै मार्गामार्गस्य लक्षणम् ॥ २९ ॥
चतुर्धादानभेदच मुनिमार्गं च तक्रियाम् । सल्लेखनाविधिं सर्वं नाकमोक्षस्य लक्षणम् ॥ ३० ॥

रचना हो, मायाचार या लोभ से जिन ग्रथो में दिव्यध्वनी से विपरीतता न हो, जो जैन धर्मके सत्य स्वरूपको प्रतिपादन करने वाले हो ऐसे ग्रथोका स्वाध्याय गुरुमुख से ही श्रवण करना चाहिये।

जिन ग्रंथोमें त्रिषष्टि शलाका पुरुषोंका पवित्र जीवन चरित्र हो। अथवा पुण्यपुरुषोका आदर्श चरित्र हो। श्रावकाचार और यत्याचार के द्वारा जिनमें गृहस्थोके समस्त आचरणोकी आज्ञा प्रतिपादित की हो।

शास्त्रो का स्वाध्याय करनेसे गृहस्थो की पवित्र क्रियाओ का ज्ञान होता है, जिससे विवाह विधि खानपान का आचरण और अपने समस्त कर्तव्यो को धार्मिक समझ कर भव्यजीव उनको आगमके अनुकूल ही रखने में अपनी पवित्रता मानते है षट् आवश्यक कर्मोंका परिज्ञान शास्त्र श्रवणसे ही होता है जिससे जिनेंद्र भगवानके पवित्र अभिषेक विधि पूजनविधि—जिनयज्ञ विधियोका स्वरूप सत्य सत्य जाना जाता है। पात्र अपात्र—दान कुदान–पुण्य पाप–हित अहित—कर्तव्य अकर्तव्य सदाचार दुराचार—मार्ग कुमार्ग—नीति अनीति—सत्य असत्य आदि बातो का सम्यक् परिज्ञान शास्त्र स्वाध्याय से ही होता है। मुनियो का मार्ग सल्लेखना विधि क्रियाका ज्ञान भी स्वाध्याय से ही होता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का स्वरूप स्वाध्यायसे जाना जाता है।

सम्यग्दृग्ज्ञानव्रत्तस्य स्वरूप शिवदायकम् । पुण्यापुण्यस्य भेदंहि देवादेवस्य लक्षणम् ॥ ३१ ॥
ग्रथाग्रंथ तथा शीलस्वरूपं गात्रमंडनम् । परलोकस्वरूपच गुणस्थानादिवर्णनम ॥ ३२ ॥
पट्धाजीवनिकायाना लक्षणं जीवरक्षणं । भक्ष्याभक्ष्यप्रभेद च ह्यात्मरूप सदास्थिरम् ॥ ३३ ॥
विवेकमविवेकत्व ज्ञानाज्ञानप्रलक्षणं । सप्ततत्वस्य भेद च कर्मप्रकृतिलक्षणम् ॥ ३४ ॥
बधाबंधस्वरूप न चर्चाचर्चादि लक्षणम् । इत्याद्यन्यत्स्वरूप च भव्याभव्यस्य लक्षणम् ॥ ३५ ॥

ब्रह्मचर्यका स्वरूप भी स्वाध्यायसे मालूम होता है और उसके विरुद्ध विधवा विवाह जैसा व्यभिचार तथा और भी प्रकारकी मलिनता स्वाध्यायसे जानी जाती है।

गुणस्थान जीवस्वरूप जीवो की दया भक्षाभक्षविचार आदि समस्त वाते स्वाध्याय से जानी जाती है।

विवेक और अविवेकका स्वरूप ज्ञान अज्ञानका स्वरूप बंध अबधका स्वरूप भी स्वाध्याय से जाना जाता है स्वाध्यायसे ही कुशिक्षा और आत्मज्ञान रहित शिक्षाको ज्ञान स्वरूप नहीं जानता और न उसको हितरूप समझता है। ये सब वातें शास्त्रोके स्वाध्याय से सत्य २ जानी जाती हैं।

इसलिये श्रीजिनेन्द्र देवके परम पवित्र आगमका ही स्वाध्याय पठन करना चाहिये जिससे पुण्यकी प्राप्ति हो और पाप क्रियाओ का परित्याग हो।

ग्रंथों के स्वाध्याय करनेका एक यही अभिप्राय है कि स्वाध्यायके पवित्र ज्ञान से पापक्रिया और आगम-विरुद्ध विचारों का परित्याग कर आत्माकी वास्तविक उन्नतिका मार्ग शोधन कर आत्मकल्याण करें। न कि ससारको बढाने वाली क्रियायों का विचार कर अपनेको मोक्षमार्ग से गिरावें। वही ज्ञानी है उसीने शास्त्र स्वाध्यायका लाभ लिया है कि जिसने शास्त्रके स्वाध्याय से अपने मलिन विचारों को छोड दिया है।

पश्यत भो बुधा ह्येतत् प्रभावमागमस्य वै । कान्यरेगान्सर्वं ग्रंथानां श्रवणात् भवेत ॥ ३६ ॥
शृणुध्व प्रतिघ्नं वै भो भव्या कल्मपापह । श्रीजिनेन्द्रमुखोत्पन्नं ग्रंथ वैराग्यदायकम् ॥ ३७ ॥
ग्रथान् श्रीजिनवक्त्रजानघ्नान् संसारवि वमञ्जान । धर्माचारप्ररूपकान् मुनिनुतान वद्यान पुरन्द्रादिभिः ।
मिथ्यामार्गविघातकान नरवरैः सेव्यान् शुभान भो बुधाः । ससारातपनाशने प्रतिदिन गृंथं शृणु त्व खलु ॥ ३८ ॥

जिनमें केवल तमाशे भरे हैं, जो ब्रह्मचर्य का नाश करने वाले हैं, वीररससे भरे हैं अशुद्ध हैं, [illegible] भरे हैं, जिनका आदि अंत कुछ नहीं है, जो राग मोहको बढानेवाले हैं, जिनमें दयारहित जीवोंकी कथाएं भरी हों जो बुद्धिको नाश करने वाले हो, जो कुदान का निरूपण करते हो, जो हेयोपादेय पदार्थोंके ज्ञानसे रहित हों, जिनमें उन्मत्तपुरुषके वचनोंके समान संबंधरहित कथन हो, जो ससारको बढाने वाले हों, क्रिया कर्मके उपदेशसे रहित हों, क्रोध मानादिके बढाने वाले हों, धर्मके स्वरूपसे रहित हों, अधर्म की पुष्टि करने वाले हों, दुर्गति के देनेवाले हों, तत्वज्ञानी विद्वानोंके द्वारा त्याज्य हों, जो मोक्षमार्गको रोकनेवाले हो, लोभी पुरुषोंने अपनी कल्पनासे बनाये हो और कुमार्गको बढानेवाले हों ऐसे ग्रंथ विद्वानोंको कभी नहीं सुनने चाहिये। जो ग्रंथ धर्मका नाश करनेवाले हैं, पापके कारण हैं, समस्त विद्वानोंके द्वारा निंद्य हैं, सत्य रहित हैं, पापबंध करनेवाले हैं, सब सुखोंको नाश करनेवाले हैं, सब दोषोंसे भरपूर है, जो निंद्य है और आत्मज्ञानसे रहित, इन्द्रिय सुखोंमें लीन रहनेवाले धूर्त लोगोंके बनाये हुए है ऐसे ग्रंथ विद्वानोंको कभी नहीं पढना चाहिये।

अर्थः—अरहंत भगवान के मुख कमल से प्रतिपादित ग्रंथ संसारका नाश करनेवाले हैं, मिथ्यामार्गका नाश करनेवाले हैं, मुनियोंके द्वारा वंद्य हैं, इन्द्रादिकोंके द्वारा पूज्य हैं, सबका कल्याण करनेवाले हैं और सबके द्वारा पूज्य हैं इसलिए भव्य जीवोंको संसारके समस्त दुःख दूर करनेके लिए ऐसे ग्रंथोंका स्वाध्याय प्रतिदिन करना चाहिए ॥ ३८ ॥

कौतूहलभूतं अथ ब्रह्मचर्यविनाशकम् । वीररसभृताशुद्ध कुकथाव्रातमडितम् ॥ ३९ ॥
आयोगानविहीन वै रागमोहविवर्धकम् । निर्दयादिकथावृद्कथकं बुद्धिनाशदम् ॥ ४० ॥
कुदानकथक हेयोपादानसुवर्जितम् । मतान्तरकथक चैव ससारभ्रमकारणम् ॥ ४१ ॥
क्रियाकर्मविहीनं च मानक्रोधादिकारणम् । सद्धर्मगमहीन च कुधर्मपथपोषकम् ॥ ४२ ॥
दुर्गतिदायक हेय बुधैरत्र विदाम्वरै । स्वमनःकल्पोक्तितस्तैश्च प्रणीत लोभधारकैः ॥ ४३ ॥
भो बुधा चेदश नित्य शिवमार्गप्रपातद । कुमार्गवर्द्धक त्याज्य मा शृणुथ कदाप्यहो ॥ ४४ ॥
धर्मघ्नं पापबीज सकलसुखजने सत्वहीन विनिंद्य । पापाना बधहेतु सकलसुखहरं सर्वदोषै प्रयुक्तम ॥ ४५ ॥
धूर्तैर्यच्च प्रोक्त करणसुचरतैश्चात्मविद्याविहीनै । नित्य वा मा पठन्त बुधजननिकराश्चेदृशं वै कदापि ॥ ४६ ॥
प्रतिघस्र गृहस्थाना पुकर्तव्या षट्क्रिया । जिनागमेहि कथिता शुद्धा पापप्रणाशिका ॥ ४७ ॥
षट्या दुष्कृतनाशार्थं षट्क्रिया भो बुधोत्तमा । कुर्वीध्व पूर्वकालेहि शिवशर्मकरा वराम ॥ ४८ ॥
पापकार्यं प्रकुर्वन्ति ते ये नरा तेऽधमा मता । सर्वदुःखप्रद हेय धर्मस्य खलु न क्रिया ॥ ४९ ॥

अर्थ—प्रत्येक दिवस गृहस्थोंको करने योग्य ये षट्क्रियायें जिनागममें कही है, ये पापको नाश करनेवाली और परमपवित्र हे ॥ ४६ ॥

अर्थ—गृहस्थोंका आरंभ और पचशूना पापसे छह प्रकार के पाप नित्य प्रति लगते हैं। उनकी निवृत्तिके लिये समस्त प्रकारके सुखोंको प्राप्त करानेवाली आवश्यक षट्क्रियाए अवश्य ही करनी चाहिये॥ ४७ ॥

अर्थ-जो मनुष्य पाप कार्यके करनेमें रत है वे अधम है। यह पापकर्म सब तरहके दुःख देनेवाला है इसलिये त्याज्य है। परतु धर्मकी क्रिया कोई भी त्याज्य नही है। ४९ ॥

षट्कार्येण भवेत् पापं तथा धर्मोपि भो बुधा । समत्वता गृहस्थाना भवेता द्वौ यदा खलु ॥ ५० ॥
यदहो धर्मकार्योहि वर्द्धत्येन तदा भवेत् । नाकलोकस्य संप्राप्ति पारपर्यात शिवस्य वै ॥ ५१ ॥
यदहो वर्द्धता याति तदा प्राप्ति भवेत खलु । अधोगतेरहो भव्या निकोतस्य ह्यनुक्रमात् ॥ ५२ ॥
अतो द्वयो फल ज्ञात्वा प्रातःकाले बुधोतमाः । प्रतिपक्षाद्दोनाशाय कुरुध्वं षट्क्रिया वराम् ॥ ५३ ॥
षट्क्रिया ये प्रकुर्वन्ति मतास्ते गृहनायका । आगमं जिननाथेन तेच धर्मप्रभावका ॥ ५४ ॥
अतो श्राद्धानिका यूय कुरुथ षट्क्रिया वरा । भवता यदि श्रद्धा स्यात प्रधाना वै दृगाप्तये ॥ ५५ ॥

अर्थ—कृष्यादिकार्यमे पाप ही होता है। धर्म कार्य मे धर्म होता है। तथा गृहस्थोंमे दोनों हो सकते है इसलिये गृहस्थोंको पापोंको दूर करनेके लिये धर्मकार्य अवश्य ही करना चाहिये ॥ ५० ॥

अर्थ—जब धर्मक्रियाए बढती है तब ही स्वर्ग सुख प्राप्त होते हैं और परपरासे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ५१ ॥

अर्थ—जब पापकर्म बढ जाते है तब यह जीव अधोगतिको प्राप्त होता है । और अनुक्रमसे निगोद पर्यायको प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

अर्थः— पाप कर्मोका फल दुःखकी प्राप्ति और धर्मक्रियाका फल सुखोंकी प्राप्ति है । इस लिये पाप क्रियाओका परित्याग कर नित्य हो षट् आवश्यक क्रियाओंको भावपूर्वक करना चाहिये ॥ ५३ ॥

अर्थः— जो भव्य जीव षट् आवश्यक क्रियाओंका पालन भावभक्तिसे नित्य प्रति करते है वे सद्गृहस्थ माने गये है । जिनेन्द्र भगवानने उनको भव्य माना है। और उनसे ही धर्मकी प्रभावना होगी ॥ ५४ ॥

अर्थः— हे भव्य श्रावक हो ! इसलिये आप षट् आवश्यक क्रियाओका पालन नित्य ही अपनी शक्तिको न छुपाकर भावभक्तिसे करो जिससे जिनागममें श्रद्धा हो । तथा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो ॥ ५५ ॥

प्रत्यक्ष पश्यथ यूयं मर्वग्रथेपु निश्चयात् । महापुराणचरितश्रावकाचारमुख्येपु ॥ ५६ ॥
सर्वत्र वर्णिताः श्रीमज्जिनसेनादियोगिभि । दिशाबधरै धीरै: मिथ्यामार्गविघातकैः ॥ ५७ ॥
सर्वत्र वर्णिता शुद्धा गृहस्थाना क्रिया वरा । पालनार्थं प्रतिदिनं ह्यागमे शिवदायका ॥ ५८ ॥
स्नानाद्या कथिता शुद्धा गृहस्थाना क्रिया वरा । पालनार्थं प्रतिदिनं ह्यागमे शिवदायका ॥ ५९ ॥
भवद्भि केन ग्रथेन वक्तव्य खलु लोपिता । पट्क्रिया जिननाथेन इमा प्रोक्ताश्च गेहिना ॥ ६० ॥

अर्थः— हे भव्य जीवो ! यह बात सबको प्रत्यक्ष है और ग्रंथोसे भी सबको निश्चय है । महापुराण और श्रावकाचार आदि मुख्य ग्रथों मे ये क्रियाए स्पष्ट बतलाई है ॥ ५६ ॥

अर्थ—ये क्रियायें आगममें सर्वत्र कही है । और मिथ्यामार्ग को नाश करनेवाले श्रीमज्जिनसेनाचार्य आदि दिगम्बराचार्यों ने कही हैं ॥ ५७ ॥

अर्थ—गृहस्थो केलिये आगममें प्रति दिवस करने केलिये आवश्यक षट क्रियाएं प्रतिपादन की हैं । उनसे इस लोकमे सुख और परलोकमे सद्गति प्राप्त होती है और क्रमसे मोक्ष भी होती है ॥ ५८ ॥

श्रीमज्जिनेन्द्र भगवानको पचामृत रसोंसे अभिषेक पूर्वक पूजा आदि उत्तम क्रियाएं गृहस्थो को नित्यही करनी चाहिये जिससे मोक्षके सुखकी प्राप्ति हो ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो लोग स्नानादि क्रियाओंका निषेध करते है उनसे पूछना है कि आपने किन ग्रथोमे स्नानादि क्रियाओ का निषेध देखा है ? आगममें तो किसी भी ग्रंथमें निषेध नहीं है । बल्कि समस्त ग्रथोमें इसका विधान ही मिलता है । जब समस्त ग्रथोंमें विधान है तो फिर लोप क्यो करते हो । भगवान जिनदेवने बतलाई हुई क्रियाओंका लोप करना ठीक नहीं है ॥ ६० ॥

स्यात् यदि दृढश्रद्धा वै भवतामागमस्य च । कुरुध्वं जिननाथस्य पट्क्रिया वासर प्रति ॥ ६१ ॥
त्यजध्व हृदयोक्ति च वसुभूपालवत् खलु । ग्रथाना लोपन मूढा मा कुरुध्व मतापहम् ॥ ६२ ॥
मतिश्रुतावधिनेत्र धारकाणाच योगिनाम् । गृहस्थधर्मव्याख्यान कुर्वता च विभानिनाम् ॥ ६३ ॥
तेषा नैव ह्यहो मूर्खा दोषो दृष्ट किमप्यहो । अभिषेकादिसर्वासु क्रियासु विदितेषु वै ॥ ६४ ॥
भवता नैव भो मूढा मतिज्ञानादिसद्गुणा । चाल्पमात्रापि दृश्यते सर्वद्वापरनाशका: ॥ ६५ ॥
वक्तव्य केन ज्ञानेन भवद्भि मतिवर्जितै । किं दृष्टश्च प्रदोषो वै अभिषेकादिषु खलु॥ ६६ ॥

अर्थ—यदि आपके जैन आगममें दृढ श्रद्धान है तो जिनवर देव प्रतिपादित पट्क्रियाओंको नित्य प्रति भाव भक्ति से करना चाहिये ॥ ६१ ॥

अर्थ—अपने कल्पित विधिको ही सत्य मानकर जिनागम का लोप करना वसु राजाके समान दुःख को प्रदान करने वाला है। इस लिये भव्य जीवो को ग्रथका लोप नही करना चाहिये ॥ ६२ ॥

अर्थ—मति श्रुत और अवधिज्ञानके धारक मुनीश्वरोने गृहस्थधर्मका व्याख्यान करते समय पट्क्रियाओ का वर्णन किया है। इन पट्क्रियाओमें उन्हे कोई दोप दिखाई नही दिया। इसलिये जो भव्यजीव इन क्रियाओको नही करते है—श्रीजिनेंद्र भगवान का अभिषेक नही करते वे मूर्ख है।

अर्थ—हे भोले जीवो आप लोगोमें समस्त संदेहोको दूर करनेवाले मतिज्ञान आदि सद्गुण थोडी मात्रामें भी नहीं है फिर आप किस आधार पर अभिषेक आदि क्रियाओका निषेध करते है।

अर्थ—आप लोग शास्त्रके ज्ञानसे रहित है फिर आप किस ज्ञानसे अभिषेकादि क्रियाओका निषेध करते है। क्या किसी शास्त्रमें इन क्रिया सबंधी दूषण आपने देखा है ? जो निषेध करते हैं।

दोषः किं स्यात् प्रभोः पादलेपने चदनादिभि । दीपस्योद्योतने किंच जिनाकयक्षपूजने ॥ ६७ ॥
धूपोत्करस्य दहने निशायाः पूजने तथा । जिनात्तपुरुषाणा च वात्सल्ये मार्गवर्द्धक ॥ ६८ ॥
पुष्पोत्करैः जिनेन्द्रस्य पादाब्जपूजने खलु । केलाम्रगोस्तनी चान्यत्फलोकरै प्रपूजने ॥ ६९ ॥
इत्याद्या या क्रिया सर्वा जिननाथेन वर्णिता । आगमे तत् भवद्भिश्च त्यक्ता भो मूढवुद्धित ॥ ७० ॥
अतो यूय जिनेन्द्रस्य आज्ञाघ्नाश्च कुमार्गगा । न श्रद्धा निष्फला जाता जिनाज्ञालोपत खलु ॥ ७१ ॥
यत्राज्ञा न च तत्रापि धर्मलेशोपि नास्ति वै । अतो यूय कुश्रद्धाया पालकाश्च न सशय ॥ ७२ ॥
यदि स्यात् दृढश्रद्धा वै भवतां तत वचनस्य च । तदा ह्यगीकुरुध्व भो स्नपनादिकसत्क्रिया ॥ ७३ ॥

अर्थ— प्रभुके चरण कमलोपर चदन का लेप करना, दीपको चढाना, और जिनशासन देवोकी पूजा करना ये सब धार्मिक क्रियायें है जिनेन्द्र भगवानने कही है निर्दोष है।

अर्थ—रात्रिमें धूपका चढाना, पूजन करना, और जिन मुद्राधारक पुरुषोका मोक्षमार्ग बढानेवाला वात्सल्य करना यह सब क्रिया उत्तम है निर्दोष है और शास्त्रविहित है।

अर्थः— इसी प्रकार पुष्पोसे भगवानके चरणकमलोकी पूजा करनी चाहिये। केला, आम द्राक्ष आदि उत्तम फलोसे पूजा करनी चाहिये। इत्यादि समस्त विधि जिनदेनने वतलाई है उसका लोप करना भगवानकी आज्ञाका लोप करना है। जो मनुष्य भगवानकी आज्ञाका लोप करता है उसके सम्यग्दर्शन नही रहता है ॥६७।६८।६९ ॥

अर्थः— जहांपर अज्ञान है वहां धर्मका लेश मात्र भी पालन नही है। इसलिये जो लोग इन क्रियाओको छोड देते है वे मिथ्या श्रद्धानके पालन करनेवाले समझे जाते हैं ॥ ७० ॥

अर्थः— जो आपको आगमकी श्रद्धा है तो अभिषेक आदि पद क्रियाओको स्वीकार करो ॥ ७१ ॥

आम्न्यापयय मूढा॰ कस्याज्ञाया स्नपनादिका॰। यूय त्यक्ता क्रिया मुख्या ग्रथपक्षं प्रदर्शयेत ॥ ७४ ॥
ग्रंथानुसारत॰ त्यक्ता॰ वदध्वं च क्रिया खला । इमे यूय तथा किं न स्वमते सारत खलु ॥ ७५ ॥
जिनाननसमुत्पन्नग्रंथाज्ञा भुवने त्रये । देवेन्द्रा वा नरेन्द्राश्च नागेन्द्रा खनरश्वरा ॥ ७६ ॥
सर्वे ते मानयत्येव नि शका निखिलार्थदाम् । मतिश्रुतावधिज्ञिप्तिशुद्धदृग्धारका ननु ॥ ७७ ॥
क्वचिदपि जिनेन्द्रस्य चाज्ञा कुर्ने सुरेश्वरा । न कुर्वन्त्यपर कार्य नानाभवप्रदायकम् ॥ ७८ ॥
यूयं वदथ भो मर्त्या पारंपर्यात्समागता । भवद्भिरभिषेकाद्या॰ कथमुत्थापिता खलु ॥ ७९ ॥
सुरेन्द्राणामपि नैव सामर्थ्यं स्यात्कदाचन । जिनाज्ञालोपने मूढा भवद्भि लोपिता कथं ॥ ८० ॥

अर्थः— यह तो बतलाइये कि स्नपन आदि क्रियायें किसकी आज्ञासे आपने छोड दी है? ऐसा कोई ग्रथ है कि जिसमें उनका निषेध हो, यदि है तो वह ग्रथ दिखलाइये ॥ ७४ ॥

अर्थः— जो आपने किसी ग्रथके आधारसे समस्त क्रियाओंका परित्याग किया है या अपने ही मनसे? मनकी बात तो ठीक नहीं है। और आगम ग्रथमें कहींपर निषेध नहीं है ॥ ७५ ॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवानके मुखकमलसे प्रकाशित आगम ग्रंथोंकी आज्ञा सब तरहकी शकाओसे रहित है और समस्त तत्त्वोंका बोध करनेवाली है इसलिये तीनों लोकों के देवेन्द्र नरेन्द्र विद्याधर और विद्वान सभी इसे मानते हैं तथा मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधि ज्ञानको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टी जीव भी इसे स्वीकार करते है व श्रद्धान करते है।

अर्थ—श्रीजिनदेवकी आज्ञाको सुरेश्वर भी उत्थापन नहीं करते है वे भी जिनदेवकी आज्ञानुसार अपनी समस्त क्रिया करते हैं। परतु आप लोग परंपरासे प्राप्त और जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित क्रियाओंका लोप क्यों करते है? जो जिनेंद्रकी आज्ञाको लोप करनेकी शक्ति देवोंमें नहीं है। मालुम पडता है कि आपका ज्ञान देवेन्द्रो से भी अधिक

यूयं तदधिकाः किं वै अत उत्थापित प्रभो । वाक्यं सर्वेन्द्रपूज्यं च सर्वत्रापि निरकुशम् ॥ ८१ ॥
वदध्वं पुनः भो मूर्खा ह्यसत्या स्युरिमा क्रिया । सर्वे ग्रथा असत्या स्यु सर्वसंदेहनाशका ॥ ८२ ॥
युष्माक यदि श्रद्धा स्यात् दृढा जिनागमस्य वै । तदा किं न कुरुध्व भो तत् वाक्यं शिवदायकम् ॥ ८३ ॥
पक्षपातं त्यजध्व च ग्रथपक्षं जगन्नुतम् । यूय श्रद्धानिका नित्य कुरुध्व धर्मसिद्धये ॥ ८४ ॥
ह्यधुना पचमे काले नो संति भो बुधोत्तमा । तीर्थंकरा सुरै पूज्या केवलज्ञानमडिता ॥ ८५ ॥

है ! इसीलिये देवेन्द्रोसे पूज्य जिनागम के लोप करने मे आपकी बुद्धि होरही है । इस प्रकार की निरंकुश बुद्धि विवेकको नष्ट कर मिथ्यात्वको प्रकाशित करेगी ।

अर्थ—क्या शास्त्रोंमें बतलाई हुई क्रियाए असत्य है । जो असत्य है तो समस्त शास्त्र भी असत्य ठहरेंगे । जिन शास्त्रोके पढनेसे सर्व संदेह नाश होता है । और सर्वज्ञ प्रभुकी आज्ञा निराबाध प्राप्त होती हैं उनको असत्य किस प्रकार माना जाय ।

जो आपकी जिनागममें श्रद्धा है तो उन अभिषेकादि समस्त क्रियाओको स्वीकार करना चाहिये जिससे शिवसुख हो ।

अर्थ—इसलिये पूजा और अभिषेक आदि क्रियाओ के करनेमें पक्षपातका परित्याग कर देना चाहिये । जगतमान्य ग्रथोका पक्ष करना चाहिये । यदि आप आगमके अनुकूल चलना चाहते है तो धर्मकी सिद्धिके लिये क्रियाओको पालन करो ।

अर्थ—इस पचम कालमें इस समय देवों से पूज्य केवलज्ञान मडित समोसरण युक्त चौतीस अतिशय युक्त अष्टादश दोष रहित–परम वीतराग–ऐसे तीर्थंकर प्रभु तो साक्षात् विद्यमान नही है । वे तो चतुर्थकालमें ही मोक्षमें जा

समवसरणशोभामडिता भव्यबोधका । मित्रान्यतिशयैर्युक्ता पुष्पदतप्रभाधिका ॥ ८६ ॥
तेपि सर्वे शिवस्थाने गता शर्माब्धिभोजका । प्रत्यक्ष नैव दृश्यते जिनाश्च केवलेक्षणा ॥ ८७ ॥
चिंतनार्थं च तथा वै स्थापना पंचमे बुध । धातुपाषाणदृग्गेषु मुनिभि स्थापिता शुभाः ॥ ८८ ॥
शिलास्फोटसुहस्तेन घटिताः तत्समाश्च वै । पश्चाद्धि तत्प्रतिष्ठाच संभवेद्धि यथाविधि ॥ ८९ ॥
स्यात्तदा पूजया योग्या तन्मूर्ति सकलाननौ । सर्वे भव्या प्रतिवस्त तद्बिंबस्त्र तदाश्रये ॥ ९० ॥
उदकेक्षुघृतैर्दुग्धैर्दधिसर्वौषधादिभि । अभिषेक प्रकुर्वति शुद्धैरंबकनदकै ॥ ९१ ॥
ततश्चैव सुवासेन तत्तनोर्जलजान् कणान् । रीकृ य प्रयत्नेन स्थापयिंवा वरासने ॥ ९२ ॥

विराजे है। इसलिये तीर्थंकर प्रभुकी प्रत्यक्ष पूजा इस समय नहीं होती है। किंतु उनके गुणोकी प्राप्तिके लिये परोक्ष पूजा इस समय की जाती है। भगवानका स्वरूप चिंतवन करनेके लिये तदाकार धातु पाषाण आदि की सुंदर मूर्ति निर्माण कर और आगमकी विधिसे उसकी प्रतिष्ठा करा कर पूजा की जाती है॥

अर्थः— भगवानकी मूर्तिकी परोक्ष पूजा प्रत्यक्ष पूजासे भिन्न होती है। इसलिये परोक्षपूजा उस मूर्तिकी जल, इक्षुरस, घी, दूध, दही, सर्वौषधी आदि उत्तम और पवित्र द्रव्योसे की जाती है। यह सनातन विधि श्री जिनेन्द्रदेवने प्रतिपादन की है और इन्द्रादिक देव इसी विधिसे नदीश्वरादि द्वीपमें अकृत्रिम जिनबिंबोका अभिषेक करते है। ९१ ॥

फिर भगवानकी उस दिव्य मूर्तिको एक उत्तम सिंहासनपर विराजमान कर मूर्तिके जलकणोको वस्त्रके द्वार पोंछ लेवे ॥ ९२ ॥

तदग्रेहि त्रिधारा च पातयति नराश्च ये । जन्ममृत्युजरानाश कुर्वंति ते हि निश्चयात् ॥ ९३ ॥
काश्मीरागुरुचद्र च ह्यन्यद्गंधोत्कर शुभम् । संघृष्य जिनपादाब्जौ लेपनीयौ मनोहरौ ॥ ९४ ॥
भवतापविनाशार्थं केवलज्ञानधारिभि । कथित बिवपूजाया चंदनस्य प्रलेपनम् ॥ ९५ ॥
जिनपादारविंदाग्रे कर्तव्या भो बुधोत्तमा. । पुंजाश्चाक्षतवारस्य चाक्षयपुरप्राप्तये ॥ ९६ ॥
कुदाब्जमालतीपुष्पव्रजाश्च मारहानये । जिनपादोपरि भव्या धर्तव्या कीटवर्जिता ॥ ९७ ॥
शाल्यन्न मोदकं भक्ष्य सर्व च व्यजनोत्कर । क्षुधातकविनाशार्थं स्थापनीय प्रभो पुर ॥ ९८ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव अरहत प्रभुके समक्ष भृंगार नालसे तीन धाराको छोडते हैं वे जन्म जरा और मरण तीन पापोको नाश करते हैं । ९२ ॥

अर्थ–केशर–कर्पूर–अगर–तगर आदि सुगंधी द्रव्योको उत्तम प्रकार से घिसकर श्री जिनदेवके पवित्र चरण कमलोका प्रलेपन करना चाहिये । जिससे ससार तापका नाश हो । यह जिनबिंबपूजाकी विधि ससार ताप विनाश करनेकेलिये केवलज्ञान धारक श्री जिनदेवने वतलाई है ।

अर्थ—अरहंतप्रभुके समक्ष उत्तम अक्षतोके मनोहर पुंज बनाकर चढाना चाहिये । जिससे अक्षयपुर (मोक्ष स्थान) की प्राप्ति हो ।

अर्थ—मोगरा कमल–मालती आदि उत्तम और सुवासित शुद्ध निर्जीव फूलोको प्रभुके चरण कमलो पर चढाना चाहिये ।

अर्थ—अरहतप्रभुके समक्ष भात लाडू आदि व्यजन वडी भक्तिसे शुद्धता पूर्वक चढाना चाहिये जिससे क्षुधारोगकी शांति हो ।

आरार्तिका प्रकर्तव्या जिनेन्द्रपदपद्मयो । मोहभूपविघातार्थं दीपव्यूहैर्घृतोद्भवै ॥ ९९ ॥
पावके धूपवृंदस्य कर्तव्यो दहनो बुधै । जिनपादाब्जमभ्यग्रे कर्मेन्धनविनाशक ॥ १०० ॥
नारिंगाम्रकपित्थाद्यै पूजनीयो जिनेश्वरः । मोक्षफलस्य प्राप्त्यर्थं शर्मसततिदायकम् ॥ १०१ ॥
भो भव्या बिंबपूजाया विधिरेव प्रकीर्तित । जिनागमे यतीन्द्रौघै पृथ सर्वत्र पश्यथ ॥ १०२ ॥
प्रत्यक्ष केवली नास्ति अतस्तत्स्थापना मता । स्थापनाया मता सर्वा क्रिया वै स्नपनादिका ॥ १०३ ॥
पश्यथ सर्वग्रंथेषु बिंबपूजाविधि पृथक् । केवलज्ञानपूजाया सुरेन्द्राद्यैश्च निर्मित ॥ १०४ ॥
व्यवहारनयापेक्षो गृहस्थाना जिनेश्वरै । बिंबपूजाविधिश्चैव कथित केवलेक्षणै ॥ १०५ ॥

अर्थ–अरहतप्रभुके सामने शुद्ध सुगंधित घीके सुंदर दीपक जलाकर आरती करनी चाहिये।

अर्थ–प्रभुके सामने उत्तम सुगंधित धूप अष्टकर्मोंके नाश करनेकेलिये अग्निमें प्रक्षेपण करना चाहिये।

अर्थ—प्रभुके चरणकमलोंकी पूजा नारंगी-आम-कपित्थ आदि उत्तम फलों से विधि पूर्वक करनी चाहिये जिससे मोक्षसुखकी प्राप्ति हो।

हे भव्य अरहत भगवान के जिनप्रतिमा की परोक्ष पूजाकी विधि सक्षेप मे ऊपर कही है वह जिनागममें सर्व ग्रथो में मुनीश्वरोने बतलाई है।

अर्थः—– इस पंचमकालमें साक्षात् केवली भगवान विराजमान नहीं है किंतु केवली भगवान तीर्थंकर प्रभुकी प्रतिकृति (स्थापनाबद्ध जिनमूर्तिको ही साक्षात जिनेन्द्र भगवान मानकर) में ही समस्त क्रियायें की जाती है। यह स्नपनादि विधि समस्त ग्रथोमें कही है। परोक्ष पूजा की विधि यही परमागममें मानी है। देवेन्द्रोंने जिनमूर्तिकी पूजा विधि इसी प्रकार की है। यह विधि व्यवहार नयकी अपेक्षासे आचार्योंने बतलाई है। और जिनेश्वर देवने प्रतिपादित

निश्चयनयतो भव्या चिद्रूपाणा मता खलु । इज्या च मारसिद्धांते प्रोक्ता सकलदर्शिभिः ॥ १०६ ॥
अत साक्षात् जिनाः पूज्याः सुगधीशैश्च तारकाः । नो सति सत्सभायुक्ता किं विदध्मो वदथ वै ॥ १०७ ॥
अस्मिन् काले महाभीमे तद्वते कथिता क्रिया । मुनीश्वरैश्च बिंबेपु स्नानाद्या भो बुधोत्तमा ॥ १०८ ॥
दिव्यध्वनिमयी वाणी वीतरागमुखोद्भवा । साप्यस्मिन् नास्ति भो भव्या सर्वज्ञापरखडका ॥ १०९ ॥

की है। निश्चयनय से एक चिद्रूपमें ही लवलीन होजाना यही पूजा विधि है। ऐसा ही अभिप्राय सारसिद्धांत नामके ग्रथ में कहा है। इसलिये जिन भव्य जीवोने जिनप्रतिमाकी पूजा की उनने साक्षात् जिनेन्द्र भगवान की पूजा की। देवगणोंमें शक्ति होनेसे वे साक्षात् पूजा करते हैं और संसारसमुद्रसे पार होते है ऐसी ही अचिन्त्य शक्ति अरहत भगवान में है। यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। परतु इस समय साक्षात् अरहत नहीं हैं। फिर हम लोग सिवाय उनकी परोक्ष पूजा के और क्या कर सकते हैं।

इस पंचमकालमें साक्षात् अरहत केवलीका अभाव होनेसे जिनबिंबमें ही स्नानादि विधि कर षट् आवश्यक क्रिया करनी चाहिये। ऐसा आचार्योंने कहा है।

अर्थ—साक्षात् तीर्थंकर केवली का अभाव होनेसे साक्षात् दिव्यध्वनिका भी अभाव है जिससे सर्व संदेह दूर होता था। परन्तु पंचम कालमें जिनागम ग्रथोंमें वह दिव्य ध्वनि आचार्योंकी परपरासे ग्रथित की है। जिनागम ग्रंथोंमें केवली भगवानकी दिव्य ध्वनिके सिवाय एक अक्षर मात्र भी स्वकल्पित नहीं है। न रागद्वेष या प्रतिष्ठा कीर्ति आदिके गौरवसे वीतराग योगियो ने उस दिव्य ध्वनिमें व्यतिक्रम किया है। इसलिये परमागमके शास्त्र सब दिव्यध्वनि रूप ही हैं। जो प्रामाणिकता–सत्यता–और निर्दोषता दिव्यध्वनी की है वही प्रामाणिकता–सत्यता–निर्दोषता–और अबाधता ग्रंथोंकी है।

पर्वेषु जिनसेनाद्यैर्योगीन्द्रैः सधृता खलु । पारंपर्या समायाता साच सर्वत्र विश्रुता ॥ ११०
तदा सर्वं गृहस्थाश्च क्रियाकर्मरता परम् । शास्त्राद्धि सत्प्रत्यक्षं पश्यति सकला क्रिया ॥ १११ ॥
अहो श्राद्धानिका यूय कुरुध्व सकला क्रिया । साधुभिर्वरयोगीन्द्रैः ग्रंथेषु स्थापिता ननु ॥ ११२
कालेस्मिश्चलचित्तकरे मिथ्यात्वपूरिते । नैव दृश्यते योगीन्द्रा महाव्रतधरा वरा ॥ ११३ ॥
मतिज्ञानयुता केचित् श्रुतबोधविमंडिता । अवधिज्ञानान्विताद्धि तुर्यबोधान्विता खलु ॥ ११४ ॥
सत्यस्मिन् नैव त धीरा मुनय सुरपूजिता । ईदृशा ज्ञाननेत्राढ्या दिशागामोचरा वराः ॥ ११५ ॥

अर्थ —यही दिव्यध्वनी आचार्य परंपरासे चली आरही है और उसीको भगवान जिनसेनाचार्य आदि महर्षियोंने ग्रंथोंमें लिखी है ।

अर्थ —इसलिये सद्गृहस्थोंको चाहिये कि शास्त्रोक्त स्तवन आदि क्रियाओंको करें । क्योंकि वे सब बातें शास्त्रमें प्रत्यक्ष हैं ।

अर्थ —हे भव्यजीवो आत्मविचार करो और योगीन्द्रोंके द्वारा बतलाई हुई शुभ क्रिया (भगवानका पंचामृतादि) को प्रेमपूर्वक करो ।

अर्थ -इस पंचमकालमें मनुष्योंके मन स्वभावसेही चपल होरहे हैं। मिथ्यात्वसे पूरित होरहे हैं। ऐसे समय में महाव्रतके धारण करनेवाले विरलेही मिलते हैं । जिनको मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान है ऐसे महामना मुनीश्वरोंका तो प्राय अभाव है । जिनसे संसारका कल्याण होता था । वे मुनीश्वर कुमार्गपर चलनेवालोंको सुमार्गपर लाते थे । जिनराजकी आज्ञाभंग करनेवालोंको सन्मार्गपर लाते थे । और मनमानी करनेवालोंको योग्य व्यवस्थाकर सन्मार्गपर लाते थे। संघमें बिना दंडके कभी भी व्यवस्था नहीं होती है। राजदंडसे जैसे अन्याय रुक जाता है इसी प्रकार

कालेस्मिन् किं करिष्यामः गुरूणा तद्दते नरा । लोपं वदथ ग्रंथेपु कथित यदि कापिच ॥ ११६ ॥
ईदृश न श्रुत कापि गुरुलोप, च पंचमे । कुरुम्व मानयध्व च द्वयो श्रीजिनशास्त्रयो ॥ ११७ ॥
त्रिकालसर्ववस्तूना वर्णना च कृता जिनै । भो मर्त्या न श्रुतं चैव गुरुलोप च तत्र वै ॥ ११८ ॥

पचायती दडसे धर्मविरुद्ध चलनेवालोकी अनीति मिट जाती है ।

अर्थ—यह हुंडक पंचमकाल है । इसमें जैन कहलाने वाले न जाने कैसे २ पापी भी उत्पन्न होगे जो स्वयं धर्मबहिर्भूत होगे और समस्त प्रजाको ग्रंथोका लोप कर धर्मबहिर्भूत बनायेंगे । कुमार्ग—अन्याय और अत्याचार वढायेंगे। यद्यपि ग्रथोंमें सदाचारका विधान होगा तो भी वे पापी उसको नही मानेंगे और लोगो में मिथ्या प्रसिद्धि कर सन्मार्गका लोप करेंगे । ऐसे मनुष्यों से सन्मार्ग प्रकाशक ग्रंथोकी रचना नहीं होगी किंतु व्यभिचार अन्याय फैलाने वाले ग्रंथोकी रचना होगी । इसके सिवाय वे लोग गुरुओका भी लोप करेंगे—गुरुओको भी नहीं मानेंगे ।

अर्थ—पचम कालमें मुनिधर्मका लोप होगा ऐसा कहनेवाले मायावी है क्योंकि पचम कालके अततक शुद्ध मुनि-आर्यिका श्रावक श्राविका रहेंगे ऐसा जिनागम स्पष्ट रूपसे बतलाता है । इस लिये शास्त्र और गुरु दोनोका श्रद्धान करना चाहिये—दोनोको मानना चाहिये ।

अर्थ—त्रिकालज्ञानी सर्वज्ञ भगवानने समस्त पदार्थोंका वर्णन किया है उसमें यह भी बतलाया है कि पचमकालके अंततक चतुर्विध सघ निर्दोष रहेगा, परतु ऐसा कहीं भी नही सुना न जिनागम में कहा है कि पचमकालके प्रारभके बाद ही मुनीश्वरोंका अभाव होगा । परंतु मतलबी कितनेही पापी मनुष्य गुरुओका लोप करते है । अर्थात् वे पापी निर्ग्रंथ गुरुओंको भी नहीं मानते ।

श्रद्धास्माकमपि चैषा जानीध्व हृदि भो नरा· । निश्चयस्य नयस्यैव लक्षण तच्च निश्चयात ॥ ११९ ॥
अर्हतो नापरो देवो निर्ग्रथान्नापरो गुरु । दयातो नापरो धर्मो ह्येतच्छ्रद्धानलक्षणम् ॥ १२० ॥
भो मूढा भवतां नैव शुद्धसम्यक्त्वकारका । दुर्लभा सापि विज्ञेया कर्मवार विभजका ॥ १२१ ॥
निश्चयव्यवहारस्य नयस्य यत्र स्यात् खलु । श्रद्धा तस्यैव चोत्पत्ति सम्यक्त्वस्य न संशय ॥ १२२ ॥
स्याद्यदि भवता श्रद्धा निश्चयस्यैव निश्चयात् । तर्हि नमथ पर्णेस्थान् किमर्थ वचनापहा ॥ १२३ ॥

अर्थ—जो सर्वज्ञ कथित आगम–और निर्ग्रथ गुरुका प्रलोपकर केवल मनोक्त कल्पना से शुद्ध सम्यग्दृष्टी वनते है उनकेलिये विचार किया जाता है कि देव शास्त्र गुरुके श्रद्धान विना केवल स्वानुभवसे सम्यग्दर्शन होता है या नहीं ? व्यवहार नयको अतिक्रम कर जो मनुष्य निश्चयनयका अवलंबन लेता है और व्यवहार नयको सर्वथा मानता ही नही है उसके निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है किंतु तीव्र मिथ्यात्व है–क्यों कि अरहंतके सिवाय अन्य कोई देव नहीं । निर्ग्रंथ दिगंबर गुरु सिवाय अन्य कोई गुरु नही, और अहिंसाधर्म सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं है, ऐसे दृढ श्रद्धानको सम्यग्दर्शनका लक्षण परमागममें वतलाया है । जिसके इस प्रकार श्रद्धान नहीं है वह सम्यग्दृष्टी नही है मिथ्यादृष्टी है । क्यो कि यह परमागमका सुदृढ नियम है कि जिसके देव शास्त्र गुरुका दृढ श्रद्धान होता है उसीके निश्चय सम्यग्दर्शन होता है ।' व्यवहार सम्यग्दर्शनके विना निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता है । जो मनुष्य देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धा करे नही आगमको सर्वांग माने नही आगमोक्त आचरण और क्रियाओको स्वीकार करे नहीं आगमप्रतिपादित धार्मिक विवाहादि क्रियाओंको धर्मक्रिया नहीं माने, और धर्ममें सशंक वृत्ति रक्खे वह अपनेको भले ही निश्चय सम्यग्दृष्टी कहे परंतु वह घोर पापी और अनतसंसारी मिथ्यादृष्टी है । +

अर्थः— जो तुमारे एक आत्माका ही निश्चय श्रद्धान है और उसीका पूर्ण निश्चय है तो फिर मुनिदीक्षा

पूजयथ किमर्थं च मूर्तिं पाषाणनिर्मिताम् । निश्चयपालका यूयं व्यवहारपरान्मुखा ॥ १२४ ॥

लेकर वनमें रहो । व्यर्थ ही भगवान अरहंत देवके कहे हुए वचनोका लोप क्यो करते हो । तथा फिर ग्रंथोको क्यो नमस्कार, पूजन और भक्ति करते हो ? जो ग्रंथोंकी उपासना है तो फिर एक निश्चय सम्यग्दर्शन कहां रहा ? और एक आत्मीय श्रद्वान कहां रहा ? जब ग्रंथोकी उपासना है तब ग्रंथोमें प्रतिपादित मूर्तिपूजा-स्नपन-अष्टद्रव्यसे पूजन आदि विधान भी मानना पडेगा । अन्यथा ग्रंथोकी उपासना भी नही बनेगी । और जो एक आत्माका ही निश्चय श्रद्वान सारभूत है । व्यवहार क्रियाओसे क्या प्रयोजन ? इस विचारसे व्यवहार नयका उत्थापन करते हो तो फिर पाषाण निर्मित अरहत भगवानकी मूर्ति क्यों पूजन करते हो ? मूर्तिकी पूजन करनेसे आत्माकी पूजन नही होती है । निश्चय अनुभवको माननेवालोको मूर्ति पूजनकी जरूरत क्या ? परंतु मूर्तिपूजा परमागममे सर्वत्र बतलाई है। विना मूर्ति पूजाके आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नही होती है । इसलिये केवल आत्माके श्रद्वानको मानकर देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्वान नहीं करना सो मिथ्यात्व है ।

१ कितने ही आत्माका अनुभव और निश्चयके गीत गाकर व्यवहार आचरणको पुद्गलका धर्म मानकर परित्याग कर देते है । वे न तो देवकी सेवा ही करते है, न गुरुकी उपासना करते है, न सदाचारको मानते है । उनके देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान नहीं होता । प्राय व समस्त प्रकारके व्यसनोंमें फसे हुए सदाचारसे भी पराङ्मुख होते है । अपनेको जैन कह करके भी जैनमार्गानुसार कभी नहीं चलते है । निश्चय सम्यग्दृष्टीके भी व्यवहार सम्यक्त्व होता है । देव, शास्त्र, गुरुकी श्रद्धाके विना कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता है । जब सम्यग्दर्शन नहीं है तब उनके निश्चय सम्यग्दर्शन कैसे होगा ? ऐसे जीवोंको परमागममे मिथ्यात्वी बतलाया है ।

सिद्धाते जिननाथेन भाषितं चैव लक्षणम् । निश्चयव्यवहारस्य केवलज्ञानिना खलु ॥ १२५ ॥
नयेन व्यवहारेण कार्यसिद्धिर्भवेदहो । मुनीनांच गृहस्थाना यूय सर्वत्र पश्यथ ॥ १२६ ॥
व्यवहारनयेनैव मानुजा भो इमे मता । गुरव शृणुथ यूय वक्ष्यमाण मया खलु ॥ १२७ ॥
ह्येकवर्णप्रदातापि श्लोकदाता पदस्य वा । ग्रथस्य मत्रदाताच ज्ञानोपदेशकश्च वा ॥ १२८ ॥
यज्ञोपवीतदाताचे इत्याद्या श्रीजिनागमे । इमे सर्वे मता शास्त्रे गुरवो गुणदानत ॥ १२९ ॥

अर्थः—जिनेन्द्र देवनें सिद्धांत ग्रथोमें सम्यग्दृष्टीका उपर्युक्त लक्षण कहा हैं। व्यवहारनयके विना निश्चयन भी कार्यकारी नही है । शास्त्रकारोने यही बतलाया है कि व्यवहार नयसे ही कार्यसिद्धि होती है । गृहस्थधर्म और मुनि-धर्मका स्वरूप इसी नयसे प्रकट होता है । व्यवहारनयसे मनुष्य गुरु होते हैं और गुणस्थानोका आरोहण कर मोक्षको प्राप्त होते है ।

अर्थ —जो एक अक्षर-एक श्लोक--एक पद और एक ग्रथका पढानेवाला है वह भी गुरु होता है । मत्र का प्रदान करनेवाला भी गुरु है । ज्ञान (देशना) का उपदेश देनेवाला गुरु माना है । यज्ञोपवीत विधि -विवाह विधि प्रतिष्ठाविधि-आदि विधि और सस्कारोको करानेवाला गुरु होता है । जिनयज्ञ-जिनपूजन-आदि विधियोको करानेवाला गुरु है । जैन परमागममें गुरुसंज्ञा गुणोका प्रदान करनेसे अनेक प्रकारमे मानी है ।

---

१ धर्मगुरु — विद्यागुरु-मातापितागुरु-राजगुरु-सस्कारकर्ता गुरु-आदि भेदसे गुरुओंके अनेक भेद माने है । धर्मगुरु सर्वथा निर्ग्रंथ और परम दिगंबर ही होते हैं । संसार समुद्रसे तारक और आत्महितके करनेवाले धर्मगुरु है । बाकी व्यवहार आचरणोंके द्वारा क्रमसे आत्महित करनेवाले है ।

येऽधमा नैव मन्यंते गुरुं ज्ञानस्य दायकम् । ते यास्यंति न संदेहः सप्तमे श्वभ्रकूपके ॥ १३० ॥
यथा वै जिनराजस्य यथा दिव्यध्वनेः बुधा । स्थापना दृश्यते लोके गुरूणां च तथा मता ॥ १३१ ॥
जैनास्तगुरुषा ह्येते जिनधर्मप्रभावका । धर्मोपदेशनादौच पश्यथ च तदोपमा ॥ १३२ ॥
अहो मूढाः च प्रत्यक्ष कुलोन्नतविराजिता । बुद्धयादिगुणसपन्ना मिथ्यात्वपथनाशका ॥ १३३ ॥
कलौ च जैनधर्मस्योद्धारणेऽतीव चातुरा । अस्मादृि जैनमार्गीय प्रत्यक्ष दृश्यते खलु ॥ १३४ ॥
एषा वै नैव सामर्थ्यमस्माक कालदोषत । एतेषामपि सा न स्यात प्रत्यक्ष पश्यथ खलु ॥ १३५ ॥

अर्थ-जो अधम मनुष्य गुरुको ज्ञान दायक नहीं मानते है वे निःसंदेह नरकके पात्र है । गुरु विना ज्ञान नहीं होता है यह कहावत भी सर्वत्र प्रसिद्ध है ।

अर्थ-जैसे जिनराजकी स्थापना मूर्तिमें होती है। जैसे दिव्यध्वनिकी स्थापना ग्रंथोमें होती है। वैसे ही पूर्व कालके निर्ग्रंथ मुनीश्वरोकी स्थापना भी वर्तमान कालके मुनियोमें होती है। १३१ ॥

अर्थ-ये वर्तमानकालके मुनि भी जैन धर्मके प्रभावक होते है । और इनके द्वारा धर्मोपदेश प्रत्यक्ष सबको मिलता है। १३२ ॥

अर्थ-इन वर्तमानकालके गुरुओंसे ही जैन धर्मकी रक्षा कितने ही बार हुई है। बुद्धि तप शक्ति आदि गुणोमें प्रवीण मिथ्या मार्गके खंडन करनेवाले और जैन धर्मका उद्धार करनेवाले ये गुरु होते है । इन लोगोके कारण ही अब भी धर्मकी स्थिति प्रत्यक्ष दीख रही है ॥ १३३।१३४ ॥

कदाचित् यह कहो कि कालदोषसे हम लोगोमें शक्ति कम होगई है । तो यह भी मानना चाहिए कि उनमें भी शक्ति कम होगई है तथापि उनमें शक्ति प्रत्यक्ष दिखाई देती है ॥

जिनात्तपुरुषा ह्येते जिनधर्मोपदेशका । अत सर्वै प्रमान्या स्यु' जिनार्त्त कोन मानयेत् ॥ १३६ ॥
यथा पाषाणबिंबाना योग्यो वै पूजनादिक । कार्यं तथैव भो मर्त्या एतेषा नमनादिकम् ॥ १३७ ॥
मा कुरुध्व गुरुघ्ना वै एतेषु विनय खलु । यूय स्यु धर्ममार्गस्य घातका' नात्र सशय' ॥ १३८ ॥
ह्येतत् सिद्धातदास्य स्यात् य कुधी मार्गघातक । लोपयति जिनात्त वै सच धर्मात्परान्मुख । १३९ ॥
युष्माकमिति मद्रार्थं ह्युपदेश प्रजल्पित । अस्माभि ग्रथबोधेन अहकारमदान्नच ॥ १४० ॥
नागेंद्राश्च सुरेश्वराः त्रिपु खलु सन्मानयति सदा । योगीन्द्रा खचरेश्वरा गुणप्रभज्ञानेन सशोभिताः ॥ १४१ ॥
वेदज्ञानविमंडिता सुरनुता विद्यादिसपद्युताः । कुर्वंत्येव प्रलोपनं नरवरा नैव भवतापह ॥ १४२ ।
वचनाडंबरै किंच अतो भो सज्जना खलु । यदुक्त जिनग्रंथेषु तत् लोप मा विधीयता ॥ १४३ ॥

अर्थ--ये वर्तमानकालके धर्मगुरु जैन धर्मके उपदेशक हैं इसलिये सबको ही मान्य हैं। जिनने जिनेंद्र शरण ग्रहण की है उनको कौन नहीं मानेगा ? सबही मानेंगे ।

जिस प्रकार अरहत भगवानकी मूर्तिकी पूजा करते हैं वैसे ही इनका भी सन्मान नमस्कार आदि करना चाहिये ।

अर्थ---गुरुघ्नता प्रकट करना ठीक नहीं है । इसलिये उनका भी विनय करना चाहिये । जो मनुष्य मार्गका घात करता है वह धर्म से परान्मुख है । यह बात हमने ग्रथोसे लिखी है। न किसी दूसरे अभिप्रायसे ।

अर्थ---ससार मे सबसे भयकर पाप ग्रथोका प्रलोपन करने का है । जो मनुष्य ग्रथों की आज्ञाका भग करता है उस ग्रथमे (परमागममें) बतलाये हुए मार्गको स्वीकार नही करता है--परमागमका अनुयायी अपनेको प्रकट करता हुआ भी उसको नही मानता या पूर्ण श्रद्धा नही रखता , अथवा कुछ भागको मानता है और कुछ भागमें अपने मनोक्त ज्ञान द्वारा सदेह करता है वह ग्रंथका प्रलोपन करता है । अथवा उत्तम सदाचारके ग्रथोको न मानकर

ये कुर्वंति प्रलोपन च ह्यधमा ग्रंथस्य भो सद्बुधा । ते यास्यति निकोतिषु सुबचनालोपाच्च ससारद ॥ १४४ ॥
याता याति तथाच दु खनिकर ससावनिपु सदा । यास्यत्येव कदापि भो बुधजना लोपं कुरुध्वच मा ॥ १४५ ॥

अथ ढूंढक मतोत्पत्ति

अथापरं शृणुध्व भो स्वेतवासोमते खलु । लुंकाभिध कुधीरासीत् सर्वधर्मविनाशकः ॥ १४६ ॥
रिपुरन्ध्रेन्दुसयुक्तममेऽभूत्श्वेतवाससाम् । द्वापरेषु प्रमग्नाना यतोहि कालदोषत ॥ १४७ ॥

एक अध्यात्म ग्रथोको ही आगम समझता है वह भी ग्रथका प्रलोपन है ।

इसप्रकार जो ग्रथोका प्रलोपन करेगा वह अवश्य नरककुडमें गिरेगा । और अनंत ससारको प्राप्त होगा । अथवा निगोद आदि कुयोनियोंमे अनत दुःखको प्राप्त होगा । इसलिये ग्रथोका प्रलोप नही करना चाहिये ।

इद्र, नागेंद्र, मुनि, अवधि ज्ञानी, मनःपर्यय ज्ञानी, विद्वान आदि किसीने भी आगमोका लोप नहीं किया है इसलिये तुम भी ग्रथोका लोप कभी मत करो । जिन ग्रथोमें जो क्रियाए कही है उनका लोप कभी मत करो । जो पुरुप ग्रंथोमें कहे कुछ वचनोंका लोप करता है वह अवश्य ही नरक निगोदमें पडता है इसलिये ग्रंथोका लोप कभी नही करना चाहिये ।

अर्थ --स्वेतांवरोमेंसे लुका नामक मत धर्मका नाश करनेवाला प्रकट हुआ है अव आगे उसकी उत्पत्ति आदिका खुलासा वतलाते है वह श्रवण करना चाहिये ।

अर्थः--संशय मिथ्यात्वको धारण करनेवाले (इदोविय संसइयो ऐसा गोमटसारमें स्वेतांवर मतको संशय मिथ्यात्वी जैनाभास माना है) स्वेतांवर (भगवान भद्रवाहूके समयमें) सं १३६ में उत्पन्न हुए । ये सव संदेह

मुनिहस्ते तथा पचसोमयुक्ते ह्यभू समे ।गते लुका क्रियाहीनो नाम्नाहि सर्वलोपकृत् ॥ १४८ ॥
तन्मते च घना ज ता भेदा स्वपथपोषका । निर्विचारा' क्रियाहीना धर्मलोपकाः खलाः ॥ १४९ ।
जिनेज्यानिंदका केचित् जिनबिंबपराङ्मुखा । निंदका तीर्थयात्राणा म्लेच्छाचारप्रपालका ॥ १५० ॥
जैनमदिरप्रतिष्ठावारका कुकुलान्विता । इत्याद्या जिनमार्गस्य बभूवुर्नाशका खलु ॥ १५१ ॥
नाम्ना ढुंढ्याश्च विख्याता क्रियाकर्मविवर्जिता । सर्वत्र विसृता. ते च ह्यधुना भो बुधोतमा ॥ १५२ ॥

में निमग्न रहनेवाले तीव्र मिथ्यात्वी हे। इस प्रकार मिथ्यात्वको धारण करनेवाले और अपनेको जैन माननेवाले जैनाभास भी कालदोषसे पचमकालमें उत्पन्न होते है ॥

हे राजन् लुक मत स. १५२७ में उत्पन्न हुआ। यह मत समस्त पवित्र आचरणो का लोप करनेवाला प्रसिद्ध हुआ।

अर्थ—उस लुक मतमेंसे भी अनेक मत प्रकट हुए। जो उसी मार्गको पुष्टि करनेवाले थे। जिनमें विचार नही था। जिनके आचरण पवित्र नहीं थे। और जो पवित्र धर्मका लोप करनेवाले थे।

अर्थ— ये लुंक मतके अनुयायी जैनाभास अरहंत भगवानकी मूर्तिसे पराङ्मुख रहेंगे—श्रीजिनेन्द्र भगवानकी मूर्तिकी निंदा करेंगे। तीर्थ यात्रा आदि धार्मिक आचरणो को रोकेंगे। प्रतिष्ठा जैनमंदिर आदि प्रवृत्तिको रोकेंगे। म्लेच्छाचार को फैलायेंगे। और नीच कुलके मनुष्योको साधु बनाकर सबको भ्रष्ट करेंगे॥ १३६ ॥

अर्थः—लुंक मतको ढूढिया कहते हैं। और वे ढूंढिया के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन लोगोंमें सदाचार की एक भी उच्च क्रिया नहीं है (इनको स्थानकवासी भी कहते हैं)

कस्यापि नैव दोषोस्ति कालदोषप्रभावत॰ । सर्वे मतातरा ह्यस्मिन् भवंति नात्र संशय. ॥ १५३ ॥

युष्माक सर्वग्रंथेपु भो लुकमतधारका: । किं न स्यात् कथन मूढाः पूजाया. श्रीप्रभो. खलु ॥ १५४ ॥

ग्रथसाक्षमह वच्मि शृणुत मतिवर्जिता॰ । यदि ग्रंथा॰ प्रसत्या स्यु युष्माक शर्मप्राप्तये ॥ १५५ ॥

पैंतालीसाभिधे ग्रथे प्रतिमाया बहु विस्तारत: पूजनस्य वर्णना कृता वा किं न कृता । भो लुकमतधारका तस्मिन् प्रत्यक्ष पश्यतु-भवन्तः । प्रभोः पूजन कथमुत्थापित । यदि युष्माक ग्रंथोयं सत्यः स्यात् तर्हि ता जिनपूजा किं न कुर्युं । यदि भवतामेप पूजाविधि नैव रोचते तदा ग्रथस्य लोपन कुरुध्वं । अतः कारणात् यूयमपि स्वमतघ्रा च आगमघ्रा॰ स्यु॰ नात्र सदेह ।

अर्थ—इसमें किसीका कुछ भी दोप नहीं है क्योंकि काल दोप से ये सब बातें स्वयमेव बन जाती है। हुडक समयमें मतांतरोकी वृद्धि होगी यह निःसदेह है।

अर्थ—हे लुक मतवालो श्रीजिनदेवकी पूजाका विधान तुमारे मतके ग्रथो में क्या नही है सो तो कहो।

अर्थः—आचार्य महाराज कहते है कि तुमारे मतके मुख्य २ ग्रथो (जो सर्वमान्य है) में जिनेंद्रपूजा खुलासा से लिखी है। यदि तुमारे मतके ग्रंथ सत्य हे प्रामाणीक आप मानते हो तो जिनेन्द्र पूजाका निपेध तुम से नहीं होसक्ता। क्योकि ग्रथोमें विधान स्पष्ट रूप से है। जो ग्रथ अमान्य है तो फिर तुमारा मत ही क्या ?

अर्थः—हे लुंकमत धारको तुमारे पैंतालीसा नामके मुख्य आगम ग्रथोमें अतिशय विस्तार पूर्वक भी जिनेंद्रदेवकी पूजाका विधान बतलाया है या नही? एकवार तुमने अपने आगम ग्रथोको खोलकर देखा है या नहीं? प्रथम तो अपने ग्रथोको देखकर निपेध करना चाहिये। उन ग्रथोमें, जब खुलासा वर्णन है तब तुमारा निपेध मनोक्त कल्पनासे पक्षपात पूर्ण ही समझा जायगा। कदाचित तुमको पूजन करना अच्छा नहीं मालुम होता तो तुम सबसे प्रथम अपने आगम ग्रथोको मत मानो। जो ऐसा करोगे तो आगमलोपी कहलाओगे। इसमें कुछभी संदेह नहीं

भो लुंकमतपालका पुन शृणुध्वं जीवाभिगमग्रथे पुजाया विधि बहुविस्तारतः वर्णितः । ब्रवीध्व, तत्सत्यं किमसत्य स्यात् ? भो लुंका ! ज्ञाताभिधकथाया सतीनामध्ये शिरोमण्या द्रोपद्या जिनेन्द्रस्य इज्या कृता पुन उपासकदशाभिधग्रथे यूयं पश्यत । जिनेन्द्रसिद्धयात्राकरणं जिनबिंबस्य पूजाकरण बहुविस्तारेण अनयो द्वयो कथन कृत । पुनः सूत्रकृतागमे श्रेणिक भूपस्य अभयकुमाराभिधकुमारेण जिनबिंबस्य बहुभक्त्या च वसुद्रव्यविधिना पूजा कृता । तदैव पूजाप्रभावात सोपि सम्यग्ज्ञान-

अर्थः—हे ढूंढियो ! जरा तो सुनो । जीवाभिगम नामक ग्रथ में भगवानकी मूर्तिकी पूजा का वर्णन खूब विस्तार से किया है । अव वतलाइये कि उस ग्रथका लिखना सत्य है या असत्य ? यदि ग्रथका लिखना सत्य है तो पूजा करना तुमारे मतमें सबको मान्य है फिर तुम लोग अपना घर (ग्रंथ) देखे विना ही किम सबूत (प्रमाण) पर निषेध करते हो । यदि उस ग्रथ का लिखना असत्य है तो जीवाभिगम ग्रथको मानना छोड देना चाहिये । क्यो मानते हो ?

ज्ञाताभिध नामक सूत्रमें सती शिरोमणी द्रोपदी आदि बहुतसी सतिओंके द्वारा श्री जिनेन्द्र भगवानकी मूर्तिकी पूजा करना वतलाया है । सो सत्य है या असत्य ? उपासकाध्ययन नामक ग्रंथमें देखो—जिनेन्द्र भगवानकी मूर्तिकी पूजा सिद्ध भगवानकी पूजा यात्रा करनेकी आज्ञा है और जिनबिंबकी पूजा बहुत ही विस्तारसे स्पष्ट वतलाई है । वह सत्य है तो स्वीकार करना चाहिये और असत्य है तो उस ग्रथमें क्यो लिखा है ? इससे तो वह ग्रथ ही मान्य नहीं समझें ?

सूत्र कृतांग नामक ग्रंथमें श्रेणिक महाराजके पुत्र राजकुंवर अभयकुमारने श्रीजिनेन्द्र भगवानोंकी मूर्ति की अष्टद्रव्यसे पूजा की और उससे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हुई ऐसा लिखा है सो यह लिखना असत्य है ? तुम लोग सूत्र-

माप्तवान् ?। पुनः सूत्रभगवत्यभिधे ग्रथे जिनबिंबस्य च तन्मदिरस्य तत्पूजाविधेः बहुविस्तारतो वर्णना कृता । नो चेत्तर्हि भवदागमस्य लोपं कुरुध्व । इत्याद्या ये ये ग्रथा भवता सति सर्वेषा तेषा मध्ये यूयं पश्यत युष्माकं केषु ग्रंथेषु जिनमंदिरस्य जिनबिंबस्य जिनपूजाया जिनक्षेत्रभूमे इत्यादिकार्यस्य यदि निषेधनं न स्यात् तर्हि कुर्वीध्व। कुपक्ष त्यजत। एतदेव निकोत् कारणं तत दुःखान्निभिया मा भवत स्वकल्पोक्त्या मा ब्रवीध्वं। हृदि विवेक भजध्व ॥

कृतांग ग्रथको मानते हो या नही ? जो मानते हो तो मूर्तिपूजा करना स्वीकार करना चाहिये। जो नहीं मानते तो ग्रथ अप्रमाण ठहरा।

भगवती सूत्रमें—जिनबिंब और जिनमंदिर की पूजा करना लिखा है। वह भी अतिशय विस्तारके साथ वतलाया है सो क्या मान्य है या नहीं ? यदि मान्य नहीं है तो भगवती सूत्र अप्रमाण ठहरेगा ? या तो ग्रथको अमान्य करो या मूर्ति पूजा करना स्वीकार करो।

तुमारे मतके आगमग्रंथोमें सर्वत्र जिन बिंब पूजा करनेका विधान लिखा है। सो तुमको करना चाहिये। अपने ग्रथोको देखकर निषेध करना चाहिये।

आपके कौन कौनसे ग्रथोमें जिनबिंब और जिनमंदिर तीर्थयात्रा आदिका निषेध है ? या मनकल्पना एवं पक्षपातसे ही निषेध कर रहे हो। विनाप्रमाण के निषेध करना अज्ञान है। इसलिये पक्षपातको छोडो और विवेकसे काम लो।

मिथ्या हठग्रह पकडकर अज्ञान व्यक्त करना मूर्ख लोगोंका कार्य है ? इसलिए कुपक्षको छोड देना चाहिये। अन्यथा निगोदादि दुर्गतिका कारण यह मिथ्या प्रलोप होगा। मनकी कल्पनासे देव जिनमदिर आदिका अवर्णवाद करना अपने विवेकको खोकर अज्ञान मदमाते होना है। सो यह ठीक नहीं है।

भो ढुंढकाः जिनपूजादानतो गृहस्थानां परो धर्मः त्रिकालेऽपि नास्ति । ये जिनबिंबस्य [illegible] ते जिनघ्नाः जिनागमघ्नाः जिनवाक्यनिन्हवकाः बहुना किं [illegible] ते सर्वे [illegible] ।

भो ढुंढकाः नामस्थापनाद्रव्यभावचतुर्भिः जिनेन्द्रस्य स्मरणं च पूजनं [illegible] ।

अरे ! ढूंढिया हो . गृहस्थोंका धर्म जिनपूजन. दानके सिवाय अन्य दूसरा त्रिकालमें भी श्रेष्ठ नहीं है । मुख्य धर्म तो जिनपूजन और दान देना ही है। इसपर भी आप जिनबिंबकी पूजा करनेका निषेध कर जो सत्य धर्मका निन्हव करते हो यह जिनबिंबका निन्हव नहीं है किंतु श्रीजिनेन्द्र देवका ही निन्हव है इसलिए आप अवश्य जिनघ्न हो । और अपने आगमको नहीं माननेसे आगमघ्न हो-जो आपके आगममें जिनबिंबपूजन—जिनमंदिरपूजन सिद्धयात्रागमन आदि विधान खुले रूपमें लिखा है तब उसको नहीं मानना यही आगमघ्नता है। और जिनवाक्य तथा मंत्रराज (णमोकार) को भी नहीं माननेवाले हो। अधिक क्या ? आप सब शास्त्रोंकी सत्यताका लोप करनेवाले मिथ्या कदाग्रही हो।

अर्थः—अरे ढूंढिया हो ! नाम-स्थापना-द्रव्य-भावसे जिनेंद्रदेवका आराधन पूजन स्मरण आदि चार प्रकार किया जाता है । प्रत्येक वस्तुमें यह चारो निक्षेप नियमसे होते है । परतु आप लोगोनें तीन निक्षेप [नाम-द्रव्य भाव] तो स्वीकार किये और बीचमें स्थापना निक्षेपको छोड दिया सो क्यो ? स्थापना निक्षेप प्रत्यक्ष रूपसे प्रत्येकको मानना ही पडता है । प्रतिनिधि विना एक क्षण निर्वाह होना अशक्य है । सेठ मुनीमको अपना प्रतिनिधि (स्थापना) बनाता है। वकील बैरिष्टर को भी सब कोई अपना प्रतिनिधि बनाता है। वाईसरायको राजाने अपना प्रतिनिधि बनाही रखा है । फिर प्रतिनिधिरूप स्थापना का निषेध किस प्रकार किया जा सक्ता है । स्थापनाके माने विना

पुनरप्यपि नामद्रव्यभावेन जिनेन्द्रचिद्रूप सदा हृदि स्मरथ किं न भो मतिहीना स्यु । प्रभो स्थापना कथमुत्थापिता भवद्भि [illegible] कस्य ग्रंथानुसारत ।

भो ढुंढका पुन शृणुथ कृत्रिमाकृत्रिमप्रभेदेन द्वेधा श्रीजिनेन्द्रस्य सर्वत्र क्षेत्रेषु सर्वत्र भूधरेषु स्थापना स्यात् कृत्रिम जैनेन्द्रबिम्ब मनुजाः पूजयन्ति । अकृत्रिमजिनेश्वरबिम्ब सुरेश्वरा अभ्यर्चयन्ति तत्पदप्राप्त्यर्थं । जिनबिंबस्य पूजनात् सहस्रकवलिना सादृश्यं पुण्यमुत्पद्यते अत [illegible] जिनबिम्बपूजा कथिता ।

[illegible] कुत्रापि स्वपक्षपालनार्थमित्यूचु । भो सज्जना भवद्भि यत्कथित तत्सत्यमपि तथापि अस्माक वाक् श्रूयतां । [illegible] अस्माभि आरम्भदोषेण प्रतिमाया पूजन उत्थापितं । आरंभात सकलजपतप संयमज्ञानादि-बिना अन्य [illegible] वस्तुस्थितिका कार्य सर्वथा नही हो सकेगा । इसलिये स्थापना की उत्थापना करना बहुत भारी अज्ञान है । फिर भी हे ढूंढिया [illegible] आपने यह स्थापना उत्थापन की सो किस ग्रथ से ? और चार निक्षेपको न मानकर तीन [illegible] माने सो किस ग्रंथ से ? जिस स्थापना निक्षेपके बिना भगवान का स्मरण मंत्रराजका जप और ध्यान चिंतवन भी नहीं हो सकेगा । इसलिये सत्य बातको नही मानना अज्ञान है ।

अर्थ —[illegible] हमारे शास्त्रों में कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमा भेद बतलाया है । पर्वत—नदीतीर [illegible] और जिनालयों [illegible] पूजा मनुष्य करते है । जिनपूजा करनेसे सहस्रकवलव्रतके समान महान फल प्राप्त होता है इसलिये [illegible] आचार्योंने बतलाई है ।

अर्थ:—ढूंढिया [illegible] पूजा का पूर्ण विधान सप्रमाण होनेसे यह तो कहनेमें सर्वथा असमर्थ होगये कि हमारे ([illegible]) शास्त्रोंमें पूजा विधान नहीं है । जो शास्त्रोंमें पूजा विधान लिखा है ऐसा कहते

सद्गुणा नश्यंति । यत्रारंभ तत्र किमपि धर्मोत्पत्तिर्नास्त्येव । निरारंभेण शिवस्थानप्राप्तिरनया भवति । आरंभेण अनंता जीवराशयो म्रियंते । तत्पापात् पश्चात् अयं प्राणी दु:खं भुनक्ति वा निगोदादिषु वचनागोचर अनंतकालपर्यंत दु:खं भुंजत्येव । इत्येव कल्पोक्तं श्रुत्वा लुंकमतप्रघातने केशरितुल्य जैनागम मार्गवर्धनैक दिवाकर असत्यपक्ष विभंजक भव्याब्जमार्तंडोपम श्रीवीतरागप्रतिपालक सिद्धांतादि ग्रंथवाचने सामर्थ्यधारक पूर्वाचार्य वाक्य प्रतिपालकः तन्मतोत्थापनार्थमित्याह भो लुंका — आरंभनिराकरण यूयं शृणुत चित्तसमाधिना करोत्यत् । जिनेंद्रगर्भसमये प्राक् इन्द्रआज्ञया कुबेर पुष्पवृष्ट्यादिभि पंचाश्चर्यमकरोत् । दिक्कुमार्यः तस्य मातु गर्भशोधनामकुर्वन् । दीपज्वालनादि अनेकधा परिचर्यां च । पुनः गर्भस्थाने आगते सति तदैव समये

हैं तो ग्रंथ अप्रमाण ठहरते हैं। इसलिये सब प्रकारसे लाचार होकर ढूंढिया लोग बोले—यद्यपि हमारे शास्त्रोंमें जिनपूजन विधान लिखा है वे सब ग्रंथ भी मान्य हैं परंतु पूजा करनेमें बहुत सा आरंभ होता है। धार्मिक कामोंमें आरंभ करनेसे बडा भारी दोष होता है। आरंभमें अनंत जीवराशि मर जाती है। जिससे प्राणी नरकादि दुर्गतिका पात्र होता है। आरंभसे जप तप संयम ज्ञान आदि उत्तम सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। इस लिये हम जिनबिंब का पूजन आरंभ दोषके भयसे निषेध करते हैं। ऐसा श्रवणकर लुंकमतरूपी गजोंका नाश करनेके लिये सिंह समान, जिनागम मार्गको वृद्धिगत करनेके लिये एक ही दिव्य सूर्य समान, श्रीवीतराग आज्ञाके प्रतिपालक, सिद्धांतादि ग्रंथोंके वेत्ता, पूर्वाचार्य मार्गका अनुसरण करने वाले दिगंबराचार्य ने कहा कि हे ढूंढिया हो पूजा करनेमें आरंभका दोष बतलाते हो सो सुनो। यह दोष तुमारे ग्रंथोंमें श्री जिनेंद्र देवके पंचकल्याण के अवसर लिखा है सो सत्य है या असत्य। जो सत्य है तो फिर आरंभका दोष देना सर्वथा अनुचित है। तथाहि—जिनेन्द्र भगवान के गर्भकल्याण समय—इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने बडे समूह और उत्साहसे पुष्प वृष्टि आदि पंचाश्चर्य वृष्टि की। दिक्कुमारी देवियोंने भगवानकी माता की गर्भशोधना की। अगणित दीप जलाये।

चतुर्निकायदेवनिकरा: आगत्य तत्पितरौ हरिविष्टरे संस्थाप्य क्षीरोदकेन स्नाप्य गर्भगतं प्रभु नत्वा त्रि प्रदक्षिणा दत्वा वस्त्राभरणमाल्यैः तौ प्रपूज्य तत्पुरो जयनदादिशब्दोत्करान् घोषयित्वा पश्चात्स्वस्वस्थान ययु. तथाहि गर्भजातबालकजिनं स्वावधिनेत्रेण ज्ञात्वा सर्वे सुरेश्वरा महताडंबरेण सह तत्पुर आगत्य जिनं नीत्वा स्वर्णाचले गत्वा सिंहविष्टरे स्थापयित्त्वा सहस्रकलशै दुग्धसमुद्रादागतै वा असंख्यै. प्रभोरभिषेकं कृत्वा पश्चात्तत्पुरे जिन स्थापयित्वा महदानदेन स्वस्थान जग्मु. पुन तप कल्याणेऽपि ते सुरेन्द्रा आगत्य तप कल्याणं कृत्वा वव्रजु । तद्वदेव केवलज्ञानोत्पत्तिसमयेऽपि समवसरणरचनामकुर्वन्नेव । तद्वदेव निर्वाणकल्याणसमये त निर्जरेन्द्रा आ-

अनेक प्रकारकी परिचर्या की । और गर्भ समय देवेन्द्रोने श्रीजिनेन्द्रदेव के मातापिताओंको सुवर्ण सिंहासनपर बैठाल क्षीरोदधि के कलशो से अभिषेक कराया । फिर नमस्कार की और प्रदक्षिणा दी वस्त्राभरण माला पहनाये और पूजा की । पश्चात् नृत्य किया जय नंद आदि शब्दोकी घोषणा की । फिर अपने स्थान गये ।

जन्म कल्याणमें:—श्रीजिनेन्द्रभगवानका जन्म अवधिज्ञानसे जानकर देवेन्द्रोने बडे ही ठाठबाटके साथ और अपार समारंभके साथ तत्काल बालकको ऐरावत हाथी पर विराजमानकर मेरु पर्वतपर एक हजार आठ क्षीर समुद्र के दुग्धसे भरे हुए कलशोसें अभिषेक किया । पूजा की, गीत नृत्य-वादित्र आदिके द्वारा महान महोत्सव किया और भगवानको नगरमें लाकर माता पिताको सोपकर आनद माना ।

तप कल्याणमें—देवगणोने भगवानका अभिषेक करा कर शिबिकामें प्रभुको बैठालकर वनमें दीक्षा कल्याण महान उत्सव और अपूर्व समारंभसे किया । ज्ञानकल्याणमें—समवसरणकी रचना कर जगतमें महान समारंभका ठाठ सबको आश्चर्यकारी बतलाया । और भगवानकी पूजा आठ द्रव्यसे की ।

निर्वाण कल्याणमें:—देवोंने भगवानके दिव्य शरीरको दहन किया जिसमें कास्मीर अगर तगर चंदन कपूर आदि सुगंधी पदार्थोंके द्वारा अपूर्व ठाठबाट से उत्सव मनाया ।

गत्य प्रभो शरीरदहनक्रिया कालागुरुकर्पूरगंधादिभि द्रव्यैर्घ कृत्वा स्वस्थानं ययुः । भो ढुंढकाः वदन्तु इयेतत्सत्य किमसत्य स्यात् ? पंचस्वपि कल्याणेषु महदारंभोऽवलोक्यते ।

इति श्रुत्वापि पुनः ढुंढकमतधारका वदा इत्याहुः भो गुरोत्तम मनुष्याणामारंभे पापोत्पत्तिर्नान्येव । पापारंभोऽरति पुण्यकार्येषु भवेत् नात्र संशय । इति तद्वोक्तं श्रुत्वा जिनागमार्थज्ञायक आह भो ढुंढका अस्योत्तरं शृणुत । भरतेश्वरः महासैन्यया सह भगवदादिनाथवंदनार्थमागतवान् तत्कारणं किं स्यात् । प्रत्यक्षं प्रभो दर्शनात् तस्य देशावधेः प्राप्तिरासीत् । भो ढुंढका आरंभफलं प्रत्यक्षं पश्यथ अस्माभिः नाममात्रं कथितम् ॥

हे ढूंढिया हो यह आरंभ (महदारंभ) भगवानकी पूजा और पंचकल्याण निमित्त किया जो तुमारे ग्रंथोंमें लिखना है वह सत्य है या मिथ्या ? सो कहो । जो सत्य है तो पूजा करनेमें आरम्भका दोष बतलाना व्यर्थ है । क्यों कि जिनेंद्र पंचकल्याणोंमें देवोंने पूजा की है ।

अर्थः— उपर्युक्त पंचकल्याणोंमें देवोंके द्वारा महान समारंभ भगवानकी पूजाका श्रवण कर ढूंढियाने कहा कि भगवानके पंचकल्याणोंमें देवोंने आरंभ किया है । वह विक्रियाजन्य होनेसे हिंसारूप नहीं है । मनुष्योंके आरंभमें ही पापोत्पत्ति होती है । देवोंके आरंभमें पापोत्पत्ति नहीं है । इसलिये मनुष्योंको पूजा करनेका निषेध हम लोग करते हैं । यह सुनकर जिनागमके ज्ञाता आचार्य महाराजने कहा कि हे ढूंढियाहो ! भरत महाराजने श्री आदिनाथ भगवानकी यात्रा और पूजा ससैन्य-सकुटुंब-सपरिवार महा विभूतिके साथ की और उस पूजाके फलसे अवधिज्ञानकी प्राप्ति हुई । आपके शास्त्रोंमें ऐसा लिखा है सो सत्य है या असत्य ? जो सत्य है तो फिर मनुष्यके आरंभसे पूजाका निषेध नहीं होता है बल्कि उत्तम गुणोंकी प्राप्ति होती है। जैसे कि भरत महाराजको अवधिज्ञानकी प्राप्ति हुई। इसलिये आरंभ

पुनरारंभफल शृणुथ—श्रीवर्द्धमानवंदनार्थं श्रेणिकाभिधो भूपेन्द्रः सकलसेनया सह किमगमत् ? वा एक एवागमत् तत्कथयत भो मतिवर्जिता । प्रभो दर्शनात् नमस्कारकरणात्तद्गुणोत्करकथनादेव तेन श्रेणिकभूपालेन पूर्वोपार्जित सकलाहः तदैव नाशयित्वा भाविकाले महापद्माभिधतीर्थंकरस्य गोत्र बबंधे । ह्येतत् आरंभफल पश्यथ । पुनरपि ह्यनेकवार बह्वारंभेण सह श्रेणिको भूपालो महावीरप्रभो दर्शनार्थं पूजनार्थं गत ॥

के दोपसे पूजाका निषेध करना केवल कपोलकल्पित बात है । शास्त्रपद्धतिसे निषेध नही हुआ । सो यह केवल अज्ञानसे कदाग्रह ही है ॥

अर्थः— भगवानकी पूजामे आरंभका दोप नही होता है—फिर भी ऐसा बतलाते है–देखो श्रेणिक महाराजने ससैन्य–सपरिवार महान आरंभ और पूर्ण वैभवके साथ भगवानकी पूजा की और उससे समस्त पापकर्मोंका नाश कर तीर्थंकर गोत्रका बंध किया ।

अर्थात्—महापद्म नामके भविष्य तीर्थंकरका गोत्रबंध किया। यह सब आरंभसहित पूजा करनेका ही महान फल है । फिर भी श्रेणिक महाराजने राजगृहीसे ससैन्य विपुलाचल पर्वतपर वीर प्रभुके दर्शन बार बार किये । सो यह लिखना सत्य है कि मिथ्या ? महाराज श्रेणिकने महान आरंभसे भगवानकी पूजा की और तीर्थंकर गोत्र बांधा तो अन्य मनुष्य भावभक्ति से महान उत्सवके साथ पूजा करें तो क्यो नही अनंत पुण्यको संपादन करेंगे अवश्य ही करेंगे । इसलिए हे ढुंढिया हो भगवानकी पूजा करनेमें आरंभका दोप प्राप्त होता है ऐसा कहना व्यर्थ और स्वकपोल कल्पित है ।

भो लुंकाः प्रभो· पूजने सिद्धक्षेत्रयात्राकरणे जिनमदिरनिर्मापणे जैनमंदिरस्य जीर्णोद्धरणे जिनस्य स्नपने इत्याद्यन्य-शुभे कार्ये हि महदारंभस्योत्पत्ति स्यात् तथापि तदारभ कृतोपि संख्यातगुणपुण्योत्पत्तिर्भवति । गृहस्थानां पुण्यारभे महत्पुण्योत्पत्ति कथिता जिनागमे जिनेश्वरै. सर्वत्रैव युष्माक ग्रथेषु यूय पश्यथ । गृहमेधिना पुण्यारभे धर्मोत्पत्ति मुनीश्वराणा निरारभेण धर्मोत्पत्ति. । नात्र संदेह । किंच श्रूयताम् ॥

पूजाकार्ये ह्यहो मूढा जिनस्नाने जिनगृहे । निर्मापणे महत्पुण्यं कीर्तितं च जिनेश्वरैः ॥

किंच श्रूयताम्—

सन्निधे भवता सर्वे लोकाश्च या स्त्रियोऽपिच । आयात्येव प्रतिघस्र पादत्राणेन सयुता ॥ २ ॥

यस्मान्मार्गे मृतानंता जीवा भो मूढमानसा । तत्पाप भवता लग्न किं न वदथ मेतिव (?) ॥ ३ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो. श्रीजिनेंद्र भगवानकी पूजा सिद्धक्षेत्रकी यात्रा—जिनमंदिरका जीर्णोद्धार करना जिनस्नपन करना आदि कार्योंमें महान पुण्यकी उत्पत्ति होती है। यद्यपि इन कार्योंमें महान् आरंभ है तो आरभ की अपेक्षा महान पुण्य असख्यात गुण उत्पन्न होता है। गृहस्थोको पुण्यकी उत्पत्ति आरंभ के बिना नहीं होती है इसीलिये गृहस्थोका धर्म आरभ सहित ही होता है। और मुनीश्वरोका धर्म निरारंभ है। ऐसा जिनागममें जिनदेवने बतलाया है।

अर्थः— हे ढूंढिया हो तुमारे (साधुलोगोंके) दर्शन और पूजन करनेके लिये बहुतसे मनुष्य और स्त्रियां नित्य जूता पहन कर आती है सो उनसे मार्गमें जूताके आरभ से अनंत जीव मर जाते है उसका पाप भी तुमको लगेगा। और दर्शनार्थ आये हुए पुरुष स्त्रियोको आरभ जनित दोष लगेगा। सो तुम ऐसा आरभ क्यों कराते हो। और लोगोको क्यो उपदेश देते हो? क्या तुमको पापका कुछ भी भय नहीं है? या आरभ करनेमें पाप नहीं है।

प्रातः मध्यान्हकालेवा चातुर्मासे दिवात्यये । सदा आयात्यहो लोका॰ तत्पाप भवतां भवेत् ॥ ४ ॥
ह्यहो मूर्खाश्च प्राप्ति॰ स्यात् भवता दर्शने खलु । पुण्यस्य जिनबिंबस्य तन्नास्त्येव विजातिनां ॥ ५ ॥
ब्रवीध्वं पूजनारंभे पुण्य किं पापसंभव । पुण्यं स्याद्यदि यूयंहि कुर्वीध्वं जिनपूजनम् ॥ ६ ॥
पापं स्याद्यदि युष्माकं ग्रंथाना भो मदोद्धताः । कुरुध्व लोपनं यूयं कथयिष्याम किं पुन. ॥ ७ ॥
पुनर्वच्मि शृणुध्वं भो युष्माकंच मते खलु । आरंभाज्जायते पाप एतस्य कथनं ननु ॥ ८ ॥
भवद्भिश्च गृहस्थाना पूजाया श्रीजिनस्यवै । त्यागं च कारिता किंवा अन्यारंभमपि खलाः ॥ ९ ॥

अर्थः—प्रातःकाल-मध्यान्हकाल-चातुर्मास-रात्रि-और अंधेरेमें बहुतसे मनुष्य तुमारे (साधुलोगोंके) दर्शनको जूता पहनकर आते हैं और उनको पुण्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा तुम लोग बतलाते हो तो जिनपूजनके पवित्र आरंभसे पुण्यकी उत्पत्ति क्यों नहीं होगी ? तुमारे दर्शनमें पापारंभ करनेपर भी पुण्यलाभ और भगवानकी पूजन में पवित्र आरंभ से पुण्य लाभ न हो यह कैसी बात ? अपने मतलबके लिये तो पापारंभमें पुण्य लाभ बतादिया !।

अर्थः— हे ढूंढिया हो भगवानकी पूजा करनेसे पुण्य होता है या पाप ? जो पुण्य उत्पन्न होता है तो तुम भी पूजन करना स्वीकार करो। यदि भगवानकी पूजा करनेमें पाप होता है तो तुमारे ग्रंथोमें पूजन करनेकी आज्ञा लिखी है वह मिथ्या ठहरेगी। जिससे तुमारे ग्रंथ ही झूठे हैं ऐसा मानना पडेगा।

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! तुमारे मतसे गृहस्थोको आरंभ करने में पाप लगता है ऐसा मानते हो और इसी लिये (आरंभ के भयसे) भगवानकी पूजा करनेका निषेध करते हो तो यह बतलाओ कि आरंभके पाप के भयसे भगवानकी पूजाका आरंभ का त्याग करना चाहिये या गृहस्थोंकी अनेक पाप प्रवृत्तिके द्वारा होनेवाला अशुभ आरंभ उसका भी त्याग करना चाहिये ? फिर भी तुमारे मतके प्रतिपालक गृहस्थ प्रतिदिवस कामसेवन करते हैं। घरके महान

गृहस्था प्रतिवर्षंहि कामसेवा गृहोद्भव । कुर्वन्त्येवापर कार्य धान्यस्य विक्रय तथा ॥ १० ॥
वैवाह प्रतिवर्षे वा ह्यनेककपटक्रियाम । अगालितजले स्नान्य वस्त्राणा धोवन सदा ॥ ११ ॥
भो मूर्खा सर्वकार्येषु आरभो जायते खलु । भवता सेवकानाच तदारभस्य किं कृतम् ॥ १२ ॥
कारयन्त्य च तत्त्याग भो ढुढ्या तूर्णमेवहि । वय नै जानयिष्याम निरारभा इमे तदा ॥ १३ ॥
यद्यारभस्य त्याग स्यात त्यज व सर्वमेवहि । आरभ सर्वकार्येषु क्रयविक्रयकेषुच ॥ १४ ॥

कार्य करते है । धान्य खरीदते और वेचते है, विवाह करते है, अनेक कपट क्रिया और मलिनाचार का आरभ करते है । विना छाने (अगालित) पानीमें अपने कपडे धोते है । अपना मकान वनवाते है । और तुमारे (साधु-लोगोके रहनेकेलिये) रहनेके पोसारा उपाश्रय (धर्मशाला या मदिर) वनवाते है । आदि अनेक प्रकार का महान आरभ करते है । हे ढूढिया हो गृहस्थोंको प्रत्येक कार्यमे आरभ तो होगा ही । विना आरभके गृहस्थ अपना जीवन एक क्षण मात्र भी स्थिर नही रखसके तो तुमारे सेवकोको उपर्युक्त पापजन्य क्रियाओके महान आरभ का पाप लगता है या नही । जो पाप लगता है तो सवसे प्रथम अपने सेवकोंसे गृहस्थसवधी आरभ का त्याग कराना चाहिये । जो तुम गृहस्थोके समस्त प्रकार का आरभ का त्याग करा सको तो अवश्य ही यह माना जासक्ता है कि आरभसे पाप होता है । परतु वह आरभ तो गृहस्थो से छुडाया जा नही सक्ता । और न गृहस्थ अपने गृहस्थसवंधी आरभको त्यागही कर सक्ता है। तो फिर भगवानकी पूजामें होनेवाला स्वल्पारंभ जो महान पुण्यका प्रदान करनेवाला है उसका त्याग करना या आरभभयसे भगवानकी पूजा का निवेध करना कितने अन्याय और पक्षपातकी अज्ञान भरी हुई वात है ? जो आरंभ ही छोडना है तो सर्व प्रकार का आरभ छोड देना चाहिये–यह नही कि गृहस्थ अपने गृहसंवधी समस्त प्रकार का पापारंभ तो करें और पुण्योत्पादक भगवानकी पूजा का आरभ का परित्याग करें ।

पूजने जिनबिंबस्य दर्शने मंदिरस्यवै । करणे च गृहस्थाना महत्पुण्यफल भवेत् ॥ १५ ॥
सिद्धक्षेत्रस्य यात्राया जिनबिंबस्य पूजने । जिनमन्दिरसत्कार्ये प्रतिष्ठाया च ये बुधा. ॥ १६ ॥
पापारंभस्य उत्पत्ति ब्रुवते तेऽधमा मता । तद्घाते निकोतेषु यास्यति नात्र संशय ॥ १७ ॥
ते ढुढ्या पुन इत्याहु त्रयो दोषा बुधोत्तमा । जिनबिंबे ह्यतो नैव स्यादस्माकं रुचि खलु ॥ १८ ॥
आद्यमचेतनत्व च द्वितीयत्व न कृत्रिमम् । तृतीयमेकन्द्रियत्व एभिर्दोषैश्च वर्जिता ॥ १९ ।
श्रीमज्जिनेन्द्रबिंबेहि भो लुकमतधारका । अचेतनत्वाभिध ोपं भवद्भि गदितं खलु ॥ २० ॥
तद्दोषस्य निराकरण ग्रंथगोधेन भो खला । करोम्यहं समापेन यूयं शृणुथ निश्चयात् ॥ २१ ॥

अर्थ—हे ढूढिया हो ! जिनेन्द्र भगवानकी पूजन करनेमें—जिनमंदिर बनवानेमें गृहस्थोको महान पुण्य लाभ होता है । इसी प्रकार सिद्धक्षेत्रकी यात्रा करनेमें जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिष्ठा करनेमें, रथोत्सव निकलवानेमें महान पुण्य है । जो उस पुण्यकर्ममें पापका आरभ बतलाते हैं वे नीच है । वे अवश्य ही निगोद आदि दुर्गतिमें जायगे इसमें संदेह नहीं है ।

अर्थ—यह सुनकर ढूढियोने कहा कि भगवानकी पूजन करनेमें हमे तीन दोष मालूम देते है । इसलिये हम निषेध करते है। प्रथम तो प्रतिमा अचेतन है । दूसरे जिन प्रतिमा कृत्रिम है। तीसरे जिन प्रतिमा एकेन्द्रिय है । बस इन तीन दोषो के कारण ही निषेध है ।

अर्थ—हे ढूढिया हो तुमने भगवानकी पूजा करनेमें जो अचेतनत्व नामका दूषण बतलाया श्रीजिनेंद्र भगवानकी प्रतिमा अचेतन है अचेतनकी पूजा क्यो करना उससे क्या लाभ होता है ?

कृत्रिमस्य निराकरण भो लुंका शृणुथ खलु । करोमि शास्त्रबोधेन ह्यहंकारवशान्न च ॥ ३८ ॥
जिनेन्द्रप्रतिमायाश्च भवद्भि मूढमानसै । दत्तो हि कृत्रिमो दोष सर्वपापस्य कारक ॥ ३९ ॥
स्तवन वंदन गानविद्या सामायिक तथा । पठथ भो किमर्थं च पूत्काररवत सदा ॥ ४० ॥
यथा तेषा हि पठनात् उत्पत्ति जायते सदा । शुद्धभावस्य भो लुंका तथा हि तस्य दर्शनात ॥ ४१ ॥
कृत्रिमा स्तवनाद्याश्च प्रत्यक्षं नैव सशय । इमे यथा हि मान्या स्यु तथा तेपि बुधैर्मता ॥ ४२ ॥
कृत्रिमस्य ह्यहो मूर्वा जिनबिंबस्य स्तवनात् जीवोयं लभते सौख्य शिवपुरमकृत्रिमम् ॥ ४३ ॥
इत्थ ज्ञात्वा बुधा ये हि जिनबिंबस्य दर्शनम् । कुर्वंति तेहि तत्तुल्य लभते शाश्वत पदम् ॥ ४४ ॥

मूर्तिकी निंदा करते है वे निगोद आदि दुर्गतिके पात्र है ।

अर्थः— हे ढूंढिया हो भगवानकी प्रतिमा कृत्रिम है इसलिये नही पूजना चाहिये । ऐसा कृत्रिमपनेका दोप देते हो तो यह दोप देना ठीक नही है । क्योंकि जिस प्रकार स्तवन वंदन पाठ सामायिक-गानविद्या और शास्त्र पाठ आदि जितने कार्य है वे भी सब किसी न किसी मनुष्यके बनाये हुए होनेसे कृत्रिम ही है । फिर कृत्रिम स्तोत्रादि पाठोको पढते हो उमसे तुमको लाभ होता है या नही ? कृत्रिम पाठादिकोंके पढनेसे लाभ मानकर भी कृत्रिम जिन प्रतिमासे लाभ नही मानना कदाग्रह है । स्तोत्रादिक प्रत्यक्ष ही कृत्रिम है । साधारण मनुष्य गीत भजन पद बनाते हुए देखे जाते है । जब कृत्रिम स्तोत्रोंके पढनेमें लाभ है तो कृत्रिम जिन प्रतिमा भी भव्य जीवोंको अकृत्रिम मोक्षसुख प्रदान करे तो क्या आश्चर्य ? इसलिये जो भव्य जिन प्रतिमाके दर्शन करते है वे अवश्य ही शाश्वत सुख प्राप्त करते है ।

हे ढूंढिया हो जो तुम कृत्रिम पाठोंका पढनेका त्याग करो तो जिनबिंबके दर्शन पूजन और उपासनाका

भो लुका कृत्रिम पाठ किमर्थे पठथ खलु । त्यजध्व तदपि मूर्खा दोषस्तनैव स्याच्च किम् ॥ ४५ ॥
गच्छध्व दुर्गतिं या च जिनबिंबस्य निंदनात् । अस्माकं मानयध्व च वाक्य यूय हितार्थदम ॥ ४६ ॥

इति कृत्रिम दोष निराकरण ।

एकेंद्रियाभिधो दोषो भवद्भि स्थापित' प्रभो । बिंबे तस्य निराकरण शृणुध्व भो करोम्यह ॥ ४७ ॥
भो ढूढ्या' काष्टलेखन्या वनस्पतिसमुद्भवे । पत्रे च मसिनाऽशुद्धे रदितान चैवमो खला ॥ ४८ ॥
जिनाज्ञा विमुखाशुद्धा सुबोधत्वववर्जिता. । नमथ तान् कथं ग्रथान् खलु एकेन्द्रियोपमान् ॥ ४९ ॥
बदथ सकलाश्चेमे ग्रथा एकेंद्रिया स्फुटं । किं स्यु पचेंद्रिया मूढा यूयं मे तूर्णतो ननु ॥ ५० ॥

त्याग करो । अन्यथा मिथ्या दूषण लगाकर अज्ञानी क्यो बनते हो और दुर्गतिके पात्र बनते हो । इसलिए कदाग्रह का परित्याग करो और सद्बुद्धि धारण कर जिनपूजन करो जिससे लाभ हो ।

अर्थ—हे ढूढिया हो जिनेंद्र भगवानकी प्रतिमा एकेंद्रिय है क्योकि पत्थर एकेंद्रिय होता है और उस पत्थरकी प्रतिमा बनाई जाती है सो प्रतिमा भी एकेंद्रिय कहलाई । एकेंद्रियकी पूजा करना अयोग्य है । इस प्रकार जो एकेंद्रियदूषण जिनप्रतिमा पूजन करनेमें दिया जाता है वह मिथ्या है । ठीक नहीं है । क्योकि जिस प्रकार जिन प्रतिमा पत्थर आदिकी होनेसे एकेंद्रिय है उसी प्रकार शास्त्र भी एकेंद्रिय है । शास्त्रके लिखनेकी कलम वनस्पति मे बनती है इसलिये एकेंद्रिय है । कागज या ताडपत्र भी एकेंद्रिय है । वनस्पतिको कूटकर कागज बनाये जाते है इसलिये एकेंद्रिय है । और ताडपत्र तो प्रत्यक्ष ही एकेंद्रिय है । उसपर सर्व लेख अशुद्ध स्याही से लिखे हुए है । फिर उन ग्रथोंको क्यो माना जाता है—पूजा की जाती है—नमस्कार किया जाता है । हे ढूढिया हो ! तुम तो पचेन्द्रिय हो और एकेन्द्रिय शास्त्रको क्यों पूजते हो । शास्त्रसे तो तुमारे में इन्द्रिया अधिक है ।

निश्चयाद्यदि युष्माकं नास्त्येव भो कुमार्गगा । एकेंद्रियाणा मान्यत्वं पत्रे च रदितान् खलु ॥ ५१ ॥
सर्वानपि त्यजध्व च ग्रंथान् यूय सनातनान् । वय हि ज्ञानयिष्याम इमे सत्या न संशय ॥ ५२ ॥
एकेन्द्रिय च प्रत्यक्ष शास्त्र भो मूढमानसा । यूय नमथ भावेन जिनबिंब कथ नहि ॥ ५३ ॥
ब्रवीध्व भवता ग्रथे जिनबिंबनिषेधनम् ॥ कस्मिन् कृतं ह्यहो मूर्खा तच्च भा भो खला स्फुट ॥ ५४ ॥
ग्रथेषु वाहि सर्वेषु जिनबिंबस्य पूजनात् । सप्राप्ता वहवो भूता शर्मसततिमजसा ॥ ५५ ॥
पश्यथ नात्र संदेहो भो लुकमतधारका । स्याद्यदि कथन यत्र कुर्वीध्वं जिनपूजनम् ॥ ५६ ॥
युष्माकं सर्वग्रथाना भवद्भि खलु लोपनम् । कुरुध्व यद्यसत्या स्यु कुरुध्वं न विलंबनम् ॥ ५७ ॥

यदि तुम शास्त्रोको एकेन्द्रिय नहीं मानते हो तो श्रीजिनप्रतिमाको एकेन्द्रिय किस प्रकार मानते हो । क्योंकि शास्त्रोमें एकेन्द्रियपना ताडपत्र पर कलमसे लिखे होनेसे प्रत्यक्ष दीख रहा है । जो एकेंद्रिय दोषसे समस्त शास्त्रोकी मान्यता को छोड देते हो तो हम समझेंगे कि आप बराबर एकेन्द्रिय को जानते हो और आपका कहना सत्य है । जो एके-न्द्रिय शास्त्रोंको छोड नहीं सक्ते तो समझना चाहिये कि तुम एकेन्द्रियकी पूजा करते हो ।

अर्थ—शास्त्र एकेन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं । जो तुम एकेन्द्रिय शास्त्र को पूजते हो तो जिनप्रतिमाकी क्यो नही पूजा करते ? तुमारे कौन कौन से शास्त्रमें प्रतिमाकी पूजा का निषेध किया है । तुमारे बहुत से ग्रंथोमें जिन प्रतिमा पूजना लिखा है । जिनपूजन करनेसे बहुतसे लोगोने अपना आत्मकल्याण किया है । फिर भी तुम निषेध करते हो । यह क्यों ? यदि ग्रथोमें जिन पूजन करना लिखा हो और तुम उस को मान्य करते हो तो फिर जिनपूजन भी मान्य करो अन्यथा ग्रंथका लोप करो ।

इति श्रुत्वाहु ते लुंका ग्रंथेच लिखित ननु । अतोऽस्माकं च मान्यत्व ग्रथाना नात्र संशय ॥ ५८ ॥
जिनविम्बमपि मूर्खा नहि घटति सुदरं । यद्दर्शनात् क्षय याति पापमुद्रा, कुदु खदा ॥ ५९ ॥
इत्याहु, पुन ग्रंथंच पठति बोधधारक । जायते पठनात्तच्च सुबोधश्च तत शिव ॥ ६० ॥
जिनबिंबस्य भो लुंका यो व्रती शुद्धधीर्वशी । करोत्येव प्रपूजा स लभते परमं पदम् ॥ ६१ ॥
भो लुंका जिनबिंबस्य पूजनात् वंदनात् खलु । आर्तरौद्रकुध्यानस्य नाशो यात्येव तस्यवै ॥ ६२ ॥
रक्ताक्षा क्रोधपूर्णांगा यथा काकोदरोत्करा । चातिरतदूरं याति वैनतेयस्य दर्शनात् ॥ ६३ ॥
तद्वदेव जिनेन्द्रस्य दर्शनात्पापपन्नगा । नराणाच प्रयात्येव ह्यनुक्रमाद्भवेत् शिव ॥ ६४ ॥

अर्थः—यह सुनकर लुका (ढूढिया) ने कहा कि हमे ग्रथ मान्य है जो ग्रथोंमें लिखा है सो भी मान्य है । हे ढूढिया जिन प्रतिमा यद्यपि सुदरता नही देती है तो भी जिनेन्द्र भगवानकी मूर्तिमें वह अचिंत्य शक्ति है कि जिससे भव्योंके भयकर पाप दर्शनमात्रसे तत्काल ही पलायमान हो जाते है ।

अर्थः—ढूढियाने यह सुनकर कहा कि देखो ग्रथोके पढनेसे तत्काल ही बोध होता है और उससे मोक्ष होती है तो उसी प्रकार हे ढूढिया हो जिनेद्र भगवानकी पूजासे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति और ज्ञानकी विशुद्धि होती है । जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

अर्थः—हे ढूढिया जिनेंद्र भगवानकी परमशांत दिव्य मूर्तिको देखने से अति रौद्र ध्यान नष्ट होजाते हैं । और परम शांतता प्राप्त होती है । जिनके नेत्र लाल है क्रोधसे शरीर कंपित हो रहा है ऐसी अवस्था शीघ्रही नष्ट हो जाती है । जैसे गरुडको देखकर सर्प भाग जाते है । इसी प्रकार पाप भी तत्काल विलीन हो जाते हैं । और क्रमसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

भवद्भि जिनबिंबस्य कृनाच यदि भो खला । निंदा किमर्थ त चैव मानयथ जिनेश्वरम् ॥ ६५ ॥
जपथ तं हि भो लुका प्रतिवम्न जगत्पतिम् । तमेव निंदयथोच्चै अस्योत्तर वदथ मे ॥ ६६ ॥
एव वदथ मा मूढा मेंऽना वंध्यापि स्यात् खलु । मदोन्मत्ता ब्रुवंत्येव सुधियो नो कचिदपि ॥ ६७ ॥
अधोलोकच सर्वत्र कृत्रिमाकृत्रिमा अपि । जिनबिंबा सुरै पूज्या सति वै शिवदायका ॥ ६८ ॥
ऊर्ध्वलोके च सर्वत्र विमानेषु पृथक् पृथक् । जिनबिंबा विमानिम्म निर्लिंगापिवंदिता ॥ ६९ ॥
पृच्छामि भवता कस्य ग्रथानुसारत कृता । उत्थापना हि बिंबस्य यूयं वदथ तच्च मे ॥ ७० ॥
कुपक्ष च त्यजध्व भो मे वाच शिवकारण । कुर्वीध्व शिववाछा चेत् मा स्युश्च जैनघातका ॥ ७१ ॥

अर्थ–हे ढूढियाहो आप जिनेश्वर देवकी मूर्ति की तो निंदा करते हो फिर भी जिनेश्वर देवको ही पूजते हो मान्य करते हो स्तवन पढते हो ! यह आश्चर्य । यह बात तो अपनी माताको वाझ बतलानेके समान है । इस प्रकार की क्रियाए मूर्ख तथा उन्मत्त पुरुष ही करते है ।

अर्थ–अधोलोक में कृत्रिम और अकृत्रिम जिन प्रतिमा देवोसे पूजित मोक्षको प्रदान करने वाली साश्वती विराजमान है। इसी प्रकार ऊर्ध्व लोकमें भी अकृत्रिम जिन प्रतिमायें सदा विराजमान है । और उनको विमानवासी देवगण पूजते है । फिर आपने जिनप्रतिमाको पूजन नही करना ऐसा कौनसे ग्रथसे निषेध किया है। जब कोई भी ग्रथ जिन प्रतिमाकी पूजन करनेके निषेधका नहीं मिलता है तब फिर पक्षपात क्यो करना चाहिये । यदि मोक्षकी इच्छा है तो कुपक्ष छोडकर भगवानकी पूजन करो । जिनेन्द्र देवके घातक मत बनो ।

भो हूढ्या पुन एव च वय हि साधवो भुवि । ब्रूथ वै मूढलोकानामग्रे यूय खला स्फुट ॥ ७२ ॥
साधूनामेकलक्ष्मापि भवता नैव दृश्यते । साधुजनस्य चिन्ह वै शृणुध्व कथयाम्यह ॥ ७३ ॥
व ह्याभ्यतरद्वद्वेन वर्जित शीलभूषित । सकलश्रुतवेत्ता च जिनमार्गप्रकाशक ॥ ७४ ॥
परनिंदातिगो धीरो देहे निर्ममता वशी । ऋतुनिकायजीवाना रक्षको मन्युवर्जित ॥ ७५ ॥
शुद्धाचाररत सद्गी मायामानविखडक । मुनिश्रावकधर्मस्य देशक सयमी दमी ॥ ७६ ॥
आत्मज्ञो,लोभनिर्मुक्त सर्वजनप्रिय शुचि । सस्कृतप्राकृतवेत्ता मनोक्तिपथवर्जित: ॥ ७७ ॥
शुद्धदृग्ज्ञानव्रतस्य धारको निर्मदो गुणी । कृती पूज्यो बुधौघैश्च मिथ्यात्वपथभजक ॥ ७८ ॥
अनेकातनयैर्युक्त ध्यानी मौनी सुवीर्यवान् । पचाक्षवारमातगनाशने हरिसदृश ॥ ७९ ॥

इस प्रकार सर्व दोष निराकरण किया। अब ढूढकोके दोष:—

अर्थ—हे ढूढिया हो एक बात तुमसे पूछते है । वह यह कि तुम अपनेको मूढ लोगोमें साधूके नामसे प्रसिद्ध करते हो। तुमारा ऐसा करना ठीक नही है । क्योकि—

अर्थ—हे ढून्ढिया हो तुममें साधुपनेका एक भी लक्षण नही है। न कोई ऐसा चिन्ह तुह्मारेमें दीखता है कि जिससे यह माना जाय कि तुम साधू हो। साधुका लक्षण-जिसके बाह्य और आभ्यतर परिग्रहका परित्याग हो। शीलसंपन्न सकल शास्त्रोके पारगत जिनमार्गके प्रकाशक, परनिंदासे रहित, धीर, वीर, देहभोग और शरीरसे निर्ममत्व, मन और इन्द्रियोके विजय करनेवाले, शात, षट् कायके जीवोकी दया पालनेवाले, क्रोधरहित, शुद्ध आचरणका पालनेवाले, मान माया लोभ और कामादि विकार रहित, धर्मके उपदेशक, परम संयमी, आत्माको जाननेवाले, परम पवित्र,

जिनाज्ञापालक सौम्यो भयमदविवर्जित । अष्टाविंशतिमूलादिगुणाना पालने क्षम ॥ ८० ॥
इत्याद्यन्यमनोज्ञैश्च गुणैर्युक्तो भवेत्खलु । य कश्चित्कथ्यते सहि साधु साधुजनैश्च भो ॥ ८१ ॥
गुणाना चैव त्वेषा मध्ये ह्येकोपि नास्ति वै । भवता मूढचित्ताना यूय पश्यथ निश्चयात् ॥ ८२ ॥
हंसा हंसा हि भो मूर्खा बका बकाश्च सुदरा । यूयं च बकतुल्या पि नो सति ध्यानमानसा ॥ ८३ ॥
क्रियालेशोऽपि नास्येव भवता च खलात्मनाम् । यत्र नास्ति क्रियाशुद्धि धर्मोऽपि तत्र नास्ति वै ॥ ८४ ॥

समस्त तत्वके वेत्ता, शुद्ध ज्ञानदर्शन और चारित्रको धारण करनेवाले, निर्मद, गुणी, परम ध्यानी, तपस्वी, समस्त प्रकारके भयोंसे रहित, परम सौम्य, जिनाज्ञा प्रतिपालक और अठावीस मूल गुणके धारक, गुणी पुरुषको साधु कहते हैं ।

हे ढूंढियाओ तुमारेमें उपर्युक्त गुणोंमेंसे एक भी गुण नहीं है । अतएव तुम किसी प्रकार भी साधु कहलाने योग्य नहीं हो । जो गुण सहित होता है वही साधू है । जिसमें गुण नहीं है वह साधू भी नहीं है ।

हे ढूंढिया हो हंस हंस ही होते हैं । बगुला बगुला ही है । यद्यपि बगुला भी देखनेमें सुंदर है तथापि बगुला हंस नहीं हो सके । और तुममें तो बगुलाके समान भी ध्यान नहीं है ।

अर्थः- - हे ढूंढिया हो तुमारेमें चारित्रका लवलेश मात्र भी पालन नहीं है न तुमारेमें पवित्र क्रियायें है । जहांपर क्रियाशुद्धि नहीं है वहांपर धर्म कैसे रह सक्ता है ?

भावार्थ— क्रियाकी शुद्धि पालन करनेपर ही धर्मका पालन करना समझा जाता है । जो क्रियाओंका पालन नहीं करता है वह धर्मकर्म विहीन है ।

प्रत्यक्ष भवता मूढा म्लेच्छाचारो हि दृश्यते । अत स्यु तत्समा यूय भ्रष्टाचारस्य पालनात् ॥ ८५ ॥
जिव्हास्वादेन युष्माभि सर्वाचार सुशोभन । त्यक्तवात सर्वधर्मोपि मुनिगृहस्थगोचर ॥ ८६ ॥
प्रासुक प्रासुकं कृत्वा सर्ववस्तुकदम्बक । भवद्भिश्च क्रियाहीनै सर्व ध्वगीकृत ननु ॥ ८७ ॥
भक्ष्याभक्ष्यविवेकोपि युष्माक नास्ति किंचन । दृश्यते श्वाचो यद्वत् तद्वद् यूयं न सशय ॥ ८८ ॥
जातिहीना क्रियाहीना जिनबिंबस्य निंदका: । यूयं च सर्वहीना स्युर्यथा म्लेच्छा तथा खलु ॥ ८९ ॥
खाद्याखाद्यस्य भेदो न म्लेच्छाना च खलात्मना । यथा स्यात्किंचनो लुका युष्माकमपि सो नहि ॥ ९० ॥
स्वस्वधर्मे रता सर्वे स्वस्वदेवस्य पूजका । यूय हि जिनधर्मस्य नाशका स्यु न सशय ॥ ९१ ॥

अर्थः— हे ढूंढियाहो तुम लोग प्रत्यक्षमें ही गदे हो म्लेक्षाचार सपन्न हो । तुमारे आचरण एकदम गंदे और मलीन हे इसलिये म्लेक्षोंके समान ही भ्रष्टाचारी हो ।

अर्थः—हे ढूंढिया हो तुमने जिव्हाके स्वादसे समस्त उत्तम आचरणको छोड दिया । और जो शुद्धाशुद्ध मिला सबको प्राशुक है प्राशुक है ऐसा कह कर सेवन किया । क्रियाहीन होने के कारण तुम लोगों ने मलिन वस्तुके सेवन करने मे भी विचार नही किया इस लिये तुम प्रत्यक्ष ही म्लेक्षके समान हो ।

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! तुमारे में भक्षाभक्ष खानेका जरा भी विवेक नही है । जैसे चाडाल के आचरण हैं वैसे ही तुम्हारे है। तुमारी न जाति है न क्रिया है । जिनप्रतिमाकी निंदा करनेसे तुम और भी पापी हो रहे हो । सच पूछो तो तुमें खाद्याखाद्यका विचार नही रहनेसे तुमको क्या कहें सो समझमें नही आता है ।

अर्थ—हे ढूंढिया हो जो जो मनुष्य जिस धर्मका पालन करता है वह अपने देवकी पूजन अवश्य करता है । परतु तुम तो अपने आप ही अपने ही धर्मका नाश करते हो ।

पुन पृच्छामि युष्माक किमर्थं मुखबंधन । अकुरुतेति सश्रुत्वा आहुश्च सावरीयुता ॥ ९२ ॥
सज्जना जीवरक्षार्थं वासमा वक्त्रबंधन । कृतं च सर्वजीवस्य पालकाश्च वयं खलु ॥ ९५ ॥
ततो हि नवद्वारा स्यु भो लुका तान् कथं खला । वध्यथ मुखेलेन जीवाना रक्षणात्र नो ॥ ९४ ॥
वधयथ नवद्वारान् लुका त्यजथ भो गला । वक्त्रस्य बंधन नूनं यूयं मला यदि खलु ॥ ९५ ॥
वासोयोगात्समीरस्य कीलालस्य च निश्चयात् । जीवोत्कराश्च आस्ये वै उत्पद्यते ललाशया ॥ ९६ ॥
तत्रैव तेच म्रियंते सदा कालेन सशय । नो यूय पश्यथ लुका प्रत्येषु सकलेषु च ॥ ९७ ॥
अतो यूय च प्रत्यक्ष निशाचरसमा खला । जीवाना भक्षणात् स्यु हि ते हि जीवस्य भक्षका ॥ ९८ ॥

अर्थ—हे ढूढिया हो तुम मुखपर पाटी क्यो बाधते हो । उत्तर—जीवोकी रक्षाके लिए मुखपर पाटी बांधी जाती है । हम लोग समस्त प्रकारके जीवोकी रक्षाके करनेवाले है । मुखसे जीव नहीं मरे इसलिये मुखपर पाटी बाधते हैं । हे ढूढिया हो तुह्मारे शरीरमें नव द्वारोके द्वारा निरतर जीव हिंसा होती है तो तुम अपने नव द्वारोको क्यो नही बांधते हो । सच्चे जीवरक्षक तब ही तो हो सक्ते हो जब कि तुम अपने शरीरके नव द्वारोको बांधकर सब प्रकारकी वायुओका सरोध करो । अन्यथा एक मुखपर पाटी बाधकर विशेष म्लेक्षाचार क्यो फैलाते हो और जैनधर्मको घृणापूर्ण बनाकर निंदाके पात्र होते हो।

अर्थ—हे ढूढिया हो मुखपर पाटी बांधनेसे पाटीमें थूकके संयोगसे और वायुके वेगसे अगणित जीव निरतर मुखमें उत्पन्न होते हैं तथा पाटीमें उत्पन्न होते हैं । वे वहापर ही मरते हैं । यह बात प्रत्यक्ष दीखती है । मुखपर पाटी रात्रि दिवस निरंतर बंधी रहनेसे रात्रिमें भी जीवभक्षणका पाप उत्पन्न होता है । दूसरे जीवोका भक्षण करनेमे तुमको निशाचर क्यों नही कहा जाय ?

रक्षथ नैव रात्रौ च प्राशुक चोदक खलु । यदि स्यान्मलमूत्रादेरुत्पत्ति मा खला स्फुट ॥ ९९ ॥
वदथ कुरुथ किं च तत्र तत्शुद्धये तदा । किं न कुरुथ भो लुका यदि श्वपचसोपमा ॥ १०० ॥
कथ जपथ नोकारं सामायिकं पठथ च । अशुद्धे सर्वं व्यर्थं स्यात् शुचि सर्वत्र समता । १०१ ॥
ईदृश्य निद्यकर्म च नो कुर्वंति खला स्फुट । मातगापि क्रियाहीना व्रतकर्मविवर्जिता ॥ १०२ ॥
जनगमोपमा यूय किं स्थु भो जिननिंदका । नो सति तत्समाप्येव तद्धीनान्नात्र संशय ॥ १०३ ॥
भो म्लेच्छा ईदृश किं स्यात् साधुजनस्य लक्षणम् । वय हि साधवो लोके इत्यमत्य वदथ मा ॥ १०४ ॥
अतो भो कुक्रिया त्यक्त्वा क्रिया शुद्धा सुखास्पदा । पालयत प्रयत्नेन जिनवक्त्रसमुद्भवाम् ॥ १०५ ॥

अर्थः— हे ढूंढिया हो रात्रिमें जिस समय तुमको मल मूत्र होता है तब क्या करते हो ? क्योंकि तुम लोग रात्रिमें प्राशुक (गर्म) पानी भी अपने पास नही रखते हो । और विना पानीके मलमूत्रकी शुद्धि किस प्रकार करते हो ?

रात्रिमें मलमूत्रकी शुद्धि करते हो या नहीं ? जो करते हो तो पानी विना किससे ? (क्या मूत्रसे मलविष्टा-की शुद्धि करते हो ?) यदि मलमूत्रकी शुद्धि नही करते हो तो अशुद्ध मल मूत्र सहित शरीरसे सामायिक किस प्रकार करते हो ? जप किस प्रकार करते हो ? अशुद्ध शरीरसे जप तप सामायिक आदि क्रियायें की जाय तो सब व्यर्थ है । अरे ! चाडाल भी तो अपने मूत्रसे अपनी शरीरकी शुद्धि (मल त्यागकी शुद्धि) नही करता है तो फिर तुम किस प्रकार करते हो ? यह तो प्रत्यक्षमें चांडालकर्मसे भी निंद्य कर्म है । ऐसे कर्मको करनेवालेको साधु किस प्रकार मानना ? भला यही साधुके लक्षण है ? सत्य सत्य कहना । इसलिये कुत्सित आचरणोको छोडकर सत्य और पवित्र आचरणोंका पालन करना सीखो ।

यायाथ कुर्वंति मूढा यूयम चाग्वर्जनात् । मा भजथा विवेकंच धर्ममार्गस्य नाशकाः ॥ १०६ ॥
जिनबिंबं जिनागार जिनसिद्धातपुस्तकम् । जिनमतस्य दयाभाव जिनयात्रा जिनोत्सवं ॥ १०७ ॥
जिनधर्म प्रभोर्वाच धर्मादिरसोममहशम् । इत्यादीन् ये रलोकाश्च निंदयत्येव त मता ॥ १०८ ॥
म्लेच्छाश्च जिनधर्मस्य नाशकाश्च जिनागमे । इति ज्ञात्वा न कर्तव्या निंदा निश्चय भो त्वला ॥ १०९ ॥
इत्युपदेशमस्माभिर्यदत्तो भवता त्वलु । अहंकारमदावेन नद्दि भद्राथैमेवच ॥ ११० ॥
निकोते यदि वाछाचेत् युष्माक स्यात् खला स्फुट । तदा कुरुत विमरत निंदा धर्मस्य नाशिनी ॥ १११ ॥
जिनबिंब नरा येहि दृष्ट्वा कुर्वंति भोजनम् । ते मता त्वागमे सर्वा पशुतुल्याश्च तद्दते ॥ ११२ ॥

अर्थः—हे ढूढिया हो मायाचार कपायसे दुर्गतिके पात्र क्यों बन रहे हो ? विवेकका परित्याग कर जन्मा-न्धके समान धर्ममार्गका लोपकर अपने जीवनको पतित क्यों बनाते हो ? ।

अर्थः—हे ढूढिया हो जिनबिंब (जिनप्रतिमा) जिनमंदिर-जिनवाणी-जिनधर्म-जिनयात्रा-जिनमहोत्सव-जिनरथ महोत्सव-जिनप्रतिष्ठा इत्यादि श्री जिनधर्मके अग उपागोकी जो निंदा करते हैं वे नीच हैं । जिनागममें बतलाया है कि जिनधर्मके नाशक म्लेच्छ होगे । परतु तुम लोग तो म्लेक्षजन्मा नहीं होकर भी म्लेक्षसे नीचे कार्य करते हो इसलिये जो तुमको अपनी भलाई करनेकी इच्छा है तो निंदा करना छोड देना चाहिये । और विवेक पूर्वक धर्मा-चरणका पालन करना चाहिये । यह उपदेश आपके हितके लिये लिखा है । अभिमान या किसी स्वार्थ से नहीं दिया है । यदि आपको निगोद पर्यायमें नहीं जाना है, तो जिनधर्मकी निंदा करना छोडकर भगवानकी पूजा करो ।

अर्थ—हे भव्यजीवो ! जो मनुष्य श्रीजिनदेवके दर्शन किया कर भोजन करते है वे आगमानुसार मनुष्य है । तथा जो विना दर्शन भोजन करते हैं वे पशुके समान हैं ।

दर्शनं जिनबिंबस्य सर्वांहस्यैव नाशदम् । दर्शनाज्जायते मोक्षो तद्दते सर्वं निष्फलम् ॥ ११३ ॥
सर्वातंकविनाशो वै जायते जिनदर्शनात । सर्वे शोका प्रयात्येव नाशताच तदीक्षणात ॥ ११४ ॥
जिनेक्षणसमं धर्मं लोके नास्त्येव चापरं । अतः पूर्वं कुरुध्वं वै जिनबिंबस्य दर्शनम् ॥ ११५ ॥
लोकेऽस्मिन् जिनदर्शनोपमफलं नैवापरं सज्जना । जीवा ये तरिता तरंतिच तथा वाहि तरिष्यति भो ॥
ते सर्वे जिनदर्शनेन सुखदं सर्वार्तिसंहारिणा । ज्ञात्वेत्थं मनुजोत्तमा प्रतिदिनं तं हि कुरुध्वं मुदा ॥ ११६ ॥

अर्थ—श्रीजिनराजके पवित्र दर्शन करने से समस्त पापोंका नाश होजाता है। और क्रमसे मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है। भगवानके दर्शनके विना समस्त व्रतपालन जप तप व्यर्थ है।

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवानके दर्शन करने से सर्व प्रकारके रोग नष्ट होजाते हैं। समस्त प्रकारके शोक नष्ट होजाते है। प्रभु के दर्शन सिवाय अन्य कोई धर्म ही नहीं है। इसलिये नित्य प्रति भगवान का दर्शन कर अपने जन्म-को पवित्र और पुण्यरूप बनाओ।

अर्थ—संसारमें श्रीजिनेन्द्र भगवानके पवित्र दर्शनके सिवाय अन्य कोई भी वस्तु उत्तम नहीं है, दुर्लभ नहीं है सुखद नहीं है, हितकर नहीं है। इसलिये जिनेन्द्र भगवानके दर्शन से भव्य जीव संसार समुद्र से पार होते हैं, होगये हैं और होंगे। भगवानके दर्शन सिवाय संसार से पार होनेका दूसरा मार्ग ही नहीं है।

समस्त प्रकार की पीडाको नाश करनेवाला यह प्रभुका दर्शन समस्त जीवों को सुखकारी है ऐसा जानकर हे भव्यजीवो! नित्य प्रति भगवानका दर्शन-पूजन ध्यान और अभिषेकादि विधान करो।

प्राप्नोत्येव बुधोत्तमाः जिनपतेः सद्दर्शनात् मानवो । मोक्ष शर्मनिकेतन मुनिवरैर्वंद्य सदास्थ वरम् ॥
भव्योऽय शुभध्यानधर्मनिरत पापालिसन्नाशनात् । कुर्वीन्च प्रतिवासरं सुखकरं तद्दर्शन भो मत ॥ ११७ ॥
ये कुर्वंत्यधमा सुगधिगणै पूज्यस्य बिम्बस्य वै । याता याति निकोतिपु खलु सदा याम्यति भो सज्जना ॥
निंदा तु सम्प्रदायिका मुनिवैर्हेया न कुमानवैः । कुर्वीध्वं च बुधा सदा सुखकर भक्ति न मह्नीक्षण ॥ ११८ ॥
इत्थ वै परपक्षस्य भङ्गा किंचित धिया मया । निराकरण कृत चैव जिनागमानुसारत ॥ ११९ ॥
यथोक्ता वीरनाथेन श्रेणिकं प्रति भो बुधा । भाविकालभवा वार्ता तथैव पश्यथाशुभा ॥ १२० ॥
ईदृशा धर्ममार्गस्य नाशकाश्च खलाशया । ज्ञानलेशोज्झिता क्रूरा भविष्यति न सशयः ॥ १२१ ॥
भव्यभावयुता स्वल्पसंख्याढ्या मगधेश्वर । विमख्याढ्या नराः तस्मिन् भविष्यत्येव नेतरः ॥ १२२ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव भगवानके दर्शन करते है उनको मोक्षके सुख शीघ्रही प्राप्त होते हैं। वह समस्त पापोसे मुक्त होकर मुनियोसे वंदनीय होता है। इसलिये भगवानका दर्शन नित्य प्रतिदिन करना चाहिये।

अर्थ—देवोसे पूजित ऐसी जिनराजकी प्रतिमाकी निंदा करनेसे जीव निगोदमें जाते है, जायंगे और जा रहे है। इसलिये निंदाको छोडकर भगवान की भक्ति करो जिससे सर्व सुखकी प्राप्ति हो।

अर्थः—इस प्रकार ढूंढिया मतका निराकरण जिनागमके अनुसार किया।

अर्थ—वीर भगवान्ने श्रेणिक महाराज से कहा है कि पंचम कालमें धर्मको नष्ट करनेवाले बहुतसे मनुष्य उत्पन्न होगे। परतु भव्य भावोको धारण करनेवाले कम होगे। यह कालका माहात्म्य है।

अथ व्रतप्रकरणम् ।

पुनराह शृणु भूप तेषां भाविसुखाप्तये । दर्शयामि शुभं मार्गं शिवो यस्माद्विजायते ॥ १२३ ॥
अष्टान्हिकाविधिं चैव सपत्तिं जिननामजाम् । शिवदा मेघमालाख्या सद्व्रतं पल्यसंज्ञकम् ॥ १२४ ॥
शातदं पार्श्वनाथांकमादित्याख्यं च सद्व्रतम् । सर्वपापेभसिंहाभं सर्वातंकविनाशकम् ॥ १२५ ॥
ज्येष्ठजिनवरनामानं दशलक्षणसंज्ञकम् । षोडशकारणाख्यं च जिनगोत्रप्रदायकम् ॥ १२६ ॥
मेरुपक्ति क्रियाव्रतं सर्वतोभद्रसंज्ञकम् । विमानपक्तिसन्नाम शातकुंभं द्विकावलीं ॥ १२७ ॥
सिंहादिविक्रमं वृत्तं त्रयं समारनाशकम् । नक्षत्रमालाव्रतं च रत्नावलीं सुशातदाम् ॥ १२८ ॥
वृत्तं कनकावलीं चैव मोक्षपदस्य दायकम् । उह्लीनोह्लीनसद्व्रतं जिनैक प्रतिप्रोषधम् ॥ १२९ ॥
पंचकल्याणवृत्तं च कर्मदावाग्निनीरदं । शिवकुमारवृत्तं च पुष्पांजलिव्रतोत्तमम् ॥ १३० ॥
रत्नत्रयाभिधं वृत्तं सर्वकर्मारिनाशकम् । यस्यैव पालनाद्राजा मल्लिनाथोभवज्जिन ॥ १३१ ॥

अर्थः— हे राजेन्द्र भव्य जीवोंके हितके लिये शुभ मार्ग बतलाते हैं । जिससे शिवसुखकी प्राप्ति हो । अब उन व्रतोंके कुछ नाम बतलाते हैं जिनके पालन करनेमें भव्य जीवोंको स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

अष्टान्हिकव्रत १ जिनगुणसंपत्तिव्रत २ मेघमालाव्रत ३ पल्यविधानव्रत ४ रविवारव्रत ५ जेष्ठजिनवरव्रत ६ दशलाक्षिणीव्रत ७ षोडशकारणव्रत ८ मेरुपक्ति ९ त्रिपंचाशत् क्रियाव्रत १० सर्वतोभद्रव्रत ११ विमानपक्तिव्रत १२ शातकुंभव्रत १३ द्विकावलीव्रत १४ सिंहविक्रमक्रीडनव्रत १५ रत्नत्रयव्रत १६ कनकावली १७ नक्षत्रमाला व्रत १८ रत्नावली १९ वृहतकनकावली २० उह्लीनोह्लीनव्रत २१ जिनप्रोषधव्रत । पंचकल्याणव्रत २२ पुष्पांजलि-

इत्याद्या बहुव मति जिनागमे जिनेश्वरैः । प्रोक्ताश्च चेलनाकांत सर्वतश्च शिवदायकाः ॥ १३२ ॥
शास्त्रोक्तविधिना भूप ये करिष्यति मानवा । द्वित्रिभवे हि यास्यति शिवेन्यत्राद्विवर्जिते ॥ १३३ ॥
एषां मध्येस्ति राजेन्द्र कर्मादिदहनाभिधं । व्रतोहि सर्वकर्माणि दाहने पावकोपमः ॥ १३४ ॥
तत्कथं चास्य सर्वं हि विधिमाद्य विनश्च न । समाधिना शृणु त्वं च सर्वभव्यहितावहे ॥ १३५ ॥
कर्माण्यष्टौ महादुःखदायकानि खलानि च । अष्टाविंशत्सहस्रमासंख्या ज्ञेया प्रकृतयः खलु ॥ १३६ ॥
सर्वे पिंडीकृता येन सर्वशर्मप्रदायका । षट्पंचाशत्सहस्रसंख्याता संजाता नगधेश्वर ॥ १३७ ॥
एषां कर्मप्रकृतीनामेकैकोपवासोपमा । शतैकषट्पंचाशत्संख्याप्रमा कार्या शिवाप्तये ॥ १३८ ॥
एते सर्वे समाख्याता प्रोषधाः कर्मनाशकाः । एकांतरेण कर्तव्या मनोमलविभंजकाः ॥ १३९ ॥

व्रत २३ इत्यादि बहुतसे उत्तमोत्तम व्रत श्री जिनदेवने भव्य जीवोंके कल्याणके लिये बतलाये हैं । इन व्रतोंमेंसे कितने ही ऐसे उत्कृष्ट व्रत हैं कि जिनका सेवन करनेसे दो तीन भवमें ही मोक्षका सुख प्राप्त होता है ।

अर्थः— उपर्युक्त व्रतोंमें एक कर्मदहन नामका सर्वोत्तम व्रत है । जो भव्य जीवोंको सर्व प्रकारकी संपत्तिका प्रदान करनेवाला और मोक्षके सुखको देनेवाला है । कर्मदहन व्रत कर्मोंका समूल नाश करनेवाला होनेसे शीघ्र ही सिद्धपदको प्रदान करता है ।

कर्मोंकी समस्त उत्तर प्रकृति १४८ हैं । उनमें आठ कर्मकी मूलप्रकृति मिला देनेसे कुल १५६ एकसौ छप्पन भेद हो जाते हैं । बस जितने भेद कर्मोंके होते हैं उतने ही भेद इस कर्मदहन व्रतके होते हैं ।

भावार्थः— १५६ प्रोषधोपवास इस व्रतमें किये जाते हैं । एक एक कर्मप्रकृतिके नाश करनेके लिये एक एक प्रोषधोपवास करना चाहिये ।

प्रोपधाना विधिं वक्ष्ये त्वं शृणु शर्मदायक । विधिना क्रियमाणोय शिवशर्मप्रदायकः ॥ १४० ॥
पूर्वस्मिश्च दिने सैव व्रती चोत्थाय शुद्धधी । तत्पात् सामायिकं कृत्वा मंत्र जप्त्वा जगन्नुतम् ॥ १४१ ॥
पश्चाच्छुद्धोदकेनैव स्नात्वा यत्नेन सिद्धये । धौतवस्त्राणि शुक्लानि सधार्य जिनमंदिरे ॥ १४२ ॥
गत्वा दत्वा जिनेन्द्रस्य त्रिपमाहि प्रदक्षिणा । नत्वा चाष्टांगविधिना तत्पादाब्जौ मुहुर्मुहु ॥ १४३ ॥
ततो जिनेन्द्रबिंब च स्थापयित्वा वरासने । छत्रचामरसच्छोभा कर्तव्या तत्पुरो मुदा ॥ १४४ ॥
शुद्धोदकेक्षुसदाज्यदुग्धदधिरसोत्करैः । स्नपनीय च त पश्चात्सर्वौषधिरसैर्वरैः ॥ १४५ ॥

१५६ प्रोपधोपवास इस व्रतमें किये जाते हैं। और इसीलिये इस व्रतका सार्थक नाम कर्मदहन व्रत है। ये प्रोपधोपवास एकांतर (धारणा-पारणा) से करना चाहिये ।

अर्थ—कर्मदहनव्रतकी विधि-व्रतके धारणाके दिवससे ही मनकी सब प्रकारकी शल्यको निकालकर गुरुके समीप व्रतको ग्रहण करे। धारणाके दिवस एकाशन करे। परिणामोंको शांत रखकर यथासाध्य विपय कपायोंका त्याग करे। ब्रह्मचर्य धारण करे। शुद्ध आहार निरंतराय ग्रहण करे।

उपवासके दिवस प्रातःकाल उठकर सामायिक करे। पश्चात् शौच क्रियासे निवृत्त होकर शुद्ध प्राशुक जलसे स्नान करे। धुले हुए सफेद वस्त्रोंको धारण करे। और अपने घरमें उत्तमोत्तम भगवानके पूजनकी सामग्री तथा अभिपेककी सामग्री (इक्षुरस-दूध-दही-घृत-सर्वौषधि-शर्करा-फल-फूल-केशर-कपूर—दीपक आदि) ले जावे। मंदिरमें जाकर भगवानके चैत्यालयकी पूजा भक्तिसे कर पश्चात् श्री जिनराजके बिंबोंकी तीन प्रदक्षिणा जय जयकार पढता हुवा देवे। पश्चात् स्तोत्र पढकर प्रभुका गुणानुवाद कर नमस्कार करे। विधिपूर्वक वेदीकी स्थापना करे। शासन देवोंको यथास्थान विराजमान करे। पश्चात् गंधकुटीपर भगवानको विराजमान कर चमर छत्र आदिसे दिव्य शोभा

जलस्नान् कणान् सर्वान् दूरीकृत्य प्रयत्नतः । स्निग्धेन शुभ्रवस्त्रेण प्रभोर्गात्रस्य वा ततः ॥ १४६ ॥
जन्मात्ययजरागणां च नाशार्थं श्रीपतेः पुरः । दातव्याश्च त्रयो धारा स्वर्णभृङ्गारनालकात् ॥ १४७ ॥
समागतपघातार्थं काश्मीरागुरुजैः रसैः । लेपनीयं जिनेन्द्रस्य पादयोर्लग्नपूज्ययोः ॥ १४८ ॥
जिनपादारविन्दाग्रे करणीया मनोहरा । पुञ्जाश्चाक्षतमन्त्रैरखण्डैश्चानन्दकराः ॥ १४९ ॥
पद्ममन्दारसत्कुन्दचकुलाद्याश्च सुन्दराः । पुष्पोत्करा जिनेन्द्रस्य पादोपरि सुमोदकाः ॥ १५० ॥
सर्वारिविनाशाय धर्तव्या जीववर्जिताः । सम्पूज्य श्च कुमत्यंश्च निर्छिद्रा पतिता न कौ ॥ १५१ ॥
व्यञ्जनैर्मोदकैः सज्जैः रसैर्नानाविधैर्वरैः । शाल्यन्नैर्जिनपादाब्जे ढौकनीयं सुखाप्तये ॥ १५२ ॥
दीपैर्धूपैः फलौघैश्च पूजनीयो जिनेश्वरः । महार्घेण ततस्तत्र अनर्घ्यपदप्राप्तये ॥ १५३ ॥

करे । पश्चात् इक्षुरस–घृत–दूध–दही–सर्वौषधी रससे मंत्रपूर्वक अभिषेक करे । पश्चात् पूर्ण कलश (कुंभकलशों से) अभिषेक करे । प्रलेपन कर पुष्पवृष्टि करे । भगवानकी आरती करे । फिर गंधोदक से शांतिधारा समर्पण करे ।

अभिषेक हो जानेके पश्चात् उत्तम वस्त्रसे प्रभुके शरीरको पोंछ लेवे । फिर मंत्रपूर्वक आठ द्रव्योंसे पूजन करे । पूजनमें भी आह्वानादि विधिको भूल न जावे ।

जलपूजा भृंगारकी नालीसे तीन धारा चढानेसे ही होती है । चंदनपूजा अनामिका अंगुलीके द्वारा सुगंधित केशर प्रभुके चरण कमलके अंगुष्ठोपर चढानेसे होती है । अक्षतपूजा पुंज चढानेसे होती है । पुष्पपूजा—सुगंधित पुष्प प्रभुके चरणकमलोंपर चढानेसे होती है । नैवेद्य पूजा सुंदर नैवेद्य भात पूडी पकवान थालमें चढाकर उतारनेसे होती है । दीपपूजा—दीपकको जलाकर आरती रूप करनेसे होती है । धूपपूजा धूपको अग्निमें खेनेसे होती है । केला बदाम आदि फलोंकी भेंट प्रभुके समक्ष चढानेसे फलपूजा होती है । जल फलादि अष्ट द्रव्य स्वस्तिक

कृत्वैवं जिनसत्पूजा पश्चात्पुष्पांजलिर्मुदा । दातव्या शांतिपाठश्च करणीय प्रभो' पुर ॥ १५४ ॥
शक्त्यनुसारत पश्चात् जिनेन्द्राग्रे सुमोदतः ।'कायोत्सर्गं च अंतेहि कर्तव्य मोक्षप्राप्तये ॥ १५५ ॥
पश्चात्स्तोत्र जिनेन्द्रस्य पठनीय तत खलु । कर्तव्य मन्त्रराजस्य जाप्य ध्यानच सिद्धये ॥ १५६ ॥
कर्तव्य शास्त्रस्वाध्याय मनोरोधाय केवल । स्वाध्यायसम धर्म हि न पर गृहमेधिनाम् ॥ १५७ ॥
इत्यादिशुभकर्माणि कर्तव्यानि जिनास्पदे । नदन्नातोद्यसयुक्ते भव्यनरालिभृते ॥ १५८ ॥
गृहे गत्वा च पश्चाद्धि मध्यान्हे समये वरे । कर्तव्य भोजन शुद्ध त्रिशुद्ध्या दोषवर्जितम् ॥ १५९ ॥

सरसो आदि मगलीक द्रव्योके साथ अर्घको उतारना चाहिए । फिर पुष्पाजलि चढाकर शांति धारा चढाना चाहिए। यह पूजाविधिका क्रम है ।

अर्थ—फिर शक्तिके अनुमार कायोत्सर्ग करना चाहिये क्यो कि कायोत्सर्ग ही आत्मा के ध्यान का और मोक्ष का साधन है ।

अर्थ—फिर श्रीजिनेन्द्र भगवानके गुणो का स्तोत्रपाठ करे और मत्रराजकी जाप देवे ।

अर्थ—पीछे पूजा करने के बाद शास्त्रो का स्वाध्याय आत्मकल्याण के लिये करना चाहिये। स्वाध्यायसे मनका निरोध होता है इस लिये स्वाध्याय के समान अन्य कोई उत्तम धर्म नहीं है ।

अर्थ—इत्यादिक शुभ क्रियाओ को जिनमदिरजी में करे तथा बाजे गाजेके साथ करे ।

अर्थ—फिर घर पर जाकर पात्रको भोजन कराकर मध्यान्ह समयमें शुद्ध भोजन एकबार ही (ठाम आहार पानी) मन वचन काय की शुद्धि से करना चाहिये ।

शूद्रस्पृश्य जलं चूर्णं घृतं ग्राह्य व्रतासये । नैव गृह्णति ये मूर्खास्तत्समास्ते बुधैर्मता ॥ १६० ॥
कृत्वैव शोभनं न्यादमतरायविवर्जितम् । एकवारच तत्रैव स्थाने मोक्षपदासये ॥ १६१ ॥
प्रत्याख्यानस्य विधिना वेदाहारस्य तत्र हि । प्रत्याख्यान च कर्तव्यं कर्मसंतानहानये ॥ १६२ ॥
निरारंभ प्रकर्तव्य प्रोषध मदवर्जितम् । एवच क्रियमाणेहि प्रोषध॰ कर्मनाशक ॥ १६३ ॥
अनेन विधिना कार्या प्रोपधा कर्मघातना । एवं सर्वेपु कर्तव्य पूजनादिविधि खलु ॥ १६४ ॥
सर्वे च प्रोपधा भूप शतैकपचषट्प्रभा । अस्य स्तु कर्मनाशार्थे कर्तव्या शुद्धितस्त्रिधा ॥ १६५ ॥
प्रोपधैकं प्रति जाप्यं तत्कर्मेव नामतः खलु । करणीय तद्विनाशार्थं चाष्टोत्तरशतप्रभम् ॥ १६६ ॥

भोजनशुद्धि–भोजन उचकुलीन का ही हो । स्नानादि पवित्र विधिसे समस्त द्रव्योकी शुद्धतासे ही उत्पन्न हुआ हो । चौकाकी विधि और खाद्य पदार्थोंकी मर्यादा आगम विधिसे की हो । शूद्रके हाथका जल घृत और आटा आदि नहीं हो । क्योकि शूद्र सस्कार और क्रिया विहीन होनेसे उसके हाथका जलादिक ग्रहण करने योग्य नही है फिर भी कोई ग्रहण करे तो व्रतभंग समझना चाहिये । या वह स्वयं शूद्रके समान ही है । भोजन अंतराय रहित करना चाहिये । भोजन होनेके पश्चात् चारप्रकारके आहारका परित्याग करे । इस प्रकार भोजन का प्रत्याख्यान कर्मोंका नाश करने वाला है ।

अर्थ—प्रोपधके दिवस आरंभ नही करना चाहिये । आठ प्रकारके अभिमानोका त्याग करना चाहिये । इस प्रकारकी विधि जो भव्यजीव प्रत्येक प्रोपधोपवास में करता है उसके कर्मोंका नाश होता है । प्रत्येक प्रोपधोपवास के दिवस (जिस कर्म प्रकृतिका प्रोपधोपवास हो उस प्रकृतिके नाशके लिये) प्रकृति के अनुसार जाप देवे ॐ ह्रीं मतिज्ञानावरण कर्म नाशाय नमः ॐ ह्रीं श्रुत ज्ञानावरण कर्मनाशाय नमः इत्यादि प्रकारसे जाप देवे । एक पात्रको

दत्वा ह्येकाय पात्राय न्यादं च धर्मिणे शुभम् । पूर्वं पश्चाद्धि कर्तव्य मर्वेष्वेवं विधि खलु ॥ १६७ ॥
विकथा च गृहारंभं वामात्याग स्वमडनम् । तल्पे च शयन शोक वृथाटन मदाष्टकम् ॥ १६८ ॥
पैशुन्यं परनिंदा च परवामेक्षण तथा । रागोद्रेकाच हास्य वा रतिं चैवारतिं तथा ॥ १६९ ।
कुभाव चैव दुर्ध्यान भोगाभिलाषमेवच । पत्र शाकमशुद्ध च दधिदुग्धंच वा घृतम ॥ १७० ॥
व्रतिभिर्मोचनीयाश्च व्रते चास्मिन् व्रताश्रये । इत्यन्या दोपनिकरा ससारदु खदायका ॥ १७१ ॥
केशरिभयतो यद्वत् गजवृन्दा महोन्नता । पलायंत्येव तद्वद्धि कर्मभा व्रतसिंहत ॥ १७२ ॥
कर्मदहनव्रतो यो मत सकलव्रतेपु मुख्योय । जिनसिद्धाते ख्यात स्यात् सार्थनामत ॥ १७३ ॥

आहार देकर फिर आप आहार करे। विकथा और आरभका परित्याग करे। स्त्रीसेवनका परित्याग करे, शरीर सस्कार का परित्याग करे, खाटपर शयनका परित्याग करे, शोक-अभिमान और व्यर्थका पर्यटनका परित्याग करे। दूसरोंकी निंदा करना, हसना, दूसरोंकी स्त्रीके मनोहर अगोको देखना, दुर्भाव, मात्सर्य, द्वेष आदि दुःपरिणामोका त्याग करना। अशुद्ध दूध,दही, घृत आदि पदार्थ का त्याग करना। इत्यादि उत्तम आचरणोंके साथ इस व्रतका पालन करे।

अर्थः- – व्रती पुरुषोको व्रतकी शुद्धिके लिये उपर्युक्त दोपोका परित्याग करना चाहिये।

अर्थः— जिस प्रकार सिंहको देखते गज पलायमान हो जाते है वैसे ही इस व्रतसे कर्म रूपी गज पलायमान हो जाते है। यह व्रत समस्त व्रतोंमें मुख्य है। जिन सिद्धातमें इसको मुख्य व्रत बतलाया है। इसी लिये इसका नाम भी सार्थक है।

पूर्वघस्रस्य मध्यान्हे कर्तव्य भोजन सदा । द्वितीये वासरे चैवानशनं करणीयकम् ॥ १७४ ॥
तृतीयस्य दिनस्यैव मध्यान्हसमये वरे । पारण करणीय च कर्मसतानहानये ॥ १७५ ॥
सर्वोत्कृष्टविधिश्चायं सर्वकर्मारिघातक । कथितश्चागमे शुद्धे भूप नैवात्र सशय ॥ १७६ ॥
सर्वोत्कृष्टफलं वक्ष्ये भाविज चेलनाप्रिय । करिष्यति व्रत शुद्ध प्रापयिष्यति स शिवं ॥ १७७ ॥
कर्मदहनव्रतस्य फलं शृणु समाधिना । श्रवणाच्च यत्सर्वाहा प्रलय याति देहिनाम् ॥ १७८ ॥
अनेन विधिना कृत्वा य कश्चिदिह जन्मनि । समाधिना पुन स्तस्य मरण शल्यवर्जितम् ॥ १७९ ॥
प्राप्स्यति का गतिं सैव तत्सर्वं कथयाम्यह । द्वात्रिशाना गणाना तु दृढश्रद्धाय केवलम् ॥ १८० ॥
विदेहे शाश्वते क्षेत्रे तूर्यकालेन भूषिते । ह्रासवृद्धिविनिर्मुक्ते ईतिभीत्यादिवर्जित ॥ १८१ ॥
वैदेहा मुनयो यत्र भवत्यनेकशोनिश । रत्नत्रयतपोध्यानैः स सार्थनामभृत् ख्यत ॥ १८२ ॥
जिनेन्द्रा जितमार्तंडा चक्राका पुरुषोत्तमा । षट्खडपालने दक्षा कामरूपधरा वरा ॥ १८३ ॥
विष्णवो बलदेवाद्या तत्द्विप शर्ममंडिता । इत्याद्या यत्र भातिस्म सदा सर्वत्र विश्रुता ॥ १८४ ॥

व्रतके धारणा पारणाके दिवस एकवार भोजन करे। वहभी मध्यान्ह समयमें ही करे। यह व्रत की सर्वोत्कृष्ट विधि बतलाई मध्यम और जधन्यविधिसे भी यह व्रत किया जाता है। इस व्रतका सर्वोत्कृष्ट फल मोक्षकी प्राप्ति है। जो मनुष्य इस व्रतको पालनकर समाधिमरण पूर्वक देहका विसर्जन करे तो उत्तम सुखको प्राप्त होता है। इस व्रतका ऐसाही माहात्म्य है।

जो भव्य जीव इस व्रतको भावोसे करते हैं वे विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न होते हैं। विदेह क्षेत्रमें सदैव चौथा कालही रहता है। कालका परिवर्तन नहीं होता है। विदेहमें ईति भीति इत्यादि किसी प्रकार का उपद्रव नहीं है। जहांपर

प्रवर्तंते सदा यत्र धर्मो जैनेति नामतः । त्रयो वर्णाश्च विद्यते मिथ्यामार्गपरामुखाः ॥ १८५ ॥
सदा यात्येव मोक्षेहि तस्माद्भव्या नरेश्वरा । रत्नत्रयतपोयोगात् शर्मवृंदाकितेऽक्षये ॥ १८६ ॥
पाखडा तत्र नो संति कुदेवा दोषमंडिता । तन्मदिरा हि नो संति तेषाच सेवकास्तथा ॥ १८७ ॥
नो सति द्रव्यतस्तत्र मिथ्याद्दग्धारका नृप । भावत केचन सति नरा तद्धारकाः खलु ॥ १८८ ॥
यत्र नराश्च शोभंते रवितेज समा शुभाः । शीलरत्नधरा वृद्धा कलाकलापमडिताः ॥ १८९ ॥

सदैव दिगंवर जैन मुनियो का निरंतर दर्शन होता है। जहां तीर्थकर प्रभु सदैव अवतार लेते हैं व साश्वते बने रहते है। चक्रवर्ती नारायण प्रतिनारायण आदि पुण्य पुरुष भी सदैव होते रहते है।

विदेह मे जैनधर्म सिवाय अन्य धर्म सर्वथा नहीं है–जैन मत सिवाय अन्य कोई भी मत किसी कालमें कभी भी यहां पर उदय नही होता है न अन्यमतके धारक मनुष्य ही वहापर उत्पन्न होते हैं। वहा पर सबको व्यवहार रत्नत्रयकी प्राप्ति स्वभावरूप से होती है। इसीलिये सर्वत्र जिनायतन—जिन चैत्य जिन चैत्यालय—और जिनरूप धारक गुरु सर्वत्र सर्वदा मिलत है।

वहा पर मिथ्यामतके मदिर–चैत्य और पाखंडी गुरु भी नही हैं, न कुशास्त्रोंका सद्भाव वहा पर है। कोई भी मनुष्य कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र–और कुधर्मको नहीं जानता है। न पट अनायतन वहां पर है। उसी प्रकार मिथ्यामार्ग रूप-गंगादिनदी प्रवाह में स्नान कर लोग धर्म नहीं मानते हैं। तथा अग्निमें जलकर सती वहा पर नहीं होती है। वहा पर कुतीर्थ नहीं है। वहां पर द्रव्य मिथ्यात्व का सर्वथा अभाव है। इसीलिये वहां पर ब्राम्हण नहीं होते हैं। हा भाव मिथ्यात्वके धारक कितने ही जीव उत्पन्न होते हैं।

चंद्रकोटिप्रमायुष्का चापपंचशतोन्नता पुत्रपौत्रादिसंपन्ना धनवृंदभरा वराः ॥ १९० ॥
आमृत्यु शर्ममग्नाश्च दुखशोकविवर्जिता । दानपूजादिकार्येषु सदा तत्परमानसाः ॥ १९१ ॥
ईदृशा यत्र राजते नार्योपि मगधेश्वर । शीलव्रतधरा शुभ्रा जिनेज्यारतमानसा. ॥ १९२ ॥
देशे देशे पुरे ग्रामे भूद्रे द्रोणे च कर्वटे । पत्तने विपिने खेटे तथा कूले मनोहरे ॥ १९३ ॥
इत्याद्यन्यशुभे स्थाने सति सर्वत्र सुदरा । जिनालया ह्यनेकाश्च यत्र नेत्रमनोहरा ॥ १९४ ॥
स्मशानाद्रिगुहाया च दिशावासोविमंडिता । मुनीन्द्रा यत्र कुर्वंति स्वात्मध्यान शिवाप्तये ॥ १९५ ॥
यत्र ये श्रावका नार्य स्वगृहेषु भावतः । जिनबिंबस्य नित्य हि सर्वपापप्रशातये ॥ १९६ ॥
पचामृतरसै शुद्धैरभिषेकं तत परम् । कुर्वंति पूजन द्रव्यैर्वसुभेदैर्मनोहरै ॥ १९७ ॥

वहा पर शीलवान धर्मके प्रतिपालक भव्यमात्रोसे सपन्न सुखमें निमग्न पुत्र पौत्रादिसहित परम सुखी मनुष्य होते ह । एक कोटि पूर्वकी आयु और पाच सौ धनुपका शरीर होता है ।

अर्थः— वहापर स्त्रिया भी शीलमडित–भगवानकी पूजामें लवलीन होती हैं । जहांपर देश २ ग्राम २ पर्वत २ नदीतीर-खेट, द्रोण, शहर, जगल आदि सभी प्रदेशोमें सुदर जिनालय होते हैं ।

अर्थ— जिस क्षेत्रमे दिगंबर जैन ऋपि गुहा, कंदर, स्मशान भूमि और सर्वत्र अपने ध्यानमें लवलीन दृष्टिगत होते है ।

अर्थ–विदेहक्षेत्रमें सर्व स्त्री पुरुप (श्रावक श्राविका) अपने अपने घरमे (गृह चैत्यालयमें) स्थित जिन ालयोंमें भावभक्ति से श्रीजिनेंद्र भगवानके मनोहर बिंबका शुद्ध पचामृत रससे अभिषेक करते है । फिर अष्ट

नृत्यं गानं जिनाग्रेच रात्रौ जागरणं तथा । वाद्यघोष प्रकुर्वंति तत्रत्या मगधेश्वर ॥ १९८ ॥
मध्यान्हसमये नित्य द्वारस्थानेषु च पुन । तिष्ठति पात्रदानार्थं स्वव्रतपालने रता ॥ १९९ ॥
मुनीन्द्रापि तदागत्य तेषा सद्मनि भोजनं । कृत्वा सुविधिना पश्चात्तपोवने प्रयातिच ॥ २०० ॥
तत्प्रभावात्प्रकुर्वंति तेषा गेहे सुगधिपाः । पचाश्चर्यं सुदानस्य प्रभावात् किन्न जायते ॥ २०१ ॥
आहारदानतो जीवा भोगभूमौ व्रजन्त्यहो । द्वित्रिचद्रपल्यांते भुजत्येव वरं सुखम् ॥ २०२ ॥
यस्माद्यात्येव भो भूप तिर्यंचोपि सुखास्पदे । दानानुमोदनाद् भद्रा मनुष्याणा च का कथा ॥ २०३ ॥
अपरं दानसदृश नो पुण्य गृहमेधिना । अत पात्राय दातव्यो गृहस्थैर्जेमनं खलु ॥ २०४ ॥
पात्रदानं न कुर्वंति ये गृहस्था मताश्च त । विमुच्छपशुना तुल्या स्वोदरभाणे रता ॥ २०५ ॥

द्रव्यसे पूजन करते है नृत्य गान वाद्यघोष आदि उत्तमोत्तम भक्तिभावनाओंके द्वारा रात्रिमें जागरण कर धर्म लाभ उत्पन्न करते हैं ।

अर्थ—सब दानोंमें आहार मुख्य और सर्वोत्कृष्ट है। मोक्षमार्गकी स्थिरता इस दान मे ही होती है। आहारदानका फल भी उत्तम है। इस दानके फलसे जीव भोगभूमिमें उत्पन्न होते है। जहांपर एक दो तीन पल्यके उत्तम सुखको प्राप्त करते है। यदि तिर्यंच भी पात्र दानकी अनुमोदना करे तो भोगभूमिके उत्तम सुखको प्राप्त होता है फिर मनुष्यकी क्या बात है ? वह तो प्राप्त होगा ही। गृहस्थोंको पात्रदानका पुण्य महान होता है। इस लिये पात्रमें आहार दान अवश्यही देना चाहिये।

श्रावक श्राविका भी जघन्य पात्र हैं उनको भी आहार देना चाहिये। जो शक्तिशाली होकर पात्रमें आहार दान नहीं देते हैं वे मनुष्य जन्मको व्यर्थ खो देते है। जिन मनुष्योंका धन पात्रदानमें भगवानकी पूजामें और

पात्रार्थं न च पूजार्थं दानार्थं नार्पितं खलु । स्वापतेयो गृहस्थाना तेषा तन्नि फल मतम् ॥ २०६ ॥
प्रातर्जिनेन्द्रदेवस्य पचभिश्चोत्तमैं रसैः । कृत्वाभिषेकं पश्चाद्धि करणीय च पूजन ॥ २०७ ॥
प्रात जिनेन्द्रपूजा च पात्राय भोजन तथा । न करोति ददात्येव गृहस्थ सन् स्वयं पुन ॥ २०८ ॥
भुजत्येव मुनिश्चभ्रे सदा दु ख न सशय । अतो द्वौ सर्वदा कार्यौ इज्यादानौ सुखाप्तये ॥ २०९ ॥
यत्र वर्षे गृहस्थास्तें नित्य कुर्वंति षट्क्रिया । नित्याहस्य शात्यर्थं पुण्यवृद्धस्य प्राप्तये ॥ २१० ॥
मूलधर्मौ गृहस्थाना पूजादानौ जिनागमे । कथितौ वीतरागेण सर्वसपत्तिकारकौ ॥ २११ ।
ईदृश शोभन क्षेत्र नानर्द्धिमडित च त । स व्रती व्रतपुण्येन लभत्येव नरेश्वर ॥ २१२ ॥
तीर्थनाथकुले तत्र चक्रनाथकुले तथा । विष्णोर्नानर्द्धिसयुक्ते सुरवृदनिषेविते ॥ २१३ ॥

जिनायतनो की रक्षा करनेमें व्यय नही होता है उस धनका प्राप्त करना निःफल है।

अर्थ—प्रातः काल पचामृत रसोसे श्रीजिनेंद्र भगवानकी प्रतिमा का अभिषेक और अष्ट द्रव्यसे पूजन करना चाहिये। मध्यान्ह समयमें पात्र को आहार दान करना चाहिये जो इस प्रकार पूजा और दान नही करता है वह अधोगतिको जानेवाला है। पूजा और दान ये दोनो कर्म गृहस्थोके मुख्य कर्म है।

अर्थ—जिस विदेह क्षेत्रमें गृहस्थ नित्यही आवश्यक षट्क्रियाओका पालन करते है। जिससे पापोकी शांति होती है। और पुण्य की वृद्धि होती है। गृहस्थों के दो धर्म मुख्य है। क्योकि इनमें ही अभ्यतर षट् कर्मोंका समावेश हो जाता है। दान-पूजा ही ये दो मुख्य है। अरहत भगवान ने इन दोनोंको ही धर्मका मूल बतलाया है। इस प्रकार समस्त क्रियाओंको पालनेवाले गृहस्थ विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न होते है। जहांपर अनेक ऋद्धियां स्वयमेव प्रकट होती हैं।

तेषां सद्रूपशोभाढ्ये स्त्रीरत्ने च गुणोज्वले । सम्यक्त्वेज्याव्रतोपेते स्वर्गोद्भवच्युतोपमे ॥ २१४ ॥
ईदृशे भूप तद्गर्भे अस्मान्मृत्वाच सो व्रती स्थास्यत्येव शुभे घस्रे सुमुहूर्ते शुभोदयात् ॥ २१५ ॥
सा वामा त च गर्भस्थ धरिष्यत्यपि पुण्यभा । नो भजिष्यति तत् दु स गर्भस्यैव प्रभावत ॥ २१६ ॥
दानाभिषेकपूजा च जीवानामभय तथा । इत्यादि शुभकर्म च तदान्हो वै करिष्यति ॥ २१७ ॥
सुखेन रध्रमासाते सुतरत्नं मनोहरम् । जनिष्यत्येव सा नारी शुभयोगे शुभे दिने ॥ २१८ ॥
तदैव जन्मकाले च तस्य तात प्रमोदत । करिष्यत्येव आतोद्य जन्मोत्सव च मगलैः ॥ २१० ॥
नि.स्वेभ्य. रत्नस्वर्ण च वस्त्राभूषणमेव च । दास्यति चाभय दान कारागारस्थदेहिनाम् ॥ २२० ॥
जिनेन्द्राणा निशातेषु पंचामृतरसैर्वरैः । अभिषेक जिनाना च कारयिष्यति वार्चना ॥ २२१ ॥
पश्चात्पुत्रमुखाब्ज च दृष्ट्वा स मोदमाप्स्यति । सोपि घस्रं प्रति वालो वर्द्धिष्यत्येव सुदर ॥ २२२ ॥

अर्थ—विदेह क्षेत्रमें व्रती पुरुप तीर्थंकर कुलमें चक्रवर्ती कुलमें उत्पन्न होते है। नारायण होते है। देवोके द्वारा पूजित कुलमें उत्पन्न होते है। वे पुण्यपुरुप उत्तम स्त्रियोंके गर्भमें शुभ मुहुर्तमें उत्पन्न होते है। वहांपर उनको बिलकुल पीडा नही होती है। गर्भमें भी वे सुखसे रहते हैं।

अर्थ:— गर्भमें प्राप्त होनेके समय माता जीवोंको अभयदान करायेगी। नवमास सुखसे व्यतीत होनेपर वह माता सुतरत्नको उत्पन्न करेगी। पुत्रके जन्मकालमें पिता याचक, दीन और दुःखी मनुष्योको धन, वस्त्र, भूषण प्रदान कर जगतको सुखी बनायेंगे) कारागृहसे बंदिजनोको छोडकर जीवोको सतोप देंगे। और पुत्रजन्मकी खुशीमें श्री जिनेन्द्र भगवानके मदिरमें पचामृतसे अभिपेक व आठ द्रव्यसे पूजन नित्य महोत्सवके साथ करायेगे। पश्चात् वालक (पुण्यात्मा–क्योकि उस जीवने कर्मदहन व्रत किया है।) के पुण्य मुखका दर्शन कर पिता हर्षित होगा। बालक क्रमसे

कौमारकालमुल्लंघ्य पयपाने सुभोजनैः । क्रमेण यौवन रूप लप्स्यते च सुशोभनम् ॥ २२३ ॥

दीप्त्या तर्जितमार्तंड कान्त्या निर्जितदीधिति । गभीरेण महत्वेन निर्जित सरितापति ॥ २२४ ॥

श्रिकृत्येन निर्जित श्रीद मारेण निर्जितो हरि । रूपेण अनगश्चि पुण्यनाम्ना विभूषित ॥ २२५ ॥

इत्यादिगुणवार च नेष्यत्येव शुभोदयात् । यौवनं मदनोद्दीप्ते विद्धि व्रतफल इदम् ॥ २२६ ॥

तत्पिता यौवनाढ्य च दृष्ट्वा सनु गुणोज्वल । गुणेन स्वात्मतुल्या वा सुतमाप्स्यति भूमिराट् ॥ २२७ ॥

तदात्मजविवाहार्थं याचयित्वा नृपात्मजा । महत्कुलोद्भवा शुद्धा रूपावर्जित मत्सरा ॥ २२८ ॥

ईदृशा सुरूपाकारा सुखनाश प्रदायन । सुतं यौवनाढ्याय नेत्रानदकराय वै ॥ २२९ ॥

नेष्यति वाद्यघोषौघान् दानोत्करसुमंगलान् । कुर्वन् वै मगलाप्सर्थं सज्जनानंददायकान् ॥ २३० ॥

भोक्ष्यति सोपि पश्चाद्धि शर्मणा सतति सदा । स्मिक्रार्थे पुरस्कृत्य व्रतफलेन भो नृप ॥ २३१ ॥

तत्पिता स्वस्य पदे हि त पुत्रं विधिपूर्वक । स्थापयिष्यति स्वप्रजापालनार्थं सुरोपम ॥ २३२ ॥

कुमार अवस्थाको प्राप्त होगा। समस्त प्रकारके सुखोंको प्राप्त होकर अपने तेजसे सूर्यको, कान्तिसे चद्रको, गभीरतासे समुद्रको, लक्ष्मीसे कुबेरको, शक्तिसे सिंहको, रूपसे कामदेवको जीतनेवाला अनेक उत्तम गुणोंसे भूषित वह पुण्यात्मा बालक होगा। यह सब कर्मदहन व्रतका ही माहात्म्य है।

अर्थ—उसका पिता बालकको यौवन अवस्थामें देखकर अपनी जातिकी उत्तम गुणवाली अपने समान ऋद्धिकी धारक राजाओंकी कन्याओंकी याचना कर विधीपूर्वक विवाह (वाग्दान) स्वीकार करेगा। पश्चात कुलाम्नाय और धर्मशास्त्रकी विधीसे विवाह करेगा। वह बालक सधर्मिणीको प्राप्त कर पूर्व व्रतका पुण्यफल भोगेगा। पिता पुत्रको गृहका समस्त भार समर्पण कर भगवती दीक्षा धारण कर केवलज्ञानको प्राप्त कर मोक्षमें अव्यय सुखको प्राप्त करेगा

पुरो वाह्यवने गत्वा तत सोपि शिवाप्तये । गृहीत्वा सयमं शुद्ध गुरोः पार्श्वे मुनेर्मतम् ॥ २३३ ॥
हत्वा सकलकर्मारीन् ध्यानाशुगेन स मुनिः । संप्राप्य केवलज्ञान तदैवेज्या सुरै कृता ॥ २३४ ॥
पश्चात् संबोध्य भव्यौघान् यास्यति चान्यये पदे । सुखासुखविनिःक्राते नृपार्कि दुर्लभ नृणा ॥ २३५ ॥
सोपि तातपदे स्थित्वा न्यायमार्गेण धर्मधीः । पालयन् स्वप्रजा सर्वा स्थास्यत्येव निरकुशः ॥ २३६ ॥
शुद्धदृग्धारको वाग्मी दाता भोक्ताच सव्रतः । त्रिवर्गपालकः सैव पूर्वव्रतफलोदयात् ॥ २३७ ॥
करिष्यति जिनेंद्रस्य स्नानेज्या शुद्धभावत । पात्राय विधिना दान दास्यति वासर प्रति ॥ २३८ ॥

वह राजकुमार राजा होकर प्रजाका न्यायमार्गसे पालन करेगा। वह शुद्ध सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला त्रिवर्गको परस्पर अविरोधपूर्वक पालन करता हुआ व्रतके पुण्य फलसे सर्वोत्तम सुखोंको शांति और निराकुलताके साथ निर्विघ्न भोगेगा।

अर्थ—वह पुण्यात्मा भव्यजीव विदेहमें—भगवानकी पूजा-भक्ति-स्तवन-गुणस्मरण आदिके द्वारा धर्मके

---

१ इस प्रकरणमें विवाह विधि विदेहक्षेत्रमें भी आगमकी मर्यादा से वतलाई है। यह नहीं है कि कन्या स्वयं वरण करे या बालक अपने आप ही अपनी इच्छानुसार जिस तिस (जाति कुजाति योग्य—अयोग्य नीच उच आदि सबको) को स्वीकार कर विवाह कर लेवें। ऐसा करना मर्यादाके वाहर है।

विवाह धर्मका अंग है उसकी पूर्ति गुरुजन ही योग्य रीतिसे सपादन करते हैं। इसमें बालक बालिकाओंको स्वतंत्रता नहीं है।

निग्यपापविनाताय निर्णगार चिदा. न । गिद्वातान जिनाप्तर्थं श्रवण मुनिवक्तत ॥ २३९ ॥
धर्मकार्ये नृप सोपि पूर्वं कृत्वाघनाशने । अन्यत् कार्यं गृहोत्पन्नं पश्चात् करिष्यति ॥ २४० ॥
स्थिरेषु जिनधर्मे न वात्सल्य धर्मसिद्धये । करिष्यत्येव नृपेंद्रो नृनु न्य.दादिभि सदा ॥ २४१ ॥
जिनधर्मस्थिरेषु वै यो नान्नेन प्रकुर्वते । वात्सल्यं स मन शर्म्मे जिनधर्मपराङ्मुख ॥ २४२ ॥

माहात्म्यको बढायेगा । अपने कर्तव्यको राजा होकर भी परम भक्तिभावना से करेगा । नित्य सुपात्रमें दान देगा जिनवाणीका पठन पाठन करेगा और गुरुके मुखसे शास्त्रोंका श्रवण करेगा । शास्त्र गुरुके मुखसे ही श्रवण करना चाहिये । वह राजा सबसे प्रथम दिनभरसबधी अपने धार्मिक कार्योंको कर लेगा । पीछे से राज्यकार्य और कार्य करेगा । यही धर्म की महिमा है ।

---

१ धर्मके अग अनेक होते है । उनमेसे गृहस्थोंके लिए वात्सल्य अग विशेष उपयोगी और परमावश्यक है । वात्सल्य अंगका अर्थ—अपने साधर्मी भाइयोंको भक्ति भावनासे भोजन कराना पचायतको निमत्रण कर प्रीति भोजन देना साधर्मी भाइयों को मेला प्रतिष्ठा आदि अवसरके निमित्त म भक्ति पूर्वक भोजनादिकके द्वारा सत्कार करना । समय समयपर साधर्मी भाइयोंको भोजना कराना । विवाह नाम सस्कार—उपनयन सस्कार (जनेऊ) और व्रत अनुष्ठानके समय साधर्मी भाइयोंको (पचायत) भोजन कराना वात्सल्य अग है । परस्पर प्रेमभावना और धर्ममें अनुराग इस अगसे ही होता है । सर्व श्रावकाचारोंमे भी इसीको वात्सल्य अंग माना है । जो मनुष्य पचायत भोजनको या मेला प्रतिष्ठामें आहार दानका निषेध करते हैं—फिजूल खर्च वतलाते हैं वे धर्मके माहात्म्य को जानते ही नहीं हैं । वे स्वय दरिद्र है । कभी भी उनको वात्सल्य अग पालन करनेका सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ है इसलिये ऐसे सुधारक ही जघन्य पात्रदानकी महिमा को नहीं जानते हैं । परंतु आचार्योंने मेला प्रतिष्ठादिमें आहारदान देने से तीर्थंकर गोत्रका पुण्य बतलाया है ।

भो बुधाः सर्वदा श्रीमज्जिनधर्मस्थितेषु वै । कुर्वीध्वं सर्वजीवेषु वात्सल्यं भोजनादिभिः ॥ २४३ ॥

वात्सल्यात् बध्नत्येव तीर्थकरस्य कायवान् गोत्रं शिवप्रदं नूनं सर्वाधिपनमस्कृतम् ॥ २४४ ॥

सभामध्ये वरे सिंहपीठे स्थित्वा च स नृपः । स्वस्याज्ञापालकान् भूपान् दास्यत्येव सदा खलु ॥ २४५ ॥

धर्मोपदेशं भो भूपाः शृणुध्वं कथयाम्यहं । यस्येव श्रवणात्सर्वे यात्येव नाशतां खलु ॥ २४६ ॥

धर्म-अर्थ-और काम इन तीनो पुरुषार्थोमें से सबसे प्रथम धर्म पुरुषार्थ को निराकुल भावोंसे निर्विघ्न करना चाहिये। पीछेसे काम और अर्थ पुरुषार्थ को साध्य करना चाहिये। तो ही नीतिपूर्वक कर्तव्य पूर्ण होते है। जो मनुष्य अर्थ और काम पुरुषार्थ की सिद्धिके लिये धर्म पुरुषार्थ को छोड देते है वे नीतीका परित्याग कर देते है।

वह राजा साधर्मी भाइयोको भोजन पानके द्वारा वात्सल्य अंगकी वृद्धि कर जिनधर्मके प्रतिपालक साधर्मी भाइयो का भोजन पान आदिके द्वारा सत्कार करेगा। जो भाई अपनी शक्तिको छिपाकर साधर्मी भाइयोका आदर सत्कार नही करता है वह जिन धर्मके तत्वो की जानकारी से बहिर्भूत है।

जिनधर्मका एक मुख्य अंग यह भी है कि साधर्मी भाइयो का भोजन पान आदि सब प्रकार से आदर सत्कार करे। जो इस प्रकार का विशुद्ध वात्सल्य अंगका पालन करता है वह निश्चय से तीर्थंकर गोत्रका बंध करता है—उसके पुण्य की महिमा अनंत है।

अर्थ—वह राजा सभामें दिव्य सिंहासनपर विराजमान होकर अपनी आज्ञाके प्रतिपालक राजाओको धर्मोपदेश करेगा। हे राजन्! गृहस्थो का कर्तव्य और धर्माचरण का स्वरूप मै जिनागम से कहता हू सो उसको सावधान मन से सुनिये। भगवान केवलज्ञानी सकल चराचर को प्रत्यक्ष जाननेवाले अरहंत प्रभुने बतलाया है कि गृह-

गृहस्थाना च सिद्धाते जिनेन्द्रै केवलेक्षणै. । प्रथम शुद्धसम्यक्त्वो मतो हि नात्र सशय ।२४७॥
सर्वदोषविनिष्क्रातो देवो जिनैव निश्चयात् । सर्वद्वंद्वविहीनो य गुरु सैव जिनागमे ॥ २४८ ॥
जिनाननसमुद्भूता वाणी ससारतापहा । सा स्यात् गणेन्द्रलेखौघैः सदा वंद्या च तारका ॥ २४९ ॥
एतेषा यत्र श्रद्धान भवेत्तत्रैव भूमिप । सम्यक्त्वस्यैव शुद्धस्य प्राप्तिर्नास्त्यत्र सशय ॥ २५० ॥
आत्मनो गुणव्यूहस्य निश्चयो यत्र सभवे । तत्रैवोत्पत्तिः भूपाला जायत तस्य निश्चयात् ॥ २५१ ॥

स्थोको सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन की विशुद्धि करनी चाहिये । निर्मल सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनी चाहिये । निर्मल सम्यग्दर्शनके पालन करनेमे गृहस्थोका धर्माचरण सांगोपाग पालन होता है । समस्त प्रकार के दोष रहित परमवीतराग सर्वज्ञ अरहन्त प्रभुको देव मानना । समस्त प्रकार परिग्रहसे रहित परम दिगबर और राग द्वेषसे विनिर्मुक्त गुरुओको गुरु मानना, तथा श्री सर्वज्ञ अरहत भगवानके मुखकमलसे प्रकाशित जिनवाणीको तत्त्वका उपदेश करनेवाली ससार समुद्रसे तारनेवाली मानना । इस प्रकार देव गुरु और जिनवाणीका अविचल श्रद्धान करना । किसी प्रकार भय आशा और लोभके वशसे भी अन्यथा नहीं मानना, सो सम्यग्दर्शन है ।

जिन गृहस्थोको ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है उनको धर्मकी प्राप्ति हो जाती है । सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके विना धर्मरत्नकी प्राप्ति नहीं होती है ।

अर्थ—हे राजन् ! अथवा आत्माके समस्त गुणोंका जिस भव्य जीवको दृढ निश्चय हो जाता है वहांपर ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है ।

हृदि यस्यैव सर्वेपु भूतेपु स्वात्मतुल्यता । तस्य सजायते भूश शुद्ध स कर्मनाशद । २५२ ॥
सम्यक्त्वस्य हि चोत्पत्तिर्दशधा कथिता जिनै । सिद्धाते दोपनिर्मुक्ते सर्वपापविवर्जिते ॥ २५३ ॥
इत्याद्याः कथिता भेदा ये ते हि कर्मभजकाः । व्यवहारनयस्यैव लक्षणा नो जिनागमे ॥ २५४ ॥

अर्थ—हे राजन् जिस भव्य जीवके निष्कपट भावो से-स्वार्थ-इच्छा और किसी भी प्रयोजनके विना स्वाभाविक आत्म परिणामोकी विशुद्धिसे समस्त जीवोमें अपनी आत्माके समान जीवात्माओका श्रद्धान होता है उसके शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। जो समस्त जीवोमें समता भावको आत्मिक परिणाम द्वारा प्रकट करता है। जो परलोककी सत्ताको स्वीकार कर जीवोका अस्तित्व परिणमन आदिका श्रद्धान कर अपने स्वरूपके समान समस्त छोटे बडे निर्बल और शक्तिशाली पापी और पुण्यात्मा जीवोको मानता है उसके सम्यग्दर्शन प्रकट होता है।

अर्थः— सम्यग्दर्शनके आज्ञा मार्गसमुद्रादि दश भेद समस्त प्रकारके दोप रहित जिनागममें वतलाये है। सम्यग्दर्शनके मुख्य दो भेद हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन। आज्ञादिक दश भेद भी सम्यग्दर्शनके वतलाये है।

अर्थः— उपर्युक्त भेद प्रभेद सव निश्चय सम्यग्दर्शनके है और वे निश्चय नयके अवलंवनसे वतलाये है। अव व्यवहार नयसे सम्यग्दर्शनके लक्षण वतलाते है।

यद्यपि जीवोको निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्ति हो जाना ही मोक्षमार्गमें कार्यकारी है। जिन जीवोके निश्चय सम्यग्दर्शन है उनके व्यवहार सम्यग्दर्शन है ही। परतु व्यवहार सम्यग्दर्शनकी प्रतीति विना वाह्यमें वात्सल्य-उपगूहन-स्थितिकरण आदि अगोका पालन नही हो सक्ता। इसलिये जिसके देव, शास्त्र, गुरुका दृढ श्रद्धान है और जिसके वाह्य आचरण जिनागमकी मर्यादाके अनुकूल है जिसके विचार जिनागमसे विरुद्ध नही है और जो जिनागमके अनुकूल

ज्ञेया हेने च भेदा यो निश्चयस्यैव चागमात् । वच्म्यहं लक्षणान् तस्य व्यवहारनयस्य वै ॥ २५५ ॥
अष्टौ मदा भया सप्तप्रभा नानार्थनाशका । शल्यानि व्यसनान्येव दोषाष्टौ मासजा मदा ॥ २५६ ॥
सर्वदोषप्रदा हेया दोषहीनाष्ट नामत । मूलभूता गृहस्थाना यतो मूलगुणा मता ॥ २५७ ॥

तर्कको रखकर पदार्थोंका स्वरूप जानता है उसी भव्य जीवके निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है । ऐसे भव्य जीव जिनागमविरुद्ध एक अक्षर भी सुननेको राजी नहीं होते है । और न जिनागमके विरुद्ध अपने ज्ञानवैभवका उपयोग करते है ।

भव्यको जिनागममे न शका है न जिनागमकी परीक्षा अपने मनोनीत भावोसे कुत्सित तर्कके द्वारा वह करता है किंतु पदार्थोंका निर्णय आगमको सत्य और प्रामाणिक समझकर शुद्ध बुद्धिसे करता है ।

अर्थ—आठ मद (ज्ञानमद-पूज्यपनेका मद-कुलका मद-जातिका मद-बलका मद-ऐश्वर्यका मद-तपका और शरीरकी सुदरताका मद) का त्याग करना । सात भयोका परित्याग करना ।

तीन प्रकारकी शल्य-(माया मिथ्या निदान) का परित्याग करना । सात व्यसनो का परित्याग करना (जूआ खेलना मासका भक्षण-मदिरापान-वेश्यागमन करना-शिकार खेलना-चोरी करना-और परस्त्रीसेवन करना ये सात व्यसन है । इनका सेवन करनेमे सम्यग्दर्शन नष्ट होता है ।) और आठ मांसके दोषोका त्याग करना ।

उक्त समस्त दोषोको छोड देनेसे सम्यग्दर्शन निर्मल प्रकार से पालन होता है । सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिये पच्चीस दोषोका परित्याग करना चाहिये ।

संवेगाद्या गुणा ह्यष्टौ अतीचाराश्च पच वै । त्रयो मूढा॰ सदा हेया कषाया वेदना मता ॥ २५८ ॥
पचदश प्रमादाश्चानर्थदडाश्च पच वै । द्वादशाश्चाविरतय भवसततिदायका । २५९ ॥
रागद्वेषादिमोहाश्च तथा निंदा परस्य च । मिथ्यात्वरक्तसेवाच तद्धनस्यैव भक्षण ॥ २६० ॥
भयेन स्नेहयोगेन विमार्गस्थाय सन्नति । आशया वा तथा तेषा सगम दोषवर्द्धक ॥ २६१ ॥
इमे दोषा सदा त्याज्या॰ सम्यग्दृग्धारिभि खलु । व्यवहारनयस्यैव पालक तद्धि भासये ॥ २६२ ॥
आगमे जिननाथेन स मतो व्यवहारत । एतेषा सद्गुणाना च पालको यो न सशय ॥ २६३ ॥

मद्य-मांस-मधु और पाच उदबर फलोका परित्याग करना सो श्रावकके आठ मूल गुण है। इन मूलगुणोका परिपालन नहीं करने से सम्यक्त में घात होता है। सवेग—अनुकपा प्रशम आदि गुणोका पालन करने से भी सम्यग्दर्शन की व्यक्तता होती है। तीन मूढता—पट अनायतन—कषाय-वेदना-प्रमाद—अनर्थदड—अविरति रागद्वेष मोह का परित्याग यथाशक्ति से करना चाहिये। दूसरो की निंदा करना छोड देना चाहिये। मिथ्यात्व मार्ग तथा मिथ्यात्वके सेवन करनेवालो की प्रशसा आदि का त्याग करना भी उचित है। इस प्रकार दोषोंका परित्याग कर देनेसे अतिशय विशुद्ध सम्यग्दर्शन का पालन होता है।

भय—स्नेह—और आशासे कुमार्गका सेवन नही करना चाहिये। तथा कुमार्ग सेवन करनेवालो की कभी भी प्रशसा नही करना चाहिये। मिथ्यात्वके सेवन करने से आत्माका हित होगा ऐसा नही मानना चाहिये। मिथ्यामार्गगामी पुरुषो को प्रणाम—विनय—नही करना चाहिये।

व्यवहार सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले भव्य प्राणी उपर्युक्त विधिसे अपने कर्तव्योंकी पूर्ति करते है। जिनेन्द्रभगवानके परमागम में इसको व्यवहार सम्यग्दर्शन माना है।

अस्यापि भो नृप भेदा कथिताश्च जिनेश्वरै शृणुथ ह्येकचित्तेन तान् भेदान् कथयाम्यह ॥ २६४ ॥
उक्तदोषान् त्यजेत् योवै स लभेत् व्यवहारत । सम्यक्त्वोत्कृष्टसपत्ति तुर्यजन्मनि वै शिवम् ॥ २६५ ॥
अस्यैव पालको मर्त्य चाप्नोति निश्चयाच्च सः । भवे च दशमे चापि द्वादशे वा त्रयोदशे ॥ २६६ ॥
सप्तैव व्यसनान्येव मद्याष्टौ वा गुणा वरा । एतेषा त्यजनेनैव मध्यम सोत्र कथ्यते । २६७ ॥
अष्टौ मूलगुणान् शुद्धान पालयति तदाप्तये । मुचति व्यसनान्येव सप्तैव यो नरोत्तम । २६८ ॥
लभते सैव भो भव्याः कर्मसताननाशकम् । जघन्याख्य च सम्यक्त्व ह्यनुक्रमात् शिवास्पद । २६९ ॥

अर्थ—हे राजन् व्यवहार सम्यग्दर्शनके भेदोका और भी विशेष खुलासा कहता हू सो सुनो ।

जो भव्य उपर्युक्त दोपोका परित्याग करता है उसके व्यवहार नयसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है । परन्तु उस व्यवहार सम्यग्दर्शनसे चौथे ही भवमे मोक्ष सुखको प्राप्त होता है । अथवा जैसे जैसे व्यवहार सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती जाती है और जैसे जैसे उपर्युक्त दोपोका परित्याग वढता जाता है वैसे ही भवावलिका अंत होता जाता है । अधिक से अधिक दश वारह भवमें वह जीव मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य भेदसे मानी है । उत्कृष्ट विशुद्धिका स्वरूप ऊपर वतला दिया है ।

मध्यम सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि—जो भव्य जीव पच्चीस दोप रहित आठ मूलगुण सहित सप्त व्यसनोका त्याग कर सम्यग्दर्शनका पालन करता है उसके मध्यम सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती है ।

जघन्य सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि—जो भव्य जीव आठ मूल गुणोके साथ सप्त व्यसनोका परित्याग कर सम्यग्दर्शनका पालन करता है उसके जघन्य विशुद्धि होती है । इस प्रकार जो भव्य जीव सम्यग्दर्शनका पालन करता है

सम्यक्त्वेन विना सर्वे दानेज्यात्रतसत्क्रिया । निःफला जिननाथेन कथिता ह्यागमे बुधा ॥ २७० ॥

सम्यक्त्वेन समं वालो श्वभ्रेऽपि भो बुधोत्तमा । वरं मतं बुधैः किंच वक्ष्येह तस्य कारणं ॥ २७१ ॥

शुद्धदृग्गारका तेहि अत्रागत्यैव तत्रत । तीर्थकरा भवत्येव कल्याणैः पंचभिर्युता ॥ २७२ ॥

निर्लिपाधिपसंसेव्या ह्यनंतसारमंडिता । त्रिज्ञानान्वितसद्गात्रा अनौपमविराजिता ॥ २७३ ॥

तद्वते नो वरं नाकवासोपि सपदायुतः । अनेकमहिमोपेतः सदा शर्मेण संभृतः ॥ २७४ ॥

तेऽमरा तद्धीना तस्मात् स्थावरादिकुयोनिषु । च्युत्वा भ्रमत्यहो नाकात् कालानंतप्रमं खलु ॥ २७५ ॥

उसको मोक्षपद शीघ्रही प्राप्त होता है। परंतु उत्कृष्ट सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे तद्भवमें ही मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है।

अर्थ—सम्यग्दर्शन विना ज्ञान पूजा आदि समस्त क्रियाए व्यर्थ है। योग्य फलको प्रदान नही कर सक्ती। ऐसा जिनागममें परम भट्टारक अरहंत देवने कहा है।

सम्यग्दर्शनके सहित नरकमें रहना भी अच्छा है परंतु सम्यग्दर्शनके विना स्वर्गमें वास भी अतिशय दुःखदायी है। इसका कारण यह है सो सुनिये।

अर्थ—नरकसे निकलकर सम्यग्दृष्टी जीव पच कल्याणकी महिमा को धारण करनेवाले तीर्थकर परमदेव होते हैं। इसलिये भवावलिका नाश विना सम्यग्दर्शनके नहीं होता है।

अर्थः— तीर्थकर परमदेव देवगणोसे पूजित अनंत गुणोसे विभूषित और जन्मसे तीन ज्ञानकर मंडित सुंदर शरीरवाले होते हैं। यह सम्यग्दर्शनका ही माहात्म्य है।

अर्थ—सम्यग्दर्शनके विना विविध ऋद्धियोंसे सुसपन्न, अनेक महिमा सहित और सर्व प्रकारके सुखोंके भोक्ता होनेपर भी ऐसे स्वर्गमें वास करना अच्छा नहीं है। क्योंकि आयुके पूर्ण होनेपर यह जीव मिथ्यात्व कर्मके उदयसे देव

निमेषमात्रकालेपि यस्यैव चित्तशुद्धिता । जायते तस्य प्राप्तिश्च तत्रैव सम्भवेत् बुधा ॥ २७६ ॥
मतिहीनाश्च ये मर्त्या शुद्धश्रद्धाप्रपालका । तेप्याशु प्राप्य सबोध गताश्च परमं पद ॥ २७७ ॥
तिर्यचयोनिषु चैव कुदेवेषु कुभूमिषु । कुमर्त्येषु तथा नैवोत्पद्यते तस्य धारक ॥ २७८ ॥
अधो भवति नो कुब्जः क्लीबो दारिद्रमडितः । विपुत्रः शोकसंयुक्तो भोगोपभोगवर्जितः ॥ २७९ ॥
परसेवाकरः क्रूरो निर्दयः शीलवर्जित । दानेज्याव्रतमहीन परवचनचातुरः ॥ २८० ॥
जानीथ भूमिपा भो वै सम्यक्त्वस्यैव शर्मदा । महिमा च इमा वद्या गृहस्थैर्वा मुनीश्वैर ॥ २८१ ॥

पर्यायका परित्याग कर थावर कायमें उत्पन्न होता है । इसलिये सम्यग्दर्शनके विना जोवको देवपर्यायके बाद अनत ससार ही है ।

अर्थः— जिन भव्य जीवोको अपनी पर्यायमे एक निमेष मात्र परिणामोंकी विशुद्धि हो जावे तो उसी समय सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है ।

अर्थः— सम्यग्दृष्टी जीव यद्यपि कुछ भी पढा लिखा न होवे तो देव, शास्त्र और गुरुकी दृढ श्रद्धासे शीघ्र ही बोधको प्राप्त होकर परमपदको प्राप्त होता है ।

भावार्थः— पढ लिखे मनुष्योंको ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती हो ऐसा नही है । किंतु जिन भव्य जीवों-के आचरण शुद्ध हैं चित्तवृत्ति विशुद्ध है उनके परिणाम विशुद्ध है उनको ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है ।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीव तिर्यंच योनिमें कुदेव-कुभूमिमे कुत्सित मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न नही होते है । तथा सम्यग्दृष्टी जीव अधे-कुब्ज-नपुसक-दरिद्री पुत्रविहीन-शोकसहित-भोगोपभोग रहित-दूसरोकी सेवा करनेवाले-क्रूर निर्दय-शीलरहित दान पूजा व्रतविहीन-दूसरे जीवोको ठगनेमें चतुर और निंद्य नही होते है । यह सब कुछ महिमा

कुर्वीध्व धारण चित्त आदौ सद्व्रतसिद्धये । सम्यक्त्वस्यैव शुद्धस्य विधिदावाग्नितोयद ॥ २८२ ॥

नित्याहस्यैव नाशार्थं पट्क्रिया वासर प्रति । कुरुध्व शिवशर्माय अभिषेकादिनामत ॥ २८३ ॥

पट्क्रिया नैव कुर्वंति ये गृहस्था मता न ते । पशुतुल्या वुधै भूपाश्चागमे पापकार्यत ॥ २८४ ॥

अतो भो भूमिपा पूर्व कृत्वा वै नर्मसाधन । अन्यत् पश्चाद्धि कुर्वीध्व गृहकार्य सुखाप्तये ॥ २८५ ॥

सम्यग्दर्शन की है । जगत में जितने सुखके साधन है वे सब सम्यग्दष्टी जीवको स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं ।

अर्थ—हे भव्यजीवो सम्यग्दर्शन को सबसे प्रथम अपने चित्तमें धारण करिये । क्यो कि उससे ही उत्तम व्रतोकी सिद्धि प्राप्त होगी । शुद्ध सम्यग्दर्शन कर्मरूपी दावाग्नि को नाश करने के लिये मेघके समान है ।

अर्थ-दैनिक होनेवाले समस्त पापोकी निवृत्तिके लिये पट् क्रियाओ को नित प्रतिदिन करना चाहिये । अभिषेक पूजन आदि क्रियाओसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है ।

अर्थ—हे राजन् ! जो गृहस्थ अपने पट् आवश्यक कर्मोको (देव—पूजा गुरुकी उपासना स्वाध्याय सयम तप दान) नित्य नही करते है वे अपने कर्तव्य से रहित है । मनुष्य नही है जिसने अपने कर्तव्यो की सिद्धि की है कर्तव्यों की सिद्धिके विना मनुष्य पशुके समान है । पट् आवश्यक कर्मोंसे पापोंका नाश होता है । और जिनके केवल पापकी ही प्रवृत्ति है वे पशु ही है ।

अर्थ—इसलिये हे नृपतिगण ! सबसे प्रथम अपने धर्म साधनों को नियम पूर्वक साधन करना चाहिये । पीछे आजीविकादिसबधी आरभ करना चाहिये । जो अपनी पट् आवश्यक क्रियाओको पालन कर अन्य कार्य करता है वही त्रिवर्गका साधन संपादन करता है ।

स्वापतेयस्य भो भूपा' क्षेत्रेषु सप्तसु सदा । व्ययं कुरुत शर्माप्त्यै माऽन्यत्कार्ये कदाप्यहो ॥ २८६ ॥
गृहस्था धर्मकार्येषु व्ययं कुर्वंति नो हि ये । स्वस्य द्रव्यस्य ते नूनं दैवतो वंचिता खला ॥ २८७ ॥
धर्ममर्थंच कामंच त्रिवर्गं य पुमान् खलु । साधयत्येव स याति क्रमात् शिवपुरे वरे ॥ २८८ ॥
अविराध्य धर्मकार्यं कर्तव्या गृहमेधिभिः । सर्वे कार्याः सदाकाले शर्मसंततिदायकम् ॥ २८९ ॥

हे राजगण हो ! अपना धन सात क्षेत्रोमें लगाओ । क्यो कि पापकार्यसे उत्पन्न हुआ धन यदि सप्तक्षेत्रमें लगाया जाय तो वह धन पुण्योदयका कारण है । अन्य कार्यमें व्यय करनेसे केवल पापका ही कारण होता है । सात क्षेत्रोंके नाम—जिनधर्म-जिनागम—जिनमव जिनचैत्य—जिनचैत्यालय-जिनक्षेत्र—और जिन आयतन)

अर्थ—जो गृहस्थ धर्मकार्य में अपना धन नहीं खर्च करते हैं वे भविष्यके लिये ठगाये जाते हैं। उनको शुभ कर्मकी प्राप्ति नहीं होती है। और न उनको महान पुण्य संपादन करनेका अवसर ही प्राप्त होता है ।

अर्थ—जो मनुष्य धर्म-अर्थ-और काम पुरुषार्थको परस्पर अविरुद्ध भावसे संपादन करता है वही क्रमसे मोक्षपुरका वास करता है। केवल अर्थ पुरुषार्थ या काम पुरुषार्थके सिद्ध कर लेनेसे मनुष्योंके कर्तव्य पूर्ण नहीं होते हैं न त्रिवर्ग ही सिद्ध होता है। त्रिवर्गमें धर्मपुरुषार्थ मुख्य है। क्योंकि काम और अर्थ पुरुषार्थ ये दोनों ही धर्म पुरुषार्थ के फल हैं। बीजके बिना फलकी प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये बीजकी रक्षा कर फल प्राप्तिका उद्योग करना चाहिये। क्योंकि,

अर्थः— गृहस्थोको अपने समस्त कार्य धर्मकी रक्षा करते हुये ही करने चाहिये । धर्मकी हानि कर नहीं करने चाहिये । जो मनुष्य धार्मिक क्रियाओको भूलकर अन्य कार्य करता है वह सुखको प्राप्त नहीं होता है । सुखकी प्राप्ति धर्मक्रियाओंके करनेसे ही होती है।

दानेन दृश्यते पुण्य दयाभावेन मत्तप । आत्मध्यानेन मोक्षस्य स्वरूपो नात्र सशय ॥ २९० ॥

मुनये विधिना भूपा मध्यान्हे समये वरे । दत्वा न्याद रसाढ्य च करणीय ततश्च तं ॥ २९१ ॥

रोगग्रस्ताय संदेया भेपजा नित्यमेव हि । तस्यातंकविनाशार्थ दयाव्रतविशुद्धये ॥ २९२ ॥

भयकपितजीवाय दातव्यमभयाभिधं । दान सम्यक्त्वशुद्ध्यर्थं सदैव भो नरेश्वरा' ॥ २९३ ॥

पाठकाय सुग्रथस्य कर्तव्य बहुमोदत' । दान सत्ज्ञानप्राप्त्यर्थं अज्ञानध्वातसद्रवि ॥ २९४ ॥

अर्थः— दान देनेसे ही पुण्यकी महिमा प्रकट होती है। दयाका कार्य करनेसे ही श्रेष्ठ तपका फल प्राप्त होता है। आत्मध्यानसे ही मोक्षका स्वरूप प्रकट होता है।

अर्थः-- मुनिगण, आर्यिका आदि पात्रोंको मध्यान्ह समय आहारदान देना चाहिये । अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार विधिपूर्वक प्राशुक आहार देना चाहिये। सरस, मनोहर और शुद्ध आहार दान देवे।

अर्थ—चतुःसघमें जो रोगसे पीडित हो उसको उत्तम प्राशुक शुद्ध औपधि का दान करे। और साधारण जीवोको भी औपधीका दान देवे। जिससे रोग का नाश हो और दया व्रतकी विशुद्धि हो।

अर्थ—भययुक्त जीवोको अभय दान देना चाहिये। जीवोको मरते हुए बचाना चाहिये। प्राणोकी रक्षा कर अभय दान देना चाहिये। अन्य शास्त्रोंमें अभयदानका अर्थ यह बतलाया है कि—पात्र—मुनि आर्यिकादि उत्तम पात्र को वसतिकादिक देना अभयदान है। अभयदान से सम्यग्दर्शन की विशुद्धि होती है।

अर्थ—मुनि-आचार्य-उपाध्याय आदि पात्रको जैनागमके शास्त्रोका दान करना चाहिये। चतुः सघको जैन ग्रथोका दान देना चाहिये। जिससे ज्ञानकी वृद्धि होती है और अज्ञान का नाश होता है। जैनागमके ग्रंथोका ही दान ज्ञानदान कहलाता है। अन्य मतके ग्रंथोका दान मिथ्यात्व है।

आर्यिकायै सुवस्त्राणि सदेयानि मुनीशिने । शौचकर्मार्थमनाहो सदेयौ पिच्छिकुण्डिकौ ॥ २९५ ॥
श्रावकाय प्रदेयाश्च वस्त्राभरणमन्नया । श्राविकायै महीपाला देयाम्ते च मनोज्ञा ॥ २९६ ॥
दयाभावेन सर्वस्मै अन्नपानादि वस्तुच । दातव्यं सर्वकालेहि दयाभावप्रसिद्धये ॥ २९७ ॥
इत्याद्या या क्रिया प्रोक्ताः जिननाथेन चागमे । व्यवहारजाश्च ता सर्वा ज्ञेया सम्यक्त्वधारिभि ॥२९८॥

अर्थ—इसी प्रकार आर्यिकाके लिये साडी आदि वस्त्रोंका दान देना चाहिये । मुनिगणोंके लिये शौचकी शुद्धिके अर्थ एव जीवरक्षाके लिये पीछी कमडलु देना चाहिये ।

अर्थ—हे राजगण श्रावकोंको भोजन पान और वस्त्राभरण देना चाहिये । उनको आजीविका का साधन लगा देना चाहिये । और श्राविकाओंके लिये भी वस्त्राभरण अन्नपानादिक देना चाहिये ।

अर्थ—दयाभावसे अपात्र कुपात्र और सर्वसाधारण दुःखी रोगी-अनाथ-पगु-दरिद्री पापी-नीच-पशु आदि समस्त जीवोंको यथायोग्य अन्नपानादिक वस्तुओंका दान सदैव देना चाहिये । जिससे दयाभावकी प्रसिद्धि हो ।

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवानने परमागममें दान पूजा विवाह-उपनय-सस्कार-आदि जितनी क्रियाए बतलाई है और वे क्रियायें व्यवहार रूप दीखरही है परन्तु, उनको केवल व्यवहार नहीं समझना चाहिये । वे सब धार्मिक क्रियायें हैं । धर्मकी अगभूत है । आवश्यक कर्तव्य है । व्यवहारमे जितने खानपान कर्तव्य है वे भी सब धर्मकार्य है । उनको व्यवहार धर्मकी संज्ञा शास्त्रों में बतलाई है । परंतु सम्यग्दृष्टी जीवोंको नित्यही करना चाहिये । ये व्यवहार क्रिया है ऐसा समझकर भव्य सम्यग्दृष्टी जीवोंको इनसे उपेक्षा नही करनी चाहिये । जो सम्यग्दृष्टी गृहस्थ जीव इनको व्यवहार क्रिया समझकर उपेक्षा करता है वह मिथ्यात्वी है ।

न्यायमार्गेण सर्वाश्च प्रजा सर्वार्थदायिका । पालनीया सदाकाले भवद्भिर्न्यायवेदिभि ॥२९९॥
इति स्वस्वामिना प्रोक्त धर्माधर्मफल शुभ । सभात स्थाश्च ते भूपा मृदुभावान्विता व्यधु ॥ ३०० ॥
श्रुत्वा ससारतो भीत्वा मत्वेति स्वहृदि सदा । जिनधर्मसम नैवापर वै भुवनत्रये ॥ १ ॥
केचिच्च शुद्धसम्यक्त्व व्यवहारनयान्वितं । दयाव्रतच केचिद्धि केचिदणुव्रतान् वरान ॥ २ ॥
दान दत्वा सुपात्राय करिष्यामि सुभोजन । कृत्वाभिषेकसत्पूजा जिनबिंबस्य निश्चयात् ॥ ३ ॥
जिनपादौ सुगधौघै काश्मीरागुरुमंयुतै । प्रात सलेपयित्वा वै पश्चाल्लेपो ममास्तु मो ॥ ४ ॥
अरविंदोत्करान् कृत्वा जिनपादाब्जयो परि । नधि पश्चात् करिष्यामि मदैव मारव्हानये ॥ ५ ॥

अर्थ—हे नृपती गणो न्यायमार्ग से नीति पूर्वक प्रजाका पालन करना चाहिये । न्याय और सदाचार का उल्लघन कर प्रजाका पालन करना योग्य नहीं है ।

अर्थ—वह धर्मात्मा राजा अपने अधीन राजाओको इस प्रकार धर्म-क्रिया नीति और पुण्य पापका फल निरूपण करेगा जिसको सुन कर सभामें विराजे हुए राजा अपने परिणामोमें अतिशय मृदुता धारण करेंगे । परिणामोकी सरलता से उनके पापमय मलिन विचार उनके हृदयसे सर्वथा दूर होगे । कितने ही राजा तो संसारसे भयभीत होगे । कितने पापकर्मो से भयभीत होंगे । समस्त सभाके सभासद निश्चय करेंगे कि जैनधर्मके समान सुखकारी तीन लोक में अन्य कोई भी पदार्थ नही है । इस लिये व्यवहार सम्यग्दर्शनके साथ शुद्ध सम्यग्दर्शनको बहुत से राजा धारण करेंगे । कितने ही राजा अहिंसा व्रत ग्रहण करेंगे । कितने ही राजा पाच अणुव्रत ग्रहण करेंगे ।

अर्थ-कितने ही भव्यजीव यह प्रतिज्ञा करेंगे कि हम नित्य प्रति पात्रोको दान देकर ही भोजन करेंगे । कितने ही भव्य भगवानका प्रति दिवस अभिषेक कर भोजन ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेंगे, पूजा करनेकी प्रतिज्ञा लेंगे ।

पादाग्रे जिनबिंबस्य सद्याज्यवर्तिजै. शुभै । ईदृशैः दीपसदोहै सत्यामि' सहस्रश सदा ॥ ६ ॥
मोदक व्यजन चैव शाल्यन्नमलिसंयुत । इत्यादिनिवसधृत्वा जिनेन्द्रपदसन्निधे ॥ ७ ॥
जेमन शोभनं पश्चात् स्वर्णभाजनसस्थितं । पश्चादेव करिष्यामि वासरं वासरं प्रति ॥ ८ ॥
समाभ्यर्न्य करिष्यामि लेपं पश्चात् सुवासये । धूप दत्वा सुगधाढ्य शिवसुखप्रदायक ॥ ९ ॥
त्रिपुटा चद्रवाला च क्षीरकाया मनोहरा । पटोलिका सुशोभाढ्या नाम्ना वै मातुलिंगक ॥ १० ॥
कपित्थ कटकीफलः कामागो नेत्रनंददः । दाडिमश्चैव हिंतालोलागलीनिंबूकस्तथा ॥ ११ ॥
रभाद्या ये फला संति मनोवक्रहरा वरा । प्रभो पादाब्जक्षोण्यग्रे धृत्वैतान् मेन्तु स पुन ॥ १२ ॥
अष्टम्या वा चतुर्दश्या पालयिष्यामि सद्व्रतं । ब्रह्मचर्याभित्र शुद्धं शिवशर्मप्रदायकम् ॥ १३ ॥

कितने भव्यात्मा पुरुष भगवानके पवित्र चरणकमलों पर सुगंधित पदार्थोका लेप करने और अवशेष सुगधी द्रव्यका मस्तकमें तिलक लगाने, उत्तम सुगंधित और शुद्ध पुष्पोंको भगवानके पवित्र चरणों पर कामदेवको नाश करनेकेलिये चढाने, भगवानकी पूजाके समय सुगंधित घीके मनोहर दीप जलाकर मोहनी कर्मका नाश होनेकेलिये आरती करने, भगवानके पवित्र चरणोंके अग्रभाग में उत्तम नैवेद्य चढाने, स्वर्णके थालोंमें उत्तम नैवेद्य रखकर क्षुधावेदनीय को नाश करने के लिये चढाने, भगवानके चरणकमलके समक्ष सुगधित धूपको अग्निमें प्रक्षेपण करने, इलायची-दाडिम-खिन्नी-जामुन-विजोरा पटोलिका-कपित्थ-फणस-नीबू-केला-श्रीफल आदि सुदर फल चढाकर अपनेको धन्य मानने, अर्घ चढाकर कृतकृत्य मानने आदि की प्रतिज्ञाए लेंगे।

अर्थ—अष्टमी और चतुर्दशीके दिवस श्रेष्ट व्रतको (प्रोपधोपवास) पालन करूंगा। और उस दिनस परमशुद्ध

इत्यादीन् मगधाधीश तत्समीपे व्रतोत्करान् । भूमिपाला. सुभावाढ्या गृहिष्यन्त्येव निश्चयात् । १४ ॥
भूपो हि यत्र धर्मस्य पालको नात्र संशय । तदाज्ञावर्तिन सर्वे भूपा किं न भवंत्यहो ॥ १५ ॥
राज्ञ धर्मस्य मार्गो हि चलत्येवावनौ नृप । तद्वते धर्मलेशोऽपि जायते नो कदाचन ॥ १६ ॥
तत्र क्षेत्रे प्रजा सर्वा पालयत्येव त्रिप्रभा. । जिनधर्मं जिनेन्द्रोक्त दयाजलधिसंभृतम् ॥ १७ ॥

शीलव्रतको धारण करूंगा । जिससे शिवसुखकी प्राप्ति हो । हे राजन् श्रेणिक ! इस प्रकार अनेक राजागण उस भव्योत्तम महाराजके समीप व्रतोंको ग्रहण करेंगे ।

अर्थः— जो वडे २ मांडलीक राजा जैनधर्मके पालन करनेवाले हो तो उनकी आज्ञामें चलनेवाले अन्य राजागण क्यो नही जैनधर्मका पालन करेंगे ? अवश्य ही करेंगे । राजा यदि धर्मका प्रतिपालक है तो समस्त प्रजा धर्मका पालन करनेवाली हो जायगी । प्रजा राजाका अनुकरण करती है । इतना ही नहीं वल्कि समस्त देश ही जैन धर्मका पालन करनेवाला हो जाता है ।

अर्थः— राजा जिस धर्मको पालन करता है वहाका देश उसी धर्मका प्रतिपालक हो जाता है । क्योकि राजाओके चलानेसे समस्त प्रजा उसीको स्वीकार कर लेती है । राजाके विना धर्मका प्रतिपालन यथार्थ रूपसे सर्वत्र नही हो सक्ता । धर्म पगु है, उसको चलानेवाले चाहिये । तव ही वह सर्वत्र प्रचारमें आता है, वढता है । आश्रय विना धर्म नहीं वढता है ।

अथः— वहांकी प्रजा (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) श्री जिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रकाशित जिनधर्मका ही पालन करती है ।

व्रतपाकात् समापन्वान् भोगोपभोगसत्सुखान् । भोदय-येव सदा सोपि तत्र पचेन्द्रियोद्भवान् ॥ १८ ॥
अस्मार्कि दुर्लभ लोके राजसौख्य कदाचिन । सुलभा धर्मिणा सर्वा इन्द्रभूत्यादिसपदा ॥ १९ ॥
संप्राप्य पुत्रपौत्रादीन् स महीप शुभोदयात् । स्थास्यति भावितीर्थेश स्वराज्ये भूप देते ॥ २० ॥
स्वपुरे पत्तने द्रोणे महीध्रे वाहने तथा । द्वीपवत्यास्तटे चैव याद पतेश्च सत्तटे ॥ २१ ॥
आगमे विपिने चापि ग्रामे खेटे मटवके । वृक्षादिवाटिकाया च कर्वटे कदरे तथा ॥ २२ ॥
इत्यादिशोभने स्थाने कारयिष्यति स नरेट् । उदवसितानि सौम्यानि रत्नहाटकजानि च ॥ २३ ॥
तन्मध्ये स्थापयिष्यति बिबानि श्रीजिनेशिना । प्रतिष्ठापाठमर्यादात् चतुर्विधार्णं सह ॥ २४ ॥

अर्थ—उस राजाने व्रतके शुभ फलसे अनेक भोगोपभोग सपदा को प्राप्त किया और मनोहर सुख भोगने लगा ।

अर्थ—हे राजन् इस कर्म दहनव्रतके फलसे राज्यके सुख प्राप्त होते हैं और इन्द्रकी विभूति प्राप्त होती है ।

अर्थ—इस प्रकार वह महाराजा व्रतके पुण्यसे पुत्रपौत्रादि को की शुभ शोभाको प्राप्त होगा । हे भावि तीर्थेश श्रेणिक ! वह महाराजा व्रतके पुण्यसे राज्यसपदाको चिरकाल पर्यंत निर्विघ्न पालन करेगा ।

अर्थ—वह राजा अपने नगरमें श्रीजिनेन्द्र भगवान के रत्नोके दिव्य मदिरोका निर्माण करेगा । इसी प्रकार अन्य शहरोमें ग्राम–पर्वत–नदीतट–बगीचा–वन–द्रोण–कदरा पर्वतकी शिखर आदि स्थानोमे भी मनोहर जिनालय निर्माण करावेगा । जो बडे ही भव्य और सुदर होगे । जिनमें मनोहर जिन प्रतिमायें प्रतिष्ठा कराकर विराजमान करेगा । प्रतिष्ठाके समय चतुर्विध सघका आमत्रण करेगा और सबको भोजन पान आदि सामग्रीके द्वारा सतोष

किमिच्छकाभिधदानं सदा दास्यति स नृपः । निर्द्धनाय शास्त्यर्थं दरिद्राभिधकर्मणः ॥ २५ ॥
शर्मभ्रमो गत कालं नैव ज्ञास्यति स कदा । धर्मकार्यं पुरः कृत्वा भोक्ष्यते स्वसम्पदाम् ॥ २६ ॥
एवं स भुञ्जमानोऽपि शर्मणा संततिं नृप । काललब्धि प्रयोगेण वैराग्यं प्रापयिष्यति ॥ २७ ॥
धिक्संसारमसारं च राज्यशर्म रजोसमम् । हेयं पापप्रदं धीरैः नूनं ज्ञानादिधारकैः ॥ २८ ॥
इन्द्रियोद्भूतशर्मेषु शर्मोत्पत्तिश्च किंचन । नास्त्येव बहवो नष्टा मृगाद्याः पशवो यत ॥ २९ ॥
स्त्रीकायश्चानोद्भूता मह तकनदायका । अतृप्तिजनका मूढरूपादेया इमे सुखा ॥ ३० ॥

करेगा। सबको उनकी इच्छानुसार दान देगा। सबके मनोरथ पूर्ण करेगा। सबकी भावनाको सफल करेगा। जिससे दरिद्रता का समूल नाश हो जायगा।

अर्थ—वह राजा सब प्रकारके सुखोंका सेवन करता हुआ अपने समयको नहीं जानेगा और धर्म कार्यको फिर भी सबसे प्रथम कर अपनी पुण्योदयसे प्राप्त सम्पत्तिको भोगेगा।

अर्थ—इस प्रकार वह राजा धर्मके फलसे समस्त प्रकारके सुखोंको भोगेगा। काललब्धिसे वैराग्यको प्राप्त होगा। संसारको असारताको तब जानेगा। राज्य सुखको वह धूलीके समान मानेगा। संसारकी असारताको वह धिक्कारने लगेगा। इन्द्रियोंका सुख पापप्रद है। उसमें कुछ भी सुख व सार नहीं है। इन्द्रियोंकी आधीनतासे बहुतसे मनुष्य नष्ट होगये। स्त्रीका शरीर कामका घर है—यह महान रोग और आपत्तिका घर है। इसमें जरा भी तृप्ति नहीं है, न इन्द्रियोंके सुखसे कोई तृप्त हुआ इसलिये छोडने योग्य है। ज्ञानी पुरुष कषायोंके आधीन नहीं होते हैं। इस प्रकार वह विचार करेगा।

इन्द्रादीनां सौख्येषु यत्रास्ति नो किमप्यहो । अन्ते ते तपि तस्मात्क्व पदार्थेषु सुखो नरः ॥ ३१ ॥
अस्मादृशां आत्मन् ते कियन्मात्रं मन्यसे । येन लोभेन तिष्ठामि अत्र गेहेऽस्मिन् स्यात्तु ॥ ३२ ॥
त्वयापि यद् भुक्तानि सुखानि शर्मान्तराणि । तथापि नैव तृप्तिश्च तत्र मात्रापि नो भवेत् ॥ ३३ ॥
विस्तरेण विचारेण गत्वा अन्त शिवात्मने । त्यक्त्वा ... त्याज्य ... ॥ ३४ ॥
इत्या ... वर्षों मे ... गता यत । विना श्रीजिनगतस्य मार्गेन शुभेन च ॥ ३५ ॥
अतैव ... मारोप्य सुनस्तूर्ति । करिष्यामि ... शिवप्राप्तये ॥ ३६ ॥

अर्थ—इन्द्रादिको को जो सुख अपनी पर्यायमें प्राप्त होता है वह भी अन्तमें नष्ट होजाता है । इसलिये संसारमें कहीं पर सुख नहीं है ।

अर्थ—हे आत्मन् ! हम लोगोंकी आत्माको संसारमें क्या सुख है ? जिसके लोभसे घरमें रहनेकी अभिलाषा करूं ? घरमें रहनेमें क्या सुख है ?

अर्थ—हे आत्मन ! संसारमे उत्तमसे उत्तम सुख तूने भोगे तबभी तेरी जरा भी तृप्ति नहीं हुई । अनन्त काल सुख भोगते हुए तुझे अल्प मात्रभी तृप्ति नहीं हुई ।

अर्थः— अधिक क्या कहूं ? और हे आत्मन् अधिक क्या समझाया जाय ! यदि मोक्षसुखके प्राप्त करनेकी तेरी इच्छा है तो संसार और इन्द्रियोंके तुच्छ सुखोंका परित्याग कर । और इस समय दुःखप्रदायक तुच्छ संसारीक सुखोंको छोड । आज तक मेरा इतना समय इन तुच्छ भोगोंके सुखोंकी लालसामें व्यर्थ ही गया । और अपना यह अमूल्य जीवन संयमके बिना व्यर्थ ही चला गया । इसलिये आज ही मैं अपने ज्येष्ठ पुत्रके शिरपर यह राज्यभार समर्पण कर मोक्षका अनुपम सुख प्रदान करनेवाला यह मुनिसंयम ग्रहण करूंगा । इस प्रकार मनमें विचार कर और

इति ध्यात्वा हृदि पुत्रमाहूय हरिविष्टरे । स्थापयित्वा प्रजानाच पालनार्थं स्वकीयके ॥ ३७ ॥
अन्यान् पुत्रान् तथा बंधून् सतोष्य भृत्तिजनै सह । पृथक् पृथक् नराधीश स नृपो नृपसेवित ॥ ३८ ॥
नि स्वेभ्य रत्नधर्मादीन् दत्वा आनंदचेतसा । कृत्वा जिनेन्द्रमत्पूजां चाभिषेकपुरस्सरा ॥ ३९ ॥
सर्वेषु स्वकुटुम्बेषु सकार्यं ह्यात्मभाववित् । क्षमा च खलु सर्वेषु वस्तुषु निर्ममत्वता ॥ ४० ॥
स्वय भूत्वा नि शल्यो वै स्वस्मिन् नाज्ञाय सिद्धये । स्वात्मनः शातभावाढ्यः शिविका च मनोहरा ॥ ४१ ॥
समारुह्य तूर्णमेव स्वात्तनृगणे सह । पुरवाह्यवने चैव यास्यत्येव सुशोभने ॥ ४२ ॥
सीमधरादितीर्थाना स'न्नधे वा गणेशिना । अवतीर्य स्वय यानात् शातभावात्तमानसः ॥ ४३ ॥

अपने ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर स्वर्णसिंहासनपर विराजमान कर अपनी प्रजाको पालन करनेके लिये पट्टाभिषेक करेगा। और छोटे पुत्रोको यथाशक्ति संपत्तिका भाग कर प्रदान करेगा । अन्य बधु जनोको उनकी योग्यता प्रमाण आदर सत्कार करेगा। अन्य परिवार कुटुंब तथा भृत्यवर्गको यथायोग्य सतोषित करेगा । अपने आधीन राजाओंको पुत्रके स्वाधीन कर राज्यभार पुत्रको समर्पण करदेगा।

अर्थ—गरीब और अनाथ जनोको धन रत्न आदि द्रव्य देकर सतोषित कर अपने भावोको सफल करनेके लिये आनंद भावोसे श्रीजिनेन्द्र भगवानकी अभिषेकपूर्वक पूजा करेगा। अपने कुटुंबी जनो से क्षमा कराकर और स्वय सबसे क्षमाकर समस्त वस्तुओ से निर्ममत्व भावको धारण कर समस्त प्रकारसे निःशल्य होगा। अपने मनकी शुद्धिको धारण कर राजा भगवती जिनदीक्षाको धारण करनेके लिये विषय और कषायोंको जीतनेके लिये अपने भावोंको शांत करेगा, सर्वोत्तम शिविका (पालखी) में बैठकर अनेक राजाओके साथ बाह्य उद्यान में जायगा।

नत्वा तत्पादपद्माब्ज (?) तारक निर्जरैर्नुतम् । स्वकरौ कुड्मलीकृत्य याचिष्यत्येव सयमम् ॥ ४४ ॥
निरबर दयाधीश शरणागतवत्सल । वीराधिप मुने स्वामिन् भव्यभूतपतारक ॥ ४५ ॥
आत्मगुणविचारज्ञ मा देहि शरणागत । दीक्षा जैनेश्वरी पूज्या इन्द्रनागेन्द्रभूमिपै । ४६ ॥
तदा गुरूपदेशेन त्यक्त्वा भूषणसहतीन् । वस्त्रादीन् शोभनान् चैव महामोहप्रदायिकान् ॥ ४७ ॥
शिरस्थान सकलान् केशान् गुल्मान् वा मोहभूपते । लुच यत्वा तदाकाले पंचमुष्टि मनासभी ॥ ४८ ॥
बाह्यस्थान् निखिलान् द्वन्द्वान अंत स्थानपि दुस्त्यजान् । मूढैश्च तत्समीपेहि त्यक्त्वा भूत्वा मुनेः समः ॥ ४९ ॥
गृहीत्वा मोक्षप्राप्त्यर्थ अष्टाविंशतिमव्ययकान् । मूलभूतान मुने सर्वान् मूलगुणान् दयाश्रये ॥ ५० ॥
चतुरशीतिलक्षान वै उत्तरादिवरान् गुणान । सर्वशुद्धिप्रदान वधान् मुने देवाधिपै मदा ॥
अष्टादशसहस्राणि शीलभेदानि भूपते । धृत्वा वै ब्रह्मचर्यस्य शुद्धकानि यते खलु ॥ ५२ ॥

अर्थ—राजा सीमधर स्वामीके निकट वा गणधर स्वामीके समीप शात भावोमे पालखीसे उतरकर जायगा।

अर्थ—देवगणोसे पूजित संसार समुद्रसे तारक ऐसे गुरुके पवित्र चरण कमलोको नमस्कार कर और हाथो को कमलाकार बनाकर (हाथ जोडकर) भगवती जिनदीक्षाकी याचना करेगा।

अर्थ—हे दिगबर महाव्रतधारक! हे दयाधीश! हे शरणागत वत्सल! हे मुने! हे भव्यजीवोके तारक! हे आत्मगुणोके विचारक! मुझ दीन शरणागतको भगवती जिनदीक्षा प्रदान कीजिये ॥

अर्थ—उस समय राजा आचार्य गुरुकी आज्ञासे मोहको बढानेवाले ऐसे बहुमूल्य वस्त्राभूषण अपने शरीरसे उतार कर फेंक देंगे। जैसे कोई मोहराजाको ही समूल उखाडकर फेंक देता है वैसे ही अपने मस्तक, दाढी, मूछके केश पच मुष्टीके द्वारा उखाड कर फेंक देंगे। और अत्यत दुस्त्याज्य अतरंग एव बाह्य परिग्रहको छोडकर अपने गुरुसे

इत्थं शुद्धया गृहीत्वा वै संयमं स मुनिर्वरम् । करिष्यति वने भीमे दुर्धरं तपसंग्रह ॥ ५३ ॥
तदाधीना नरेन्द्राश्च दृष्ट्वा स्वस्वामिनो मुदा । स हस भो नराधीश भव्यभावा सहस्रशः ॥ ५४ ॥
ता दीक्षा तेपि साकं च स्वमहिलाभिरादरात् । गृहिष्यति परित्यज्य संपदा स्वर्गसन्निभा ॥ ५५ ॥
आर्यिका आर्यिकासंघे करिष्यत्यनघं तप । मुनयस्तेपि साकं च तत्रैव मुनिना वरा ॥ ५६ ॥
अतीचारविनिर्मुक्तान् मूलोत्तरगुणान् मुनि । मोक्षार्थं धीरभावाढ्य पालयिष्यति स खलु ॥ ५७ ॥
महासाहसधैर्येण स यति कर्मपर्वतान् । तपोवज्रेण भो भूप खंडयिष्यति दुर्जयान् ॥ ५८ ॥
श्मशाने भूधरे भीमे विजने दुर्गमे वने । कन्दरे निर्भयो धीरो महीरुहस्य कोटरे ॥ ५९ ॥

अष्टाविंशति मूल गुणोको धारण करेंगे । नवीन दीक्षित मुनिराज चौरासी लाख उत्तर गुण और अठारह हजार शीलव्रतको धारण करेंगे ।

इस प्रकार शुद्ध संयमको धारण कर वह राजा भयानक अरण्यमें घोर तपको धारण करेगा ।

अर्थ—उस समय अपने स्वामी राजाका इस प्रकार का महान अद्भुत साहस देखकर हजारो आधीनस्थ राजगण भव्यभावो से भगवती जिन दीक्षा की याचना करेंगे ।

अर्थ-वे राजगण भी अपनी २ रानियो के साथ भगवती जिन दीक्षाको ग्रहण करेंगे । आर्यिकायें आर्यिकाओंके संघमें रहेंगी और मुनिगण मुनिसंघमें रहेंगे ।

अर्थ—सर्व प्रकारके अतीचारो से रहित मूलगुणोका वह मुनिराज पालन करेगा । धीर-गंभीर भावोसे और परम साहसके साथ वह मुनिराज तपके द्वारा कर्मरूपी पर्वतोको खंडकर समूल नाश करेगा । वन निर्जन स्थान श्मशान-कंदरा-नदीतट आदि उपद्रव रहित एकांत स्थानमें वह घोर तपश्चरण करेगा ।

श्वत्याश्च तटे शालमूले वा रविसन्निधे । ध्यान व्यु.सर्गसज्ञं च करिष्यत्येव सिद्धये ॥ ६० ॥
मासमात्रं द्विमासांतं रसमासांतमेवच । मध्मोत्कृष्टसुभेदेन हायनांतं च्युतोपम ॥ ६१ ॥
पचर्तुपक्षघस्राते वा मासे वा रसाभिधे । सर्वदोषविनिष्क्रांत निवसद्भिर्भजिष्यति ॥ ६२ ॥
उदन्याश्च समुत्पन्ना ता बाधा दुर्धरा नृप । सोक्ष्यते स यतीन्द्रो हि कर्मनाशाय केवलम् ॥ ६३ ॥
ध्यान वाध्ययनं नित्य मनोरोधाय सयमी । पालयिष्यति भो भूप कर्मसंताननाशकम् ॥ ६४ ॥
आचार्यान् दशसंख्याख्यान् जिनधर्मप्रकाशकान् । तपऋद्ध्यादिषु ऋद्ध्याख्यान् महासारसमन्वितान् ॥ ६५ ॥
जिनाज्ञापालकान् वृद्धान् नानातप करान् वरान् । निर्लिपाधिपसदोहैर्वंद्यान् सुजीवतारकान् । ६६ ॥
वदयन् मगधाधीश गृहिष्यत्येव स मुनि । एकाविहारजा वृत्ति धीरवीरै प्रपूजिता ॥ ६७ ॥
तत सोपि मुनीन्द्रो वै सिंहवन्निर्भयोबली । गिरिकंदरदुर्गेषु संवसन् ध्यानसिद्धये ॥ ६८ ॥

और एकांतमें ध्यान धारण करेगा । एक दिनम, दो दिवस, पद्रह दिवस, महीना, दो महीना, चार महीना, छह महीना, बारह महीना (वर्ष) आदि समयकी मर्यादासे वह मुनि घोर तपश्चरण कर अपनी आत्मासे समस्त दोषोका निराकरण करेगा ।

अर्थः— वह मुनि तृपा परीषहको सहन करेगा । अन्य परीषहोको भी सहन करता हुआ वह मुनि आत्मबलको प्रकट करेगा । कर्मका नाश करनेवाला ऐसा ध्यान-शास्त्रोका अन्ययन मन और इद्रियोका निरोध करेगा ।

अर्थः— आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य आदि दशभेद धारक आचार्य परमेष्ठी, जिनसूत्रके उपदेशक, उपाध्याय परमेष्ठी अनेक ऋद्धियोसे विभूपित साधु परमेष्ठीको और जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको पालनेवाले अनेक प्रकारके तपसे विभूपित-भव्यजीवोको तारक ऐसे सामान्य मुनीश्वरोकी वदना करनेके लिये, एव तीर्थ यात्रा आदि करनेके लिये

करिष्यत्येव भो भूप द्वादशाभिधसत्तप । अतीचारविनिष्क्रात कर्मदावाग्निवार्मुचम् ॥ ६९ ॥
एवं च दुर्धरं कृत्वा त्रिशुद्ध्या ह्यनघं तपः । षष्ठमं च गुणस्थानमुल्लंघ्य ध्यानयोगत ॥ ७० ॥
ह्याश्रपचाद्रिरागै प्रमितान् खलु दुर्जयान् । प्रमादान् तत्र संमुक्त्वा चारुह्य सप्तमे पुन ॥ ७१ ॥
रवे च दशमे पश्चात् क्षपकश्रेणिमडित । द्वादशमे गुणस्थाने हत्वावरणपन्न वै ॥ ७२ ॥
त्रयोदशम सप्राप्य गुणस्थान च्युतोपम । कैवल्य लप्स्यति बोध पचमं मगधाधिप ॥ ७३ ॥
तत्प्रभावात्सुरा सर्वे ह्यागम्य नाथसयुता । गंधकुट्यादिसत्शोभा करिष्यति मनोहरा ॥ ७४ ॥

वह मुनीश्वर एका विहारी होकर निर्मल चारित्रको निर्भयताके साथ पालन करेगा। पर्वतोकी गुफामें रह कर ध्यान करेगा।

अर्थ—वह मुनीश्वर गिरिकदराओंमें बारह प्रकार का तप निरतीचार धारण करेगा। इस प्रकार दुर्द्धर तपका धारण कर वह मुनीश्वर उत्तम ध्यानके प्रभावसे षष्टम गुणस्थानको उल्लंघन कर सातवें गुणस्थानमें पदार्पण करेगा।

अर्थ-वे मुनिराज पद्रह प्रकारके प्रमादोका त्यागकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें जा विराजमान होंगे।

सातवें गुणस्थानसे फिर वे क्षपक श्रेणी माडकर क्रमसे आठवें नौवें दशवें बारहवे गुणस्थानमे जा विराजमान होंगे। अतमें मोहनीय कर्मका नाश कर तथा बारहवें गुणस्थानमें ज्ञानावरण दर्शनावरण अंतराय कर्मोका समूल नाशकर तेरहवें गुणस्थानमें जा विराजमान होंगे।

अर्थ—हे मगधेश्वर वह मुनीश्वर तेरहवा गुणस्थान को प्राप्तकर केवलज्ञान को प्राप्त करेगा।

अर्थ—केवलज्ञानके प्रभावसे समस्त देव गण अपने २ परिवार व स्वामियों के सहित वहां पर आयेंगे।

स्वर्गोद्भवै शुभैर्द्रव्यै पूजयित्वा त त जिन । नत्वा पादारविंद तत् स्थास्यति तस्य सन्निधे ॥ ७५ ॥
स्थित्वा सिंहासने सोपि धर्मामृतरसोत्करै । तर्पयिष्यति चैव भव्यौघान् मिथ्याध्वांतं हनन् ॥ ७६ ॥
शिवदं मुनिमार्गं च गृहिणा नाकदायकं । प्रख्यापयन् जनान् सर्वान् बोधयन् बोधनोद्यतः ॥ ७७ ॥
एवं संबोध्य भव्यौघान् दिव्येन ध्वनिना स च । अंते योगनिरोधं च कृत्वा मोक्षाप्तये नृप ॥ ७८ ॥
हत्वा ह्यघातिकर्मारीन् गुणस्थाने क्रियोज्झित । अंत्ये शुक्लासिना तत्र यास्यति चाव्यये पदे ॥ ७९ ॥
अव्ययस्य पदस्यैव किं स्वरूप कियत्प्रमम् । इति प्रश्नस्य व्याख्यान शृणुथ भव्यसत्तमा ॥ ८० ॥

और मनोहर गधकुटीकी रचना को करेंगे।

अर्थ–हे मगधेश्वर ! देवगण स्वर्गोंसे उत्पन्न हुई परम पवित्र दिव्य अष्टविध सामग्रीसे प्रभुकी पूजा करेंगे और प्रभुके पवित्र चरणकमलोको नमस्कार कर प्रभुके समीप ही बैठेंगे।

अर्थ–वे प्रभु स्वर्णके दिव्य देवोपनीत सिंहासन पर विराजमान होकर धर्मामृतसे भव्यजीवों को तृप्त करेंगे। और उनका चिरकाल सबधी मिथ्यान्धकार का नाश करेंगे।

अर्थ– वे प्रभु मोक्षको प्रदान करनेवाले मुनिमार्ग तथा स्वर्गका प्रदान करनेवाला श्रावक धर्म का निरूपण करेंगे।

अर्थ–इस प्रकार भव्य जीवोको दिव्यध्वनिके द्वारा सबोधन कर वे प्रभु अतमें योगनिरोधकी क्रिया करेंगे।

अर्थ–अयोग नामक चौदहवें गुणस्थानमें अघातिया कर्मोका नाश अतिम शुक्ल ध्यानके द्वारा कर मोक्ष स्थानको प्राप्त होगे जो साश्वता [अव्यय] स्थान है जिसमें किसी भी कारणसे पुनः दुख उत्पन्न होनेकी संभावना नहीं होती है। अव्ययस्थान किसको कहते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर यह है सो सुनिये।

नत्वा सिद्धव्रजान् महासुखप्रदान् संसारविच्छेदकान् । सम्यक्त्वादिगुणालयान् मुनिनुतान् लोकाग्रमूर्ध्नि स्थितान् ॥ ८१ ॥
कायाकर्मविवर्जितान् सुरनुतान् संसारपारंगतान् । किंचित बुद्धिलवेन मन्यवचसा तेषां च कुर्वे स्तवं ॥ ८२ ॥
पृथ्व्याद्या नारकाणां च द्वितीया भवनेशिनां । मर्त्यानां तृतीया प्रोक्ता चतुर्थी ज्योतिषां च सा ॥ ८३ ॥
पंचमी नाकदेवानां ग्रैवेयकी च षष्ठमी । नाम्ना सर्वार्थसिद्धिश्च सप्तमी भूमिका वरा ॥ ८४ ॥
अस्योपरि पुनर्गत्वा योजनं द्वादशप्रमं । तिष्ठते ह्यष्टमी पृथ्वी सिद्धवारविमण्डिता ॥ ८५ ॥
इमेच भो बुधा ह्यस्मिन् लोकाकाशेष्टनामत । संत्येव सुंदराकारा स्थिरा नानार्थसंभृता ॥ ८६ ॥
दक्षिणोत्तरदिग्भागे रज्जुसप्तप्रमा मता । पूर्वेच पश्चिमे व्यासश्चैकरज्जुप्रमो बुधैः ॥ ८७ ॥
दीर्वर्णसदृशच्छाया दिव्या मोक्षाभिधा शिला । तन्मध्ये कांतिसदीप्ता स्याद्धीनकर्मवर्जिता ॥ ८८ ॥
उत्तानगोलकार्द्धेन समाना सिद्धपूरिता । नरक्षेत्रप्रमाकारा छत्राकारा विभात्यहो ॥ ८९ ॥

अर्थ—महान सुखोंको प्रदान करनेवाले संसारका नाश करनेवाले सम्यक्त्वादि आठ गुणोंसे भूषित, मुनियोंसे पूज्य लोकके अग्रभागमें विराजमान, शरीर रहित, कर्मरहित संसारसे पारगत ऐसे सिद्ध भगवानके गुणोंका किंचित स्वरूप बतलाते हैं। पहिली पृथ्वि नरकभूमि, दूसरी भवनवासियोंकी, तीसरी मनुष्य लोककी, चौथी ज्योतिश्चक्रकी, पांचवी स्वर्गोंकी, छठी ग्रैवेयकोंकी, सातवी सर्वार्थसिद्धिवाली है और आठवीं भूमि सिद्धशिला है।

अर्थ – लोकाकाशमें आठवीं पृथ्वी में एक सिद्ध शिला नामका क्षेत्र है। वह शिलाके आकार का होने से शिला कहलाता है। यह स्थान दक्षिण और उत्तर दिशामें सात रज्जु प्रमाण विस्तार वाला है। पूर्व और पश्चिम में एक रज्जु प्रमाण है। स्वर्ण की दिव्यरूप मोक्षशिला है जो अपनी दीप्तिसे अतिशय चमत्कारिक है। मोक्षशिला

स्थूला सा जिननाथेन समोक्ता सर्ववेदिना । योजनैरष्टभि स्योता दुर्लभा चान्यलिंगिनां ॥ ९० ॥
मध्येष्टयोजनै स्थूला कृशाते क्रमहानित. । इति सिद्धशिलायाश्च वर्णना कीर्तिता जिनैः ॥ ९१ ॥
तस्या मध्येच तिष्ठति नित्याष्टगुणभूपिता । निकुरुवाश्च सिद्धानां तनुवाततमस्तका ॥ ९२ ॥
केचिदूर्ध्वासनाकाराः केचित् पद्मासना वरा । केचिच्च विविधाकारा ह्यमूर्ता नाशवर्जिता ॥ ९३ ॥
विभात्येव हि केषाचित् पचेपुपचवापत । शरीराणा इय संस्थ उत्कृष्टेनहि समता ॥ ९४ ॥
लघुमध्याच केषाचित् राद्वाते कथिता जिने । अन्यैर ह्स्तश्चेय केवलावकधारिभि ॥ ९५ ॥
बहव सत संभेदा मध्यसंख्याभिरागमे । केवाचिद्दोपनिर्मुक्ते सर्वदोपविवर्जिता ॥ ९६ ॥
किंचिदूनाश्च ते सिद्धा नाकू शरीरद्घावहा । अनतसुखसंलीना द्वेषरागादिवर्जिता ॥ ९७ ॥

अर्ध चद्रमा के समान है । समस्त सिद्ध उसमें एक समान निवास करते हैं । मनुष्यके क्षेत्रके समान जिसका विस्तार है । छत्राकार है । इस प्रकार महान विशाल शिला है । आठ योजनकी ऊंची है । जैन लिंगको धारण करनेवालों को ही यह प्राप्त होती है । अन्य लिंगको धारण करनेवालोको सर्वथा प्राप्त नहीं होती है । इस प्रकार यह शिला श्री जिनेंद्र देवने बतलाई है ।

अर्थ—उस सिद्धशिलापर आठ गुणोंसे विभूपित, सिद्ध गणोके समूह तनुवात वलय के अंतमें विराजमान है । वहां पर कितने ही सिद्ध प्रभु ऊर्ध्वासन विराजमान है कितने पद्मासन विराजमान हैं कितने ही अन्य आसनो से भी विराजमान हैं । सिद्ध भगवान शरीर रहित अमूर्तीक है । द्रव्य कर्म नोकर्म भाव कर्मसे सर्वथा रहित है । इसलिये सिद्धोंका न तो कोई रूप ही है और न कोई आकार है । अतएव सिद्धोंको नित्य निरंजन निराकार कहते हैं । सिद्ध अजर हैं अमर है । सिद्धोकी उत्कृष्ट अवगाहना सवा पांच सौ धनुपकी है और जघन्य अवगाहना ३॥ हाथकी है ।

निरजना निराकारा सदाकालेषु संस्थिता । विश्वमांगल्यकर्तार· सर्वोत्कृष्टा निरालसा ॥ ९८ ॥
लोकोत्तमाः शरण्याश्च शुद्धा सिद्धा निरामया । अनंतकालमात्मासा तिष्ठंत्यगातिगा सदा ॥ ९९ ॥
निष्कलंका निराधारा धामरूपाश्च चिन्मया । निर्भया गतनिद्राश्च निराबाधाश्च्युतोपमा ॥ १०० ॥
नाथहीनाश्च निर्मांना पचवर्णविराजिताः । हावभावविनिर्मुक्ता ललनाभाववर्जिता ॥ १ ।
कामहीनाश्च निर्गंधा निर्विकल्पा निरागमा । निर्विहाराश्च निर्दंभा निष्पापा मदवर्जिता· ॥ २ ॥
वितृष्णा निर्विकाराश्च नि स्वना सकलार्थदा । निर्विचिंत्या· सदाधारा कृतार्थाः कृत्यवर्जिता ॥ ३ ॥
लेश्यावेदविहीनागा शातभावेन मडिता । सर्वेषामीश्वराणाच ईश्वराः सर्वदर्शका ॥ ४ ॥

मध्यम अवगाहनाके अनेक भेद है । सिद्ध भगवान चरम शरीरसे किंचित् न्यून अनंत सुखमें निमग्न हैं ।

समस्त मगलोंका प्रदान करनेवाले, सर्वोत्कृष्ट–लोकोत्तम–शरणभूत–परमशुद्ध–तेजरूप–चिन्मय सिद्ध भगवान है।

सिद्ध भगवान–निर्भय-निष्कलंक–निराबाध–निरामय–निर्मद–निराधार–स्त्रीरहित–हावभावविलासादिरहित–कामविकार चेष्टा रहित–चितारहित-विकल्प रहित–गंध रहित-कुचेष्टा रहित–कुभाव रहित–रोग रहित–उपद्रव रहित–विहार रहित–छल कपट भाव रहित–क्रोधादि विकाररहित–मान मायादिरहित–पाप रहित–तृष्णा रहित–मोह-द्वेष–और राग रहित–परम शात विराजमान है ।

सिद्धोंके वेद नहीं है। शरीर नही है । लेश्या नही है । कर्म नही है । जन्म जरा आधि व्याधि नही है। क्षुधादि पीडा नही है । वे सिद्ध भगवान ईश्वरों के ईश्वर है तीन जगत के स्वामी हैं । समस्त पदार्थोंके वेत्ता हैं–समस्त जीवोंको ससार समुद्रसे पार करनेवाले हैं । समस्त पदार्थको जानने वाले अनंत सुखमें संलीन हैं।

अर्थ–उस सिद्ध शिला पर समस्त कर्म समूहको समूल नाश करनेवाले ऐसे सिद्ध परमात्मा अपनी आत्मासे

कर्मप्रकृतिसहीना तारका भवदेहिना । जन्मात्ययजगतकवर्जिता निर्मला सदा ॥ ५ ॥

तस्मिन् शिवाया हतकर्मव्यूहा भुजंति शर्म शुभमात्मभूतं । अतातिगा स्वात्मनि संस्थितास्ते निर्बाधरूप मनसाविचिंत्या ॥६॥

चक्र्यादिराजेन्द्रखगाधिपाना । कल्पेन्द्र ऊर्ध्वेन्द्रसमुद्भवाना ॥ भोगादिभूम्यसभवार्थकाना । तथान्यलोकत्रयसभवाना ॥ ७ ॥

जत्त्रये यत् क्रियते सुखैक । त्रिकालजं हि विषयोत्थसौख्यं ॥ तस्मात्सुखादक्षसमुद्भवाच्च । क्षणे हि एकैव विकाररहीनं ॥८ ॥

भुजंति सौख्य हतकर्मजाला । मात्मत्थक्षमतुलविहीन (?) ॥ अन्येन द्रव्येण विवर्जितं हि । ह्रासेन वृद्धेन तथा विमुक्तम् ॥९॥

हत्वा कर्मरिपून् पूर्वं महाध्यानसुवन्हिना । येऽनंतसुखसंयुक्त त्रैलोक्यशिखरं गता ॥ १० ॥

ते मया संस्तुता सर्वे चिन्मया कायवर्जिता । मे समाधि सुबोधि च यच्छंतु नो परा इह ॥ ११ ॥

उत्पन्न हुए सुखको भोगते है। वे सिद्ध परमात्मा सब प्रकारकी बाधाओंसे रहित और अंत रहित सदैव अपनी आत्मामें ही निमग्न रहते है। उनका मनमे चिंतवन करना चाहिये।

अर्थ—संसारमें इन्द्रिय और विषयोंके सेवन करनेमे जो सुख जीवोंको प्राप्त होता है वह तुच्छ है। विनाशीक है। चक्रवर्ती—विद्याधर देवेन्द्र अहमिन्द्र भोगभूमीके जीव तथा अन्य उत्तम जीव जो सुख तीन जगत् में भोग कर रहे है वह इन्द्रियोंका सुख तीनों कालोंका एकत्रित किया जाय तो भी वह सुख सिद्धो के एक क्षण मात्र सुखके समान नहीं हो सकता है। सिद्ध परमात्मा आत्मीय-अतीन्द्रिय—न्यूनाधिकरहित विकार रहित-अविनाशीक-अचित्य-नित्य अनंत सुखको भोगते है।

अर्थ—जो सिद्ध परमात्मा अपनी संसार पर्यायमें समस्त प्रकारके कर्मरूपी शत्रुओंको ध्यानरूपी अग्निसे भस्म कर अनंत सुख सहित तीन लोकको शिखरपर विराजे है।

अर्थ—शरीर रहित चैतन्य स्वरूप परम विशुद्ध ऐसे सिद्ध परमात्मा जिनकी मैंने संस्तुति की है, मुझे समाधि और रत्नत्रयकी प्राप्ति प्रदान करें।

सिद्धवारा इमे नित्य धीरवीरैर्मुनीश्वरै । वंद्या ममापि संभूयात् सिद्धवृंदाय वंदना ॥ १२ ॥
ईदृशे मगधाधीश मोक्षस्थाने मनोहरे । गत्वा निरामयं शर्म शाश्वत चाक्षवर्जित ॥ १३ ॥
कर्मकायविनिर्मुक्तमात्मज नाशवर्जित । निर्लेप वृद्धिहीन च सर्वेषा हि सम वरं ॥ १४ ॥
स व्रती व्रतपुण्येन द्वंतातीत मदा खलु । मोक्ष्यत्येव विचारज्ञ गतागमनवर्जित ॥ १५ ॥
अनेन विधिना ये हि करिष्यति कलौ नरा । यास्यति शाश्वते स्थाने विदेहात्, नात्र सशय ॥ १६ ॥
कर्मदहनसद्व्रत सोऽय कर्मविनाशक. । सार्थनामयुत सम्यक् वद्यो भव्योत्करै मदा ॥ १७ ॥

अर्थः— वे सिद्ध परमात्मा धीर वीर मुनीश्वरोसे सदैव पुजित है वदनीक है, उनको मै भी भाव भक्तिसे वदना करता हू ।

अर्थः— हे राजन् ! इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट महा मनोहर—मोक्षस्थानमें जाकर निरामय- साश्वत अतीन्द्रिय—कर्म और शरीरकी पराधीनतासे रहित, आत्मीय, अविनाशीक, निर्मल अनंत सुखको वे सिद्ध परमात्मा प्राप्त होते है ।

अर्थः— हे राजन् ! वह कर्मदहन व्रतको धारण करनेवाला भव्य जीव व्रतके पुण्यके प्रभावसे सासारिक समस्त सुखोंको भोगकर क्रमसे आदि, मध्य और अत रहित-जन्ममरणादि विकार रहित मोक्षके सुखको भोगता है ।

अर्थ— इस प्रकार विधिपूर्वक इस कर्म दहन व्रतको पचम काल में जो भव्य जीव पालन करेंगे वे अवश्यही अविनाशीक मोक्षसुखको प्राप्त होगे । इसमें कुछभी संदेह नही है ।

अर्थ—यह कर्मदहन व्रत सार्थक नामवाला है । जो कोई भव्यजीव इस व्रतको विधिपूर्वक धारण करता है उसके समस्त कर्मोंका दहन (भस्मीभाव) हो जाता है इसी लिये यह व्रत सर्वोत्कृष्ट है । भव्यजीवोसे सदैव पूज्य है ।

सर्वोत्कृष्टविधिश्चायं कथितश्च नरेश्वर । बुद्धस्व त्व हृदि शुद्धे मया त्वत्पश्नत खलु ॥ १८ ॥
आजन्म पापमग्ना हि नरा यास्यंति निश्चयात् । अस्यैव कारणात् भूप । शिवास्पदेच शाश्वते ॥ १९ ॥
अस्य शृणु पुन त्वंच अपरमपि ये नराः । करिष्यंति विधिश्चाय तरिष्यंति भवाच्च ते ॥ २० ॥
पूजनस्य विधिः सैव भोजनस्यापि स विधि । कर्तव्यश्च व्रते चास्मिन् व्रतिभि शिवप्राप्तये । २१ ॥
शक्त्यनुसारतो मासे करणीयाः सुभावत. । प्रोषधा पच वा पंक्तिपमा एव सदैव वै ॥ २२ ॥
वा मासं प्रति चत्वार प्रोषधा शुद्धित त्रिधा । कर्तव्या कर्मनाशार्थे सजाव्या सक्रियान्विता ॥ २३ ॥

अर्थ—हे मगधाधीश कर्मदहनव्रतकी जो विधी वतलाई है वह सर्वोत्कृष्ट विधि है । जघन्य और मध्यम विधि भी इस व्रतकी है ।

अर्थ—व्रतके प्रभाव से आजन्म पापी जीव भी समस्त कर्मोंका नाश कर मोक्ष सुखको प्राप्त होगे ऐसा हे राजन तू निश्चय समझ ।

अर्थ—हे राजन् इस कर्मदहन व्रतकी अन्य विधि भी बहुत हैं । जिनको पालन करनेसे भव्य जीव ससार समुद्रसे अवश्य ही तिर जांयगे ।

अन्य विधियोंमें भगवानके अभिषेक और पूजनकी विधि जो प्रथम वतलाई है वह वैसी ही करनी चाहिए । भोजनकी शुद्धि और प्रोषधकी विधि भी जो प्रथम वतलाई है वह भी वैसी ही करनी चाहिए । परतु प्रोषधोपवास प्रथम एकांतर रूपसे वतलाये थे वे अपनी शक्तिके अनुसार एकातर रूपसे न कर पृथक् २ रूप भी कर सक्ते है । परतु मन वचन कायकी शुद्धिसे करना चाहिए । एक मासमें पांच या दश प्रोषधोपवास करने चाहिए । अथवा

प्रोषधस्य प्रभावेण देहेस्मिन् कर्मसंभृते । भवंत्यघाश्च तूर्णेन शिथिली हि दुराशया ॥ २४ ॥
खगेश्वरेक्षणेनैव यथा क्रूराश्च पन्नगा । शिथिलता प्रयात्येव तथैव व्रततो ह्यघा ॥ २५ ॥
ये ये मया नराधीश आख्याताः शिवदायका । व्रताना निकराः सर्वे ते ते स्यु नात्र सशय ॥ २६ ॥
पचमाख्येशुभे काले मर्त्या या स्त्रियोपि च । मयोक्तविधिना भूप भव्यराशिसमुद्भवाः ॥ २७ ॥
करिष्यति शिवस्थाने जरात्ययविवर्जिते । ह्यनुक्रमेण यास्यति द्वापरो नात्र चाक्षये ॥ २८ ॥
श्रुत्वेत्थ मगधाधीश स ध्वनिं च प्रभोर्मुदा । तं प्रत्याह तदा स्वामिन वीर वीरेश पावन ॥ २९ ॥

एक मासमें चार प्रोपधोपवास करना चाहिए। प्रोपधोपवासके दिवस जाप्य अवश्य देना चाहिये और पूर्वोक्त बतलाई हुई समस्त क्रियायें करना चाहिए।

इस कर्मदहन व्रतके प्रभावसे कर्मोंका चूर्ण अवश्य ही होगा।

अर्थ—जैसे गरुडके दर्शनमात्र से सर्प भाग जाते हैं वैसे व्रतके प्रभावसे समस्त पाप नष्ट होजाते हैं।

अर्थ—हे राजन् जो जो व्रत इस ग्रथमें भव्य जीवोके उपकारार्थ बतलाये हैं वे सब मोक्षके प्रदान करनेवाले हैं।

अर्थ—हे राजन् इस पंचम कालमें जो स्त्री या पुरुष भव्य जीव इस कर्म दहन व्रतको पालन करेंगे वे नियम से जरा जन्म मरण रहित मोक्ष सुखको प्राप्त होगे।

अर्थ—इस प्रकार कर्मदहन व्रतका महान माहात्म्य श्रीवीर प्रभुकी दिव्यध्वनि द्वारा श्रवण कर हर्षको प्राप्त हुआ। फिर भी राजा श्रेणिक ने वीर प्रभुसे प्रश्न किया।

भरद्वि कथिता मर्त्या निम्ना हि पचमोद्भवा । करिष्यति कथं व्रतं तद्दते नास्ति तत्फल ॥ ३० ॥
गृहे यदि दरिद्र स्यात् पूर्वपापोदयात् नृप । कायेन द्विगुण कार्यं व्रत प्रोपसमुत ॥ ३१ ॥
द्रव्यहीना नरा तस्मिन् करिष्यन्ति व्रतो भगान् । द्रव्याढ्याश्च करिष्यति उद्यापना व्रतस्य वै ॥ ३२ ॥
सुतापुत्रविवाहेतु द्रव्योत्करस्य व नरा । करिष्यति व्यय भूप मृतकादिक्रियापु वै ॥ ३३ ॥
पचमाभिरकालस्य मानवा पापमडिता । धर्ममार्गेरहिर्भूता धर्मकार्यपरान्मुखा ॥ ३४ ॥

अर्थ—हे प्रभो पचम कालके मनुष्य दरिद्री होगे। और दरिद्री मनुष्य इस व्रतको किस प्रकार संपादन कर सकेंगे। क्योंकि धनके विना धर्म किस प्रकार हो सक्ता है?

अर्थ—हे राजन् यदि दरिद्रता के कारण व्रतका उद्यापन करने की शक्ति न हो तो शरीरसे द्विगुणा व्रत करे तो भी वही फल प्राप्त होगा।

अर्थ—द्रव्यहीन दरिद्री मनुष्य इस व्रतका बडे विशुद्ध भावोंसे और भक्तिसे करेगे। परंतु श्रीमत (धनिक) लोग इस व्रतकी उन्थापना करेंगे। अर्थात् धनके लोभसे वे व्रत के पालन करनेम अपनी असमर्थता प्रकट करते रहेंगे। यह उनका लोभ परिणाम धर्मभावना की कमजोरी प्रकट करेगा।

अर्थ—वे धनिक अपनी पुत्रपुत्री आदि के विवाह में कभी २ अपनी मान बढाईके लिये शक्तिसे अधिक धनका व्यय करेंगे। या मृतकादि पुरुषोंकी क्रिया में शक्ति के उपरात धनव्यय करेंगे। परतु धर्मकार्यमें उनको रुचि नहीं होगी।

अर्थ—हे राजन् पचमकालका माहात्म्य ही अद्‌भुत है उसमें प्रायः धर्म मार्ग से विपरीत ही कार्य होगे। क्योंकि पचमकालके मनुष्य प्रायः पापोंसे लिप्त होंगे। धर्म मार्गसे बहिर्भूत—धर्मकार्य से परामुख होगे। पचमकालके

हर्षोल्लासेन ते मूढा पापकार्येषु नित्यश । द्रव्यौघस्य व्यय भूप करिष्यति न संशय ॥ ३५ ॥
कृपणा द्रव्यभोक्तारो निष्कृपणाः तद्वर्जिता । कलौ एव भविष्यंति मिथ्यामार्गरता खला ॥ ३६ ॥
एकम प व्रत शुद्ध य करिष्यति स शिवे । यास्यति नात्र सदेह कायात् द्विगुणं च ना ॥ ३७ ॥
गजस्नानसमा ज्ञेया विधिहीना व्रता इमे । स्वर्गसौख्यकरा चैव (नैव) शिवशर्मकरा खलु ॥ ३८ ॥

मनुष्य हर्ष और उल्लासके साथ पापकार्य नित्य ही करेंगे । ऐसे कार्योंमें ही अपना धनका उपयोग कर अपने को कृतकृत्य मानेंगे । कृपण धनके स्वामी बनेंगे और उदार मनुष्योंके पास धनका अभाव होगा । इस प्रकार कलिकाल पचमकालमें सर्वत्र अधर्मकी प्रवृत्ति बढेगी ।

अर्थ—इस पचमकालमें भावभक्ति स हर्ष और उल्लास के साथ जो मनुष्य एक भी व्रत शुद्धता पूर्वक करता है वह मोक्षके सुखको अवश्य ही प्राप्त होता है । इसमें सदेह नही है । उद्यापनशक्ति विहीन पुरुषोंको दूना व्रत कर अपने भावो की विशुद्धि करनी चाहिये ।

अर्थ—जो मनुष्य व्रतोको विधि विना ही अपने मनसे करते है उनका श्रम करना हाथीके स्नान समान निष्फल है । अत एव जो कोई भी व्रत किया जाय विधिपूर्वक ही करना चाहिये । विना विधिके व्रत स्वर्ग मोक्षका साधक नही है । जिनके पास द्रव्य नही है उनको शरीरसे ही व्रत करनेमें श्रम अधिक करना चाहिये ।

भावार्थ—व्रतकी विधी उद्यापन आदि करनेकी परमागममे सर्वत्र बतलाई है सो धनवान और पुण्य पुरुषोंको तो व्रतकी उद्यापन आदि समस्त विधि करनीही चाहिये । यदि धनवान और पुण्यवान ही ऐसी विधि न करें तो उनने अपनी शक्तिको छपाकर भावना कम की । परिणामोंकी विशुद्धि पूर्ण रूप से नहीं की

अतः कायाच्च भो मर्त्याः कुर्वीध्व द्विगुणं व्रत । इम नैव गृहे द्रव्यो यथास्ति शिवशर्मणे ॥ ३९ ॥
भो वुधा जिनकार्येषु इज्यापात्रादिपु सदा । कृपणत्व भजध्व मा ह्यनेकदु खदायकम् ॥ ४० ॥
कुमार्गे स दा यूय कृपणत्व बुधोत्तमा । भजध्व धर्मकार्येषु मा कदापि सुखाप्तये ॥ ४१ ॥
नागराणा व्रतेदच कारायण सुशर्मद । अस्माद्धि सकला भव्या. शिवे यास्यति निश्चयात् ॥ ४२ ॥
कर्मदहनव्रतस्य विधिश्च कथितो मया । करिष्य त सुभावेन इह यास्यति सोऽव्यये ॥ ४३ ॥

इस लिये उनको धर्मका फल स्वर्ग मोक्ष किस प्रकार प्राप्त हो मक्ता है । इसी प्रकार निर्धन यदि व्रतको दूना द्विगुणित न करें तो आगमकी आज्ञानुसार सर्व क्रिया न करनेमे परिणामोंकी विशुद्धि किस प्रकार रह सक्ती है । इस लिये प्रत्येक प्राणीको अपनी २ शक्तिको नहीं छुपाकर व्रत विशुद्ध परिणामोसे करना चाहिये ।

अर्थ—हे विचारशील बुद्धिमान भव्यजीवो जिनधर्म संबंधी–पुण्यकार्यमें–पूजा और पात्रदानमें कभी भी कृपणता मत करो । क्योंकि पूजा और दानमें कृपणता करना महान दुखोंको प्रदान करनेवाला है । हां यदि कृपणता ही करनी है तो कुमार्गमें व्यर्थ धनको व्यय मत करो । कुमार्गमें कृपणता धारण करो। परंतु सुखकी इच्छा करनेवालोको धर्मकार्यमें कृपणता महान हानि पहुचाने वाली है ।

अर्थ – शहरके विचारशील मनुष्योको तो यह व्रत अवश्यही करना चाहिये । इस व्रतके माहात्म्यसे भव्यजीव नियमसे मोक्षके पात्र होंगे ।

अर्थः— कर्मदहन व्रतकी विधि जो यहांपर वतलाई है तदनुसार जो कोई भव्य जीव अपने विशुद्ध भावोसे करेंगे वे अवश्य ही मोक्ष सुखको प्राप्त होंगे ।

पूर्णे याते हि व्रतस्य प्रतिष्ठा श्रीजिनेशिना । करणीया सुमोदेन व्रतस्य फलसिद्धये ॥ ४४ ॥
चतुर्विधाय संघाय यथायोग्यानि मोदत । सद्देयानि शिवाप्त्यर्थं दानानि व्रतिभि खलु ॥ ४५ ॥
पुरेषु नगरेषु वै स्थापनीया मनोहरा । छत्राश्च चामरा घंटा ध्वजाद्या जिनसद्मसु ॥ ४६ ॥
उत्कृष्टोय विधिर्भूप ! शिवशर्मप्रदायक । व्रतस्योद्यापनस्यास्य स्यात्खलु आगमे मतः ॥ ४७ ॥
यथा शक्त्या करणीयो व्रतस्योद्यापनो नृप । एतादृश्यपि नास्त्येव शक्तिर्दारिद्रियोगत ॥ ४८ ॥
अतो हि कायतो भव्या कुरुध्व द्विगुणमिद । तत्सम हि फलासिद्धा भवतामपि संभवेत् ॥ ४९ ॥
अनेन केवलेनैव तरिष्यति नरोत्तमा । भजिष्यति शिवशर्म सर्वाङस्यैव नाशनात् ॥ ५० ॥

अर्थ—पूर्ण व्रत होने पर व्रतकी फलकी सिद्धि के लिये भव्य जीवो को व्रतका उद्यापन अवश्य ही करना चाहिये। व्रतके उद्यापन की विधि-व्रती पुरुषोको शुभ भावोंसे श्रीजिनेन्द्र भगवानके उत्तमोत्तम जिनबिंब निर्माण कराकर प्रतिष्ठा करानी चाहिये। चार प्रकार के संघको अपनी शक्तिके अनुसार दान भी देना चाहिये। संघको भोजन पानके द्वारा संतोषित करना चाहिये। नगरमें अथवा ग्राममें उत्तम जिनालय बनवाकर उसमें छत्र-चमर घंटा आदि उपकरण अपनी शक्तिके अनुसार प्रदान करना चाहिये। यह उत्कृष्ट विधि है। मध्यम भी की जाती है। इस प्रकार विधिपूर्वक व्रत करनेसे अभ्युदयकी सिद्धि होती है।

अर्थ—हे राजन् यथाशक्ति व्रतका उद्यापन करना ही चाहिए। व्रतोकी सिद्धि उद्यापन किये बिना नहीं होती है। जो इस प्रकार उद्यापन करनेकी शक्ति नहीं हो तो व्रतको द्विगुणित करना चाहिये। इस प्रकार द्विगुणित व्रत करनेवालोंको भी वही फल प्राप्त होता है।

हे राजन् ! एक इसी व्रतके माहात्म्यसे भव्यजीव संसारसमुद्र से तरकर मोक्षसुखको अवश्यही प्राप्त होंगे।

चंद्रपक्षप्रमस्तस्य विस्तारो लघुयोजनैः । त्वया ज्ञेयो नराधीश सिद्धवारयुतस्य वै ॥ १८ ॥
लेकवालाग्रमात्रापि सिद्धाद्वनेऽस्ति न सा धरा । एवेनैव गता वानयोगीन्द्राश्च शिवास्पदं ॥ १९ ॥
अस्मिन् काले प्रयात्येव तस्माद्धि कालदोषत । द्विदशप्रमतीर्थेशा द्विदशकूटतो नृप ॥ २० ॥
सिद्धस्थानंच भव्यानां तारका निर्मलाशयाः । दिव्यदेहधरा पूज्याः सुरेन्द्रै वा मुनीश्वरैः ॥ २१ ॥

इस तीर्थराजपर से असंख्य तीर्थंकर मोक्षधामको प्राप्त होगये और होगे । अनत मुनीश्वर भी इस पवित्र तीर्थराजमे मोक्षको प्राप्त होगए और होगे ।

इस सम्मेदशिखरका १२ योजन प्रमाणका विस्तार है और इसको परमागममें सिद्ध भूमि मानी है। सिद्धाचल भी इसीको कहते है ।

हे राजन् इस पर्वतपर ऐसा कोई बाल (केश) बराबर क्षेत्र नहीं है कि जहासे कोई न कोई मुनीश्वर निर्वाणको प्राप्त न हुआ हो । बाल बालपर सिद्ध हुए है । इस पर्वत राजके कंकर कंकर परसे सिद्ध हुए है । समस्त पर्वत ही सिद्धभूमि है ।

हे राजन् इस वर्तमान युगमें कालके दोषसे तो बीस तीर्थंकर और असख्य मुनीश्वर मोक्षको गए । चौबीस नहीं ।

अर्थ—तीर्थराजसे दिव्यदेहके धारक देवोंसे पूजित मुनीश्वरों से वदनीय जगतको तारन करनेवाले परम दिगंबर परम पवित्र ऐसे श्री तीर्थंकर प्रभु मोक्षधामको पधारते हैं।

नामानि किंच कूटाना अस्मिन् काले कियत्प्रमा । मुक्ति गता मुनीन्द्राश्च तस्माद्वै सिद्धभूधरात ॥ २२ ॥

एकस्यैव सुकूटस्य दर्शनात् किं फलं भवेत । कदा मुक्तिश्च तत्सर्वं कथयस्व दयापते ॥ २३ ॥

तदनुसारतो भव्या भव्याना शिवसिद्धये । व्याख्यान तस्य कुर्वेह सर्वससारतापह ॥ २४ ॥

नत्वा श्रीजिननायकान गणधरान् देवेन्द्रवृन्दार्चितान् । मौनीन्द्रान् सकलान् तथाच सुखदा जैनेन्द्रवक्त्रोद्भवाम् ।

वाणीं पापप्रणाशका मुनिनुता सद्बुद्धिदा पावनीं । सम्मेदाभिधपर्वतस्य शिवदं स्तोत्र करोमि शुभम् ॥ २५ ॥

कूटस्य सख्या सकलाहहान्यै, नामानि तेषा फलमद्भुत च । सख्या मुनीना बुधसत्तमास्ते, शृण्वतु येकाग्रहृदाच वच्मि ॥२६॥

यन्मस्तके संति सुराधिपार्च्याः पापाद्रिनाशे वरवज्रतुल्या । कूटा मनोज्ञा वरसिद्धयुक्ता शून्यद्विसंख्या कथिता जिनेन्द्रैः ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रेणिक महाराजने श्री वीर प्रभुसे तीर्थराज श्री सम्मेद शिखरजीका अद्भुत रहस्य सुनकर प्रश्न किया कि हे प्रभो! हे दयानिधे! कृपाकर यह बतलाइये कि इस वर्त्तमान युगमें उन कूटोसे कितनी सख्यामें मुनीश्वर मोक्षको प्राप्त हुए हैं? एक एक कूटके दर्शनसे क्या फल प्राप्त होता है? यह सर्व वृत्तात मैं आपके मुखकमल से श्रवण करना चाहताहू। श्रेणिक महाराजके प्रश्नोंमे श्री वीर प्रभुने जो सिद्धराज श्री समेद शिखरका स्वरूप बतलाया है तदनुसार ही भव्यजीवोके कल्याणके लिये और ससारके दुःखोको दूर करनेके लिये मैं वर्णन करता हू।

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवान अरहत परमात्मा तथा समस्त गणधर देवोंको नमस्कार कर पापको नाश करनेवाली—सुबुद्धिको प्रदान करनेवाली भगवती जिनवाणी माताको नमस्कार कर श्री सम्मेद शिखर (सिद्धाचल) का परम सुखदायी स्तोत्र कहता हू।

अर्थ—हे राजन् मगधाधीश! समस्त प्रकारके पापोका सहार करनेवाले ऐसे कूटो की सख्या उनके नाम,

अर्कप्रभा पूर्वदिशिहि कूटाः । वसुप्रमा· पश्चिमसद्दिशिच । एवं च ज्ञेयाः शिवदाः सुराच्याः तत्वार्थयुक्तैः वुधसत्तमैश्च ।२७।
वेदेन्द्रिलक्षाश्च ननुत्तराश्च । ह्यशीतिकोट्य· प्रमितार्वुदेकैः । मुनीश्वरा श्रीअजितस्य काले । मुक्तिगताः सिद्धवराच कूटात् ।२८।
कुर्याच्च यस्यैव सुभावशुद्ध्या । यो भव्यमर्त्य. शृणुथ फल तत् । सद्दर्शनं सैव लभेत्फलं च । पक्षाग्निकोटिप्रभप्रोषधानाम् ।२९।।
एतान् मुनीन्द्रान् वरभावतो वै । काले त्रिके तत्पदसिद्धयेऽहं । नमामि संसारपयोधिनस्ते । उद्धर्तुमीशा· सुरनाथवंद्याः ॥३०॥
नेत्राब्धिपचैव शतानि यस्मात् जाया सहस्राणि मुनींद्रवघा । द्विसप्ततिलक्षप्रमाश्च कोटिकोट्यो नव सर्वमुनीश्वराश्च ॥ ३१ ॥
धवलादिदत्तात् शुभनामकूटात् गताहनाशात् वरसिद्धता च । संसारदावानलमेघपुष्पा· स्वदेहभातर्जितपुष्पदंता· । ३२ ।

उनके दर्शन करनेका फल, और उन कूटो से मोक्षपद को प्राप्त हुए मुनीश्वरोकी संख्या आदि अद्भुत वृत्तांत कहता हू । सो एकाग्र मनसे सावधान होकर श्रवण कर ।

अर्थ—हे राजन् (इस वर्तमान युगमें सिद्धाचल श्रीसम्मेद शिखर पर देवोंसे पूजित पापोको नाश करने वाले अतिशय मनोज्ञ और तीर्थंकर प्रभुके निर्वाण स्थानभूत ऐसे वीस कूट श्रीजिनेंद्र देवने बतलाये हैं। जिनमें से बारह कूट तो पूर्व दिशामें विराजमान हैं और आठ कूट पश्चिम दिशामें सुशोभित हैं। इस प्रकार शुभ कूट वीस हैं ।

अर्थ—हे मगधाधिप श्रीसंमेदशिखर पर्वत पर सिद्ध वर नामक कूट से श्री अजितनाथ भगवान चौरासी अरव चौरासी करोड चौअन लाख मुनीश्वर सहित मोक्ष पदको प्राप्त हुए । जो भव्य जीव इस कूटका दर्शन मन वचन कार्य की शुद्धिसे और विशुद्ध परिणामो से करता है उसको वत्तीस कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है । जो इस कूटसे मुझे दिगंबर मुनीश्वर कर्मोंको नाशकर निर्वाण पदको प्राप्त हुए हैं उनको मैं भावभक्तिसे नमस्कार करता हूं । वे प्रभु नम ससार से पार करें ।

अर्थ—धवलदत्तकूटसे नो कोडाकोडि वहत्तर लाख दो हजार पांचसौ ब्यालीस मुनि श्रीभगवान पुष्पदंतके समयमें

यस्येक्षणाद्भव्यनृणां च प्राप्ति कराठिंगलक्षप्रमप्रोषधानां । भवेच्च नो संशय चात्र भव्या ह्यनुक्रमात् मोक्षपदस्य प्राप्ति ।३३।

आनंदकूटाच्च गता मुनीन्द्रा पचप्रमा ह्यष्टशतानि चैव ॥ मित्रेक्षमहस्त्रैवसप्ततिर्हि । लक्षास्तथा सप्ततिकोटयो वै ॥ ३४ ॥

गुणाश्च कोट्यश्च पुनश्च कोटि । एते च यस्मात् सकलाहनाशात् ॥ यद्वंदनात् भव्यनरो लभेत् वै । द्व्यष्टप्रमलक्षसुप्रोषधं च ॥३५॥

एकाशीतिसप्तशतानि नेत्राद्रिप्रमलक्षा यस्मात् । चतुरशीतिकोटिस्ततो वै अर्बुदैको ह्यविचलकूटात् ॥ ३६ ॥

पुरेक्षये सयमपालनाद्धि मुनीश्वरा केवलज्ञानयुक्ता । गता सुरेन्द्रादिगणै प्रपूज्या कर्मादिमातंगविघातसिंहा. ॥ ३७ ॥

एकैव कोटिप्रमप्रोषधाना फल च प्राप्नोति करोति यस्य । सद्वदना य शुभभावशुद्ध्या स वै वाविलवेन तथा शिवं च ॥३८॥

पापोको नाश कर मोक्षपदको प्राप्त हुए हैं । जो भव्य जीव इस कूटका दर्शन भावभक्तिसे करे वह व्यालीस लाख उपवासका फल प्राप्त करता है । इसमें संदेह नहीं है ।

अर्थः— आनंदकूटसे अभिनदन तीर्थंकर तथा तिहत्तर कोडाकोडि सत्तरकोडि सत्तरलाख चौपन हजार आठसौ पाच मुनि समस्त पापोको नाश कर मोक्ष पद प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनका फल सोलह लाख उपवासका है । सनत्कुमार चक्रवर्तीने चतुर्विध सघ सहित यात्रा की । यह सघ सबसे भारी निकाला गया था । लाखोंकी संख्यामें यात्री थे । मनकी चर्चा सघमें होती थी ।

अर्थः— अविचल कूट से सुमतिनाथ भगवान और एक अरब चौरासी करोड बामठ लाख सातसौ इक्यासी मुनि संयमको धारण कर मोक्षपदको प्राप्त हुए हे । जो भव्य इस कूटका दर्शन भावभक्तिसे त्रिशुद्धिपूर्वक करता है वह एक करोड उपवासका फल प्राप्त करता है । इस कूटकी चतुर्विध सघ सहित यात्रा श्री आनंदसेन महाराजने की थी जिसमें मुनिगण आदि सर्व ही सघ भारी संख्यामें था । सुमति भगवानके समयमें एक हजार मुनि मोक्ष गये । बाकी उनके शासन समयमें मोक्षको प्राप्त हुये ।

सप्ताधिका विंशतिवा च सप्त । शतप्रमा मोहनकूटतो वै ॥ यत्पद्मपुन पद्मप्रभुपद्मयुक्ता । धीरा. सहस्रासुरनाथवद्या ।३९॥
लक्षाण्यशीति पुनर्धर्मतीर्थो । शतैकमध्ये खलु एकहीन ॥ कोट्यो गता मोक्षपुरे मनोज्ञे । अनन्तशर्मार्णवमग्नदेहा ।४०॥
यद्वंदनाद् भव्यपुमान् लभेद्वै । कोट्येकसप्रोषधज फल च ॥ अहं नमामि शिरसा त्रिशुद्धया । त तीर्थराजं शिवदायक च ॥४१॥

प्रभासकूटात् करमित्रसख्या सप्तशतानिच सहस्रमप्त । द्विसप्ततिलक्षप्रभा यतीन्द्रा कोट्यशीति चतुरुत्तरा च ॥
रंभैवचधुप्रमकोटिकोट्य गताश्च मोक्षे सुरराजपूज्या । यद्दर्शनात्प्राप्निर्भवेच्च भव्या द्विज्येवकोटिप्रमप्रोषधाना ॥
घटाच्च अते ललितैवकूटात द्विपचपचैव शतानि यस्मात् । पुनरेव मित्राष्ट सहस्रयुक्ता अशीतिलक्षा हि यतीश्वराश्च ॥

अर्थ—मोहनकूटसे पद्मप्रभ तीर्थंकर और निन्यानवे करोड चौरासी लाख व्यालीस हजार सातसो सात मुनि मोक्षको प्राप्त हुए। पद्मप्रभ भगवानके समयमें एक हजार मुनि मोक्षको गए। वाकी मुनिगण उनके शासन समय में मोक्षको गए। इस कूटके दर्शन भाव भक्तिसे त्रिशुद्धिपूर्वक करता है वह एक करोड उपवासका फल प्राप्त करता है। इसकी यात्रा चतुर्विध सघसहित सुप्रभ राजाने की।

अर्थ—प्रभासकूटसे सुपार्श्वनाथ भगवान और नवासी कोडाकोडि चौरासी करोड वहत्तर लाख सात हजार सात सौ व्यालीस मुनिगण मोक्षको पधारे। इसके दर्शनका फल बत्तीस करोड उपवास का है। इसकी यात्रा उद्योत नामके राजाने एक बडे भारी चतु सघके साथ की थी जिसमें मुनिगणोकी हजारोसे भी अधिक सख्या थी। इस कूटकी रज लगानेसे कुष्ट रोग दूर होता है। विशेष एक बात यह भी है कि बीस कूटोकी यात्राके समान इसका फल है।

अर्थ—ललितघट कूटसे श्रीचन्द्रप्रभ जिनेंद्र और चौरासी कोडाकोडि वहत्तर करोड अस्सी लाख चौरासी

द्विसप्ततिकोटिषुकोटिकोट्य: वेदोत्तराशीतिगता शिवं च। यद्वंदनात् षोडशलक्षकाना स प्रोषधना च फलं लभेत् वै ॥
अशीति वा वेदशतानि यस्मात् पुन सहस्रेन्दुनगैवलक्षा । मुनीश्वरा' सुप्रभनामकूटात् एकोनमध्ये शतकोटयश्च ॥
यद्वंदनात् भव्यजन: सुभक्त्या फलच कोटिप्रमप्रोषधाना । आप्नोति नो संशय भो बुधौघा मोक्षाप्तये तच सदा प्रवंदे ॥
शतैक पचैव यतीश्वराश्च यस्मात्सहस्रा करसिंधुसख्या' । कराग्निलक्षा पुन पक्षवेद अष्टादशैव खलु कोटिकोट्य. ॥
विधूद्धरात्मोक्षपुरे मुनीन्द्रा गताश्च कूटात् सकलाघनाशात् । यद्वंदनात् षोडशलक्षकाना चतुर्थकानाच फल भवेद्धि ॥
द्विवेदयुक्ताश्च शतानि पच द्विरभ्रलक्षाश्च सहस्रकाश्च । ऋतुनदकोटिप्रभवैर्मुनीन्द्रा । यस्माच्च कूटात् वरसंकुलाच ॥

हजार पांचसौ बावन मुनिगण मोक्ष पधारे । इस कूटके दर्शन व संघरहित यात्रा ललितदत्त राजाने की सोलह उपवासका फल इसके दर्शनसे होता है।

अर्थ—सुप्रभकूट से पुष्पदंत भगवान तथा निन्यानवे करोड निन्यानवे लाख छासट हजार चारसौ अस्सी मुनिगण मोक्षको पधारे। जिसकी भाव विशुद्धिसे वंदना करनेका फल एक करोड उपवासका होता है। इसकी वदना उस समय सोमप्रभ राजाने चतुर्विध सघ सहित की थी।

अर्थ—विधूद्धर नामक कूटसे श्री शीतलनाथ भगवान तथा अठारह कोडाकोडि ब्यालीस करोड बत्तीस लाख ब्यालीस हजार पांचसौ मुनिगण मोक्षको पधारे। इस कूटके दर्शन का फल सोलह लाख उपवासका है। अविचल नामके राजाने संघ सहित यात्रा की।

अर्थ—सकुलकूटसे श्री श्रेयांसनाथ भगवान तथा छानवे कोडाकोडि छानवे करोड छानवे लाख बानवे हजार पांचसौ ब्यालीस मुनिगण मोक्ष पधारे।

नवादि अंते ऋतुकोटिकोट्य सद्धर्मका मोक्षपुरे गताश्च। प्राप्तिर्भवेद्यस्य सुवदनाच्च फलच कोट्येकसुप्रोषधाना ॥
द्विवेदयुक्ताश्च शतानि सप्त सहस्राणि षट्षष्टिसूक्तलक्षाः। अष्टारिकोट्योहि गताश्च यस्मात् मुनीश्वरा मोक्षपुरे सुखाके ॥५२॥
वीरादिश्वते शुभसंकुलाच्च यो भव्यजीव कुरुतेच यस्य। सद्दर्शनं सैव लभेत् फलच कोट्येकसख्यायुनप्रोषधाना ॥५३॥
स्वयभूकूटात् शिवपत्तनेच शतानि सप्तैव यतीश्वराश्च। सुरेन्द्रवद्या पुन सप्ततिर्हि लक्षा. सहस्राश्च तथैव ज्ञेया ॥ ५४ ॥
गता पुनः सप्ततिकोटयश्च यो वदयत्येव सुभावतो वै। प्राप्नोति सैव खलु प्रोषधाना कोट्येक भव्योत्तम सत्फलच ॥५५॥
पचोत्तरा रंद्रप्रमा मुनीन्द्रा शतानि पंचैव तथा नवैव। लक्षा सहस्राणि नवैव ज्ञेया एकोनविंशत्यूनकोटयश्च ॥ ५६ ॥
कोट्युक्तकोट्यश्च गताश्च यस्मात् एकोनविंशतिसख्यकाख्या। मोक्षे पुरे शर्मनिकेतने च सुदत्त आदिवर अंत कूटात् ॥५७॥
यस्यैव कूटस्य सुवंदनाच्च कोटिप्रमप्रोषधज फलं च। भव्यो लभेत् संशय नोत्र भव्या वंदे च तं शर्मप्रदं सदा हि ॥५८॥

इस कूटके दर्शनका फल एक कोटी उपवासका है। इसकी यात्रा आनदसेन राजाने चतुर्विध संघ सहित की।

अर्थ—सुवीर नामके कूट से विमलनाथ भगवान तथा सत्तर कोडि साठ लाख छह हजार सातसौ ब्यालीस मुनिगण मोक्ष पधारे। इस कूटका दर्शन करनेसे एक करोड उपवासका फल प्राप्त होता है। इसकी यात्रा चतुर्विध सघ सहित सुप्रभनामके राजाने की थी।

अर्थ—स्वयंभु नामक कूटसे अनतनाथ तीर्थंकर तथा सत्तर करोड सत्तर लाख सत्तर हजार सात सौ मुनिगण मोक्ष पधारे। इसके दर्शन का फल एक करोड उपवासका है। इस कूटका दर्शन चारुसेन राजाने किया।

अर्थः—सुदत्त नामक कूटसे श्रीधर्मनाथ भगवान तथा उनईस [उगनीस] कोडाकोडि उगनीस करोड नवलाख नवहजार पांचसौ पिचानवे मुनिगण मोक्ष पधारे। इस कूटका दर्शन करनेका फल एक करोड उपवासका

प्रभासकूटात् सुरनाथवद्या सद्ध्यानधर्मेण विधूतपापा । शतमध्य एकोन शतानि रंध्र सहस्राणि नंदैवतैवलशा ।५९।
नवैव कोट्युक्त पुनश्च कोटिगेते शिवे धर्मधरा गताश्च । श्रीशांतिनाथस्य सुकालमध्ये संसारसिंधोः मथका मुनीन्द्रा ६०
कुर्याच्च यस्यैव सुभावशुद्धया यो दर्शन सैव लभेत् फलं च । एकस्य कोटिप्रमप्रोषधस्य क्रमाद्धि मोक्षं सकलाहनाशनात् ॥६१॥
द्विवेदयुक्ताश्च शतानि सप्त यस्मान्मुनीन्द्रा शिवप्राप्तिरेव । सहस्रोपमा षट् पुन नंदकाश्च कराग्निलक्षा हतकर्मवृंदा ॥६२॥
ऋतुस्तथारंध्रप्रमाश्च कोट्यो रसाख्यनंदोपमकोटिकोट्य । गता मन·पापविभंजकाश्च श्रीज्ञान आदिधरकूटतो वै ॥ ६३ ॥
अस्यैव कूटस्य च दर्शनाच्च कोट्योपमप्रोषधज फल च । लभेच्च भव्यो बुधसत्तमाश्च नमामि तं चैव सदा त्रिकाले ॥ ६४ ॥
नवतिनवसहस्रा वाच लक्षास्तथैव । नवतिनवसुकोट्यो नाटिकाद्यंतकूटात् ॥
सकलविधिविनाशात्सत्पुरे मोक्षसंज्ञे । अमलगुणनिधाना सगता लेखपूज्या ॥ ६५ ॥

है । इस कूटकी यात्रा विभीवसेन राजाने चतुर्विध संघ सहित की ।

अर्थः— प्रभास कूटसे श्री शांतिनाथ भगवान तथा एक कोडाकोडि नव करोड नव लाख नव हजार नौंसौ निन्यानवे मुनिगण मोक्ष पधारे । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवासका है । इसकी यात्रा सुदर्शन राजाने चतुर्विध संघ सहित की थी ।

अर्थ–श्रीज्ञानधर कूटसे कुंथुनाथ भगवान तथा छ्यानवे करोड बत्तीस लाख छ्यानवे हजार सातसौ ब्यालीस मुनिगण सिद्ध पदको प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवासका फल है । इसकी चतुर्विध संघ सहित यात्रा सोमधर राजाने की थी ।

अर्थः— नाटक नाम कूटसे श्री भगवान अरहनाथ स्वामी तथा न्यानवे लाख न्यानवे हजार मुनिगण

प्राप्तिर्भवेत्तस्य चतु हि भव्या । षट् रंध्र कोटि प्रमप्रोषधाना ॥
यस्येक्षणान्मुक्तिपदस्य सिद्धि । ह्यनुक्रमान्नात्र हि संशयश्च ॥ ६६ ॥

षट्नवकोट्योवरसंवलाच्च कूटान्मुनीन्द्रा शिवसत्पुरे च । गताश्च स्वकर्मविघातनाच्च श्रीमल्लिनाथस्य सुकालमध्ये ॥६७॥
षट्रध्रकोटिप्रमप्रोषधाना फलस्य प्राप्ति खलु सभवेच्च । तद्दर्शनादनुक्रमत शिवस्य शिवालये त च सदा प्रवदे ॥ ६८ ॥
नवैवयुक्ता वरनिर्जराच्च एकोनशतयुक्तशतानि कूटात । लक्षा नवैव सुरवाग्पूज्या त्रिन्यूनशतकोटियतीश्वराश्च ॥
एकोनशतकोटि तथैव कोटि गता शिवे पापविघातनाच्च । यद्दर्शनात्कोटिसुप्रोषधाना फलं भवेत् भो बुधसत्तमस्य ॥ ७० ॥
अभ्राब्धियुक्ताश्च शतानिरध्रगणमित्र आदिसुनामकूटात् । मुनीश्वरा सप्तसहस्रयुक्ता पचाब्धियुक्ता सकलर्तिदूरा ॥ ७१ ॥
एकार्बुद सयमपालनाच्च कोटयुक्तकोट्यो नवसप्तयुक्ता । गताश्च मोक्षे शुभभावशुद्धा सच्छर्मयुक्ते खलु निर्व्ययेच ॥ ७२ ॥

सिद्धपदको प्राप्त हुये । इस कूटके दर्शनका फल छ्यानवे करोड उपवासका है । इसकी चतुर्विध सघ सहित यात्रा सुप्रभ राजाने की ।

अर्थ—सवलनाम कूट से श्री मल्लिनाथ भगवान तथा छ्यानवे करोड मुनिगण सिद्ध पदको प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनसे छ्यानवे करोड उपवासका फल प्राप्त होता है । इस कूटकी वंदना-चतुर्विध सघसहित सत्यसेन राजाने की थी । इस सघमें मुनिगणोकी सख्या बहुत थी ।

अर्थ—निर्जर नामके कूटसे मुनिसुव्रत भगवान तथा निन्यानवे कोडाकोडि सत्तानवे करोड नउ लाख नो सौ निन्यानवे मुनिगण सिद्ध पदको प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवास का फल है । इस कूटकी वदना चतुर्विध सघ सहित और अतिशय विभूतिके साथ श्रीरामचद्र नामके बलभद्रने की ।

अर्थः—श्री मित्रधर नाम कूटसे श्री नमिनाथ भगवान तथा एक अरब नव करोड पैंतालीस लाख सात

शिवे यास्यति ते भूप स विधिः कथय प्रभो । येनैव विधिना वीर करोमि तस्य दर्शनम् ॥ ८८ ॥
भव्यजीवाहि तस्यैव चार्हा नान्ये कदाचन । तेषा मध्येपि भेदोस्ति तच्छृणु कथयाम्यहं ॥ ८९ ॥
नरकायुर्बंधजीवाना तिर्यगायुर्युतात्मना । त्रिकाले नास्ति तेषाहि तदाप्तिर्नात्र सशयः ॥ ९० ॥
ते तस्य नैव प्राप्तिश्च मा कुरु त्व मलीमषं । शुद्धदृष्टे नराधीश भाविकाले जिनस्य ते ॥ ९१ ॥
नरकायु तव बंधोभूत मुने· मारणपापत । अतस्त्वं नास्ति योग्यो हि तस्य भो भावितीर्थराट् ॥ ९२ ॥
त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायु पूर्वबंधे बवधच । सप्तमस्यैव श्वभ्रस्य त्वया तत्र सुपापिना ॥ ९३ ॥
राज्ञीसंयोगतो तेहि प्रलयं स गतो नृप । वेदाष्टसहस्रमानो सोमश्वभ्रायु तेस्ति वै ॥ ९४ ॥

किस विधिसे करना चाहिये ? आप दर्शन करनेकी जो विधी वतलायेंगे उसी विधीसे हे बीदेश मेरी भावना दर्शन करनेकी है।

अर्थ—हे श्रेणिक! श्रीतीर्थराज श्री संमेद शिखरकी यात्रा भव्यजीवोको ही होती है। अभव्योको सर्वथा नहीं होती है। भव्यजीवोमें से भी जिन जीवोके नरक तथा तिर्यच आयुका वध नही हुआ है उनको ही यात्रा होगी। हे श्रेणिक महाराज! तुझको उस पवित्र तीर्थराजके दर्शन होने दुर्लभ है क्यों कि तू इसके योग्य नहीं है। तूने मुनीश्वरको मारनेके भावोसे नरककी आयुका वध किया है। यद्यपि तू भावि तीर्थेश है तो भी नरकायुका वध होनेसे तुझको दर्शन होना दुर्लभ है। इसलिये मनमें इसका खेदभाव न कर।

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज मुनिके मारणके समय तेरे ऐसे अशुभभाव उत्पन्न हुए कि जिससे तेरी नरककी गति और उसमें तेतीस सागर की आयु का वध हुआ। परतु चेलना रानीके संयोग से फिर भी मुनिके दर्शन कर पुण्य संपादन करनेके भाव तेरे हुए। और तूने जो पाप किया था उसकी निंदा गर्हा आदि होजाने से तूने अपनी

एकैवकोट्युपमप्रोषधानां फलं लभेद्यः कुरुते सुभावात । यम्येक्षण भव्यनरोत्तमो वै वंदे सदा शर्मपदं शिवाय ॥ ७३ ॥
सुवर्णभद्रात् वरकूटतो वै लक्षा ह्यशीति चतुरुत्तराश्च । मोक्षं गता सर्वमुनीश्वराश्च सर्वाहिनाशात्सुरनाथ वंद्याः ॥७४॥
यस्यैव कूटस्य सुदर्शनेन भव्यो लभत्येव फलं वरं च । मित्राष्टलक्षप्रमप्रोपधानामीडे सदा त शिवदायकं च ॥ ७५ ॥
एकस्य कूटस्य सुदर्शनेन भव्योत्करा मुक्तिपदे गताश्च । सप्राप्य शर्म परमं ततोवै जरादिदु कर्मविवर्जिताश्च ॥ ७६ ॥
य सर्वकूटस्य सुभावशुद्धया करोति तस्यैव सुदर्शनंच । वक्तु फलं तस्य क्षमो न कोपि विना जिनेन्द्रैर्हतकर्मव्यूहैः ॥७७॥
चंपापुरबहिर्भागमंदराभिधभूधरात् । वासुपूज्यजिनाधीश शिवस्थाने गतो नृप ॥ ७८ ॥

हजार नव सौ चालीस मुनिगण मोक्षपदको प्राप्त हुये । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवासका है । इस कूटका दर्शन चतुर्विध संघ सहित मेघदत्त राजाने किया था ।

अर्थः— श्री सुवर्णभद्र कूटसे श्री पार्श्वनाथ भगवान तथा चौरासी लाख मुनिगण मोक्षपदको प्राप्त हुये । इस कूटके दर्शन करनेका फल चौरासी लाख उपवासका है । इस कूटकी चतुर्विध संघ सहित यात्रा सुप्रभावसेन राजाने की ।

अर्थ—एकही कूटके दर्शन करनेके फलसे अनेक भव्यजीव मोक्षपदको प्राप्त हो चुके है । कितनेही भव्यजीवों ने जन्म जरा आदि क्लेशोका नाशकर परमसुख प्राप्त किया है, तो जो कोई भव्य अपने भावोकी विशुद्धिसे मन वचन काय शुद्धतापूर्वक समस्त कूटोका दर्शन करें उसकी महिमाका वर्णन क्या कहा जाता है । उसकी महिमा श्री अरहत भगवान ही कहनेमें समर्थ हैं ।

हे राजन् हे श्रेणिक चंपापुर नगरके बहिर्भागमें एक मदराद्रि नामके पर्वतसे श्री वासुपूज्य भगवान मोक्ष-

स्थितिबंधस्य हानिर्हि गतिबंधस्य नो भवेत् । अतो भो मगधाधीश त्वं तद् भोक्ष्यसि तत्र हि ॥ ९५ ॥
नरकगत्यानुयुक्तानां तदाप्तिर्नास्ति निश्चयात् । मा दुःखं कुरु तस्यैव त्वं भावितीर्थनायक ॥ ९६ ॥
सर्वविद्याधिपो भूप दशाननसमाह्वय । भूचरैः खेचरैर्वंद्यः त्रिखंडावनिपालक ॥ ९७ ॥
ईदृशोपि गतो यत्र वने सिद्धाचलस्य वै । दर्शनं नोऽभजत् तूर्णमाजगाम स्वमास्पदं ॥ ९८ ॥
अनेकाश्च महीपाला नो प्रापु तस्य दर्शनं । मध्यमागात् समाजग्मु स्वालयं मगधाधिप ॥ ९९ ॥
सगरो मघवा चक्री सनत्कुमारसंज्ञक । आनंदाह्वयभूपेन्द्रो प्रभाश्रेणिकनामभाक् ॥ १०० ॥

नरककी स्थिति बंधको कम कर दिया-अर्थात् तेतीस सागरसे घटाकर ८४००० हजार की स्वल्पायु होगई। परंतु नरक आयुका बंध नहीं छूटा। आयुबंध नहीं छूटता है परन्तु स्थितिबंध कम होजाता है। इसलिए हे श्रेणिक तुझको श्री तीर्थराजका दर्शन होना दुर्लभ है। परन्तु हे भावि तीर्थराट् इसका तू अब विचार मत कर। इसका एक उदाहरण मैं बतलाता हूं उसको श्रवण कर जिससे सन्तोष होगा।

अर्थ-सर्व विद्याका स्वामी भूचर और विद्याधर राजाओंसे पूजित महासत्ताधारी तीन खंडका स्वामी ऐसा रावण कार्य प्रसंग से संमेदशिखरके वन समीप जानेपर भी उसको तीर्थराजका दर्शन नहीं हुआ। क्योंकि रावणने इसके प्रथम नरकायुका बंध किया था। इसलिये इस उदाहरणसे हे श्रेणिक महाराज! नरक गतिका बंध करनेवाले जीवोंको श्री तीर्थराजका दर्शन नहीं होता है। ऐसे अनेक राजगणोंको इसी कारणसे इस तीर्थराजके दर्शन नहीं हुए। तीर्थराजके जानेके पहले पहले ही उनको जबरन पीछे वापिस आना पडा। इसलिये हे मगधाधीश तू भी इसका प्रयत्न मत कर।

अर्थः-- हे श्रेणिक महाराज निम्न लिखित राजाओंने श्री समेद शिखरकी चतुर्विध संघ सहित और विधि

द्योतकाभिधराजेन्द्रो ललितदत्तसंज्ञक । कुंदप्रभसमाख्यातो नाम्नाहि शुभश्रेणिक ।। १०१ ॥
वरदत्तो भूपतिश्च सोमप्रभो नृपोत्तम । पुनरविचलभूपाल आनदश्रेणिको नृप ॥ १०२ ॥
सुप्रभो नृपतिश्चैव चारुश्रेणिकसज्ञक । भावदत्तकभूपाल सुदरो नरनायक ॥ १०३ ॥
रामचद्राभिधो भूपस्तथा अमरश्रेणिक । सुवसतो महीपाल पुण्यवान् तेजोवान् गुणी ॥ १०४ ॥
इमे विख्याततता जाता भव्या संघाधिपा नृपा । यात्राया करणात्तस्य त्वया ज्ञेया न सशय ॥ १०५ ॥
सिद्धवरादिकूटाना प्रतिष्ठाकारका इमे । अन्येषा नोहि सख्याच ज्ञेया भो चेलनापते ॥ १०६ ॥

पूर्वक यात्रा की । अर्थात्–वहांपर अपने २ तीर्थकरके समयमें उनने सघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) सहित कूटोकी स्थापना की–कूटोकी प्रतिष्ठायें कराई–इस कूटसे अमुक तीर्थंकर मोक्षको पधारे है–और इस कूटका आजसे यह नाम है ऐसी प्रसिद्धि सर्वत्र की । उन राजाओके शुभ नामः––

सगर १ मघवा २ सनत्कुमार ३ आनदकुमार ४ प्रभासेन ५ द्योतक ६ ललितदत्त ७ कुन्दप्रभ ८ शुभसेन ९ वरदत्त १० सोमप्रभ ११ अविचल १२ आनंदसेन १३ सुप्रभ १४ चारुसेन १५ भावदत्त १६ सुंदरसेन १७ रामचद्र १८ अमरसेन १९ सुवसंत २० ।

उपरोक्त राजगण संघाधिप [सघपति] के पदसे प्रसिद्ध हुए । समस्त प्रजाने इन राजगणोंको श्री संमेद शिखरकी चतुर्विध सघ सहित और प्रतिष्ठा करनेके लिये ही सघपति पद प्रदान किया ।

हे मगधाधिप उपरोक्त सघपति राजाओने विधिपूर्वक (सघ सहित और प्रतिष्ठादि कराकर) यात्रा की इसलिये वे सब मुक्तिको प्राप्त हुए। इनके सिवाय असख्य राजा श्री संमेद शिखरकी यात्राको गये और उत्तम

इमे सर्वे नराधीशा मुक्तिमीयुः नरेश्वर। केवल दर्शनेनैव संभुक्त्वा राज्यसंपदा ॥ १०७ ॥

सुख प्राप्त किया। इसलिये श्री संमेद शिखरकी महिमा अपरपार है। उसके दर्शन करनेसे भव्य जीवोको सब प्रकारका सुख प्राप्त होता है।

श्रीसम्मेदशिखरयात्राया विधिः।

(श्रीसम्मेद शिखरयात्राया विधिं प्रवक्ष्ये चित्तसमाधिना यूय श्रृणुथ।)

अथादौ चतुर्दिशासु भव्यान् प्रति यात्रासूचकानि पत्राणि प्रेषणीयानि। पश्चात् स्वनगरस्थ जिनालयमध्ये भव्यजनै सह पंचकल्याणकाभिधमंडलस्य विधि करणीय। पुन जिनाग्रे इति जाप्य कर्तव्य—ओ अनंतानंतपमसिद्धकेरेभ्यो नमोस्तु—श्रीसम्मेद शिखरयात्रामह करिष्ये। जातोपुष्पैश्चाष्टोत्तरशतजप। पश्चात् सिद्धमत्रभि सिद्धपूज्या कृ.त्वा। पश्चात् जिनेश्वरस्य बिंब रथस्थहर-

श्री संमेदशिखर यात्रा करनेकी विधि।

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज अब श्रीसम्मेदशिखर की यात्रा किस प्रकार करनी चाहिए उसकी विधि बतलाते है। भव्य जीवोको सावधान पूर्वक श्रवण करनी चाहिए।

श्रीसम्मेदशिखरकी यात्रा करनेवाले भव्यात्तमको सबसे प्रथम-चतुर्विध संघसहित यात्रा करनेके अपने भावोको सूचित करनेवाली कुकम पत्रिका प्रत्येक ग्रामोमें आदरके साथ भेजनी चाहिए। फिर अपने नगरमें समस्त भव्यजनोके साथ जिनालयमें अतिशय ठाठ वाट और भावभक्तिसे जाकर पचकल्याणक विधानका मडल बनाकर पूजा करनी चाहिये। भव्य जीवोको भोजन पान आदिके द्वारा आदरसत्कार करना चाहिए। पूजा पूर्ण

विष्टरमध्ये स्थापयित्वा तदुपरि छत्रचंद्रोपकचामरादिसच्छोभा करणीया। चतुर्विधवादित्राणा अग्रे शब्दोत्करा कर्तव्या। यदि द्रव्यशक्तिर्विशेषा स्यात्तर्हि–मुनि–आर्यिकौघैश्च श्रावकश्राविकौघैः सार्कं गमनं कर्तव्यं।

" नमोस्तु सर्वसिद्धेभ्यः " इति मार्गे जाप्य जपनीयं चतु पंचक्रोशप्रमाणमेव गमन करणीय । सर्वजीवशमप्राप्त्यर्थं। स्व सघाधिपो भूत्वा–शुक्लावराणि सधार्य शुक्लामेव माला करे गृहीत्वा विना वाहनमेव मुनीशिना सार्द्धं गमनं कर्तव्यं भोजनमप्येकवारं हि करणीय। ब्रह्मचर्यं पालनीय। सर्वेषा चतुर्विध संघस्थ भव्यमर्त्याना वैयावृत्यं करणीयं। केषामपि न्यादपानादिषु दुःख न देयं

होजानेके बाद " ओ अनतानंतप्रमसिद्धकरेभ्यो नमोस्तु श्रीसम्मेदशिखर यात्रामहं करिष्यते " इस मत्रके द्वारा एक सौ आठ–(१०८) जुई के फूलो से जाप देनी चाहिये। फिर सिद्धमंत्रोके द्वारा सिद्ध भगवानकी पूजा भावभक्ति और उनके गुणोंके चितवन द्वारा करनी चाहिये। फिर श्रीजिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमाको रथमें विराजमान करनी चाहिये। रथका शृगार करना चाहिये। रथको सुदर सिंहासन–छत्र–चमर–चदोवा–घंटा झालर–ध्वजा–क्षुद्रघटिका अष्ट मगल द्रव्य आदि मंगलद्रव्योसे सुशोभित करना चाहिये। चार प्रकार वादित्रोके साथ महान उत्सव पूर्वक भगवानके रथको आगे रखकर गमन करना चाहिये। जो द्रव्यकी शक्ति हो तो–मुनि–आर्यिका श्रावक श्राविकाके समूह कर चतुर्विध सघके साथ गमन करना चाहिये। सबके योग्य वाहन आदिकी व्यवस्था कर सुख पूर्वक गमन करना चाहिये। जिससे समस्त भव्यगणोको सतोष हो और विशुद्ध भाव रहें।

मार्ग में " नमोस्तु सर्वसिद्धेभ्यः " इस मत्रकी जाप्य देनी चाहिये। जाप्य स्फटिक मणि की सफेद हो। सघपतिको स्वयं यह कार्य करना चाहिये। सघपतिको सफेद वस्त्र ही धारण करना चाहिये। समस्त जीवोके सुखकेलिये प्रति दिवस चार पांच कोशही गमन करना चाहिये। सघपतिको वाहनके विना पैदल मुनिगणोके साथ २ गमन

मध्येकवारं सहब्रह्मचर्यंच । वाहनं विना गमन कार्यं । गवाश्व वा क्रमेलकमगालितमुदकं नो पानीयं । तेषां खानपानेषु महद्यत्न रक्षणीय वालवृद्धाना दुःखं नो दातव्य नि शल्य सन् पथि सदा गमनं कर्तव्य-स्नानपूजादानकार्यादीन् कुर्वन् सन् ।

भो मगधाधिप य इत्थंभूत पुमान् एव तस्य संमेदाचलस्य यात्रा करिष्यति स पचमे वा दशमे भवे शिवाभिधे पुरे यास्यति ।

यदि एतादृश्यपि शक्तिर्नास्तिचेत् तदपि शक्त्यनुसारत तस्य पर्वतस्य यात्रा कर्तव्या । अवश्यमेव यूय मोक्षे यास्यथ ॥

भो भव्या शक्त्या लोभन मा कुरुध्व । अस्य दर्शनमात्रेण सर्वपापालय प्रलय यात्येव नात्र सदेहः ॥

पूर्व प्रकरण में जो जाप्य वतलाई है वह तो नित्य देनीही चाहिये । सिद्ध भगवानकी पूजा जो प्रथम वतलाई वह भी उसी प्रकार करनी चाहिये । भोजन भी एकवार करना चाहिये और ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये । वाहन विना ही पैदल यात्रा करना चाहिये ।

गाय वलद-या गाडी-घोडा आदि जो वाहन अपने साथ में हो तो उनको पानी छानकर पिलाना चाहिये खानपानमें किसी प्रकार का दुःख न हो ऐसी सुंदर व्यवस्था रखनी चाहिये । अपने संघमें वालक स्त्री-वृद्ध पुरुष होवें उनकी सेवा सुश्रुषा उत्तम प्रकार से करनी चाहिये । किसीको किसी प्रकारका कष्ट न हो । मार्गमें दान पूजा आदि करता हुआ निःशल्य गमन करे । किसी प्रकारकी संकल्प भावना न करे । और जो भव्य अपने साथ यात्रा करनेके लिये आये हो उनकी यथेष्ट सहायता करे । इस प्रकार यात्रा करने से पांचवें या दसवें भवमें मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है ।

अर्थ-हे मगधेश्वर यदि पूर्वोक्त प्रकारकी शक्ति न हो तो शक्तिके अनुसार यात्रा करनी चाहिये । परंतु दान पूजा आदि कार्योंमें शक्तिको नहीं छिपाना चाहिये । जो भव्यजीव निःशल्य भावो से शक्तिको नही छिपाकर तीर्थराज संमेद शिखरकी यात्रा करेगा वह नियमसे मोक्ष को प्राप्त होगा ।

ये नरा मगधाशीश ह्यनेन विधिना कलौ । यात्रा सम्मेदशैलस्य करिष्यंति शिवास्पद ॥ १ ॥
यास्यंति क्रमतः कर्मसतते नाशनात खलु । प्राप्य ससारजं शर्म देवमानुष्ययोनिषु ॥ २ ॥
सवाहनेन भो भूप करिष्यति नराश्च ये । यात्रा तस्य भविष्यति कदा मोक्ष च तच्छृणु ॥ ३ ॥
रध्रवेदभवं भुक्त्वा शिवस्थान च ते ननु । तदग्रे नैव स्थास्यति ससारे दुःखसंभृते ॥ ४ ॥
करिष्यति शिवं येहि वाहनेन विना नृप । यात्रा सम्मेदशैलस्य यास्यति ते कदा शृणु ॥ ५ ॥
हिमाशुनेत्रपर्यंतभवजं शर्मनारिधिम् । भुक्त्वा नरेन्द्रदेवादियोनिषु तत्प्रभावत ॥ ६ ॥
पश्चात् प्राप्स्यति वै मोक्षमनंतशर्मदायकं । सर्वपापविनिर्मुक्तमभव्यजनदुर्लभम् ॥ ७ ॥
तनो. वे यदि सामर्थ्यं नास्त्येव मार्गचालने । तदाहि वाहनेनैव कर्तव्य तस्य दर्शनम् ॥ ८ ॥

तीर्थराजके दर्शन मात्र से ही समस्त पाप नाशको प्राप्त हो जाते है । इसमें सदेह नही है ।

अर्थः— हे मगधेश्वर जो कोई भव्य जीव इस विधिसे श्री सम्मेदशिखरकी यात्रा करेगा वह देव मनुष्य गतिके उत्तमोत्तम सुखोको भोग कर क्रमसे निर्वाण पदको अवश्य ही प्राप्त करेगा ।

अर्थः— हे मगधेश्वर जो भव्य जीव वाहनपर सवारी कर तीर्थकी यात्रा करे उसको मोक्ष ४९ भवमें प्राप्त होगी । इससे अधिक वह संसारमें नही रहेगा ।

अर्थः— राजन् जो भव्य जीव सवारीके विना ही पैदल भावोसे यात्रा करें उनको बारह भवमें मोक्ष नियम से होगी । देव मनुष्य आदिके उत्तम सुखोको भोग अनत सुखोंकी खानि ऐसी मोक्षमें वे भव्य जीव बारहवे भव पर्यंत जांयगे—मोक्षको नियमसे प्राप्त करेंगे । अभव्य जीवोको यह यात्रा होना दुर्लभ है ।

अर्थः— हे मगधेश्वर जो शरीरमें शक्ति नहीं हो तो सवारी (वाहन) से ही समेदशिखरकी यात्रा करनी

विधिना केन वीरेश चाभोगी वा सुखी दुःखी । भवेदय महावीर सुबुद्धिमान् कुबुद्धिमान् ॥ ४५ ॥
विद्वत्वं चैव मूर्खत्व धैर्यत्व केन कर्मणा । लभते चैव भीरुत्वमय देही जिनेश्वर ॥ ४६ ॥
देहिन सकलार्थज विद्या भवति निःफला । विधिना केन अभ्येत्र भवत्यर्थस्य हानिता ॥ ४७ ॥
कर्मणा केन प्राप्नोति द्रव्यौघ वा स्थिरत्वता । कर्मणा केन जीवति पुत्रपौत्रोत्कराश्च नो ॥ ४८ ॥
भवति बहव पुत्रा विधिना केन कर्मणा । भवत्यय दरिद्री च बहुवित्तपतिस्तथा ॥ ४९ ॥
आतकी वा निरातकी भवति केन कर्मणा । जात्यन्ध आरकश्चैव अय जीवो दयापते ॥ ५० ॥
स्यादो नो जीर्यते वीर अस्य नु केन कर्मणा । कुष्ठित्व चैव दासत्व खजत्व मानहीनता ॥ ५१ ॥
हीनागो भवति केन विधिना टुटकस्तथा । पंगुमूकः कुब्जो हि रूपसपत्तिभाक् तथा । ५२ ॥
शरीरखेदयुक्तो वा भवति केन कर्मणा । तद्धीनो भो जिनसिंह अय देही न्युतोपम ॥ ५३ ॥

हे वीर ! सर्वज्ञ ! हे दयापते यह जीव निगोद में कौन पापके करनेसे जाता है ? नरकमें कौन पापके फलसे प्राप्त होता है ? तिर्यंच कौन २ कार्य से होता है। मनुष्य गतिको कौन कौन से कारणों से प्राप्त करता है। स्त्रीपर्याय कौन २ से कारणोसे प्राप्त होती है। नपुंसक कौन २ से कारणोसे प्राप्त होता है। इस जीवकी अल्पायु किस कारण से होती है और दीर्घायु किस कारण से होती है। समस्त पदार्थोंका भोगनेवाला किस कारण से यह जीव होता है। और अभोगी कब होता है। सुखी और दुखी किन किन कारणो से होता है। बुद्धिमान कुबुद्धिमान् विद्वान् मूर्ख धैर्यशाली अधैर्यवान् भीरु निर्भय आदि किन किन कारणोसे होता है।

केन दुष्कर्मणा स्वामिन् धर्मं पंचेन्द्रिय पुमान् । भवेदेकेन्द्रियो नूनं सर्वतत्त्वप्रकाशक ॥ ५४ ॥
स्थिरो भवति कर्मेण ममागेषु कुकर्मणा । केन [illegible] ॥ ५५ ॥
विधिना केन धर्मात्र अथवा कर्मणा पुनः । अंधो भवत्यत्र जीव [illegible] ॥ ५६ ॥
केन केन प्रयोगेण जीवो भवति [illegible] । [illegible] ॥ ५७ ॥
विधिना केन नामाश्च भवंति निराशः पुनः । [illegible] ॥ ५८ ॥
त्वं भो नाथ दयापन्न जिनरूपो [illegible] सर्वदर्शी [illegible] । त्वं सर्वज्ञ [illegible] जिननाथः [illegible] ॥ ५९ ॥
मे संदेहविनाशने त्वमसि भो नाथ [illegible] । [illegible] ॥ ६० ॥
इत्थं प्रश्नादिकं श्रुत्वा कृतार्थ श्रेणिकेन वै । उवाच प्रति वीरो [illegible] ॥ ६१ ॥

धनी–दरिद्री–पुत्रवान्–अपुत्र–दुःखी सुखी रोगी निरोगी–अल्प [illegible] भाग्यशाली भाग्यहीन–भोजनादि सामग्री से परिपूर्ण–और शून्य गृही किन किन कारणों से होता है।

कोढी–राजा–मानहीन हीनांग–विकल–[illegible]–पंगु–[illegible]–बधिर कुरूपी रूपवान आदि किन किन कारणोंसे यह जीव होता है। विधवा और शीलवान किन किन कारणोंसे जीव होता है।

संसार का नाश करनेवाला और दीर्घ संसारी किन किन कारणोंसे होता है।

इत्यादि बहुत से प्रश्नोंको श्रेणिक महाराजने वीर प्रभुसे किये और कहा कि हे सर्वज्ञ हे त्रिलोकनाथ आपके बिना मेरा संदेह दूर नहीं होगा इसलिये समस्त जीवोंके उपकारार्थ समाधान कीजिये। यह श्रवण कर वीर प्रभुने कहा कि हे श्रेणिक! अपने प्रश्नोंका उत्तर सावधान होकर श्रवण कर।

शुभाशुभानि कर्माणि एकैत्र मगधाधिप । वध्यते तत्फल चैव एकैव भुज्यते खलु ॥ ६२ ॥
त्रयो वै कारणा दुष्टा मदाष्टौ इन्द्रियास्तथा । विकथा वेदसंख्याढ्या सतैव व्यसनान्यहो ॥ ६३ ॥
चत्वारो हि कषायाश्च मिथ्वात्व पचधाशुभा. । षट्त्रिंशदेभि सख्याभिरय जीवो नराधिप ॥ ६४ ॥
निकोतेनंतदु खाव्धिसभूते हि कुकर्मभि । प्रजायतेऽत्र सदेहो नास्ति पापान्न किं भवेत् ॥ ६५ ॥
पशून् हतिच यो मर्त्यो मास भक्षति वाधम । अलीकच वदत्येव मधु मद्यं पिबत्यहो ॥ ६६ ॥
अवलामपरमर्त्यस्य वचत्येव सुसुदरा । दृष्ट्वा प्रयोगमत्राद्यैरन्योपायोऽकरैस्तथा ॥ ६७ ॥
जिनधर्मच सिद्धातं सद्गुरुं गुणमंडित । सघ चतुर्विध चैव जिनधर्मोपदेशकम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर जीवोंके शुभाशुभ परिणामही वधके कारण है । जीव अपने शुभाशुभ भावोसे कर्मोंका वध करता है और फिर उनका भला बुरा फल भोगता है ।

मन वचन काय आठ मद पच इद्रिय चार विकथा सात व्यसन चार कषाय पांच मिथ्यात्व इस प्रकार छत्तीस कारणोसे निगोदका वध होता है ।

मिथ्यात्व की तीव्रताके साथ यदि मन वचन कायकी प्रवृत्ति अशुभ हो और कषायोके उद्वेगमे विषयोमें प्रवृत्ति हो तो जीव निगोदका वध करता है ।

अथवा मिथ्यात्व की तीव्रता से सात व्यसनो का सेवन करना परिणामोमें तीव्र कषायका रखना सो भी निगोद के आश्रवका कारण है ।

अर्थ—हे राजन् नरक गतिके आश्रवोंको सुनो । पशुओंका वध करना मास भक्षण करना झूठ बोलना मधुका सेवन करना मदिरापान करना दूसरोंकी सुदर स्त्रियोको मंत्रादि अथवा किसी भी प्रयोगके द्वारा

हरत्येव परस्वंच कौटिल्यादिकुकर्मभिः। आशक्तोत्येव अर्थस्य वर्द्धने भवति सदा ॥ ६९ ॥
यज्ञादौ नैव पापोस्ति जीवाना मारणस्यवै। एव ब्रुवति रात्रौच भोजनस्यैव भक्षणे ॥ ७० ॥
इत्यादीनि कुकर्माणि करोति सैव निश्चयात्। एकादिसप्तश्वभ्रेपु व्रजत्येव नरेश्वर ॥ ७१ ॥
घोर घोरं च दुःखौघ तत्र सुचेलनाप्रिय। भुक्तेव सैव एकाकी घोरपापोदयात्खलु ॥ ७२ ॥
कियत्प्रमा जिनाधीश तत्र दुःखोत्करा प्रभो। शृणु तेषाच भो सख्या सक्षेपात वच्म्यह नृप ॥ ७३ ॥
वेदाष्टौच शतानि पंच भवति अकसहस्राणिवै। अष्टतुप्रमलक्षकाश्च नृपते पचैव कोट्यस्तथा ॥ ७४ ॥
त्वं जानीहि नगप्रमेपु सकलश्वभ्रेपु दुःखोत्करा। नानाशर्मविनायका भयप्रदा एतावता निश्चयात्। ७५ ॥

ठगना जिनधर्म जिनसिद्धात जिनगुरु चतुर्विध सघ और जिनधर्मोपदेशोकी निंदा करना अवर्णवाद लगाना उनके विषयमें मलिन चिंतवन करना आदि सब नरकके कारण है।

दूसरोका धन हरण करना, कुटिल परिणाम रखना परिग्रहका तीव्रतर ममत्व परिणाम रखना यज्ञमें जीवोका हवन करना अथवा ऐसा मिथ्या प्रचार कर जनताको पापके मार्गमें लगाना जीवोके वधमे पाप नही वतलाना, जीवहिंसामें धर्म मानना रात्रिमें भोजन करना इत्यादिक कुकर्मोसे जीव नरक योनिओमें जाता है। जिनधर्म जिनायतन–जिनगुरु–जिनसघमें मिथ्या अवर्णवाद लगानेसे और मिथ्यात्वकी तीव्रतासे जीव नरकमें जाता है।

अर्थः— हे राजन् जीव पापके कारण नरकमें घोर घोर दुःखोको अकेलाही भोगता है।

वहां कितने प्रकारके दुःख है? इस प्रकारका प्रश्न सुनकर वीरप्रभुने कहा कि हे श्रेणिक! नरकमें इस जीवको पांच करोड अडसठ लाख पाचसौ चोरासी प्रकारका दुःख प्राप्त होता है। यह एक सामान्य प्रकारसे दुःखोका पारावारही नहीं है।

तस्य यात्रासमं नास्ति ह्यपर पुण्यकारण । अतो भव्या शिवाप्त्यर्थं कुर्वीध्वं ता मुदा सदा ॥ १५ ॥
एकवारमपि तच्च वदयिष्यति ये नरा । अनुक्रमाच्च यास्यति शिवेव्यये धराधिप ॥ १६ ॥
मा कुरुध्व तपोवृंद भो भव्या ध्यानसहति । सम प्रत्येकवारच आमृत्यु तस्य दर्शनम् ॥ १७ ॥
भजध्वं तेन पुण्येन केवलेन शिवास्पदे । यास्यथ नात्र सदेहो द्वितीयेहि भवेऽव्यये ॥ १८ ॥
तस्य विंशतितमस्यैव कूटाना दर्शनात् नृप । कोटिश प्रोषधानाच फलोत्पत्तिश्च जायते ॥ १९ ॥
तत्फलात् कर्मवृंदाश्च नाश यात्येव तत्क्षणे । अग्रे अव्ययगोत्रस्य बंधोत्पत्तिः प्रजायते ॥ २० ॥
विना वाहनतो पच तस्य दर्शनत शिवे । द्वितीयेहि भवे भूप इतरा यास्यंति क्रमात् ॥ २१ ॥

अर्थ— श्री संमेद शिखर की यात्राके समान अन्य दूसरा कोई भी पुण्यका कारण नहीं है । इसलिये मोक्षकी प्राप्ति के लिये भव्यजीवो को यात्रा करनी चाहिये । जो कोई एकवार भी उस पर्वतराजकी वदना भावभक्तिसे कर-ता है वह अवश्य ही अनुक्रम से मोक्षसुखको प्राप्त होता है ।

अर्थ—हे भव्यजीव जो तप और ध्यान करने की तुझमें शक्ति नही तो मत कर परतु अपनी पर्याय में वार वार समेदशिखरकी यात्रा कर । जिससे अवश्य सुखको प्राप्त होगा । और जो चतुर्विध संघ सहित विधीपूर्वक यात्रा करेगा तो दूसरे ही भवमें मोक्षसुखको प्राप्त होगा ।

अर्थ—हे मगधेश्वर! जो कोई भव्यजीव वीस कूटके दर्शन करता है उसको करोडो उपवासका फल प्राप्त होता है जिससे कर्मसमूहका नाश होता है । और मोक्ष पदके योग्य उत्तम गोत्रका वंध होता है ।

हे राजन् जो भव्यजीव वाहनके विना श्रीसंमेद शिखरकी यात्रा व दर्शन करे तो वह दूसरे भवमें ही मोक्षपदको प्राप्त होता है । और वाहन सहित यात्रा करनेवालोको अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त होती है ।

अस्य दर्शनमात्रेण कुष्टाद्या नाशता गता । रोगिणा सकलातंका ऋद्धयाप्ति ऋद्धिकाक्षिणा ॥ २२ ॥
पुत्रकाक्षावता चैव जाताहि चेलनाप्रिय । पुत्रोत्पत्तिर्धनोत्पत्ति राज्योत्पत्ति शिवम्यच ॥ २३ ॥
अस्मादिकमपि नो सति दुर्लभा दुर्घटा सुखा । शिवशर्मस्य संप्राप्तिर्जायते द्यपरेण किम् ॥ २४ ॥
भो भव्या शिवप्राप्त्यर्थं कुरुध्व तस्य दर्शनं । चतुर्विधेन सघेन तथा शक्त्यनुसारत ॥ २५ ॥
अस्मिन् काले नगणाच मतो भो मगधाधिप । श्रीमच्छिखरसमेदान्नान्योपाय शिवस्य वै ॥ २६ ॥
पद्भ्यामेवच कर्तव्या समेदभूभृत खलु । सकलकर्मनाशार्थं तूर्णमेव शिवाप्तये ॥ २७ ॥

अर्थः—हे राजन जो भव्यजीव इसके दर्शन भाव भक्तिसे करते हैं उनके कुष्टरोग आदि भयानक रोग नाशको प्राप्त हो जाते है। समस्त व्याधि नष्ट हो जाती है। धनार्थीको धनकी प्राप्ति होती है। पुत्रार्थीको पुत्रकी प्राप्ति होती है। और राज्यकी प्राप्ति करनेवाले को राज्य मिलता है। जीवोको संमेद शिखरके दर्शन समस्त प्रकार के सुखोको प्रदान करते है।

अर्थः—इस पर्वतराजकी वदना और दर्शनके पुण्य से ससार में कोई भी वस्तु दुर्घट नहीं है। सब प्रकारके दुर्लभ सुख स्वयमेव प्राप्त हो जाते है। जब इसकी वंदनाका फल मोक्षके सुखोकी प्राप्ति है तब अन्य साधारण सुखोकी प्राप्ति में आश्चर्य ही क्या ? इसलिये हे भव्य मोक्ष सुख की प्राप्तिके लिये तीर्थराज श्री संमेदाचलके दर्शन चतुर्विध सघ निकालकर अतिशय भावभक्तिसे कर। ऐसी शक्ति न हो तो स्वशक्तिके अनुसार ही दर्शन (वदन) कर।

अर्थ—हे मगधेश्वर पचम कालमें मोक्षकी प्राप्तिका सरल उपाय है तो एक मात्र श्रीसम्मेद शिखरकी यात्रा पैदल (विना सवारी) ही करना चाहिये जिससे समस्त कर्मोका नाश होकर मोक्ष सुखकी प्राप्ति हो।

यत्रत्या सकला जीवा सिंहसर्पादिका नरा । भव्या स्यु इतरेषाच उत्पत्तिनव तत्र वै ॥ २८ ॥
केचिदासन्नभव्यास्ते केचित् दूरतरा खलु । शिवयोग्याश्च सर्वे स्यु नायोग्या मगधेश्वर ॥ २९ ॥
सदातिशयसयुक्त खगामरादिवदित । फलपुष्पोत्करै सोद्रि सदा भात्येव सुदर ॥ ३० ॥
वराहहरिसर्पादिजीवात् यत्र भयो न च । तथात्राकारिणा भूप तत्रत्या मृदुमानसा ॥ ३१ ॥
यस्माद् ध्यानादितो मोक्षे अनंतानतशो जिना । गताश्च तस्य किं भूप महिमाच करोम्यहम् ॥ ३२ ॥
कलौ तद्दर्शनेनैव तरिष्यति घना जनाः । भव्यराशिसमुद्भूता नोऽभव्या तस्य दर्शकाः ॥ ३३ ॥
देवायुर्बद्धजीवाना मनुष्यायुर्युतात्मनाम् । तस्यास्ति सभवेन्नून इतरेषाच नो भवेत् ॥ ३४ ॥

अर्थ —हे राजन् जिस सम्मेदशिखर पर समस्त जीव मात्र भव्य है। सिंह-सर्प आदि क्षुद्र जीव भी भव्य ही है वहापर अभव्य उत्पन्न नही होते है। इसका यह भाव है कि वृक्षादिक एकेन्द्रिय जीव भी वहां पर भव्य ही है।

अर्थ —हे राजन् समेदाचलपर कितनेही तो आसन्न भव्यजीव है। कितने ही दूर भव्य है। परंतु वे मन मोक्ष जानेके योग्य ही है। जिनको कभी मोक्ष होनेवाली नही है ऐसे जीव वहापर उत्पन्न ही नही होते है।

अर्थ — हे राजन् वह तीर्थराज अतिशय चमत्कार सहित है। देव विद्याधरादिसे सदैव पूजित है। फल फूल आदि लताओसे रमणीय है। यहांपर सर्प सिंह सूअर आदि क्रूर प्राणी यात्रीगणोको बाधा नही देते है। यह एक विचित्र अतिशय है क्यो कि ये क्रूर प्राणी होकर भी सदैव भद्रपरिणामी ही वहांपर रहते है।

अर्थः—जिस सिद्धाचल तीर्थरूप श्रीसमेदशिखरसे ध्यानको धारणकर अनत तीर्थंकर मोक्षधामको पधारे है उसकी महिमाका क्या वर्णन किया जाय? कलिकालमें उस तीर्थराजके दर्शन मात्रसेही बहुतसे प्राणी ससारसमुद्रसे पार होगे। भव्यजीवोको ही उसका दर्शन होता है अभव्यको नहीं। भव्योमें से जिन जीवोको देवायु अथवा मनुष्या-

कुरुष्व त्वं हृदि स्वस्य स्मरण भावशुद्धित । तस्य संमेदशैलस्य तद्धि तद्दर्शनोपमम् ॥ ३५ ॥
प्रात मध्याह्नसायान्हे भो भव्या त हृदि सदा । चिंतयथाष्टकर्मारि घातार्थं घातनक्षमम् ॥ ३६ ॥
इत्यादिमहिमां स्वामी त प्रति भव्यवोधक । सम्मेदाद्रेश्च आचख्यत् स सर्वेषा सुखाप्तये ॥ ३७ ॥
विभो ध्वनिमिति श्रुत्वा पुनर्द्वीपरडानये । इमा प्रश्नावलिं चक्रे स्वातःस्था भव्यवोधदाम् ॥ ३८ ॥
वीराधिप महावीर अस्य नु केन कर्मणा । निकोते वधनप्राप्तिर्जायते परमेश्वर ॥ ३९ ॥
भो जिनेन्द्र दयाधीश कर्मणा केन गच्छति । जीवोसौ नरके घोरदुखसहतिसभृते ॥ ४० ॥
नाके व्रजति भो नाथ केन वै शुभकर्मणा । तिर्यचाख्य च दुर्योनिं लभते केन कर्मणा ॥ ४१ ॥
मर्त्ययोनिंच द्विभेदा केन प्राप्नोति कर्मणा । स्त्रिया ना भो जिनाधीश नु वामा केन कर्मणा ॥ ४२ ॥
क्लीवकाभिधदु कर्म भो स्वामिन् अस्य नुश्च वै । भवति कर्मणा केन अल्पायुर्नामभाक् च वै ॥ ४३ ॥
दीर्घायुर्भो जिनादित्य भवेदस्यैव केन वै । कर्मणा सार्वतीर्थेश कथं भोगी ह्ययं भवेत् ॥ ४४ ॥

युका वध है उनको ही तीर्थराजका दर्शन होगा । अन्यको सर्वथा नही होगा ।

अर्थ—हे मगधेश्वर तू अपने हृदय में भावशुद्धि से उस तीर्थराज श्री समेद शिखर का स्मरण कर । वह स्मरण तुझको साक्षात् दर्शनके समानही फलका प्रदान करने वाला है । जो भव्यजीव प्रातःकाल-मध्यान्हकाल और सायंकाल को उस तीर्थराज का स्मरण करता है वह कर्मोंका नाश करता है । इस प्रकार अचिंत्य महिमा धारक श्रीसम्मेदशिखरका किंचित वर्णन भव्य जीवोंके उपकारार्थ श्री देवाधिदेव श्री वीर प्रभुने कहा ।

अर्थ—इस प्रकार महावीर प्रभुकी दिव्य ध्वनिको श्रवण कर श्रेणिक महाराज अतिशय प्रसन्न हुआ और इस प्रकार प्रश्नावलि भगवानसे की ।

श्रीजिनाधिपबिंबाना पंचामृतरसोत्करैः । स्नानकर्ता तथैवेज्याकर्त्ताच मृदुभावयुक् ॥ ७६ ॥
दयाभावेन संयुक्तो द्वादशव्रतपालकः चतुर्धादानकर्ताच गुरुसेवापरायण ॥ ७७ ॥
मदकषायसंपन्न परदोषपराङ्मुख । स्ववामारक्तबुद्धिश्च परामाविरक्तधी ॥ ७८ ॥
इत्यादिशुभभावाढ्यो य पुमान् सैव निश्चयात् । नाकलोकं लभत्येव सदा शर्मविभूषित ॥ ७९ ॥
कार्यार्थं सेवते मित्र कृत्वा कार्यं पुनश्च त । त्यजत्येव नराधीश जिनधर्मपराङ्मुख ॥ ८० ॥
विश्रुतो दुर्जनश्चैव परनिंदनचातुर । दुर्मते पोषक क्रूर रात्रौ भक्षी च निर्दयी ॥ ८१ ॥
ईदृश पुरुषो मृत्वा जायते दुष्टभावयुक् । तिर्यंचयोनिषु नून सदाशर्माकरेषु च ॥ ८२ ॥
स्वल्पक्रोधी च निर्लोभी मार्दवार्जवभावयुक् । स्वल्पनिद्रश्च निर्दंभी स्वात्मनिंदापरायण ॥ ८३ ॥

अर्थः—हे राजन् जो भव्यजीव श्रीजिनेन्द्र भगवानके प्रतिबिंबोका पंचामृतरससे भक्तिपूर्वक स्नान करता है उसी प्रकार पूजा अष्टद्रव्यसे करता है मृदुभावोको धारण करता है दयाभावका पालन, बारह प्रकारके व्रतोंका परिधारण—चार प्रकारके दानोका प्रदान करना—गुरुसेवा करना—स्वदार संतोष व्रतका पालन करना परस्त्रीका त्याग करना इत्यादिक अनेक शुभ कारणोसे स्वर्गके सुखोकी प्राप्ति होती है।

अर्थः— हे राजन् तिर्यंच योनिका बंध मायाचारके परिणामोंसे होता है। जो मनुष्य मतलबके लिये तो मित्रकी उपासना करे और मतलब सिद्ध हो जानेपर त्याग कर देवे। जो सदैव मायाचारके भावोंसे विश्वासघात करता हो, जिनधर्मसे पराङ्मुख हो, सब प्रकारसे दुर्जन हो, निंदाखोर हो, दुष्टबुद्धि हो, क्रूर हो, रात्रिभक्षी हो, निर्दयी हो इत्यादि दुष्ट आचरणवाला नियमसे तिर्यंच गतिमें जाता है।

अर्थः— हे राजन् स्वल्पक्रोधी, निर्लोभी, सरल परिणामी, शुभ भावोको धारण करनेवाला, स्वल्प निद्राको

मर्त्यो हि चेद्दशो भूप मृत्वा मर्त्यैव शुद्धधी । भवति नात्र संदेह परजन्मनि निश्चयात् ॥ ८४ ॥
सदा संतोषसंयुक्ता स्वपते भक्तितत्परा । सुशीला क्रोधसहीना विमाना दंभवर्जिता ॥ ८५ ॥
साहसधारका नम्रा शुचित्वगुणसंयुता । जिनभक्तिकरा नित्यं दानेज्याव्रततत्परा ॥ ८६ ॥
निःकपटा निरालस्या आर्जवामृतपानका । स्थिरचित्ता च सत्यैव भाषिणी परपोषणी ॥ ८७ ॥
स्वल्पाहारकरा स्वल्पनिद्रा संयमपालका । कामदेवस्य क्रीडासु स्वल्पचित्तस्य धारका ॥ ८८ ॥
इत्यादिगुणसंपन्ना भवेन्नार्यत्र भूपते । ईदृशाया सुवामाया पुरुषो भवति निश्चयात् ॥ ८९ ॥

लेनेवाला, निर्दंभी अपने पापकर्मोंकी निंदा करनेवाला, पापोसे डरनेवाला, जिनधर्मका सेवन करनेवाला ऐसा जीव मनुष्य वधको प्राप्त होता है।

अर्थ— हे राजन् ! स्त्री पर्यायको छोडकर पुरुष पर्याय (स्त्रीलिंगका छेदन) कौन कौन से पुण्यकर्म से प्राप्त होती है सो बतलाते हैं।

जो स्त्री संतोष से रहती है अपने ही स्वामीकी भक्ति पूजामें अपना धर्म समझती है। शीलव्रतको ही मुख्य धर्म समझकर पालन करती है। क्रोध मान माया आदि विकारो की भावना नहीं करती है। नम्र-पवित्रताको धारण करनेवाली जिनभक्ति में तत्पर-जिनधर्म परायण दान पूजादि पुण्यकार्योंमें सावधान-सरल परिणामोंको रखनेवाली-मायाचार रहित शुद्ध चित्तसे कार्य करनेवाली स्वल्प आहार करनेवाली व्रत संयम आदिको भाव भक्तिसे पालन करने वाली-विषयोंसे विशेष गृद्धता नही रखने वाली इत्यादि सुंदर कृत्योंको करनेवाली स्त्री अपने स्त्री लिंगको छेदनकर पुरुष लिंगको प्राप्त होती है। हे राजन् पुरुष पर्यायसे निंद्य स्त्री पर्याय इस प्रकार प्राप्त होती है।

मायाकपटसंपन्न अतिचंचलभावयुक् । कामसेवासुसंरक्त अत्यंतक्रूरधी ह्यधी· ॥ ९० ॥
गायने भंडरागस्य अत्यंतचचलस्तथा । नेत्रविकारसंपन्न तथैव कामभावयुक् ॥ ९१ ॥
महामानी सदालस्यो बव्हारभस्य धारक. । बहुनिद्रारतोशुद्ध निदापैशून्यतत्पर ॥ ९२ ॥
क्रियाकर्मविहीनश्च निर्दयी निस्त्रपी तथा । बव्हालापी तथा हीनो विनयेन नरेश्वर ॥ ९३ ॥
कस्यापि नैव विश्वासं करोति साधुनिंदक । वचक स्वजनानाच साधूना परदोपद ॥ ९४ ॥
इत्यादिगुणसपन्नो मृत्वा मर्त्योपि निश्चयात् । परजन्मनि निंद्या च स्त्र्येव भवति सद्बुधे ॥ ९५ ॥
वृषाश्व महिष छाग माहेयीं चक्रमेलक । मातंग च खरं श्वान स्त्रिय मर्त्यंच बालकम् ॥ ९६ ॥
लोहशस्त्रच संधृत्वा पावनेभ्यो नराधम । इत्यादीना च जीवाना अंकयतेच निर्दय ॥ ९७ ॥

जो पुरुष मायाचारी है, अतिशय चपल है, सदैव कामक्रीडामें मग्न रहता है, अत्यत क्रूर है, पापो का ही सदैव संचय करनेवाला है, दूसरोके शील भ्रष्ट करनेमें ही अपनेको धन्य समझता है, जो इसी लिये अभिमानी बनता है, बहुत आरभका करनेवाला निंदा और चुगली करनेवाला, भड वचनोका बोलनेवाला, कामोत्पादक गानका करनेवाला, नेत्र विकार और शरीरसे कुचेष्टा करनेवाला, दूसरोसे द्रोहको करनेवाला, श्रेष्ठ आचरणोको छोड देनेवाला, नीच आचरणोका पालन करनेवाला, निर्लज्ज, निर्दयी, निंदक, साधु पुरुषोमें दोप लगानेवाला, गुरुजनोकी भी निंदा करनेवाला, सत्यका लोप करनेवाला, किसीका भी विश्वास नही करनेवाला और पापमार्गको प्रकट करनेवाला मनुष्य मर कर पर जन्ममें स्त्री पर्याय (स्त्रीलिंग) को प्राप्त होता है ।

हे राजन् ! यह जीव नपुसक कौन कौन से कारणोसे होता है । जो मनुष्य काम की तीव्र ज्वाला से अनर्थ कारी कार्य करे । तथा बैल घोडा भैस बकरा हाथी गदहा कुत्ता स्त्री बालक वृद्ध

छेदयति तथा तेषां कर्णे वा नासिका [illegible] । वध वा बधनं चैव [illegible] ॥ १०० ॥

करोति सैव प्राप्नोति नपुंसकत्व [illegible] । कर्मायं नृप [illegible] निंदनीय न कर्मेतु ॥ १ ॥

[illegible] न कपोलौघान तित्तरान न [illegible] मृगान । [illegible] नीलकंठान [illegible] ॥ २ ॥

शुकान हंसान् बकांश्चैव [illegible] यो नृप कुधी । [illegible] न ॥ ३ ॥

[illegible] मा खलु वंदितु गृहे । [illegible] ॥ ४ ॥

मनसा निर्दयेनार्थे अदयापरिणामयुक् । [illegible] ॥ ५ ॥

निर्दय तच [illegible] वै कोप्येवं ब्रुवते पुमान् । [illegible] ॥ ६ ॥

मनुष्योंके अंगोपांगका छेदन करे लिंग आदिको बडे २ [illegible] शस्त्रोंके द्वारा काटे । अथवा लिंग आदि गुह्य स्थानोंको अग्निके द्वारा दाग लगावे अथवा मर्मभेदी स्थानोंमें दुर्भावोंसे पीडा उत्पन्न करने लायक छेद करे कर्ण नासिका आदिको छेदे और भी घोर संकट देनेवाले कुत्सित काम करे वह मनुष्य मरकर परजन्ममें नपुंसक होता है । यह सबसे निंद्य कर्म है ।

हे राजन् स्वल्पायु कौन कौनसे कारणोंसे होती है सो सुन—

जो मनुष्य कबूतर तीतर हरिण मृग काकोदर कौश (पक्षी) नीलकंठ गरुड सुआ हंस बगला आदि पशु-पक्षियोंको पकडकर काठके पींजरोंमें बंद करता है आजन्म उनकी स्वतन्त्रताका हरण करता उनकी इच्छाका व्याघात करता है । जो मनमें सदैव निर्दयभाव रखता है दयाभावोंको जानता ही नहीं [जो किसीभी प्राणीको सुखी नहीं देखना चाहता] है । जो सदैव बकरादि जीवोंका वध करता है । जो कबूतर आदि जीवोंको पकडनेमें मारनेमें दत्त-चित्त रहता है । जिसके परिणामोंमें निर्दयपनेकी सदैव वासना बनी रहती हो । जिसको दयाका उपदेश कडुक मालुम

नत्वेव तेच कर्तुं वै युक्त जीवस्य घातक । मा गच्छ दुर्गतिं मूढ श्रुत्वेत्थमाह दुष्टधी. ॥ ७ ॥
जीवाना मरणे नैव पापोत्पत्ति पुमान् खलु । न्यादार्थेच कृता सर्वे स्वयंभुवा इमेस्य नु ॥ ८ ॥
परलोकश्च नास्त्येव नैव धर्म तथा ह्यघ । एवं धृत्वा हृदि स्वस्य यो मर्त्यो दुष्टभावयुक् ॥ ९ ॥
संक्लिष्टैर्निर्दयैश्चैव सार्द्धं कुपुरुषे सदा । करोति चैव व्यापारं कुकर्मणश्च दु सद ॥ १० ॥
सोल्पायुर्भवत्येव इत्थं कुकर्मणोदयात् । सदा कालेत्र सदेहो नास्त्येव चेलनाप्रिय ॥ ११ ॥
स्वय नैव कदाप्येव मारयत्येव प्राणिन । मार्यमाणं च संदृष्ट्वा केनचित् पुरुषेण वै ॥ १२ ॥
मोचापयति त नूनं दयाभावेन मंडित । संतुष्टोभयदानेषु परघातनिवारक ॥ १३ ॥

होता हो और जीवहिंसा करनेके समय धर्मात्माके रोकनेपर जिसके परिणामोमें क्रूरता प्रकट होती है। जो जीवोंके वधमें पापोत्पत्ति नही मानता हो। जो जीवं जीवस्य भक्षण कहकर जीवोंके भक्षण करनेमें धर्म मानता हो। जिसे परलोकका भय नही हो और जो परलोकको मानताभी न हो। जिसके परिणाम सदैव दुष्ट रहते हो। जो सदैव संक्लेश परिणामोंसे रहता हो। और ऐसे ही दुष्ट पुरुषोंकी सगतिमे रहता हो। जो सदैव कुकर्मका व्यापार करता हो। इत्यादि कुत्सित कर्म करनेवाले जीवोंकी स्वल्पायु होती है। निगोद आदि पर्यायमें स्वल्पायुकी पूर्ति वे जीव करते हैं।

अर्थ —— हे राजन् जो किसी भी जीवको स्वत नही मारता है न दूसरोसे मारनेके लिये वचनसे कहता है और न ऐसी अनुमोदना ही करता है। जो दयालु, दूसरोके द्वारा जीवोके वधको देखकर दयाभावसे उस जीवको मारनेसे बचाता है। जो सदैव दयाभावसे अपने अंतःकरणको आर्द्र रखता है, जो जीवोके अभयदानमें संतोष मानता है, जो दूसरें जीवोंके घातको रोकता है, जो दूसरोको सुखी देखकर प्रसन्न होता है, जो दूसरोको दुःखी देखकर दु खी

धर्मेषु संतुष्ट परदु खेषु दु खभाक् । नीरस्य रक्षणे नैव सदा कालेन मन्नति ॥ १४ ॥
ईदृशस्य नरस्यैव भो भव्येन निश्चयात । दीर्घायु मरणकाले च मृदुभावोदयान्नृप ॥ १५ ॥
आप्यैव वित्तसंदोह स पुनर्न ददात्यहो । आहारान्य च सदान पात्राय योहि मानव ॥ १६ ॥
कदापि लोकलज्जाया वशादेव ददात्यहो । दान पात्राय तर्हिचेत् दत्ते हि स्वस्य मानसे ॥ १७ ॥
पश्चात्ताप करोत्येवं वृथा दत्तो हि हा मया । अस्मै दान च मे स्वस्य व्ययो जातोऽय किं कृतं ॥ १८ ॥
दीयमाने महादाने अन्येषा वर्जयत्यहो । किमर्थं कुरुथ लोका व्ययो द्रव्योरकरस्य च ॥ १९ ॥
एभि कुकर्मभिर्मूत्वा सैव भो भव्येश्वर । भवति सर्विनो भोगैः सदा दुःखभाजन ॥ २० ॥

होता है, जो जीवोंकी रक्षा करनेमें सदैव प्रयत्नशील बना रहता है ऐसे दयालु भव्यात्माको दीर्घायुकी प्राप्ति होती है। जो मृदु भावोंसे दया करता है वह भी दीर्घायुको प्राप्त करता है ।

अर्थ--भोगरहित कौन कौन से पापों से होता है सो बताते हैं ।

हे राजन्! जो मनुष्य द्रव्यकी यथेष्ट शक्ति रखने पर भी लोभ परिणामोंसे मुनिगणादि चतुर्विध संघ को आहार दान नहीं प्रदान करता है। न पात्र में दान प्रदान करनेकी रुचि करता है। कदाचित लोक लाज वश किसी खास मोकेपर दान अनिच्छा से देना भी पडे तो पीछेसे पश्चात्तापको प्राप्त होकर विचार करता है कि हा मैंने व्यर्थ ही दान दिया। इस दानमें मेरा इतना द्रव्य व्यय हो गया। यह सर्व व्यर्थ ही गया। इस प्रकार पश्चात्ताप करता है। अरे तुम लोग व्यर्थ द्रव्य क्यों लुटाते हो जरा तो विचार करो। इस प्रकार मनकी मलिनता से अन्य जीवोंको दान करते हुए रोकता है स्वयं भी धनादिक वस्तुओंका सेवन नहीं करता है। ऐसे कुकर्मोंसे भोगरहित मनुष्य होता है।

शयनार्थं मुनीन्द्राणां फलकंतृणादिकं शुभे । शयनोपकरणैरेभि वैयावृत्यसुपालक ॥ २१ ॥
वैयावृत्य करोत्येव तथा पादस्य धोवनं । तेषा सद्गुणसंयुक्तं स्तवनं पापनाशकं ॥ २२ ॥
पिच्छिका सर्वभूताना रक्षका गुणमंडिता । मो ददात्येव कुंडींच शौचकार्याय शोभन ॥ २३ ॥
आर्यिकायै तथा वस्त्रं शुभ्रच ब्रह्मचारिणा । गृहस्थाय तथा तेषा वामायै भूषण तथा ॥ २४ ॥
आहारादिचतुर्दानं सदा शर्मप्रदायक । अतिहर्षेण सयुक्तो मृदुभावविमंडित ॥ २५ ॥

अर्थ—नाना प्रकार के सुखोको प्रदान करने वाले भोग कौन कौन से कारणो से प्राप्त होते हैं ? हे राजन् ! जो भव्य जीव लकडेका फलक तृणादिकोके विविध आसन आदि वस्तुओंको मुनिगणोंके शयनार्थं रखता है और उसके द्वारा भाव भक्तिसे मुनिगणो की वैयावृत्य करता है । इसी प्रकार उनके निवासार्थ वसतिका–गुहा–मठ आदि बनाकर वैयावृत्य का लाभ लेता है । तथा जो मुनिगणोके पादकमलोका धोना, सेवा सुश्रुषा का करना स्तोत्रादिके द्वारा उनके गुणोमें मुग्ध होना आदि विशुद्ध भावोसे करता है । जीवोंकी रक्षाके लिये पीछी देता है, शौच रक्षाके लिये कमडलु देता है, आर्यिकाओको वस्त्र देता है, ब्रह्मचारियोंके लिये वस्त्रादि देता है, गृहस्थोके लिये भी वस्त्रादि भूषण प्रदान कर वात्सल्य अगको प्रकट करता है, इस प्रकार चारो प्रकारका दान चार

१ मुनि गण–आर्यिका आदि के लिये गृहस्थ अपने यहापर लकडेके फलक (तख्ते) रखता है जिसपर मुनिगण शयनादि करते हैं । इसी प्रकार आर्यिका आदिके निवासके लिये वसतिका–गुहा–मठ–आदि बनवा कर प्रदान करता है जिससे उनके शीलकी रक्षा और संयमकी सिद्धि बराबर बनी रहे । इसके बिना शीलादिककी रक्षा होना कठिन है ।

ईव से [illegible] सदा । [illegible] ॥ २६ ॥
[illegible] देव [illegible] । [illegible] ॥ २७ ॥
शांतचित्तेन संयुक्तः सदा [illegible] । [illegible] ॥ २८ ॥
ईदृशो मानवो भूत्वा [illegible] । [illegible] ॥ २९ ॥
तपस्विनां मुनीन्द्राणां धर्मस्थानां करोति [illegible] । [illegible] ॥ ३० ॥

[illegible] संघको अत्यंत हर्षभावसे देता है और अपने परिणामोंको सदैव कोमल रखता है [illegible] होता है ।

इस प्रकार चार संघको चार पकारका दान प्रदान करनेवाले भव्य जीवोंके [illegible] और वह पुण्यके प्रभावसे अनुपम सुखोको प्राप्त होता है ।

अर्थः— यह जीव सुखसपन्न कौन कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे राजन् जो भव्य जीव देव, शास्त्र, गुरुओंको [illegible] हित प्रदाता मानता अतएव उनके प्रति एक भी कटुक अक्षर नहीं बोलता, [illegible] सदैव शांतचित्त रहता और वृद्ध बालक मुनिगणोंकी भी विनय [illegible] सर्व प्रकारके सुखोंसे सपन्न होता है ।

अर्थ—अतिशय दुःख किन किन कारणोंसे उत्पन्न होते हैं । [illegible] होते हैं ।

हे राजन तपस्वी-मुनि आदि धर्मस्थापकोंकी निंदा करना [illegible]

निर्गुणी चैव गर्विष्टो मायावी अतिक्रूरधीः । जिनसिद्धातवाक्यानामुत्थापकश्च पापधी ॥ ३१ ॥
महद्भी च भो भूप इत्यादिगुणसंभृत । य पुमान् सैव मृत्वाच महादु खी भवत्यहो ॥ ३२ ॥
परमदु खसंयोगात् कृत्वा पापस्य सचयं । पुनर्यात्येव दु खाब्धौ अंहस्य चेदृश फलम् ॥ ३३ ॥
प्रात काले समुत्थाय तल्पात् यो हि नरेश्वर । कृत्वा सामायिक चैव जाप्यं वा परमेष्ठिन ॥ ३४ ॥
पश्चादादाय स्वर्णादिभाजने बहुमोदत. । वसुद्रव्योत्कर शुद्धमभिषेकविधिं तथा ॥ ३५ ॥
जिनवेश्मनि संगत्य तत्र श्रीमज्जिनेश्वरान् । सपूज्य परया भक्त्या सदसि आगमस्य च ॥ ३६ ॥

महत्वको गिरानेका प्रयत्न करना--उनके विषयमें झूठी झूठी विशुनता कर बडे २ श्रीमानोंको धर्म भावनासे गिरा देना । प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे अवहेलना करना, स्वयं निर्गुण होकर भी अपना मिथ्या गर्वका साहस प्रकट करना, मायाचार प्रकटकर अपना मतलब बनाना--अत्यंत क्रूर और कुटिल परिणाम रखना । जैन सिद्धांतके वाक्योंका उत्थापन करना—जैन सिद्धांतके श्लोकोंका विपरीत अर्थ कर धर्मकी पवित्रताका नाश करना । सदैव पापबुद्धि का रखना और महान दंभी बनकर ढोंग फैलाकर अपना सांसारिक स्वार्थ सिद्ध करना—इत्यादि कारणोंसे जीव अत्यत दुःखी होता है ।

अर्थ—इस प्रकार देव शास्त्र गुरुके निंदको को अपरंपार भयानक दु ख प्राप्त होते हैं । और वे उन दुःखोसे पीडित होकर अन्य ऐसेही पापोका सचय करते रहते है । इसी लिये वे चिरकाल पर्यत ससारमें दुखोंको भोगते रहते हैं । पापका फलही यह है ।

अर्थ —ज्ञानवान् कौनसे कारणोंसे होते हैं ? हे राजन् जो मनुष्य प्रात काल उठकर सामायिक करता है । पंच परमेष्ठीकी जाप्य देता है । फिर सौने चांदी आदिके पात्रमें अभिषेक और पूजन की सामग्रीसे श्रीजिनेन्द्रदेवकी

कथयत्येव धर्मंच अधर्मस्य नराधिप । सोधर्मोहि भवत्येव चाडाल परजन्मनि ॥ ५० ॥
तित्तरं कुर्कट श्वान शूकरं च मृगाधिपम् । व्याघ्र वा मर्कट नागं मृग कोकं परिसृतम् ॥ ५१ ॥
शुकादिजीवजातीना दृढपासेन योऽधमः । गृहीत्वा च गृहे स्वस्य आदाय तान् पुनः नृप ॥ ५२ ॥
दृढैव रज्जुना तत्र बंधयित्वा च दुष्टधी खलु । रक्षति सैव मृत्वा च भीरुको भवति सदा ॥ ५३ ॥
मनसा वचसा चैव कायेन प्राणिना नृप । न करोत्येव त्रास हि सर्वेषा मृदुभावयुक् ॥ ५४ ॥
कारापयति नो नून नानुमोदयति कदा । अन्यायवित्तश्चैव मुक्तधीः परपोषकः ॥ ५५ ॥
ईदृशोसौ नृप मृत्वा सदैव निर्भय खलु । भवति नात्र सदेह परदुःखस्य मोचनात् ॥ ५६ ॥

मनुष्य मद्यपान सेवन करे मांस भक्षण करे–विधवा विवाह जैसे व्यभिचार को धर्म बतलावे–असदाचार को धर्म बतलाकर उसका प्रचार करे वह मरकर चांडाल होता है।

अर्थः— भीरु-भयवान् कौनसे कारणोसे होता है ?

हे राजन् तीतर, कुत्ता, मुर्गा, शूकर, सिंह व्याघ्र, बंदर, सर्प, मृग, कबूतर, सूआ (तोता) आदि जीवोको पकडकर जो दृढ बंधनोमें रखता है वह मर कर भीरु होता है।

भावार्थः— ऐसे पशु जो मनुष्योके उपयोगी नही हैं जैसे व्याघ्र, सिंह, सर्प आदि और पक्षिगणोको जाल द्वारा पकडकर मौज शौकके लिये दृढ बांधकर रखनेमें बडा भारी पाप है।

अर्थः— निर्भय मनुष्य कौनसे कारणोसे होता है ?

हे राजन् मन वचन कायसे जो कभी भी किसी जीवको कष्ट नहीं देता है, न दूसरोसे दिलवाता है और न ऐसी अनुमोदना करता है, जिससे दूसरोको कष्ट हो, जो अन्यायके कार्योंका परित्याग करता है, जो दूसरोका परि-

विद्यालोभेन पूर्वं च कृत्वा यो विनयं गुरोः । विद्या गृह्णाति वा मत्र विवेकादिकसत्फलाम् ॥५७
पश्चात् पूर्णे च याते हि मन्यते नैव स्वगुरोः । मया भाग्यात्समापन्ना सर्वा विद्यादिसत्फला ॥५८
तस्य मर्त्यस्य भो भूप परजन्मनि वात्र च । कलाच सकला विद्या निष्फला भवति खलु ॥५९
अत्येव विनयेनैव चित्तशुद्धेन स्वगुरो । करोति विनयं भूप वैयावृत्यं च सर्वदा ॥६०
तद्गुणान् मन्यते चित्ते करोति तस्य कीर्तनम् । आगते सन्मुखे शीघ्रमभ्युत्थानादिसत्क्रियाम् ॥६१
एवं गृह्णाति यो विद्या सैव भोक्ता भवत्यहो । विद्याफलस्य अत्रैव परत्रापि पुनर्भवेत् ॥६२

पालन करता है वह निर्भय होता है ।

अर्थ—किसकी विद्याएं निष्फल होती हैं ।

हे राजन जो विद्या लाभकी प्राप्तिके लोभसे विद्या ग्रहण करते समय प्रथम तो गुरुका विनय सेवा सुश्रुषा करता हो उपकारी मानता हो परन्तु विद्या संपादन हो जानेके बाद कहे कि यह विद्या तो मेरे भाग्यसे मिली है इसमें गुरुने क्या कर दिया । इत्यादिक कार्योंसे जो गुरुके उपकारको भूलकर कृतघ्नी हो उस मनुष्यकी विद्या निष्फल होती है ।

अर्थ – विद्या सफल किसकी होती है ?

हे राजन् जो चित्तकी शुद्धिसे गुरुका विनय करता है वैयावृत्य सेवा सुश्रुषा आदि करनेमें निष्कपट भावो से तत्पर रहता है जो परोक्ष या प्रत्यक्ष गुरुको वडा मानता है उपकारी समझता है उनके आनेपर उठकर सन्मान आदि प्रकट करता उसकी विद्या सफल होती है ।

परेषा यो हरत्येव कौटिल्यादि कुकर्मभिः । द्रव्यं तस्यैव वित्तश्च ह्रियतेऽन्यैश्च मानुजैः ॥६३
नो हरति कदाप्येव परकीय च यः पुमान् । गृहे तस्यैव द्रव्यस्य सचयो भवति सदा ॥६४
नाश कदापि नो स्याद्धि वित्तस्य परजन्मनि । मगधेश भवत्येव एवं शुभोदयात् खलु ॥६५
कथयत्येव यो मर्त्यं पूर्वमेव नरेश्वर । वस्त्र वस्तु तथा द्रव्यं त्वा दास्यामि मनोहरं ॥६६
धृत्वा लोभ हृदि पश्चात नो ददात्येव तंच ताम् । आशाभगं करोत्येव सर्वपापस्य दायकम् ॥६७
तद्धि पापेन तस्यैव नाशो यात्येव निश्चयात् । द्रव्याशायाश्च भो भूप परजन्मनि जन्मनि ॥६८

अर्थ—किसका धन अपहरण होता है ?

हे राजन् ! जो मनुष्य कुटिल परिणामोंसे और विश्वासघातसे दूसरोके धनका अपहरण करता है उसके धनका अपहरण होता है।

अर्थः—किसके धनका नाश नहीं होता है ?

• हे राजन जो मनुष्य अन्याय पूर्वक दूसरोका धन हरण नहीं करता है न कुटिल भावोसे मायाचारी पूर्वक दूसरोकी वस्तुका अपहरण करता है और न विश्वासघातसे दूसरोके धनको लेता है उसके धनका लोप इस जन्म और परजन्ममें नहीं होता है।

अर्थः—द्रव्यप्राप्तिकी आशा किसकी नाश होती है ?

हे राजन् ! जो कोई मनुष्य विश्वास दिखलाकर प्रथम तो बतलावे कि मैं तुमको काम पडनेपर वस्त्र दूंगा धन दूंगा या अमुक चीज मुझसे माग लेजाना. परंतु उसके काम पडनेपर विश्वास घात कर नहीं देवे और सब प्रकारसे उसकी आशाभग करदेवे, तो ऐसे दगाबाज मनुष्यकी आशाभग होती है। जो दूसरोंकी आशाका भंग करता हो

यद्यद्धि शोभनं वस्तु मुनीना ब्रह्मचारिणाम् । दत्वा पश्चाद्धि स्वचित्ते मन्यते यो नरो नृप ॥६९
धर्मस्य कारणं नास्ति लोकलज्जावशान्मया । वस्तवश्च इमे दत्ता एव हि मूढबुद्धित ॥७०
सुकृतस्यैव सर्वस्य तस्यैव परजन्मनि । विनाशो हि भवत्येव नात्रेत्र संशय खलु । ७१
मृगस्य तस्य वामाया स्त्रिया· मर्त्यस्य भो नृप । सिंहिन्याश्चैव सिंहस्य तथा पारावतस्य च ॥७२
नागिन्याश्चैव नागस्य हंसिन्या हंसकस्य वै । शुकस्य चैव शुक्याश्च नायायाः बर्हिणस्तथा ॥७३
इत्यादीना च जीवाना परस्परं करोत्यहो । वियोग यो हि मर्त्यश्च स्थिताना च वनावनौ ॥७४
पुत्रपौत्रादिहीनाढ्यो भवत्येव परत्र वै । स पुमान् मगधाधीश परवियोगपापत ॥७५

उसकी भी परजन्ममें आशाभंग होती है ।

अर्थः— किसका पुण्य नष्ट हो जाता है ?

हे मगधेश्वर जो उत्तमसे उत्तम और उत्कृष्टसे उत्कृष्ट वस्तुको मुनिगण या ब्रह्मचारी आदि धर्मायतनोंमें प्रदान कर फिर पीछेसे मनमें विचार करे (या पश्चात्ताप करे) कि मैने लोक लाज वश यह वस्तु मुनिगण आदिको दी । नही तो वे देने लायक नहीं हैं । इस प्रकार धर्मगुरु आदिके विषयमें अपनी दुर्बुद्धिके कारण विपरीत श्रद्धान कर धर्मगुरुओकी महिमाकी न्हासता प्रकट करे उसके पुण्यकर्मका नाश हो जाता है ।

अर्थः— पुत्रहीन, स्त्रीविहीन कौन होता है ?

हे राजन् जो मनुष्य मृग, सिंह, कबूतर, सर्प, हंस, तोता, मयूर आदि जीवोकी स्त्रियो (मादाओं) का वियोग करता है या उनके बच्चोंका अपहरण करता है या पापबुद्धिसे दूसरोकी स्त्रियोंका हरण कर वियोग करता है अथवा दूसरोंसे बालक बालिकाओको उनके भूल वा उनके लोभसे एकांतमें मारकर वियोग करता है उसके इस प्रकार

जायतेपि क्वचिद्दैवात् संताना तस्य वा तदा । म्रियंते नैव जीवति तुर्ये वा पंचमे समे ॥७६
पूर्वोक्तान् नैव यो मर्त्ये कार्यान् करोति निश्चयात् । सर्वजीवेषु भो भूप दयापरो भवत्यहो ॥७७
बहुपुत्रै तथा पौत्रै बांधवैश्च वेष्टित । स भवत्येव जीवानामवियोगस्य कारणात् ॥७८
जिनाननात्समुत्पन्नमागमं ह्यघनाशकं । वाच्यमानं सभामध्ये गुरूणा शास्त्रवेदिना ॥७९
तन्मध्ये कुरुते वार्तालापादिकं च यो नर । वा कथा विकथोत्पन्ना निद्रा हास्यंच श्रेणिक ॥८०
बधिरो हि भवत्येव स पुमान् परजन्मनि । अश्रुतं कथयत्येव द्वापरो नात्र निश्चयात् ॥८१

के पापकारणोसे पर जन्ममें संतान नहीं होती, स्त्रीका वियोग होता है, संतान होवे तो भी वह जीवित रहती नहीं है; मर जायगी ।

अर्थ—किसके पुत्र पौत्र कुटुंब परिवार का वियोग नहीं होता है ?

हे राजन् जो सदैव दूसरे जीवोंको दया भावो (परिणाम) की निर्मलता से पालन करता है । अन्य किसी भी जीव का वियोग नही करता है । जो सदैव दयाभावोंसे जीवोंको अभयदान देता है वह पुत्र पौत्र आदिका वियोगी नहीं होता है ।

अर्थ—बहिरा-(बधिर) कौनसे पापोंसे होता है ? हे श्रेणिक् ! जो मनुष्य सभामें समस्त तत्वोको जानने वाले गुरुके परमागम के उपदेशके समय वार्तालाप और विकथादिक कर शास्त्र श्रवण करने वाले साधर्मी भाइयोको क्षोभ उत्पन्न करता हो । जो शास्त्र स्वयं श्रवण नहीं करता हो । शास्त्र बांचनेके समय हास्य आदि कुचेष्टा करता हो या नींद लेता हो वह बधिर होता है ।

हीनश्च विनयेनैव तथा वचनवर्जित. । चारित्रगुणहीनांगो मनोवाकायवर्जितः ॥ ८२ ॥
जिनाभिषेकपूजादिवर्जितो दानतोपिच । स दरिद्री भवत्येव परजन्मनि जन्मनि ॥ ८३ ॥
महाचातुर्यसंपन्नो महाविनयमंडित । चारित्रगुणसंयुक्तो जिनवाक्येषु निश्चल ॥ ८४ ॥
चित्तवाक्यतनूना च दडको भयवर्जित । इज्यास्नानविधानस्य कर्ता च पात्रदानदः ॥ ८५ ॥
इत्यादिपुण्यकार्याणा कारक पापवर्जित । स भवत्यत्र भो भूप पुण्यतो धनवान् खलु ॥ ८६ ॥
धनवारधैर्मर्त्यो वेष्टितो भवति सदा । सैव पश्चाद्भवत्येव नाके हि निर्जराधिप ॥ ८७ ॥

अर्थ— दरिद्री कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् जो शास्त्रविरुद्ध बातको कहता हो जो सदैव जिनाज्ञामें संदेहास्पद रहता हो । देव शास्त्र गुरुकी विनय करनेमें मलिन परिणाम रखता हो। चारित्रसे रहित हो मन वचन काय से श्री जिनेन्द्र देवकी पूजा और अभिषेक आदि करने में असावधान हो । शक्ति होनेपर दान देनेमें अतिशय कृपण हो । वह दरिद्री होता है ।

अर्थ— धनवान् कौन होता है ?

हे राजन् ! जो धर्मके कार्योंमें सदैव चतुर रहता है, देव शास्त्र गुरुओंकी विनय वैयावृत्य करनेमें जो सदैव तत्पर रहता, जो चारित्र पालन करनेमें सदैव उत्सुक रहता है, जो जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा मानने में भावोंकी विशुद्धतासे दृढ रहता है, मन वचन काय से संयमका आराधन करता है, भगवानकी पूजा-अभिषेक आदि धर्मकार्योंको जो प्रेमभाव से करता है और पात्र तथा चतुर्विध सघको दान देता है वह धनवान् होता है । पुण्यकार्योंसे धनवान् होता है ।

अर्थ— जो मनुष्य सदैव दान पूजा अभिषेक आदि पुण्यकार्योंको करता है और अपने परिणामोको सदैव

निजात्मघातकारीच विषशस्त्राग्निना नृप । अतकालेच संयुक्त शल्येन क्रियते तप ॥ ८८ ॥
निजोज्वलकुलस्यैव क्षयकारीच यो नर । मृत्वा भवति स रोगी पुनः गच्छति दुर्गतौ ॥ ८९ ॥
प्राणिना रक्षको मर्त्य अंत्यशल्येन वर्जित । निजापरकुलस्यैव वर्द्धकारीच यो नर ॥ ९० ॥
निरोगी स भवत्येव परप्राणस्य रक्षणात् । सदाकाले महाशर्मभोक्ता नास्त्यत्र सशय ॥ ९१ ॥
किंचिद्वस्तुमदृष्टच मानवो योहि भूपत । दृष्टं हि कथयत्येव परदोषवदस्तथा ॥ ९२ ॥
समये जिनपूजाया पश्यति लीस्तन तनुम् । आभरण चानन सुरूपलावण्यादिकम् ॥ ९३ ॥

हर्षके साथ दान पूजामें लगाता है वह धनवान् होता है और फिर निर्जराधिप होता है।

अर्थ—रोगी कौनसे पापसे होता है ॥

हे राजन् अपनी आत्महत्या करना, विप शस्त्र अग्नि आदिसे अपघात करना—धर्म समझकर आत्म घातसे मरना—शल्यसे तप करना, अपने पवित्र कुलमें धर्मविरुद्ध कलंक लगाकर नाश करना, गुरु मातापिता आदि पूज्य पुरुषों की वैयावृत्य सेवा सुश्रुषा आदि नहीं करना इत्यादि कामोंसे मनुष्य रोगी होता है। और दुर्गतिमें जाता है।

अर्थ—निरोग कौन कारणों से होता है ?

हे राजन् समस्त प्राणियोंको औषध दान से रक्षण करना । शल्य रहित धर्म सेवन करना । अपने कुटुंब तथा समस्त जीवोंके कुटुंबो की वृद्धि चाहना, दान पूजादि कार्योंमें हर्षित होना इत्यादि पुण्य कार्योंसे निरोगता प्राप्त होती है। वह जीव महान् सुखोंका प्रभोक्ता होता है।

अर्थ—जन्मांध कौनसे पापोंसे होता है ?

हे राजन् विनादेखी हुई वस्तुको देखी हुई बतलाना दूसरों के दोषोको देखते रहना। धर्मात्मा पुरुषोंके

जात्यंधो भवत्येव परजन्मनि जन्मनि । स पुमान् नात्र सदेह सदा दु खस्य भाजक ॥ ९४ ॥
वृद्धत्वेपि नराधीश स्त्रीक्रीडामक्षपोषणे । मुचति य पुमान् नैव रसैर्नानाविधैस्तथा ॥ ९५ ॥
स मृत्वाहि भवत्येव अधश्च परजन्मनि । महादु खाढ्यमोगी च मरणातेहवारत ॥ ९६ ॥
दुर्गंधाढ्यमशुद्धं च उच्छिष्टं परकल्पनात् । मंत्राकर्पेण त्वानीतं शूद्रस्पृश्यं विवामितम् ॥ ९७ ।
ईदृशं न्वादपानच व्रतिना वा मुनीशिना । आर्यिकाणा ददात्येव यो मनुष्यो नराधिप ॥ ९८ ॥
निवसो जायते तस्माद्दोषात् दुर्गतिकारणम् । व्रतयुक्ताय नो देय अतोऽशुद्धच वस्तुकम् ॥ ९९ ॥

छिद्र ढूढना । भगवानकी पूजाके समय स्त्रियोंके स्तन मुख और आभूपणोंको देखकर प्रसन्नचित्त होना इत्यादि पापकार्योंसे मनुष्य जन्मांध होता है । और वह सदैव दुखको प्राप्त करता हैं ।

अर्थः—जो वृद्ध होकर भी कामक्रीडामें तत्पर रहना । इन्द्रियोंके पोपण में ही निमग्न रहना । पुष्ट रसोंके सेवनमें ही जीवनको व्यतीत करना, धर्मकृत्यको भूल जाना-दूसरोंकी आंखें फोडना-इत्यादि पापोंसे अधा होता है ।

अर्थः—महान् निवस (भोगरहित) कौनसे कारणों से होता है ?

हे श्रेणिक ! जो मुनि-आर्यिका-व्रती-सयमी पुरुपोंको दुर्गंध-अशुद्ध-उच्छिष्ट-दूसरोंके लिये सकल्प पूर्वक वनाया हुआ-मंत्रके द्वारा लाया और शूद्रजन से स्पर्श किया हुआ भोजन पान देता है वह भोगरहित होता है । और मायाचारके पापसे दुर्गतिमें अनंतससार तक भ्रमण करता है । व्रती पुरुपोंको अशुद्ध अन्न देनेसे महान पाप का आश्रव होता है । इसके समान अन्य पाप नही है । इसलिये मन वचन कायकी शुद्धिका उचारण कर फिर भी अशुद्ध और शूद्र जनसे स्पर्श किया, आहार पान देना, दाताको पुण्यके स्थानपर धर्मकार्यमें मायाचारी परिणामोंके कारण महान पापबंध होता हैं । इसलिये ऐसा पापका कार्य कदापि नहीं करना चाहिये ।

मनुष्यो मगधाधीश मधुस्थानस्य यः कुवी । घात करोति दाह च अग्निना हि करोत्यहो ॥ १०० ॥
कस्यैव खलु जीवस्य शरीर ज्वालयत्यहो । वा ग्रामं सदन चैव भूधर जीवसंभृतम् ॥ १ ॥
प्रज्वालयत्यरण्य च तथा ह्युपवनादिकम् । सेव कुष्ठी भवत्येव परत्रात्रैव निश्चयात् ॥ २ ॥
जात्याद्यष्टमदाना च करोति य पुमान मदम् । परसद्मनि स दासो भवति नात्र संशय ॥ ३ ॥
अष्टभेदमदस्यैव प्रयोगाच्च कियत्प्रमा । दोषा भवति अस्मिन् वै तान् शृणु कथयाम्यहं ॥ ४ ॥
जात्या मदेन अस्यैव नीचजातिर्भवत्यहो । कुलस्य मददोपेण कुकुलस्यैव प्रापिता ॥ ५ ॥
मूर्खत्व जायते चास्य ज्ञानमदस्य कारणात् । ऐश्वर्यमदतोय च दासो भवति निश्चयात् ॥ ६ ॥
निर्बली च भवत्येव बलगर्वस्य दोषत । वित्तहर्षेण अस्याशिर्गेव येव दरिद्रता ॥ ७ ॥

अर्थः— कोढी कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् मधुमक्षिकाके छताओके नीचे अग्नि लगाकर जीवोंको मारना, नगरका दाह करना, ग्राम, घरमें, पर्वतमें अग्नि लगा देना, शूकर आदि प्राणियोसे भरे हुए वन जला देना । धर्म समझकर सती दाह करना, धर्म समझकर पर्वतमें अग्नि दाह करना, वन या जंगलमें अग्नि लगवा देना, जीवोंको भयानक त्रास देना इत्यादिक पापसे कोढी होता है ।

अर्थ—दास कौनसे पापो से होता है ?

हे राजन् जो जाति कुल ज्ञान बल वीर्य तप ऐश्वर्य और रूप इन आठके मदो (अभिमान) को धारण कर दूसरे धर्मात्मा जीवोका अपमान करता है वह मरकर दास होता है । जातिका मद करनेसे नीच होता है १ । कुलका अभिमान करनेसे कुकुलीन होता है २ । ज्ञानका मद करनेसे मूर्खता आती है ३ । ऐश्वर्यका मद करनेसे

अत्यातंकी तपस्याया मदेन भवति क्षय । कुरूपीच सुरूपस्य मदस्य करणात्तथा ॥ ८ ॥
एभिरुन्मत्तचित्त य करोत्येव नरेश्वर । मृत्वा सैव खरो भूत्वा दासो भवति स पुन ॥ ९ ॥
पादेन ताडयत्येव ठणचारीन् नरोत्तम । मानवो य भवत्येव सेव खज परत्र हि ॥ १० ॥
गडुलो जायते चायं केन दुष्कर्मणा जिन । मानुजः सर्वपापाग्निमेव पुष्पोपमप्रभो ॥ ११ ॥
सौरभेयान् तथा छागान् लुलायान् च क्रमेलकान् । रासभान् वाह्यान् चैव तथा चानेकपान् नृप ॥ १२ ॥
इत्यादिजीवसंदोहान् तृणभक्षणतत्परान् । अपराधविनिर्मुक्तान् वचनालापवर्जितान् ॥ १३ ॥
पीडयत्यतिभारस्यारोपणेन नराधमः । अतिनिर्दयभावाढ्यो योहि परस्य पीडक ॥ १४ ॥
अत्रैव कुब्जको भूत्वा रोगेन गमन सदा । यष्टिकाभ्याच हस्ता वै भुक्त्वा दुःखमनारतम् ॥ १५ ॥

दरिद्री होता है ४ । वलका मद करनेसे निर्बल होता है ५ । तपका मद करनेसे रोगी होता है ६ । रूपका मद करनेसे कुरूपी होता है ७ । और शरीरका मद करनेसे (साधारण दृष्टीसे) दास होता है ८ ।

अर्थ--खंजा किस कारणसे होता है ?

हे राजन् जो पादों (चरणो) से दूसरोकी चाद में ठोकर मारता है वह खजा होता है ।

अर्थ--कुवडा कौन से पापों से होता है ?

हे राजन् कुत्ता-वकरा-भैसा-वलद-गदहा आदि तृणके भक्षण करनेवाले मूक प्राणियो पर शक्तिके वाहर भार लादना-पीडा देना निर्दय भावसे ताडना करना अन्न पानादिका निरोध करना इत्यादि पापसे मनुष्य कुवडा होता है ।

मृत्वा पश्चाच्च गत्वाहि श्वभ्रे तत्रापि निप्रभम् । अशर्म पापपाकेन तस्मादपि च स॰ पुमान् ॥ १६ ॥
आगत्य कुब्जको नून भवति नात्र सशय । पूर्वपापप्रयोगेण अशर्मवस्तुभक्षक॰ ॥ १७ ॥
दारिद्र्याढ्य नर दृष्ट्वा यो धनी स्वात्मनि नृप । जुगुप्साच करोत्येव द्रव्योत्करमदात् खलु ॥ १८ ॥
परभवे भवत्येव मृत्वाऽसौ मानवर्जित । अन्यैश्चाप्नोति धिक्कार सर्वस्थानेपु तदघात् ॥ १९ ॥
लकहस्तेन य मर्त्यो मापयित्वा ददात्यहो । परेषामशुक मूप महाकपटमडित ॥ २० ॥
हीनतुलकया चैव धान्यादिवस्तुसंचय । यच्छति अन्यमर्त्याना हीनमानेन वा तथा ॥ २१ ॥
गृह्णाति परधान्यादिवस्तुसंहतिमंजसा । वृद्धतुलकया वृद्धमानेनातीव्रलोभत ॥ २२ ॥
स हि मृत्वा भवत्येव परजन्मन्यघोदयात् । अगहीनो महादु ख भाजनो नात्र संशय ॥ २३ ॥

अर्थ—वह कुबडा विना अपराधी [निरपराधी] पशुओको अतिशय पीडा देनेके पापसे मरकर नरकमें दुःखोको प्राप्त होता है। और वहांसे निकलकर फिर भी कुबडा होता है। इस लिये मूक और निरपराधी पशुओंको सताना अच्छा नही है।

अर्थ—धिकार का पात्र कौन होता है?

हे राजन् जो दरिद्री दीन मनुष्यको देखकर अपने मनमें धनमद से उसका तिरस्कार करता है वह मनुष्य मरकर धिक्कार का पात्र होता है। उसका सर्वत्र अपमान होता है।

अर्थ—अंगहीन कौनसे पापोसे होता है?

हे राजन् जो मनुष्य तृष्णाकी गृद्धता से कमती तोलता है और वडती लेता है। मापसे कपडा आदि को कमती माप कर देता है। वढती लेता है। धान्यादिक वस्तुओको वढती मापकर लेता है कमती देता है। इस

स्वकरेण कदाप्यत्र दान स्नान च पूजनम् । मानुजो नो करोत्येव य स भवति टुंटकः ॥२४

तीर्थनाथस्य तीर्थं भो करोति नैव यो नर । स हि पगुर्भवत्येव परतीर्थस्य सेवनात् ॥२५

जिनेन्द्रगुणसंभूता रागविद्या शिवप्रदाम् । यः विगायति नैवात्र मानवो भूपते ननु ॥२६

भडरागसमुद्भूता गायति चातिहर्षत । रागविद्या नर सैव मूको भवति निश्चयात ॥२७

प्रकार जिसकी निष्ठा मनकी लोभवृत्ति से मलिन रहती है वह मरकर या उसी भवमें हीनांग होता है ।

अर्थः— टूटा कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् जो अपने हाथमे श्रीमज्जिनेंद्र देवकी प्रतिमाका अभिषेक पूजा और मुनिगणोको दान वैयावृत्य आदि नही करता है वह टूटा होता है ।

अर्थ—पगु कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन्! जो मनुष्य देवाधिदेव श्री तीर्थंकर परमदेवके पवित्र तीर्थोंकी यात्रा अपने पैरों से न कर अन्य मिथ्या कल्पित तीर्थोंका पर्यटन करता है उसके सत्य धर्म में श्रद्धा न होने के कारण और मिथ्यात्वके सेवन करनेके कारण तीव्र पापका आश्रव होता है ।

अर्थ— मूक कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् जो मनुष्य श्री जिनेन्द्र भगवानके गुणोंकी गानविद्याको न गाकर भंडराग और बीभत्स रागोत्पादक भंड गानोंको गाता है और उसमें अनुराग करता है वह मिथ्यात्व सेवन करने के कारण मूक होता है ।

यो हि संयमयुक्तानां नराणां गुणिनां तथा । शीलालंकृतगात्राणां जिनधर्मोपदेशिनाम् ॥ २८ ॥

दिगम्बरमुनीन्द्राणां तथाहि ब्रह्मचारिणाम् । आर्यिकाणां तथा भूप श्रावकाणां सुधर्मिणाम् ॥ २९ ॥

इत्यादीनां च यः मर्त्यः अपवादं ददात्यहो । करोति पापदां निंदां वा हास्यं शर्मनाशकम् ॥ ३० ॥

स मृत्वा तद्धि पापेन कुरूपी परजन्मनि । भवत्यपरमर्त्यानां निंदनीय सदा खलु ॥ ३१ ॥

एषामितरतो भूप महारूपी भवत्ययम् । तदेव शमभोक्तान महामारविभूषित ॥ ३२ ॥

अर्थ—महान् कुरूपी कौनसे पाप से होता है ? और जनतामें अपवाद किसका होता है ?

हे राजन् संयमको धारण करने वाले परम गुणी सत पुरुष, शील (ब्रह्मचर्य) से विभूषित, जिनेन्द्र मार्गके प्रकाशक, दिगम्बर मुनिगण ब्रह्मचारी–आर्यिका–श्रावक और श्राविका आदि चतुःसंघका अपवाद करनेसे उनमें मिथ्या दूषण लगानेसे उनकी मिथ्या निंदा करनेसे और उनका हास्य आदि कुभाव करनेसे कुरूपता प्राप्त होती है और उसकी निंदा सर्वत्र होती है। इस पापके समान अन्य कोई भी पाप नहीं है। इस पापका फल प्रत्यक्ष इसी भवमें प्रकट होता है। और कोढ रोग आदि भयंकर दुःसह वेदना शरीरमें इस प्रकारके पापके फलसे प्रकट होती है।

अर्थ—सुरूपी और मनोहर कौनसे कारणोसे होता है ?

हे राजन् चार प्रकारके संघकी मन वचन कायसे प्रशंसा करना सराहना करना और चतुःसंघ को मोक्ष मार्गका प्रकाशकारी समझकर अतिशय आदर करना–पूज्य मानना और सदैव उसकी भक्तिमें तत्पर रहना इससे मनुष्य सुरूपवान् सुंदर और कीर्तिशाली होता है।

जंतो कस्यैव पीडा च अतितीक्ष्णासिना पुमान् । वा कुंतेन करोत्येव कारापयति ह्यन्यत ॥ ३३ ॥
बहुभिर्वेदनाभिश्च सयुक्तो भवति नृप । आजन्मात्यगपर्यंतपरपीडात्र किं भवेत् ॥ ३४ ॥
अन्यस्मिन् य पुमान् जीवे पीडिते व्याधिभि सदा । तेपाहि प्राणिना चैव मोचापयति व्याधित ॥ ३५ ॥
भेपजै वा रसैर्मंत्रै अन्योपायोःकरै तथा । कारुण्यहृदयं कृत्वा सदा परदयारत ॥ ३६ ॥
स भवति नराधीश परजन्मनि मानव । वेदनारहितो नूनं परपीडानिवारणात ॥ ३७ ॥
कृषिकर्ममनताना जीवाना क्षयकारकम् । य करोति तथा त च कारापयति अन्यत ॥ ३८ ॥
कृतस्य कारितस्यैव पापस्य गदित जिनै । ममानैव फल जन राद्धात सर्ववेदिभि· ॥ ३९ ॥

अर्थः—जीवोको दुस्सह पीडा कौनसे पापसे होती है ? हे राजन् जो जीवोको विना कारणही त्रास देता है। तलवार कुंता चाकू बरछी आदि शस्त्रोसे अन्य जीवोको पीडा देता है या अन्य किसीसे ऐसी भयानक पीडा जीवोको दिलवाता है। समस्त जीवोको दु खी करनेकी क्रूर भावना रखता है वह आजन्म पीडाको प्राप्त होता है। पापसे क्या नही होता है ! जो दूसरोंको पीडा देगा उसको अवश्य ही पीडा प्राप्त होगी।

अर्थ—वेदना रहित कौनसे पुण्यसे होता है ?

हे मगधेश्वर ! जो व्याधि–दुःख–और पीडासे सतप्त, वेदना से आक्रात जीवोंको देखकर उनकी पीडा को दूर करता है जो दूसरोंको दुःखोंसे छुडाता है जो रोग–व्याधीके समय औपधी मत्र आदिसे उनके दुःखोंका नाश करता है और जो समस्त जीवोंपर सदैव दयाभाव रखता है वह वेदना रहित होता है।

अर्थः— मोही कौनसे कारणोसे होता है ?

हे राजन् खेती आदि हिंसक व्यापार स्वय करना अथवा तीव्र मोहके कारण हिंसक व्यापार दूसरोंसे

कृषिकर्मसमं पाप नो परं भुवनत्रये । रामठं शृंगवेरादि कंदवारक्रिय तथा ॥ ४० ॥
जवागूजं मधूच्छिष्टं मञ्जिकामश्मज तथा । गोपरमं तथा नागभस्म क्षार च पिंजरं ॥ ४१ ॥
चपलं गंधक चैव शिलिप्रीवं च अश्मिजं । तिलोद्भवरस नैव लाक्ष जीवस्य घातकम् ॥ ४२ ॥
इत्यादीना करोत्येव क्रय वा विक्रयं तथा । कुटुम्बपोषणार्थ च धान्योत्करस्य यो नर ॥ ४३ ॥
तीव्रमोही कुटुम्बेषु मोक्षज्ञानविवर्जितः । हाहाकारकरो दु खे सदैव दुर्मतिस्तथा ॥ ४४ ॥
तीव्रोदयो भवत्येव यस्यैव मोहकर्मण । ज्ञानदर्शनयोर्नून भवत्येवावरणस्तथा ॥ ४५ ॥
अतिकौटिल्यता चैव त्रयाणा मगधाधिप । सदा शोकी दिने भोगी स्त्रिया सद्धर्मवर्जित ॥ ४६ ॥
एभि दु कर्मभि सैव पंचेन्द्रियोप्यजन्मनि । भवत्येकेन्द्रियोनंतदु खवासस्य भाजन ॥ ४७ ॥

कराना इसी प्रकार अदरख, कंद, गूलर आदि अनत जीव मिश्रित पदार्थोंका व्यापार करना; मदिरा, मांस, शहत आदिका व्यापार करना कराना; रायगुडिया (जीव विशेष) का रस निकाल कर व्यापार करना कराना; जीवोंकी चर्बीका व्यापार, गंधक, लोहा, लाख आदिका व्यापार; महुआ (मधुपुष्प) का व्यापार; मशीनोंके द्वारा महान हिंसक होनेवाले व्यापार, चमडेका व्यापार आदि निंद्य और हिंसाजनक व्यापारोंका करना कराना या ऐसा उपदेश देना, तीव्र मोहोदयसे पापकी प्रवृत्तिमें लग जाना आदि कारणोंसे मोही होता है जो अनंत संसारका कारण है।

अर्थ—एकेन्द्रिय कौन से पापों से होता है ?

हे राजन् जो अन्य धर्मात्मा जीवोंके दर्शन ज्ञानका आवरण करता है कुटिल परिणामो से जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका अपवाद करता है जो सद्धर्मका लोप करता है जो आर्तध्यान से सदैव शोकातुर रहता है जो

महागूढ च आत्मोत्थं चिन्मय कर्मवर्जितम् । य पुमान् जीवतत्वंच सदा निश्चलसंस्थितम् ॥ ४८ ॥
ईदृशं कर्मकर्तारं भोक्तारं तत्फलस्यच । व्ययमपि च अभव्यानामप्रासव कदाप्यहो ॥ ४९ ॥
जानाति स्वहृदि नैव धर्माधर्मफल तथा । लोकाकाशमलोक च सर्वज्ञ दोषवर्जितम् ॥ ५० ॥
मुनीना सकलाचार स्वरूप च चतुर्गते । कर्मकर्मफल चैव कर्मणो बधनं तथा ॥ ५१ ॥
व्यवहारनयस्यैव स्वरूपं नाकदायकम् । निश्चयस्य नयस्यैव स्वरूपं मोक्षदायकम् ॥ ५२ ॥
सैव भो मगधाधीश एभि कुकर्मभि खलु । तिष्ठत्येव सदा काले ससारे दु खसंभृते ॥ ५३ ॥
उक्तदोषान् निजे चित्ते इतरत्वेन यो नर । जानात्येव नराधीश भव्यभावेन मडित ॥ ५४ ॥

दिवसमें स्त्रियों का सेवन करता है जो अपनी प्रवृत्ति धर्मरहित करता है वह एकेन्द्रिय पर्याय को प्राप्त होता है।

अर्थः— अनत संसारमें कोन परिभ्रमण करता है ?

हे श्रेणिक समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित आत्माका जिसके श्रद्धान नहीं है, जो चिद्रूप आत्माके अस्तित्वको नहीं मानता है, जिसके अतरग परिणाम तीव्र अज्ञान मिथ्यात्वसे सत्य पदार्थोंकी श्रद्धासे रहित है, जो लोकाकाशादि तत्वोको नही जानता है, जो मुनिधर्मके चारित्रको नहीं जानता है और जो चारो गतियोका स्वरूप कर्मका फल, कर्मोंका स्वरूप, कर्मबधका स्वरूप, व्यवहारनयका स्वरूप, निश्चयनयका स्वरूप, मोक्षका स्वरूप आदिके स्वरूपको, नही जानकर अन्यथा श्रद्धान करता है, मिथ्यात्वभावोसे तत्वोके स्वरूपका अन्यथा श्रद्धान करता है, पदार्थोंके स्वरूपको नहीं जानता है वह चिरकाल ससारमें परिभ्रमण करता है।

अर्थ—ससारके परिभ्रमणसे कौन शीघ्रही छूटता है ?

हे मगधेश्वर ! जो सात तत्वोका यथार्थ श्रद्धान करता है। जो मुनिधर्म व गृहस्थ धर्मको मोक्षोपयोगी सम-

बहुकाल च स नैव भवारण्येतिदु खदे । भ्रमति शीघ्रतो मोक्षे यात्येव ह्यघनाशत ॥ ५५ ॥
भंजनाज्जिनबिंबाना आलयाना च भो नृप । उपसर्गान्मुनीन्द्राणामागमानाच नाशत ॥ ५६ ॥
एभिस्त्रिभि कर्मभिश्चास्य कर्मणा च दृढा खलु । ग्रंथी सबध्यतेऽनतभवदु खदायिका ॥ ५७ ॥
सम्यग्दर्शनसद्ज्ञानचारित्राणाच य पुमान् । त्रिशुद्धया पालयत्येव निश्चयव्यवहारत ॥ ५८ ॥
तपोयोगेन कृत्वैव ग्रथन ह्यष्टकर्मणाम् । नाशं यात्येव भो भूप सदा शर्ममयेऽक्षये । ५९ ॥
च्युतोपमे निराधारे वृद्धिह्रासविवर्जिते । सिद्धसदोहसंयुक्ते ह्यतातीतगुणालये ॥ ६० ॥

झकर विशुद्ध भावोसे धारण करता है जो निश्चयनय और व्यवहार नयसे आत्माके स्वरूपको अच्छी तरह जानता है। जो भव्यभावो से सदैव आनंदित रहता है । जो प्रशम सवेगादि गुणोको धारण करता है वह शीघ्रही ससार से मुक्त होता है और आत्मीक अविनश्वर सुखको प्राप्त होता है ।

अर्थ— मोहकी गांठ किस कारण से दृढ होती है ? हे राजन् ! श्रीमज्जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमाओका भग करना-दुष्ट बुद्धिसे उनका अपमान करना—श्रीजिनदेवके मदिर का विध्वस करना—मुनियोको उपसर्ग करना-जिनागम को अवर्णवाद लगाना या जिनागमको मिथ्या कल्पित सिद्ध करना इत्यादि भयकर पापोसे मोहकी गांठ दृढ होती जिससे जीव अनतकाल पर्यंत घोर दुःखोको प्राप्त होता है ।

अर्थ—मोहकी गांठ किस कारण से छूटती है ?

हे राजन् ! सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र आदि आत्मिक गुणोंको मन वचन कायकी विशुद्धिसे धारण करनेसे मोहकी गांठ शीघ्रही नष्ट हो जाती है । जिससे आत्मीक सत्य सुख प्रकट होता है ।

अर्थ—मोहकी ग्रथी नष्ट होनेपर जीव को उपमा रहित अनुपम स्वभावरूप से प्राप्त अनत गुणोसे परिपूर्ण

इन्द्रनागेन्द्रभूपेन्द्रवृंदपूज्येक्षविच्युते । ईदृशे परमे स्थाने दुर्लभे चान्यलिंगिनाम् ॥ ६१ ॥
प्रदोषो निह्नवश्चैव तथा मात्सर्यसंज्ञक । अंतरायाभिधश्चैव आसादनोपघातकौ ॥ ६२ ॥
एभि षट्कर्मभिश्चास्य वधो भवति भूपते । द्वयोर्हि ज्ञानदर्शनावरणयोर्भवप्रद. ॥ ६३ ॥
पृथक् पृथक् शृणु त्व च षण्णाहि लक्षण नृप । निर्विकल्पतया वक्ष्ये कर्मबंधविघातकम् ॥ ६४ ॥
सम्यग्दर्शनसद्ज्ञानधारकस्यच नुः खलु । चारित्रपालकस्यैव ह्येकस्य धारकस्य वा ॥ ६५ ॥
सभायांच कृता नून मर्त्येन केनचिदियम् । प्रशमा प्रण तस्य अहो धन्योऽधुना सच ॥ ६६ ॥
श्रुत्वैवं नो करोत्येव पुमान् कोप्येत तस्यवै । पैशुन्यदोषितातस्थः परोदयविघातक. ॥ ६७ ॥

इन्द्र नागेन्द्र देवेन्द्रोसे पूजित अतीन्द्रिय और अविनाशीक मोक्ष सुख प्राप्त होता है जिसकी प्राप्ति एक जैन दिगंबर लिंगमेही होती है।

अर्थ—ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका आश्रव कौन कौनसे कारणो से होता है ?

हे राजन् प्रदोप—निन्हव—मात्सर्य—अतराय—आसादन—और उपघात इन छह कर्मोसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण का आश्रव होता है। इनका स्वरूप आगे खुलासा से बतलाते हैं।

अर्थः— प्रदोपादि छहो आस्रवोका पृथक् पृथक् स्वरूप आगे बताते उसे सुनो।

अर्थ—प्रदोपका लक्षण क्या है ?

हे राजेन्द्र ! सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान—सम्यक् चारित्र और उनका पालन करनेवाले भव्य प्राणियोंकी सभामें प्रशसाको सुनकर सहन नहीं करना—अथवा उन गुणोमें अनुराग नहीं होना, गुणोमें रुचि नहीं प्रकट करना सो प्रदोप

प्रशंसा च वदत्येव नापवादं तु तस्य वै। प्रदोषस्यैव एतद्धि जानीहि लक्षणं नृप ॥ ६८ ॥
केनचित्पुरुषेणैव प्रोक्तं भो बुधसत्तम । भवतां गृहे गस्ति अमुकं पुस्तकं शुभम् ॥ ६९ ॥
मा देहि तं पठित्वाच लिखित्वैव पुनश्चैव । दास्यामि भवता तद्धि द्वापरो नात्र किंचन ॥ ७० ॥
किमपि कारणं कृत्वा अहंकारेण स्वहृदि । विद्यमानमपि ज्ञानाढ्यो व्याहरत्येव स कुधी ॥ ७१ ॥
नो जानामि इदं ज्ञानमस्मत्पार्श्वे च निश्चयात् । पुस्तकोऽप्येव स नास्ति मा कथाप्येव मानव ॥ ७२ ॥
एव योहि करोत्येव ज्ञानस्याच्छादनं पुमान । नास्ति नेति कथनं तत् ज्ञानस्य विघ्नं खलु ॥ ७३ ॥
प्राप्नोति सैव दुर्दोषं निन्हवाख्यं भवप्रदम् । मानवो मणधाधीश रोषापलत्वाच वै ॥ ७४ ॥

है। ईर्षा या असहिष्णुताके लिये दूसरे पुण्य पुरुषोंके उत्तम सम्यग्दर्शनादि गुणोंके अभ्युदयको सहन न कर मनमें द्वेष बुद्धिसे उनका अपवाद करना निंदा करना–सो प्रदोष है। इससे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका आश्रव होता है।

अर्थ—निन्हव दोषका लक्षण क्या है ?

हे राजन् किसी पुरुषने अपने ज्ञानकी वृद्धिके लिये किसी पुरुषके पास ज्ञानवृद्धिका साधन पुस्तक आदि की याचना की। मांगी। परंतु मेरी पुस्तकादिकोंसे यह ज्ञान संपादन कर महत्वशाली बन जायगा जिससे मेरी प्रतिष्ठा या गौरवका नाश होगा इस प्रकारके दुष्ट भावोंको हृदयमें धारण कर किसी भी बहानेसे निषेध कर देना कि मेरे पास वह पुस्तक नहीं है। इस प्रकार विद्यमान ज्ञान साधनोंको छुपाकर मनकी कुटिलतासे निषेध करना सो निन्हव है। इसी प्रकार शास्त्रकी चर्चाका अपनेको ज्ञान होनेपर भी उक्त प्रकार दुष्ट अभिप्रायको रखकर निषेध कर देना कि मुझे यह बात मालुम नहीं है। सो निन्हव है।

सम्यग्ज्ञानके प्रचारको रोकना-सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि का नाश करना-सम्यग्ज्ञानियों का महत्व गिरा देना सो

विद्यते गहनार्थोय कठस्थो भवता खलु । अथो मा पाठय धीर चाग्रवर्द्धनहेतवे ॥ ७५ ॥
योग्योहं पठने तस्य पाठने तस्य निश्चयात् । योग्यस्त्वमसि नान्योहि महामतिप्रधारक ॥ ७६ ॥
एव श्रुत्वापि तस्यैव वाच पुंसे च तस्य वे । दानयोग्याय केनापि हेतुना दीयते न मत् ॥ ७७ ॥
यः स लभत भो भूप दोप मात्सर्यसज्ञकम् । मात्सर्यहेतुतो नूनं भवभ्रमणकारणम् ॥ ७८ ॥
सदसि विद्यमानेच व्याख्यानमागमस्य वै । केनचित् कारणेनैव तस्मिन्कोपि करोत्यहो ॥ ७९ ॥
प्रश्नेदृशं मनोक्त्याद्वा येनैव ह्यागमस्य च । अतरायो भवत्येव स्वकार्यवशत तथा ॥ ८० ॥

मन निन्हव दोप है। इससे अनत दुःख प्रदायी कर्म (ज्ञानावरण और दर्शनावरण) का आश्रव होता है।

अर्थः—मात्सर्य दोप किसे कहते हैं ?

हे राजन् किसी शिष्यने आकर कहा कि हे स्वामिन् आपको शास्त्रोका गहन अर्थ सब कठस्थ है। मै अपने ज्ञानकी वृद्धिके लिये आपसे पठन पाठन और अभ्यास करना चाहता हूं। मै इसके योग्य हू। और आप भी सब प्रकार यथेष्ट योग्यताके धारक हो—यह विद्या आपके सिवाय अन्यत्र मुझे प्राप्त नहीं होगी। इसप्रकार प्रार्थना करनेपर जो मनकी मत्सरतासे सम्यग्ज्ञान के शास्त्रों का पठन पाठन नहीं करावे अथवा किसी दुष्ट अभिप्रायसे योग्य ज्ञानको प्रदान करने में द्वेप करे सो मात्सर्य दोपका धारक है। इससे संसारका भ्रमण होता है।

अर्थः—अतराय दोपका लक्षण क्या है ?

हे राजन शास्त्रसभामें सम्यग्ज्ञानका उत्तम व्याख्यान हो रहा है। जिसको श्रवणकर अनेक भव्य अपना हित संपादन करते हो। उस परमागमके सर्वोत्कृष्ट व्याख्यानको मनकी दुष्टतासे रोक देना अथवा ऐसा प्रश्न खडा कर

अन्या वाहि करोत्येव कुर्वता हास्यदायकाम् । मौर्ख्यत्वेन यो मर्त्य स्वमदेन तथा नृप ॥ ८१ ॥
अतरायाभिध दोषमहसंततिदायकम् , उपार्जयति सो नूनं शास्त्रविच्छेदकारणात् ॥ ८२ ॥
करोति नैव यो मूढ सतो ज्ञानस्य मानव । कायेन विनय चैव हस्तकुड्मलतस्तथा ॥ ८३ ॥
पद्मासनाच्च स्तवनात स्मरणाच्च प्रकाशनात । प्रबंधाना च सोप्येव तदाछादनत खलु ॥ ८४ ॥
आसादनाख्य दुर्दोषमाप्नोति मगनाधिप । सर्वदु खप्रद हेय जैनतत्वविदावरै. ॥ ८५ ॥

देता जिससे व्याख्यान बद हो जावे । अथवा मनको दुष्टतासे परमागमके व्याख्यानमें हास्यादिक कर परमागमके प्रभाव को नष्ट कर देना अथवा मिथ्या बातें लगाकर परमागमके व्याख्यानमें विघ्न कर देना शास्त्र सभा वा पाठशाला आदिको तोड देना या किसी बहानेसे अन्यके द्वारा नष्ट करा देना सो अतराय दोष है । मूर्खता और अभिमान से परमागमका विच्छेद करना सो भी अतराय दोष है । यह अनंत पापका प्रदान करनेवाला भयकर दोष है ।

आसादन दोषका स्वरूप क्या है ?

हे राजन् ! परम उत्कृष्ट और सर्व प्रकार से सर्वदा निर्दोष ऐसे परमागमका मन वचन काय से विनय नहीं करना हाथ नहीं जोडना वदना भक्ति नही करना पूजा नही करना ऊंचे स्थानपर विराजमान नही करना परमागम के उपकारको भूल जाना और अन्य समाजमें परमागमका प्रभाव कुठित हो ऐसे आचरण करना, मनसे परमागमको हितरूप नहीं समझना वचनसे उत्तम प्रबंधमें दूषण लगा देना—सो सब आसादन नामका दोष है ।

प्रशस्त ज्ञान और उस ज्ञानको धारण करने वाले भव्योत्तमका आदर सत्कार कर महत्त्व नही प्रकट करना सो आसादन नामका दोष होता है ।

सुज्ञाने वाच्यमाने हि सदसि गुरुणा नृप । यः कोपि कथयत्येवं मदमात्सर्यकारणात ॥ ८६ ॥
इद पाठमशुद्धच करुपोक्तमिव दृश्यते । अनुक्त भामते नून सवधोऽय कथं धृत ॥ ८७ ॥
इत्याद्यगुणबुद्धेश्च आगमस्यैव योधम । दूषण च ददात्येव मनुजो भो नृपोत्तम ॥ ८८ ॥
सैव नूनं लभन्येवोपघाताव्हं कुदोषकम् । जिनवाक्यविघातत्वात्स्वशव्दस्यै। पोषणात ॥ ८९ ॥
एतेहि षड्विधा दोषा ज्ञानावरण–दर्शना–वरणयोर्हि भवत्येव आश्रवा भवदायकाः ॥ ९० ॥
आचार्ये शत्रुता चैव अकालेऽध्ययन तथा । अरुचिपूर्वकं ग्रथपठनं पठतोपिच ॥ ९१ ॥

अर्थ—उपघात दोषका लक्षण—

हे राजन् सभामें उत्तम और सर्वथा निर्दोष परमागमका भाषण होनेपर जो अहकार या मात्मर्य भावसे (किसी प्रकारकी मलिनतासे) उस सत्यार्थको स्वीकार नही कर " यह पाठ नही है " " यह अर्थ ठीक नही है " अथवा " पदार्थका स्वरूप नही है " इस प्रकार ज्ञानका घात करना मो उपघात है।

आगमके वाच्यार्थ में या पदार्थके स्वरूप में मनकी कुटिलतासे अन्यथा रूप प्रतिपादन करना सो उपघात नामका दोष है। आगममें दूषण या आगममें असत्यार्थ पदार्थकी नियुक्ति कर देना भी उपघात कहा जाता है।

अपने अहंकार को सिद्ध करनेके लिये अपने मिथ्या वचनों को सत्य कहना और आगमके सत्य वचनोको मिथ्या वतलाना सो उपघात है।

अर्थ—ऊपर बतलाये हुए निन्हवादि दोष ज्ञानावरण और दर्शनावरणके बधके कारण है।

आचार्य से शत्रुता करना, अकालमें पठन पाठन, शास्त्र श्रवण करनेमें मनके परिणामोंकी ग्लानि रखना– ग्रथ श्रवण करनेमें प्रमाद प्रकट करना गुरुकी चुगली या निंदा करना अथवा गुरुके समक्ष मिथ्या भाषण करना सो

आत्मस्थकरणं नूनमनादरेण तस्यच । व्याख्यानश्रवणमुन्मनीकत्वं स्वगुरोस्तथा ॥ ९२ ॥
वाच्यमाने प्रथमानुयोगे धर्मप्रभावके । तत्रैव कथयत्येव कोपि पैशुन्यदोषत ॥ ९३ ॥
वाचनीयं सभामध्ये मोक्षमार्गप्रदं शुभ । द्रव्यानुयोगनामंच । सभाया नो परं खलु ॥ ९४ ॥
वहुश्रुतेष्टगर्वस्य विधान चापमाननं । परपक्ष पोषयत्येव मिथ्योपदेशकी तथा ॥ ९५ ॥
स्वस्य पक्षस्य लोकस्य पुष्टकर्मविवर्जित । ख्यातार्थं पूजनार्थंच लाभार्थमागमस्यच ॥ ९६ ॥
चोपदेश ददात्येव असंबद्ध (निरर्थक) । कपटेन ज्ञानपाठी चागमानाच विक्रयी ॥ ९७ ॥
दूषण च ददात्येव सम्यग्दृष्टे· ह्यघप्रदम् । प्रशंसा च करोत्येव कुशास्त्राणा च मानवान् ॥ ९८ ॥

ज्ञानावरणी कर्मबधके कारण है । सभामें प्रथमानुयोगका व्याख्यान होरहा हो उसको श्रवण करनेमें ग्लानि प्रकट करना तथा " शास्त्र सभामें तो द्रव्यानुयोगका ही ग्रथ पढना चाहिये वही मोक्षमार्गका प्रदाता है " इस प्रकार कहकर प्रथमानुयोग शास्त्रमें अरुचि उत्पन्न करादेना या प्रथमानुयोग शास्त्रोको मिथ्या ठहरानेका भाव प्रकट करदेना, प्रौढ ज्ञानी पुरुषोको अपना गर्व प्रकट करना अथवा उनका अपमान करना ।

आगमके प्रौढ ज्ञाताओं के द्वारा आगमानुसार सत्य २ पदार्थ का स्वरूप सप्रमाण कहनेपर भी तो परपक्ष को पुष्ट करनेवाले है मिथ्या उपदेश देनेवाले हे अपने पक्षको पुष्ट नही करते हैं । इस प्रकार अपने मनकी कल्पनामे आगममें पक्षोंकी कल्पना कर सत्यार्थ स्वरूप को रोक देना । मान बडाई पूजा लाभ और स्वार्थके लिये शास्त्रका उपदेश देना । अपने स्वार्थके लिये मिथ्या उपदेश देकर सत्य वतलाना असबध और कपटाचारसे विरुद्ध पाठ पठन करना, आगमका क्रय विक्रय करना, सम्यग्दृष्टी जीवोंको दूषण प्रदान करना मिथ्या शास्त्रोकी प्रशंसा करना । इत्यादि बहुतसे कारणोसे ज्ञानावरण कर्मका आश्रव होता है ।

दीर्घनिद्रायुतो निद्रासयुक्तो धर्मनिंदक । महाआलस्यवान् चैव जुगुप्सी निंदकी तथा ॥ ९९ ॥
दर्शनावरणस्यैव आश्रवाश्च इमे बुधै । इत्याद्या शिववधस्य कर्तारः संमता खलु ॥ १०० ॥
दु खशोकेन तापेन आक्रदेन वधेन च । तथा हि रोदनेनैव अहो मगधमडन ॥ १ ।
आत्मपरोभयत्वेन असद्वेद्यस्य बंधन । भवत्येव च नु त्व च एतेषा वर्णनं शृणु ॥ २ ॥
आधिव्याध्यादिके जाते स्वस्य परस्य वा तनौ । सक्लिष्टपरिणामेन चिंतन क्रियतेत्र यत् ॥ ३ ॥
सैव दुःखाभिधं दोषं लभत्येव नरेश्वर । वा कारितानुमोदेनाशुभमार्गस्य दीपकम् ॥ ४ ॥

दिवसमें सोना, दीर्घ निद्रा ग्रहण करना, शास्त्र पढते पढते शयन करना, धर्मकी निंदा करना, जिनदर्शनादिक शुभ कार्योंमें आलस करना, दूसरोंके दर्शनमे व्याघात पहुचाना, निंदा करना, मुनिगणोंके पवित्र शरीरको देखकर ग्लानि करना इत्यादि कारणोसे दर्शनावरण कर्मका आश्रव होता है ।

अर्थः— असाता वेदनी कर्म कौन कौनसे कारणोमे होता है ?

हे मगधेश्वर दुःख, शोक, ताप, आक्रदन, वध, रोदन ये सब अपनी आत्मामें, पर जीवमें अथवा दोनोमें उत्पन्न कर देनेसे असाता वेदनी कर्मका आश्रव होता हैं । आगे इनका विशेष खुलासा प्रकट करते हैं ।

अर्थ — आधि, व्याधि, पीडा और तीव्र वेदना आदि होनेपर संक्लेश परिणामोके द्वारा बार बार उस दु खका अनुभव करना अथवा ऐसा दु ख दूसरोको देना अथवा दुःख देनेकी अनुमोदना करना, दु खके कारणोको उपस्थित कर देना सो सब दु ख है । इस प्रकार अपनेको और दूसरे जीवोको दुःख देना सो सर्व असाता वेदनी कर्मका आश्रव है ।

पुत्रकलत्र कुटुंबाना विच्छेदे स्वस्य वा नृ। । हस्त्यश्वधनद्रव्याणां बहुमोदप्रदायकम् ॥ ५ ॥
महाशोकं करोत्येव तेषां प्राप्त्यै सदैव हि । शोकाख्य नयत्येव दोषं जन्मनि जन्मनि ॥ ६ ॥
केनचिन्निंद्यकार्यस्य कारणात्स्वस्य जायते । अपवादो महान् लोके तं श्रुत्वा ह्यात्मनि स्फुटा ॥ ७ ॥
पश्चात्तापं करोत्येव नैव मुंचति तं पुनः । स पुमान् भजते तापाभिध दोषं स्वदुःखदम् ॥ ८ ॥
केनचित्कारणेनैव विलापाक्रंदनं तथा । नेत्राश्रुपातपतनं पूत्कारकरणं नृप ॥ ९ ॥
स्थितोऽहि रोदनं चैव करोत्येव विकारणं । आक्रंदनाख्यं सो दोषं लभते स्वदुःखदम् ॥ १० ॥

अर्थ — इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग के होनेपर शोक होता है। पुत्र स्त्री कुटुंब आदि सजीव पदार्थोंके वियोग होनेपर या अपने ही वियोग होने पर अथवा हस्ती घोडा-धन धान्य आदि पदार्थोंके वियोग होनेपर जो वेदनारूप शोक होता है उसको शोक कहते हैं। दुःखका विशेष रूप ही शोक है। इसमें असाता वेदनीय कर्मका आस्रव होता है। शोक अपनेमें करना या दूसरेमें कराना सब ही असाताके कारण है।

अर्थ — कोई भी निंद्य कार्य करनेसे अथवा किसी भी अनुचित कार्यके हो जानेपर संसारमें अपवाद (निंदा) हो जानेसे जो पश्चात्ताप-बार बार आत्म परिणामोंमें संक्लेश रूप ग्लानि हो सो पश्चात्ताप है। कभी कभी धनधान्यादिके नष्ट हो जानेपर, व्यापारमें हानि होनेपर, कार्यका विपरीत परिणाम होनेपर भी पश्चात्ताप होता है। यह भी एक प्रकारका दुःखका ही रूप है। यह भी असाता वेदनी कर्मका कारण है।

अर्थ — किसी भी कारणसे ऐसा विलापपूर्वक रोना कि जिसको श्रवण कर दूसरोंके मनमें आघात पहुंचे दूसरोंके मन दुःखसे पिघल जावें, नेत्रोंसे पूत्कार पूर्वक दीनताके साथ रुदन करना-अपने परिणामोंका संक्लेश भाव प्रदर्शन कर रुदन करना, दूसरोंके चित्तको विकार या क्षोभ हो ऐसा रुदन करना

झंपापात हि यो अद्रे पावके च प्रवेशन । अब्धौ च पतनं तथा श्वासोच्छ्वासप्ररोधनम् ॥ ११ ॥
करोत्येवं तथा नून खादत्येव विषादिकम् । असिना स्वस्य हस्तेन स्वात्मान घातयत्यहो ॥ १२ ॥
इत्यादिभि नराधीश स्वस्य प्राणस्य पापधी. । वियोगं च करो येव बधाख्यं सैव निश्चयात् ॥ १३ ॥
दोषं ह्यनतससारपरिभ्रमणकारणम् । प्राप्नोति आत्मघातस्य करणान्नात्र संशय ॥ १४ ॥
परमक्लेशसंयोगात् ईदृशं रोदन नृप । य करोति पुमान् नून महादुखस्य दायकम् ॥ १५ ॥
परेषा श्रवणाद्यस्य रोदन भवति सदा । दोष परिवेदनाख्य लभते भवदु खदम् ॥ १६ ॥

सो सब आक्रदन है । यह अपनेमें और दूसरोमें करने करानेसे असाता वेदनी कर्मका आस्रव होता है ।

अर्थ—समुद्रमें पडकर आर्तरौद्र परिणामोसे मरना या दूसरोको मारना, पर्वतसे गिरकर प्राणोका नाश करना, अग्निमें प्रवेश करना सती होना नदीमें गिरकर प्राणोका घात करना श्वासोच्छ्वास क्रियाको रोककर अपघात करना विषादिक भक्षण कर प्राणोंका नाश करना तलवार बदूक आदि शस्त्रोंके द्वारा प्राणघात या आत्मघात करना धर्म समझकर प्राणोंका वियोग करना इत्यादि अनेक प्रकार से संक्लेश परिणामपूर्वक मरना—दूसरोको मारना या मरवाना सो सब वध है । इससे भी असाता वेदनी कर्मका बध होता है ।

अर्थ–आत्महत्या अथवा परघात करनेसे अनंत ससारका बध होता है । सबसे भयकर पाप आत्महत्या है । जो धर्म समझकर आत्महत्या करते है वे अनंत ससारमें परिभ्रमण करते है ।

अर्थ – हे राजन् ऐसे संक्लेश और दु ख परिणामो से रोना कि जिसको श्रवण करते ही दूसरों को भी रुदन हो जावे । अपने और दूसरोके परिणामोंको क्लेश कारक– बीभत्स रूपसे करुणापूर्ण रुदन करना सो परिदेवन

पैशुन्यात् पापकार्यस्य प्रेरणात् चापवादतः । तिरस्कारस्य करणात् परेषां निंदनात् तथा ॥ १७ ॥
परद्रव्यापहरणात् अधर्मिजनसेवनात् । कार्याद्दतेच अनर्थदंडस्य करणात् पुन ॥ १८ ॥
जीवनार्थं च शास्त्राणामभ्यासकरणात्तथा । इत्याद्यन्यदपि नूनमस्याश्रवा भवंत्यहो ॥ १९ ॥
भूतव्रत्यनुकपाच दान सरागसंयम । योगाना क्षांति शौचश्च एतेहि मगधाधिप ॥ २० ॥
आश्रवाहि मद्वेद्यस्य महाशर्मप्रदायका । भेद शृणुच तेषाहि वच्म्यहंच पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥
सर्वभूतेषु चित्तन कायेन वा हृदा तथा । दयाभावं करोत्येव यो नाहि भव्यभावयुक् ॥ २२ ॥

नामका दोष है । इससे भी असाता कर्मका आश्रव होता है ॥

अर्थ—चुगली करना-पाप कार्योंकी प्रेरणा करना दूसरोंमें दोष लगाकर निंदा करना, दूसरोंका तिरस्कार करना दूसरोंकी निंदा करना, दूसरोंके द्रव्यको लूट लेना पापी अधर्मी और अपने धर्मसे पतित ऐसे निंद्य मनुष्य की सेवा करना विना प्रयोजन हिंसा आरंभ करना, अनर्थदंडके कार्य करना अपनी आजीविकाके लिये विद्याभ्यास करना इत्यादि बहुतसे अन्य कारण भी असाता वेदनीय कर्मके होते हैं।

अर्थ—सातावेदनी कर्मके आश्रव कौन कौनसे है ? प्राणी मात्र पर अनुकंपा व्रती पुरुषोंपर विशेष विनयके साथ अनुकपा, दान सराग संयम क्षांति शौच इत्यादि साता वेदनी कर्म के कारण हैं। इनका स्वरूप खुलासा से बतलाते हैं ।

अर्थः—भूत अनुकंपाका क्या स्वरूप है ?

हे राजन् मन वचन कायसे समस्त जीवोंपर दयाभावोंका रखना अर्थात् जीवमात्रमें भेदाभेद विचार किये बिना ही दयाभावसे सबपर दया प्रदर्शित करना सो भूतअनुकंपा है ।

एव विचारयत्येव चतुर्गतिभवा इमे। भूता सर्वे सदैवोच्चै कर्मोदयवशात खलु ॥ २३ ॥
निजनिजैव भुजंति दु खौघ पारवर्जितम्। भविष्यंति कदा मुक्तिः एतेषा दु खतो ननु ॥ २४ ॥
स पुमान् भूतकंपाख्य गुणं शर्मप्रदायकम्। लभते नात्र सदेह सद्दयापरिणामत ॥ २५ ॥
पंचाणुव्रतयुक्ताना दृष्ट्वा सद्धर्मवृद्धये। य पुमान् स्वात्मनि नित्य दयाभावं ह्यघापहम् ॥ २६ ॥
करोति परम भूप बाल वृद्ध तपस्विनम्। धर्मस्य ज्ञानद चैव जिनधर्मोपदेशकम् ॥ २७ ॥
परपीडा च जानाति आत्मपीडामिव सदा। परोपकारकरणे हि दयार्द्रचित्तधारक ॥ २८ ॥

ऐसा विचार करना कि जीव अपने कर्मोके विपाक (फल) से चारो गतिमें दुःखको प्राप्त हो रहे हैं। इन जीवोका कर्मका सबध कब नाश को प्राप्त हो। ये जीव कब दुःखोंसे छूट जावें। इनको सन्मार्गकी प्राप्ति कब हो जावे इस प्रकारका अभयदान समस्त जीवोंपर देनेकी इच्छासे समस्त जीवोपर परम करुणाभाव रखकर उनके दुःखोका प्रतीकार करना सो भूतअनुकपा है।

अर्थः— व्रतियोपर अनुकपाका क्या स्वरूप है ?

हे मगधेश्वर पच अणुव्रतके धारक या पाच महाव्रतके धारक, सयमी, व्रती और श्रेष्ठ चारित्रके प्रतिपालक पुण्य पुरुषोको दुखी देखकर श्रेष्ठ धर्मकी वृद्धिके लिये दयाभाव प्रदर्शित करना, उनके पवित्र गुणोकी चाहना प्रकट कर पूज्य भावसे उनके दुःखोंका नाश करना, उनकी पीडाको शात करना, वृद्ध बाल तपस्वी गणोकी सेवा वैयावृत्य करना, रोगी और असमर्थ सयमी को धर्म साधनमें लगाये रहना, धर्मात्मा 'साधर्मी भाइयोंकी आदरभावसे सेवा सुश्रुषा करना, ज्ञानी विद्वानोको धर्मके अग समझकर उनका आदरभाव करना; पाठक, उपाध्याय और धर्मके स्वरूपको व्यक्त करनेवाले भव्य जीवोको सहायता कर धर्ममार्गमें दृढ बनाये रखना, दूसरोकी पीडाको आत्मपीडा समझनेवाले भव्य

व्रत्यनुकंपाभिधं सैव गुण संसारनाशकम् । प्राप्नोति मगधाधीश अनुकंपात्र किं भवेत् ॥ २९ ॥
संसारहेतुहर्तारं दानं पात्राय योजयेत । चतु प्रकारं यो भावात गुण दानाभिध लभेत् ॥ ३० ॥
ससारवर्द्धकान्येव द्रव्यकर्माणि वा तथा । भावकर्माण्यपि यो हि त्यजते मनसादित ॥ ३१ ॥
सो हि सरागसंज्ञंच गुण शिवप्रदं नृप । लभते भावशुद्धित्वात् क्रमान्मोक्षपदं खलु ॥ ३२ ॥

जीव साधर्मि भाइयोको सब प्रकारसे सुखी बनाना, परोपकार दयाभावसे करना इत्यादि अनेक प्रकारसे धर्मअंगोंकी दृढता करना सो व्रती अनुकंपा है। समारका नाश करनेवाला एक यही गुण है। इस गुणसे समस्त पापकर्म एक क्षण मात्रमें विलीन हो जाते हैं। और अनंत पुण्यकर्म संपादन होता है।

अर्थ—दानका स्वरूप क्या है?

हे राजन् जिस दानसे संसारके बंधनोंका नाश हो वही सत्यदान है बाकी कुदान है। दान पात्रमें ही दिया जाता है। पात्रम प्रदान किया हुआ दान सत्यदान कहलाता है। कुपात्र और अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान कुदान कहलाता है।

चार प्रकारके पात्रमें (मुनि–आर्यिका श्रावक श्राविका) चार प्रकारका दान समारका नाश करता है। और इसके व्यतिरिक्त अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान ससारको बढाता है।

अर्थ—सराग सयम किसको कहते है?

हे राजन्! संसारको बढानेवाले द्रव्यकर्म और भावकर्मों को मनकी विशुद्ध वासना से नहीं छोडना सो सराग संयम है। भावार्थ—बाह्य वचन और कायकी क्रिया संयमरूप हो परंतु मनमें सकल्प विकल्पोंकी भावना हो, द्रव्य कर्म और भावकर्मोंके परित्याग करनेमें मनकी विशुद्धता नहीं हो सो सराग सयम है। राग सहित संयम सो सराग

पड् वै जीवनिकायेषु दयापरिणामकारणात । षडिन्द्रियाणां बंधत्वात् परसंतोषकारणात ॥ ३३ ॥
स्वात्मता सर्वभूतेषु निवृत्तिता ह्यपात्तथा । आच्छादनत्वात् परेषा दोषाणा धर्मदेशनात् ॥ ३४ ॥
क्रियते य पुमान् स्वस्मिन् गुणान् चेमान् सुखप्रदान् । संयमाख्यं गुणं सैव प्राप्नोति चेलनाप्रिय ॥ ३५ ॥
सयमेन ह्ययं प्राणी शोभते नरनायकः । सर्वपापक्षयं कृत्वा मोक्षधाम व्रजत्यहो ॥ ३६ ॥
संयमेन विना सर्वा क्रियाः हि निष्फला मता । मुनीना वा गृहस्थाना तपोदानादिका' खलु ॥ ३७ ॥

सयम है । यह सराग संयम क्रमसे मोक्ष के सुखको प्रदान करनेवाला है ।

अर्थ—सयम का स्वरूप क्या है ?

चेलनाप्रिय श्रेणिक महाराज ! छह प्रकारे (पृथ्वी काय–अप् काय–तेजकाय–वायुकाय वनस्पति काय और त्रस काय) के जीवो की रक्षाके लिये अपने परिणामों की विशुद्धताको धारण कर अपने मन और इन्द्रियोंको रोकना अथवा इन्द्रियोके बिषयोका परित्याग करना–दूसरोको सतोप भाव प्राप्त हो ऐसा सरलतासे दयाभाव प्रदर्शित करना समस्त जीवोको अपनी आत्माके समान समझकर समस्त जीवोपर दयाभाव रखना सब जीवोकी रक्षा करना–पापकार्यो से भयभीत होना' दूसरोके दोपोको ढांकना, धर्मोपदेशके द्वारा दयाभावका प्रचार करना–इत्यादि कार्योंसे संयम भावना प्रकट होती है ।

आत्माके परिणामोंको विशुद्ध बनानेके लिये मन और इन्द्रियोको वश करना–विषय कषायोंका परित्याग करना संयम है।

अर्थ—संयमके पालन करनेसे मनुष्यजीवन की शोभा है । संयमके पालन करनेसे ही जीव कर्मोंका नाश कर मोक्षसुखको प्राप्त होता है । संयम के विना समस्त, जप तप दान आदि क्रियाएें व्यर्थ हैं ।

तरिता तरंति भो भूप तरिष्यति नरोत्तमा । ये हि चानेन लोकेस्मिन् नान्योपायोस्ति किंचन ॥ ३८ ॥
क्रोधाद्याना त्रयाणा च निवृत्तिर्यत्र तत्र वै । क्षातिर्भवति भो नूनं सर्वाशर्मविनाशिका ॥ ३९ ॥
य इमा वारयत्येव सैव क्षात्यभिधं गुणम् । सर्वसंपत्तिकर्तारं प्राप्नोति मनुजोत्तम ॥ ४० ॥
क्रियते यद्विरमणं लोभस्यालोभवस्तुत । परलोकनिदानस्य वा पुमान् हि त्रिशुद्धिन ॥ ४१ ॥
सैव शौचाभिधं नून गुण ह्यगीकरोत्यहो । आत्मशुद्धकरं भूप निर्ममत्वस्य कारणात् ॥ ४२ ॥
जिनेन्द्रबिंबसत्स्नानकरणाच्च रसोत्करै । तत्पूजनात्सुद्रव्यौघै स्तवनान्नमनात्तथा ॥ ४३ ॥
वैयावृत्यविधानाच्च बालवृद्धतपस्विनाम् । साधर्मिजनसंसर्गात् स्वस्य कुलस्य पोषणात् ॥ ४४ ॥

सयमको पालन कर ही भव्य जीव मोक्षको प्राप्त होगे । संयमसे ही संसारसमुद्रसे जीव तरते है । तिरे है । और तिरेंगे । मोक्ष मार्गकी प्राप्तिका उपाय सयमके विना अन्य कोई नही है ।

अर्थ—क्रोध आदि विकार त्रयकी निवृत्ति होना सो क्षांति है ।

भावार्थ—क्रोध-मान-माया आदि विकारोको मनकी पवित्रतासे रोक लेना-उत्पन्न नही होने देना सो क्षांति है- क्षांतिसे समस्त दु ख नाशको प्राप्त होता है ।

अर्थ—हे राजन् लोभका त्याग करना सो शौच है । समस्त वस्तु मात्रसे निर्ममत्व भावको धारण कर अपनी पवित्र आत्मामें लवलीन होना सो शौच है । इससे महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है ।

अर्थः—श्रीमज्जिनेन्द्र देवकी प्रतिमाका भक्तिपूर्वक शुभभावो से पचामृत (दही दूध घी शर्करा सर्वौषधि) से स्नान करना-पूजन वंदना स्तोत्र आदिके द्वारा भगवान्के गुणोका स्मरण करना प्रभुको भक्तिसे नमस्कार करना वृद्ध बाल रोगी तपस्वियोंकी वैयावृत्य करना-साधर्मी भाइयोकी सेवा सुश्रुषा और दान मान समर्पण करना अपने कुल और

मोचनात् परबंधस्य परदुःखनिवारणात् । क्षुधिताय प्रदानाच्च भोजनस्योदकस्य च ॥ ४५ ॥
मुनीशा त्यक्तसगाना हस्तपादादिमर्दनात् । तेषा पादारविंदाना धोवनात्प्राशुकैर्जलैः ॥ ४६ ॥
वस्त्राभरणदानाच्च गृहिणा ब्रह्मचारिणाम् । दयादानस्य सद्दानादन्येषा सर्वप्राणिनाम् ॥ ४७ ॥
इत्यादिगुणसदोहधारणादस्य नु नृप । भवति आश्रवा नुन सद्वेद्यस्यैव सप्रदाः ॥ ४८ ॥
केवलिश्रुतसंघानामवर्णवादतोऽस्य नु । तथाहि धर्मदेवाना भवत्यावरणो ननु ॥ ४९ ॥
भूप दर्शनमोहस्य यस्यैव कारणात् खलु । सम्यग्दर्शनसप्राप्तिः नो भवति कदाप्यहो ॥ ५० ॥
एषा संक्षेपत कुर्वे वर्णनंच पृथक् पृथक् । शिवद त्व शृणु भूप स्वचित्तस्य समाधिना ॥ ५१ ॥

कुटवी जनोका नीतिपूर्वक पालन करना दूसरे जीवोको वधनोंसे मुक्त करना भूखे जीवोको भोजन पान करुणाभावोसे देकर सतोषित करना दीन असमर्थ लोगोंकी करुणाभावसे सहायता करना रोगी और पीडातुर जीवोंको कष्ट से छुडाना मुनिजनोंके हाथ पांव आदिको दवाकर सेवा करना—भक्ति करना वैयावृत्यके द्वारा उनकी यथोचित सेवा करना उनके चरणकमलोंको प्राशुक निर्मल जलसे धोवना, जैनधर्म अनुयायी गृहस्थोंको वस्त्राभूषण प्रदान करना ब्रह्मचारी आदि सयमी जनोको वस्त्र आदिका देना दयादानका करना इत्यादि अनेक शुभ कारणोसे सातावेदनी कर्मके आश्रव होते हैं।

अर्थ·— दर्शन मोहनी कर्मके आश्रवके कौन कौनसे कारण है ?

हे राजन् केवली —श्रुत—चतुर्विध सघ और धर्ममे अवर्णवाद लगाना असत्स्वरूप कल्पना करना सो दर्शनमोहनी कर्मके आश्रव है। इनसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नही होती है। आगे इन सबका खुलासासे लक्षण बतलाते हैं।

दुर्बुद्धिधारका. केचित् ब्रुवत्येव मनोक्तित । महामिथ्यात्वसंमग्ना सदा द्वापरसंभृता ॥ ५२ ॥
कोट्यादिपूर्ववर्षाति जीवति भोजनादृते । कथं केवलिनश्चेमे इदं पश्यत सज्जना ॥ ५३ ॥
गुप्तत्वेन सदाहारं भुजति सकला इमे । अतो हि संशयो नास्ति देवाच्यी केवलेक्षणा ॥ ५४ ॥
सामान्यपुरुषोप्येव विना न्यादेन अत्र हि । महातो तद्दते तेहि कथं तिष्ठति भो ब्रुधा ॥ ५५ ॥
आतका हि भवत्येव तेषा शातिकमंजसा । भेषजैश्च प्रकुर्वति देवा तत्सेवका इति ॥ ५६ ॥

अर्थः— केवली भगवानको आवरण किस प्रकार लगाया जाता है?

हे राजन् चार घातिया कर्मोको नाश कर केवली भगवान अनत चतुष्टय युक्त होते है। उनकी अनत चतुष्टयता (अनत ज्ञान, अनत दर्शन, और अनंत ही वीर्य— और अनतसुख) तब ही प्राप्त होती है जब कि वे प्रभु अपने ध्यान–सयम– और योग द्वारा समस्त दोषोका नाश करदेते हैं। केवली भगवान् के उस समय क्षुधा प्यास–जरा–रोग–चिंता-शोक उपसर्ग आदि एक भी दोष नहीं रहता है। इसीलिये उनमें वह अतिशय प्रकट होता है कि जिसके प्रभावसे देव नागेन्द्र और समस्त त्रिलोकके जीव उनको सर्वोत्कृष्ट और पूज्य समझकर नमस्कार करते है, भावभक्तिसे पूजा स्तवन और गुणगान करते है। परंतु ऐसे महान पूज्य केवली भगवान् के अज्ञानी अवर्णवाद लगाकर असत कल्पना करते हैं।

अज्ञानी और सशयशील मनुष्यो का ज्ञान प्रमाणरूप नही होता है इस लिये मदोन्मत्त पुरुषके समान मूर्खता वश कहते हैं कि भगवान् समोसरणमें कोटि पूर्व वर्ष पर्यत विना आहार के सजीवित नही रहसक्ते इस लिये गुप्त आहार ग्रहण करते होगे। लुप्त छिपकर देवगण या उनके भक्त गण आहार करा देते होगे। एक साधारण पुरुष आहारके बिना एक वर्ष नही रह सक्ता तो महान् पुरुष कोटि वर्ष पर्यत किस प्रकार सजीवित रह सक्ते है?

उपसर्गोपि जायन्ते किंचित्पापोदयाच्च वै । निर्जरा तद्विनाशं च कुर्वंति नात्र संशय ॥ ५७ ॥
त नग्नापि तथाप्येव षोडशाभरणान्विता । सर्वेषां च प्रदृश्यते देवातिशयमंडिता ॥ ५८ ॥
तुंबीं वा कम्बल दंड रक्षति न न संशय । कालभेदेन वर्तेत तेषा ज्ञानोपि निश्चयात ॥ ५९ ॥
केवलज्ञानिनामेव सर्वेषु महता खलु । तारकाणां च सर्वेषां निर्दोषाणां विमानिनां ॥ ६० ॥
निर्लिंगाभिधनागेन्द्रप्रचरेन्द्रनरेन्द्रभि । पूज्यपादारविंदानां गुणवतां गुणेष्वपि ॥ ६१ ॥

केवली भगवानको रोग भी होता है । जब भोजन करते है तब उसका विकार कफ वात और पित्त अवश्य ही रोगोकी उत्पत्ति करेंगे । और उसकी शांति देवगण करते है । अथवा उनके भक्तगण अनेक प्रकारकी औषधियोके द्वारा शांति करते हैं ।

केवली भगवानके उपसर्ग भी होते है । क्योकि अभी उनके पापका कारण असाता वेदनी कर्मका उदय मौजूद है । असाता कर्मके उदयसे दुख और उपसर्गोंका होना स्वाभाविक बात है । पापसे क्या नही होता है । भगवानके असाताका उदय होना यह भी तो पाप है ।

केवली भगवान यद्यपि नग्न है तो भी उनकी शोभा देवगण षोडश भूषण पहनाकर करते हैं । क्योकि भगवान त्रिलोक के प्रभु है और वे नग्न रहें तो उनका अतिशय ही क्या रहा ? और उनकी प्रभुताही महान कैसी मानी जावे ? क्योकि महान् वही है जो उत्तमोत्तम पदार्थोंसे सुसज्जित रहता हो ।

केवली भगवान् तुंबी-दड-और कंबल रखते है क्योकि इसके विना वे प्रभु शौच क्रिया किस प्रकार करें । तथा भयका निवारण किस प्रकार करें एव शीत आदिकी बाधा से अपनी रक्षा किस प्रकार करें ।

इत्यादिगुणयुक्ताना येऽत्मा कल्पयंत्यहो । असद्भूतामिध दोषमनंतभवदायकम् ॥ ६२ ॥
प्राप्नुवंति नूनं ते हि केवल्यावरणाभिधम् । दोषं भो भगवाधीश भवाकूपारवर्द्धका ॥ ६३ ॥
प्राशुकस्य पलस्यैव मधो मद्यस्य वा तथा । नवनीतस्य वा प्राशे नो दोष किमपि खलु ॥ ६४ ॥
मातृस्वस्रादिकस्यैव मेथुने कदभक्षणे । रात्रिभोजनपानादौ अंहो नास्ति कदाप्यहो ॥ ६५ ॥

केवली भगवानका ज्ञान भी कम बढ (न्यूनाधिक) हो जाता है। कालभेदसे केवली भगवानके ज्ञानमें हीनता प्रकट होती है ! भगवानके शयन समय ज्ञान ठीक ठीक नहीं रहता है और जाग्रत अवस्थामें वे सावचेत रहते हैं।

इस प्रकार केवली भगवान में अनेक प्रकारकी असत् कल्पना अपने मनोनीत भावोसे कितने ही अज्ञानी करते हैं। परतु केवली भगवान में उक्त प्रकार की असत् कल्पना किसी प्रकारभी सभावित हो नहीं सक्ती है। जब कि केवली भगवानने समस्त कर्मोंका प्रचड राजा मोहनीय कर्मका ही नाश कर दिया है तब फिर उनके दोषोत्पत्ति किस प्रकार हो सक्ती है। समस्त दोष मोहनीय कर्मके उदयसे होते हैं। उसके अभावमें दोषोंकी सत्ता रह नहीं सक्ती।

इसलिये भगवान में दोष नहीं होते हुए भी कल्पित कर मिथ्या स्वरूप मानना सो केवलीका अवर्णवाद है। इससे मोहनीय कर्मका आश्रव होता है। जिससे अनत ससारका बंध हो।

अर्थ—मांस पकाकर प्राशुक होता है। उसका भक्षण करनेमें धर्म शास्त्रकी आज्ञा है। इसी प्रकार मद्य-मधु [शहत] और नवनीतके सेवन करनेमें कोई भी हानि नहीं है। दोष नहीं है। इस प्रकार मलिन और त्रसहिंसासे निरंतर परिपूर्ण पदार्थोंका सेवन करना पवित्र मानना और ऐसी शास्त्रकी आज्ञा बतलाना यह श्रुत [शास्त्र] का अवर्णवाद है।

कामबाधा यदा साधो उत्पद्यते तदैव हि । सेवनीयं च वित्तस्य स्त्रिय दासींच कन्यकाम् ॥ ६६ ॥
वा साधो सेवका नूनं स्ववैयावृत्यसिद्धये । अर्पणीयाश्च स्वनामा कामार्तायैव साधवे ॥ ६७ ॥
अर्पण न करोत्येव स्वस्त्रिया साधवे च य । मैव स्वधर्मतो बाह्यो मतो नास्त्यत्र संशय ॥ ६८ ॥
इत्याद्ये ये वजंत्येव उन्मार्गे चाक्षपोषका । केचित् पृच्छति तानेव बाहो कुमार्गपोषका ॥ ६९ ॥

माता बहिन पुत्री आदि परस्त्रीके सेवन करनेमें मूलकंदके भक्षण करनेमें–रात्रिमें भोजन पान करनेमें पापकी प्रवृत्ति नही मानना इस प्रकार नीति और सदाचार विरुद्ध पदार्थोका सेवन करना और उसको उत्तम समझ धर्मशास्त्रकी आज्ञा मानना सो श्रुतका अवर्णवाद है।

जिस समय साधु (मुनिजन) को कामपीडा उत्पन्न हुई हो। तो वह अपनी पीडाको वेश्या दासी और किसीकी भी कन्याका सेवन कर शांत कर सक्ता है। इसमें कुछ भी पाप नही है। यहा साधुका धर्म है कि पीडाको किसी प्रकार भी शांत कर सुखी रहे–ऐसी आज्ञा धर्मशास्त्रकी बतलाना–इस प्रकार अपने मनकी मलिनतासे धर्मशास्त्रमें मिथ्या दोष लगाकर कहना सो श्रुतका अवर्णवाद है।

अथवा साधुकी कामपीडाको शांत करनेके लिये उनके भक्तगणोको अपनी अपनी सुदर स्त्रियोका दान कर देनेमें विशेष वैयावृत्य होता है। जो भक्त इस प्रकार अपनी सुंदर स्त्रीको साधुकी कामपीडाको शात करनेके लिये प्रदान करता है वह धर्मको स्थिर करनेवाला वैयावृती है। कदाचित् कोई भक्त इस प्रकार कामपीडाकी शांतिके लिये अपनी स्त्रीको साधुके लिये नहीं प्रदान करे तो वह अपने धर्मसे बाह्य है, इसमें जरा भी सदेह नहीं है। इस प्रकार अपने अपने स्वार्थको सिद्ध करनेके लिये महानसे महान भयंकर पापको भी उत्तम मानना और उसको धर्मशास्त्रकी ज्ञा बतलाना यह सब श्रुतका अवर्णवाद है।

काचार मर्वनिंद्य च मवद्भि पापकारकम् । इद कथ्यानुसारेण आगमस्य च स्वीकृतम् ॥ ७० ॥
अगीकृत च अस्माभि दत्त्वा सकल बुधा । आचरण तद्धि शास्त्रोक्त तद्दत्ते न किमपि नो ॥ ७१ ॥
इमे सर्वे च संप्रोक्ता आगमेषु न सशय । स्त्रीसेवनादिका कार्या नो निंद्याती भजामहे ॥ ७२ ॥
शास्त्राद्दते किमप्येव नास्त्येवाचरण खलु । अस्माक शास्त्रमर्यादात्मर्वमस्ति क्रियादिकम् ॥ ७३ ॥
इत्युक्तेन गुणरतो महतो हि श्रुतस्य च । असद्भूत च दुर्दोष ददाति यो हि मानव ॥ ७४ ॥
श्रुतावर्णवादाढ्य सो हि दोष कुदु स्वदम् । स्वीकरोत्येव भो भूप शास्त्रदोषप्रदानत ॥ ७५ ॥
यथा हि पर्वतो विप्र गतो हि मतमानवो । कथयित्वैव जीवौघा घातयोग्या इमे खलु ॥ ७६ ॥

अर्थः--इस प्रकार धर्मशास्त्रमें मिथ्या अवर्ण वाद लगानेवालोंसे कितनेही विचारशील मनुष्योंने पूछा कि है नीति और सदाचारकी पवित्र मर्यादाको अपने स्वार्थसे नष्ट करनेवाले हो और इसी लिये पवित्र धर्मशास्त्रको बदनाम कर अपना मतलब सिद्ध करनेवाले हो, यह निंद्य पापकारक मलिन आचरण कौनसे आगमसे कहते हो और आचरण करते हो ?

यह श्रवणकर पापीने कहा कि जो कुछ हम आचरण करते हैं वे सब धर्मशास्त्रसे ही करते है। धर्मशास्त्रकी आज्ञाविरुद्ध कुछभी नहीं करते हैं। " कामपीडित साधुको स्त्री देना " मांस मद्य मधु नवनीत आदिका भक्षण करनेमें हानि (पाप) नही बतलाना इत्यादि जितने कार्य है वे सब शास्त्रमें बतलाये है। इसमे संदेह नही मानना चाहिये। शास्त्रविरुद्ध चलनेमे हम भी पाप समझते है। परतु हमारे शास्त्रोमें उक्त समस्त क्रिया करनेकी आज्ञा दी है। इसप्रकार परम पवित्र धर्मशास्त्रमें असद्भूत दोषोको लगाना सो श्रुतका अवर्णवाद है ।

तथा हि किं न यास्यति ग्रंथदोपस्य कारणात् । ते मूढा इन्द्रियाणा च पोपका शास्त्रनिंदका ॥ ७७ ॥ *
धूर्ता पशूपमाश्चेमे शूद्रा दिगवरा खलु । तथा त्रयीवहिर्भूता शुचित्वकर्मवर्जिता ॥ ७८ ॥
निर्लज्जा मललिप्तागा अत्रैव दु खभाजना । परत्रापि भविष्यति महादु खस्य भाजना ॥ ७९ ॥
महता कथयत्येव य पुमान् सैव निश्चयात् । सघावरणवादाख्य दुर्दोपच लभत्यहो ॥ ८० ॥
निर्गुणोय खलु धर्मो जिनोक्तो धर्मवर्जित । वर्तंते ये हि लोकेस्मिन् पुरुषा तद्विधायका ॥ ८१ ॥

हे राजन् यह श्रुतावर्णवाद महान् पापका आश्रव करनेवाला है । पर्वत ब्राह्मणसमान सातवें नरकमें ले जाने वाला है । पर्वतने भी जीवहिंसाको धर्म बतलाया था और यह शास्त्रमें लिखा है गुरूजीने धर्मशास्त्र इसी प्रकार बतलाया है इस प्रकार श्रुतमें मिथ्या स्वकल्पित दोपोंका लगाना सो सब श्रुतका अवर्णवाद है ।

अर्थ—सघका अवर्णवाद क्या है ?

हे राजन् पवित्र और सर्वोत्कृष्ट सदाचारको पालन करनेवाले—कुल और जातिसे अतिशय विशुद्ध–त्रिवर्णमें से किसी एक वर्णको अपने शरीरमे धारण करनेवाले शांत–मन और इन्द्रियोंको विजय करनेवाले समस्त दोपोंसे मुक्त ऐसे दिगवर साधुओंको धूर्त–पशुसम शूद्र कहना मलिन बतलाना निर्लज्ज कहना दुःखके पात्र मानना सो यह सब सघका अवर्णवाद है । संघमें असद्भूत दोपोकी कल्पना कर मिथ्या निंदा करना है ॥

अर्थ—धर्मका अवर्णवाद किस प्रकार होता है ? हे मगधेश्वर ! श्रीजिनेन्द्र देवद्वारा प्रतिपादित (अहिंसा

* कितने ही मत मास सेवनादिक अपने धर्मशास्त्रोंमें बतलाते है । तथा कितने ही साधुओंको अपनी स्त्री प्रदान करनेमे पुण्यकी प्राप्ति बतलाते हैं ।

तेहि सर्वेपि चाग्रेहि भविष्यंत्यसुरा. खलु । अतोयं सर्वतो वाह्यः संप्रोक्तो वेदधारिभिः ॥ ८२ ॥
वेदधर्म्मेण सर्वेहि लोका तरति चान्यत । नो तरंति कदाप्येव अस्माद्बाह्या परे मता ॥ ८३ ॥
महति गुणवति चैव तारके भव्यदेहिनाम् । ईदृशे सर्वदेवेन्द्रै पूज्ये धर्मेच्युतोऽमे ॥ ८४ ॥
केवलज्ञानसपन्नै प्रणीते दोषवर्जिते । य पुमान् स्थापयत्येव दोषं पूर्वोक्तसंज्ञकम् ॥ ८५ ॥
धर्मावरणवादाख्यं दोष प्राप्नोति सैव वै । अनंतभवदु खाना कारक मगधाधिप ॥ ८६ ॥
सर्वज्ञोक्तसमं धर्म नो परं भुवनत्रये । मोक्षदं पापहतारं मताऽन्ये दु खदायका ॥ ८७ ॥
पिबंत्येव इमे सर्वे निर्जरा नात्र संशय । मद्य अदति मास च मधु वा चामृतोपमम् ॥ ८८ ॥
होमस्य सकलाते हि साम्ग्रीं स्वात्मतोपदाम् । स्वीकुर्वत्येव रक्तंच सद्योजान च निश्चयात ॥ ८९ ॥

परमो धर्म) अहिंसास्वरूप सर्वोत्तम पवित्र सदाचार विशिष्ट–इन्द्र नरेन्द्र विद्याधरादि त्रिलोकके उत्तम पुरुषोंसे सेवनीय ऐसे पवित्र जैन धर्मको निर्गुण वतलाना अधर्म स्वरूप वतलाना उसके धारण करने वाले मरकर असुर–राक्षस आदि होगे ऐसा असद्भूत दोष लगाना जैनधर्म वेदको नही मानता है अतएव नास्तिक है धर्मबाह्य है ससार के समस्त जीव वेदसेही तरेंगे । अन्य धर्मसे नहीं । इस प्रकार अपने अज्ञान भावोंसे हिंसा (पशुवलि) करने वाले वेदके धर्मको सत्य समझकर परम दयामयी सत्य जैन धर्ममें असद्भूत दोपोकी कल्पना करना और असत् दोपोको अपनी मनोनीत कल्पना से पवित्र जन धर्ममें लगाना सो समस्त धर्मका अवर्णवाद है ।

अर्थ—देवोका अवर्णवाद किस प्रकार होता है ?

हे श्रेणिक देवोंका शरीर वैक्रियक होता है–इस लिए उनके शरीरमें मद्य मांस आदिका कुछ भी सबध नही है । देव स्वय पवित्र होते है । वे मद्य मांसका सेवन नही करते हैं । परतु मिथ्यात्व कर्मके उदयसे ऐसे पवित्र

एषामर्थं च सर्वेहि रचिता जंतवोखिला· । स्वयंभुवा अतो नून होमविधिरपि तथा ॥ ९० ॥
देवार्थं मारयंत्येव ये जीवा तेहि सत्पदम् । प्राप्नुवंत्यत्र संदेहो नास्त्येव तद्धि शर्मणात् ॥ ९१ ॥
होमाग्नौ पतिता येहि वामा वा पुरुषोत्करा । हस्त्यश्वा, सौरभेयाश्च अजावृदा नपुसका. ॥ ९२ ॥
तेहि सर्वे गता नाकलोके शर्माब्धिसभृते । एवा मास च देवाहि स्वीकुर्वंति सदैव हि ॥ ९३ ॥
होमकाले अतो यज्ञविधि प्रोक्त स्वयंभुवा । नास्त्यत्र सशयो नून नानाशर्मप्रदायकम् ॥ ९४ ॥

देवोको मद्यपायी बतलाना मांस भक्षी कहना–मधुसेवी कहना सो देवोका अवर्णवाद है।

इसी प्रकार (देवोके विपयमें) होमके समय देवगण तत्काल काटे हुए बकरा आदि पशुओका रक्तपान करते है। उनका मांस भक्षण करते है। इसीके लिए समस्त जानवर प्राणी बनाए गए है।

जो देवोको प्रसन्न करनेके लिए जीवोको मारकर बलिदान देते है वे सत्पथके गामी हैं। उनको स्वर्गके सुख प्राप्त होते हैं। इसलिए देवोके सामने पशुओको मारकर चढाना यह उत्तम धर्म है।

स्त्री-पुरुषोंके हाथसे होममें पडे हुए हाथी घोडे कुत्ते बकरे नपुंसक मनुष्य और दूसरे प्राणि मरकर नियमसे स्वर्गको प्राप्त होते हैं।

होममें बलि चढाए हुए जीवोका मांस देवगण स्वीकार कर भक्षण करते है । इसीलिए ब्रह्माने गेग्ग जीवोकी सृष्टि निर्माण की है।

इस प्रकार ब्रह्माने जीवोको स्वर्गकी प्राप्तिके लिये होम विधि बतलाई है। और होममें जीवोको मारकर

इत्यादि उक्तितो येहि ब्रुवति तेहि निश्चयात् । लभते दु खदं दोषं देवस्यावर्णवादजम् ॥ ९५ ॥
अदोषे दोषकथनादस्य नुरेभि कर्मभि । मिथ्यात्वाभिधमोहस्य आश्रवा हि भवंत्यहो ॥ ९६ ॥
शृणु चारित्रमोहस्य कारण कथयाम्यहम् । तीव्रभावो भवत्येव कषायोदयतो ननु ॥ ९७ ॥
यस्य तस्यैव चारित्रमोहस्य भवति खलु । बंधो भो मगधाधीश सर्वदु खप्रदायक ॥ ९८ ॥

बलि चढाना बतलाया है।

यदि देवोको जीव मारकर नही चढाये जावें तो देवगण कुपित हो जायंगे । इसलिये उनकी प्रसन्नताके लिये जीवोकी बलि देना चाहिये ।

इस प्रकार पवित्र देवोमें असद्भूत दोषोकी अपने स्वार्थके लिये मिथ्या कल्पना कर अवर्णवाद लगाना सो देवावर्णवाद है । यह अनत दुःखोंको प्रदान करनेवाला है, इसमें संदेह नहीं है ।

अर्थः— इस प्रकार केवली, श्रुत, सघ, धर्म, देवके सर्वथा निर्दोप स्वरूपमें दोष कहना, असद्भूत कल्पना करना सो मिथ्यात्व कर्मका कारण है । अनत ससारको बढानेवाले मिथ्यात्वका आश्रव इसमे होता है ।

अर्थः— हे मगधेश्वर चारित्र मोहनी कर्मके आश्रव बतलाते है — कषायोंके उदयसे परिणामोंमे तीव्र कषाय पूर्वक सक्लेश भावोके होनेसे चारित्र मोहनी कर्मका आश्रव होता है । कषायोका उदय और तीव्र परिणाम चारित्र मोहनी कर्मके बधके कारण है ।

व्रतिना शीलयुक्तानां मुनीनां ब्रह्मचारिणाम् । वृथैव दूषणं दुःख ददात्येवापवादकम् ॥ ९९ ॥

स्वस्य वा हि परस्यैव करोत्युत्पादनं वृथा । कषायस्यैव यो नूनं तथा हि धर्मध्वंसकम् ॥ १०० ॥

मात्सर्यं चैव पैशुन्यं निंदा हास्यं च धर्मिणाम् । शीलव्रतस्य त्यागं हि विभ्रमोत्पादकं तथा ॥ १ ॥

अंतरायं च सद्धर्मकार्ये क्रोधादिकं तथा । संन्यासिजगमादीनां सेवा वा व्रतधारणम् ॥ २ ॥

इत्यादिभिर्नराधीश अस्य जीवस्य निश्चयात् । बंधश्चारित्रमोहस्य भवत्यनतदुःखदः ॥ ३ ॥

अर्थ——व्रती-संयमी-सदाचारी-मुनि-ब्रह्मचारी आर्यिका-श्रावक-श्राविकाओंपर व्यर्थ दूषण लगा देना उनकी निंदा हो और धर्मका प्रभाव घटे ऐसा कार्य या अपवाद प्रकट कर देना धर्मको नाश करनेवाली हंसी या कथा कहकर जीवोंको सन्मार्ग मे हटानेका प्रयत्न करना धर्मात्मा पुरुषोंमे मात्सर्यभाव रखना उनकी चुगली कर उनको सन्मार्ग से गिराने के भाव रखना शीलव्रतोंके धारक पुरुषोंको शीलका माहात्म्य घटानेके अभिप्राय मे विभ्रम

१ कुशिक्षा और विषयोंकी अनर्गल प्रवृत्ति जिस समय उत्पन्न होती है उस समय मनुष्यकी बुद्धिमें कुत्सित स्वार्थके वश दुर्वासना हो जाती है जिससे वह विवेकको भूलकर निर्दोष और पवित्र पुण्यपुरुषोंको अपने समान पापी बनानेका प्रयत्न करता है। उत्तम सदाचारीके गुणोंको उनके सन्मान को उनके आदर्श चरित्र से उत्पन्न हुए निर्मल यशको देखने में असमर्थ होता है इसलिये किसी प्रकार मे उनकी निंदा कर जगतमें उनकी महिमा को न बढने दे इस प्रकारकी धारणासे अनेक प्रकार के दोष असद्भूत दोष-मनोनीत भावोंसे कल्पित कर जगत्के सामने रखता है । परतु इसमें संयमी या पवित्र चारित्रके धारक मुनिगणोंकी हानि नहीं होती है । उनका यश और अधिक उज्वल होकर विश्वव्यापी बनता है । परतु इसप्रकार कुत्सित कर्मसे अपनी आत्माको वह अवश्य ठगकर नरकादि दुर्गतियोंका पात्र बनाता है ।

यस्योदये हि यस्यैव नो भवत्येव श्रेणिक । चारित्रपालने शक्तिश्चाल्पमात्रापि नुर्नेनु ॥ ४ ॥
वधो भवति भो भूप तीव्ररागस्य कारणात । परद्रव्यापहरणात् निश्चल्वैरकारणात् ॥ ५ ॥
मिथ्यादर्शनसंसर्गात शीलव्रतादिनाशनात् । अत्यैव कृष्णलेश्यत्वादत्यंतरौद्रध्यानत ॥ ६ ॥
बालवृद्धपशूनांच वधनान्मारणात्तथा । हिंसादिक्रूरकार्यस्य करणात्प्रेरणात्तथा ॥ ७ ॥
विषयाणामतिगृद्धत्वादनृतस्य च पोषणात । सेवनात्परामाया निशाभोजनकारणात् ॥ ८ ॥
अगालितजलस्नानकरणात् कंदभक्षणात् । मधुमद्यादिमांसानामदनाज्जिननिंदनात ॥ ९ ॥

उत्पन्न कर देना धर्मकार्यमें अतराय कर देना सन्यासी-पाखंडी कपाली और बाह्य पुरुषोंकी सेवा करना इत्यादि सर्व चारित्र मोहनीके आश्रव हैं। हे श्रेणिक महाराज इस कर्मके उदयसे चारित्र पालन करनेकी अल्पमात्र भी शक्ति नहीं होती है।

अर्थ—नरक गति कौन कौन से कार्योंसे होती है ?

हे राजन् तीव्र राग का करना तीव्र मोह युक्त परिणामोको रखना दूसरोंके द्रव्यका अपहरण करना निश्चल वैर बाधना मिथ्यादृष्टियोंका संसर्ग करना ब्रह्मचर्यका नाश करना अथवा दूसरों के ब्रह्मचर्यका नाश कराना कृष्ण लेश्यामय होना-अत्यंत आर्त रौद्र ध्यानका सतत चितवन होना- बाल वृद्ध पशुओंको कोडा आदिसे पीटना अथवा क्षुद्र प्राणियो को मारना-असमर्थ दीन पशुओंको मारना-हिंसादि पाप कार्यों में सतत लगे रहना पापकार्योंकी तीव्र अभिलाषा रखना विषयोंमें अतिशय गृद्धता [विशेष अनुराग] रखना परस्त्री सेवन करना रात्रिमें भोजन करना बिना छाने पानीसे स्नानादि समस्त क्रियायें करना कंदमूलका सेवन करना-मद्यका पान करना-मांस

नर्कगत्यायुपश्चास्य कर्मण पुरुषस्यवै । इत्यादिकर्मतो नूनं सदा दुःखविधायक ॥ १० ॥
वंचनात्परमर्त्यस्य असत्यानंदधारणात् । नीलकापोतलेश्यत्वात सदार्त्तध्यानकारणात् ॥ ११ ॥
लोपनात् सद्गुणानाच इतराणाच कीर्तनात् । अनर्थवचनस्यैव कथनात्परपीडनात् ॥ १२ ॥
करणात् कृत्रिमवस्तोः द्यूतस्याच परस्य वै । लोपनात् वचनस्यैव अन्यथैव प्रजल्पनात् ॥ १३ ॥
मायाकुकर्मभिश्चैव इत्याद्यैर्भवबृददै. । तिर्यग्योनिसम नून दु कर्मान्यो नाह नृप ॥ १४ ॥
तैर्यग्योन्यायुषो बंधो भवत्यस्यैव प्राणिन । अनंतानतदु खाना दायको वा भयप्रदः ॥ १५ ॥
विनीतप्रकृतित्वाच्च परद्रव्यस्य हापनात् । स्वभावभद्रसंभावात् अमूयत्वात्परस्य च ॥ १६ ॥

भक्षण करना शहतका सेवन करना श्री जिनेन्द्र भगवान और उनके पवित्र शासन की निंदा करना, जिन-वाणी में दूषण लगादेना इत्यादि कारणों से नरक गति (नरकायु)का आश्रव होता है।

अर्थ—तिर्यच कौन कौनसे पापोंमे होता है।

हे मगधेश्वर मायाचारी रखना, दूसरोंको ठगना, झूंट वचन वोलना, नील कपोत लेश्याके परिणाम रखना आर्त्तध्यानके परिणाम वनाये रखना दूसरो के सद्गुणोका लोप करना और अपनी अपने आप प्रशसा करना अनर्थकारी वचनोंका वोलना दूसरोको पीडा देना कृत्रिम वस्तुका उत्पन्न करना, द्यूतकर्म करना, अन्य जीवोंको ठगना, मिथ्या प्रलाप करना, मिथ्या प्रजल्प करना, मायाचारसे ठगना इत्यादि पापकर्मोंसे तिर्यच गतिका आश्रव होता है।

अर्थ — मनुष्य आयुका वध कौन कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे राजन् [नम्र स्वभाव रखने । सरल भाव रखनेसे दूसरोंकी द्रव्यकी चोरी अपहरण आदि नहीं करनेसे स्वभावसे भद्रपरिणामी होनेसे अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह रखनेसे मनुष्य आयुका आश्रव होता है।

शोषणात्स्वतनो व्रतध्यानाद्यै शुद्वकर्मभि । अतकाले चासक्लेशभावस्य करणात्तथा ॥ १७ ॥
भाषणान्मिष्टवाक्यानां त्रसजीवादिरक्षणात् । शिकतारेखसमानक्रोधस्य धारणात्तथा ॥ १८ ॥
पट्कर्मपालनाच्चैव मिथ्यादर्शनवर्जनात् । क्रयाणा विक्रयाणा च शुद्धाना कार्यकारणात् ॥ १९ ॥
मिश्रपरिणामतश्चैवाल्पसंक्लेशभावत । जिनेन्द्रपूजनान्नित्य गुरूणा सेवनात्तथा ॥ २० ॥
श्रवणाज्जिनशास्त्राणा लिखित्वा अर्पणाच्च वै । गुरवे स्वस्य हस्तेन वा धनेनोपदेशत ॥ २१ ॥
भवभोगागशर्मादौ उदासीनस्य कारणात् । कापोतपीतलेश्यत्वात्परजीवस्य रक्षणात् ॥ २२ ॥
मानाभावात् मृदुभावादल्पारभस्य धारणात् । तथाल्पपरिग्रहत्वाच्च यथाविनयपालनात् । २३ ॥
इत्यादिकर्मतश्चास्य मानुपस्यैव आयुष । बन्धो भवति भो नून शर्माशर्मप्रदायकं ॥ २४ ॥

सब जीवोंके साथ दया परिणाम रखना, व्रत ध्यानादिकके द्वारा अपने शरीरको कृश करना, उत्तम शुभाचरणोंका पालन करना, अंत समयमें असंक्लेश परिणामोंका रखना मिष्ट हितकारी वचनोंका प्रतिपादन करना, त्रसजीवोंकी रक्षा करना वालूके समान क्रोधके परिणाम होना पट्कर्मोंका पालन करना मिथ्यात्वका परित्याग करना व्यापारमें नीति और श्रेष्ठ निष्ठका रखना परिणामोमें असक्लेशताको धारण करना जिनेद्र भगवानका पूजन करना, गुरुओंकी सेवा सुश्रुषा वैयावृत्य करना जिनवाणी शास्त्रोंका उद्धार करना अपने द्रव्यका जिनशासनकी वृद्धिमें उपयोग करना संसार भोग और देहसे विरक्त भावोका धारण करना पर पदार्थोंसे उदासीन रहना कापोत पीत लेश्या के परिणाम होना समस्त जीवोंकी दया पालना निरहकार भावसे सरस परिणाम व कोमल भावोंका होना गुरुजनोंका विनय करना इत्यादि कार्योंसे मनुष्य आयुका आश्रव होता है।

पालनात् द्वादशाना च व्रतानां धर्मसंग्रहात् । मूलादिगुणव्रताना अगीकारस्य कारणात ॥ २५ ॥
धारणात् स्वेदमलाना वुभुक्षत्वस्य रोधनात् । सहनत्वाच्च तृष्णाया भूशयनस्य कष्टत ॥ २६ ॥
कष्टेन ब्रह्मचर्यस्य धारणात् वदिदुर्गृहे । परितापादिकाना च सहमानादिहाट्टते ॥ २७ ॥
एकदडी त्रिदडीना सन्यासितापसा पुन । तथ परमहसाना परिव्राजादिका पुन ॥ २८ ॥
इत्यादीना च वालाना सदाहिंसादिकारकाम् । परममिथ्यादृष्टीना तपसः सेवनादपि ॥ २९ ॥
कायक्लेशव्रतस्यैव धारणात्कष्टसेवनात । तथाहि शुद्धसम्यक्त्वात नित्येज्याकर्मकारणात् ॥ ३० ॥

अर्थ—देवगतिका आश्रव कौन कौनसे भावोंसे होता है ?

हे राजन बारह प्रकार के व्रतोंका पालन करना धर्मका सेवन करना अठाईस मूलगुणोंका पालन करना आदि उत्तम चारित्र के धारण करनेसे देव आयुका आस्रव होता है। स्वेद मलको धारण करनेवाली दीक्षा लेना भूख प्यास आदि बाधाओंका सहन करना पृथ्वीपर शयन करना वदीगृह आदिके निमित्त से ब्रह्मचर्य पालना अकाम निर्जरा के कारण उत्पन्न करना परिताप–धूप–गर्मी–शीत–आदि बाधाओका सहन करना एकदडी त्रिदडी सन्यासी बाबा आदिके अज्ञान भेषोको धारण कर मिथ्या तपश्चरण करना परमहस परिव्राज बनकर नग्न होकर तपश्चरण करना बाल तप–बाल चारित्र और बाल (हठ) योग ध्यान आदि क्रियाकांड करना हिंसादि क्रूर भाव वाली दीक्षाको धारण कर कष्ट सहना मिथ्या दृष्टियो के मलिन आचरणोंको धारणकर कष्ट सहन करना काय क्लेश का सहन करना कष्ट पूर्वक व्रतोका धारण करना इत्यादि कारणोसे देवगतिका आस्रव होता है।

शुद्ध सम्यग्दर्शन–शुद्ध चारित्र का पालन नित्य भगवानकी पूजादिक शुभ कर्मोंका पालन शुभ भाव–कषा-

इत्यादिहेतुतश्चास्य देवानामायुषो नृप । प्राप्तिर्भवति नुर्नूनं सदाशर्मप्रदायक ॥ ३१ ॥
केचिदेषांन मध्येहि कर्मवशा नरेश्वर । कुदेवयोनिकर्त्तारः केचित्सुदेवदायका ॥ ३२ ॥
पराधीनस्य मृत्यत्वात् बालादितपसस्तथा । अय जीव प्रयात्येव कुदेवयोनिषु सदा ॥ ३३ ॥
महाव्रताणुव्रतत्वात् सम्यक्त्वशुद्धभावत । यात्येव शुद्धदेवाना पदेषु वार्चनादितः ॥ ३४ ॥
शुद्धभावेन संप्राप्तिर्भवत्यस्यैव निश्चयात् । परमशातभावस्य उत्तरेणेतरस्य हि ३५ ॥
सिद्धिर्भवति मोक्षस्य चित्तशुद्ध्याहि अस्य नु । तथाहि इतरत्वेन श्वभ्रनिकोतकन्यवें ॥ ३६ ॥
मत्वेति सकला भव्या दानेज्याव्रतसंचयम् । परिणामस्य संशुद्ध्या कुर्वीत्व च सदैव हि ॥ ३७ ॥

योकी शांतता ध्यानकी प्रवृत्ति सामायिक आदि व्रतोका पालन इत्यादिक कारणोंसे उत्तम देवगतीका आश्रव होता है।

अर्थ—देवोंके भवनत्रिक और कल्पवासी ऐसे दो भेद है। भवनत्रिक सर्व कुदेव कहलाते हैं और कल्पवासी सुदेव (सम्यग्दृष्टी) कहलाते है। पराधीन और परवशसे व्रतोका पालन करनेसे या बालतप (अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोका) तपश्चरण करनेसे कुदेव गतिका आस्रव होता है।

अर्थ—सम्यग्दर्शन सहित शुद्धभावोंके धारण करने से और सम्यग्दर्शन पूर्वक महाव्रत अणुव्रत आदि धारण करने से उत्तम देवायुका वंध होता है। विशुद्ध भावो से उत्तम देवगतिका वध होगा और मलिन भावोसे कुदेवगतिका वंध होगा।

अर्थ—इस जीवको मोक्षकी प्राप्ति सम्यग्दर्शनादिपूर्वक चित्तशुद्धि से होती है। जिनके ऐसी चित्तकी शुद्धि प्राप्त नही हुई है और मिथ्यात्व के उदयसे चित्तकी मलिनता प्रतिसमय मलिन हो रही है ऐसे जीवोको नरक या निगोद गतिका वंध होता है। इसलिये जिस प्रकार हो भावोकी शुद्धि सदैव निर्मल रखनी चाहिये। जिनके भाव निर्मल

भावशुद्धया च यो मर्त्यश्चाल्पमात्रमपि बुधा । दानपूजादि सत्कार्यं करोति सैव निश्चयात ॥ ३८ ॥
लभत्येव वरा पंक्ति शर्मणांच फलस्य हि । अंतरेण विनाचाग्रे जन्मनि जन्मनि सदा ॥ ३९ ॥
योगाना वक्रत्वाच्चैव विसंवादाच्च भो नृप । कुनाम्नश्च भवत्येव अस्याश्रवाश्च कर्मण ॥ ४० ॥
सक्षेपतश्च एतेषा शृणु व्याख्यानमजसा । त्याज्यं संसारभीतैश्च दयार्द्रचित्तधारके ॥ ४१ ॥
कायेनाऽन्यत्करोत्येव वचसान्यद्ब्रवीत्यहो । अन्यद्धि चिंतयत्येव दुर्मनसा सदैव हि ॥ ४२ ॥

नहीं रहते हैं वे व्रत तप करनेपर भी उत्तम फल प्राप्त नहीं करसक्ते हैं। और जिनके भाव निर्मल हैं वे विना व्रत तपके भी सुगतिका लाभ सपादन करते हैं। इसलिये हे भव्यजीवो अपने अपने भावोंको भगवान की पूजा-दान-अभिषेक प्रतिष्ठा महोत्सव जिन धर्मकी प्रभावना आदिसे विशुद्ध वनाओ जिससे भव भवमें उत्तम सुखकी प्राप्ति होती रहे।

कुनाम कर्मका आश्रव कौन कौन से कारणों से होता है ? हे राजन् ! मन वचन कायकी कुटिलता साधर्मि भाइयोंके साथ विसवाद करना इत्यादिक कार्योंसे कुनामकर्मका आश्रव होता है। आगे इसका विशेष खुलासा करते हैं।

अर्थ— कायसे कुछ अन्य कार्य करना वचन से कुछ अन्य ही भाषण करना और मनमें कुछ अन्य ही भाव रखना— [अर्थात् मन वचन और कायकी कुटिलता रखना— मायाचार पूर्वक प्रवृत्ति करना]-सो योगोंकी वक्रता कहलाती है। इस प्रकार योगोंकी वक्रतासे कुनामकर्मका आश्रव होता है।

(मन वचन कायकी कुटिलता) आत्मगत हो तो वह योगोंकी वक्रता कही जाती है। और वही दूसरो के लिये उत्पादिका हो तो उसीको विसवाद कहेंगे।

एवंहि त्रिविधानां च योगाना यस्य वक्रता । भवत्येव हि तस्यैव योगवक्रत्वमुच्यते ॥ ४३ ॥
मता आत्मगतत्वाच्च अस्यैव योगवक्रता । तथा परगतत्वाच्च विसंवादोहि संमत ॥ ४४ ॥
स्वस्य कौटिल्ययोगेन स्वस्मिन् कर्माणि यः पुमान् । व र्तते कुटिलत्वेनैव स्यात्मदु खकराण्यहो ॥ ४५ ॥
सैव प्राप्नोति दोष च योगवक्रत्वमंहदम् । विसंवादस्य भेदोत्र कथ प्रोक्तो द्वितीयक ॥ ४६ ॥
सम्यक् प्रवर्त्तते कश्चित् क्रियासु मनुजोत्तम । परमाभ्युदयदायकेषु हि भद्रभावयुक् ॥ ४७ ॥
पुमांसं वर्तमान तं तत्रैव कोपि दुर्मति । दृष्ट्वा हि मानव स्वस्य विपरीतस्य तस्मिभि ॥ ४८ ॥
मिथ्या प्रेरयति येव माकार्षी भो नरोत्तम । त्वमेव च इदं कार्यं मयोक्त त्व कुरु सदा ॥ ४९ ॥

भावार्थ—अन्य मनुष्य के परिणामो में कुटिलता उत्पन्न कर वाद विवाद करना या अन्यके लिये अपने परिणामोमें कुटिलता लाकर वाद विवाद करना सो विसंवाद है।

अपने मन वचन काय अपने ही (आत्म कार्यके लिये) कार्यके लिये कुटिलताको धारण करे, मायाचार पूर्ण मन वचन कायकी प्रवृत्ति बनी रहे वह योगोंकी वक्रता है। इस प्रकार योगवक्रतासे कुनामकर्मका आश्रव होता है।

अब शका यह होती है कि दूसरा भेद विसंवाद है वह जुदा क्यों बताया है? इसलिये आगे विसंवादका स्वरूप करते हैं—

अर्थ — एक भद्रपरिणामी भव्य जीव श्री जिनागमकी आज्ञानुसार सम्यक् प्रकारसे एक शुभ क्रियामें प्रवृत्त हो रहा है। और शुभाचरणोको पालन कर रहा है। उसकी इस शुभ प्रवृत्तिको देखकर कोई दुष्ट जीव विपरीत भावोंको धारण कर अपने मन वचन कायकी कुटिलतासे कहे या मिथ्या प्रेरणा करावे या मिथ्यामार्गमें (स्व मनकल्पित असन्मार्गमें) लेजानेके लिये मीठी बातोसे समझावे कि, आप यह काम क्या करते हो? यह तो ठीक नहीं है।

इमे कार्या हि दातारो नो शिवस्य कदाप्यहो । कुर्वाणाश्च त्वया नून मया प्रोक्ता हि शर्मदा ॥ ५० ॥
इत्येव नाहि यो भूप मोचापयति यत्नरम् । शुभकार्यात्तथा त च दुर्मार्गे पातयत्यहो ॥ ५१ ॥
सैव तत्कर्मतो नून विसम्वादाभिध नृप । प्राप्नोत्येव महादोषमशुभनामकारकम् ॥ ५२ ॥
मिथ्यादर्शनतश्चैव पशून्यत्वतस्तथा । धारणात्कूटमानाना तुलकायाश्च कूटतः ॥ ५३ ॥
कूटेन परद्रव्यस्य हरणान्मानकारणात् । वचनार्थं परेषा च वेषोज्वलत्वधारणात ॥ ५४ ॥

इससे आपकी हानि होगी । इस कर्मके करनेसे लाभ नहीं है। इस (पूजाभिषेक ब्रह्मचर्यकी रक्षा के लिये दान देनेसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होगी । यह मत करो और मैं बतलाऊ वह कार्य करो जिससे सुख मिले लाभ हो । इस प्रकार उस भव्यजीव को शुभ कार्य से छुडाकर कुमार्गमें पात करादेवे पापकार्योंमें लगादेवे सो विसंवाद कहलाता है ।

भावार्थ-विसवाद का यह अभिप्राय है कि मायाचारको धारण करनेवाले मनुष्योंकी मनकी दुष्टतासे जो स्वार्थ सिद्धिके लिए वचनकी मीठो मोठी प्रवृत्ति और कार्यकी मोहक चेष्टा जिससे सामनेवाला अपने अभिप्रायको नहीं जानकर अपनी बातोंमें और अपनी चेष्टामें फँस जावे और इससे सन्मार्गको छोडकर पाप मार्गमें लग जावे वह विसवाद कहलाता है ।

अर्थ—मिथ्यादर्शन के प्रभावसे अशुभ नामका कर्म आश्रव होता है । चुगली करना-झूठे माप करनेके गज पाली मानी आदि माप रखना कमती बढती तोलना मायाचार से दूसरोंकी द्रव्य हर लेना-दूसरोंको ठगनेके लिये ऐसी सोमायटी बनाना कुशेशके अभिमान से दूसरोको पीडाकारक मंत्र तत्रोंकी रचना करना दूसरोंको ठगनेके

दु मंत्रतत्रयोगेन तथा चूर्णरसेन वै । सौभाग्योत्पादनादन्यद्वशीकरणकार्यतः ॥ ५५ ॥
दावानलप्रदानाच्च इष्टकोच्चयपाचनात् । तदोपदेशानुमोदात्तत्कर्तुः व्यवहारतः ॥ ५६ ॥
आरामखंडनाच्चैव वृक्षाणां लवनात्तथा । वापिकाकूपकासारकरणाद्वास्य कारणात् ॥ ५७ ॥
देवागमगुरूणां च पूजाद्रव्यस्य भक्षणात् । परकुतूहलोत्पादनात्परेषां विडंबनात् ॥ ५८ ॥
क्रोधाद्यानां चतुर्णां च वर्द्धनात्परपापदात् । पापकर्मोपजीवित्वान्महाआक्रोशधारणात् ॥ ५९ ॥
इत्यादिकार्यतो भूरि भवत्यस्यैव आश्रवः । दुर्नामधारकनरि अशुभनामकर्मणः ॥ ६० ॥

लिये ऊंचा भेष धारण करना । झूठे मंत्र तंत्र प्रयोग कर पाप कर्मकी चेष्टा करना पुत्र पौत्र का लोभ देकर दूसरोंकी स्त्रियोंको वश करना दावानल लगाकर बतलाना ईंधनका ढेर लगाकर जलाना (होली बनाकर जलाना) अथवा ऐसे ही पापिष्ट कार्योंकी अनुमोदना करना ऐसा पापिष्ट उपदेश देना कुमार्ग या पापमार्ग में ले जाने वाले मिथ्या लेख लिखना । ऐसे व्यवहार करना कि जिससे कुमार्गकी वृद्धि हो जीव हिंसाके कार्य करना बागबगीचा कटवाना वृक्षोंके जंगलके काटनेका ठेका लेना कुआ बावड़ी तलाव आदि खोदनेका पापारंभ करना या कराना और उसमें धर्म मानना । देवशास्त्रगुरु संबंधी द्रव्यका भक्षण करना दूसरो को कौतूहल उत्पन्न करनेवाले वचन कहना दूसरोंकी विडंबना करना क्रोधमान माया-लोभ कषायोंको बढाना या ऐसे भावोंमें कषायोत्पादक कार्य करना पाप मार्गका उपदेश देना मिथ्या मार्गकी प्रशंसा कर उपदेश देना पापकर्मकी आजीविका बतलाना आक्रोशको धारणकर कुचेष्टा करना काम वासना में मनवचनकायकी कुचेष्टा करना कामके राग से हसना विभ्रम उत्पन्न करना इत्यादिक कुकार्योंसे अशुभ नाम कर्मका आश्रव होता है ।

कारणान् त्वं शृणु भूप शुभनाम्नश्च कर्मण. । तद्विपरीतत्वेनास्यैव आश्रवा हि भवन्त्यहो ॥ ६१ ॥
त्रयाणां चैव योगानां ऋजुभावस्य कारणात् । परेषां सज्जनानां हि अविसंवादनात्तथा ॥ ६२ ॥
साधर्मिजनसंमिलनादत्यंतहर्षधारणात् । अभ्युत्थानस्य करणात् अत्यादरप्रजल्पनात् ॥ ६३ ॥
मायाभावस्य सत्यागात् प्रमादवर्जनात्तथा । परपैशून्यसत्यागात् स्थिरचित्तस्य धारणात् ॥ ६४ ॥
परप्रशमनत्वाच्च आत्मनिंदनकारणात् । जल्पनादसत्यवाक्यान् कूटसाक्षित्ववर्जनात् ॥ ६५ ॥
वर्जनात्परद्रव्यस्य अल्पारंभपरिग्रहात् । सतोषाच्च परेषां वै परस्परविमोचनात् ॥ ६६ ॥
रूपादिमदनिर्नाशात् उज्ज्वलवेषधारणात् । सदस्य नम्रताच्चैव मृदुवचनभाषणात् ॥ ६७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! शुभनामकर्मके आस्रवको सुनो । जो जो कारण अशुभ नाम कर्मके आस्रवके बतलाये है । उसके विपरीत कारण शुभ नाम कर्मके आश्रव हैं । तो भी विशेषतासे स्पष्ट बतलाते हैं । मन वचन काय योगोंकी सरलता परिणामोंकी कोमलता सज्जन पुरुषोंके साथ अविसंवाद साधर्मी भाइयोंके मिलनेपर अतिशय हर्ष भाव सगमी जनोंके संयोग होनेपर खडा होना अन्यत आदरके साथ नम्र भावोंसे वचनालाप करना, मायाचार परिणामोंका परित्याग करना प्रमादका परित्याग करना चुगली और निंदाका परित्याग चित्तकी स्थिरता का धारण करना धैर्यसे धर्म सेवन करना दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करना अपनी आत्मनिंदा करना सत्य वचनोंका संभाषण, कूट कर्कश गुह्य—हास्य—और कामोत्पादक वचनोंका परित्याग झूठी साक्षीका परित्याग करना दूसरों की द्रव्यका अपहरण नही करना, अल्प आरंभ और परिग्रह रखना संतोष पूर्वक शांत भावोसे रहना दूसरोंके वैर भावका परित्याग करा देना जीव मात्रके साथ मैत्रीभाव प्रकट करना । अन्य जीवोंको दुःखो से छुटाना । अपने स्वरूपका अभिमान नही करना । अभिमानका परित्याग करना । ब्रह्मचर्यादि उत्तम भेषका धारण करना सत्य भाषण

संघस्य सेवनाद्धर्मकार्यस्य करणात्तथा । जिनयात्राप्रतिष्ठानां जिनधर्मोपदेशनात् ॥ ६८ ॥
अवशीकरणाच्चैव परसौभाग्यवर्द्धनात् । हास्यत्यागात्परेषां च अकूतूहलकारणात् ॥ ६९ ॥
इष्टकापाकदावाग्नेर्वर्जनात् धनरक्षणात् । निर्मापणात्तथा जैनबिंबाना धातुवस्तुभि ॥ ७० ॥
तत्प्रसादादस्य करणात् जीर्णोद्धारणात्तथा । श्रामणात्तद्रथस्यैव पुरवाह्यवने शुभे ॥ ७१ ॥
तन्नामस्तवनाच्चैव अविड्वस्य धारणात् । चतुर्णां च प्रशमनात् क्रोधाद्यानां सदैव हि ॥ ७२ ॥
अपापकार्यजीवित्वात् परवस्तुविवर्जनात् । परापवादसत्यागात् परुषवाक्यलोपनात् ॥ ७३ ॥
बुभुक्षुसत्वदानाच्च जिनगुणस्य गायनात् । मृगादिपशुजातीना बधनिर्नाशतात्तथा ॥ ७४ ॥

करना , मृदु वचनोका उच्चारण करना चतुर्विध संघकी सेवा करना धर्मकार्य में अत्यंत हर्ष सहित उत्साहित रहना । तीर्थ यात्रादि धर्म कार्योंमें तत्पर रहना श्रीमज्जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमा आदिका प्रतिष्ठा महोत्सव करनेमें समुत्सुक होना । श्रीजिनेन्द्र भगवानके शासनकी वृद्धिके लिये सत्य धर्मका उपदेश करना दूसरोको ठगने के लिये वशीकरण आदि प्रपच नही करना समस्त जीवोको सुखी करनेका प्रयत्न करना । हास्य और कौतूहल का त्याग करना वनमें अग्नि नही लगाना होली इत्यादि हिंसक क्रियाका परित्याग करना जैन मूर्ति निर्माण कर प्रतिष्ठापूर्वक श्रीजिनालय में विराजमान करना जैन चैत्यालय का वनवाना श्री जिनमंदिरकी स्थापना करना श्री जिनागम की वृद्धि और रक्षाके लिये सरस्वतीभवन खोलना गुरुओकी सेवाके लिये वसतिका (मठ) गुफा आदि का वनवाना प्राचीन जीर्णक्षीर्ण श्री जिनमदिर का जीर्णोद्धार करना भगवानका रथ महोत्सव करना जलयात्रा विधान करना अष्टोत्तर कलशों से प्रभु (श्रीजिनदेव) का महाभिषेक करना । अनेक प्रकार के गीत नृत्योके द्वारा भगवानके गुणोंका स्मरण करना रात्रि जागरण कर प्रभुके गुणोका गान स्तुति भक्तिके द्वारा करना हिंसादि पंच पापोंका परित्याग करना

अस्यैव आश्रवाश्चेमे भवंत्येव नरेश्वर । इत्यादिशुभसभावात् शुभनाम्नश्च कर्मण· ॥ ७५ ॥
सदैव शुभनामं च प्राप्नोत्येव अयं पुमान् । एभिः सुकर्मभिर्नूनं सदा शर्मप्रदायकै ॥ ७६ ॥
तीर्थकराभिधो गोत्र अस्यैव परमेश्वर । बध्यते कर्मभि कैश्च निर्लिपाधिपवंदित· ॥ ७७ ॥
षोडशभावनाभिश्च भव्योत्तमस्य अस्य वै । श्रीतीर्थकरगोत्रस्य बधो भवति भूपते ॥ ७८ ॥
तेषा नामानि त्वं भूप शृणु एकाग्रमनसा । अनंतशर्मसदानि सर्वपापाग्नितोयदै ॥ ७९ ॥
सम्यग्दर्शनशुद्धिमहनिकर शैलेति वज्रोपमा—माद्या सर्वव्रतेषु मोक्षसुखदा भव्यैर्नरैं सधृताम् ॥ ८० ॥

क्रोधादि कषाय भावोंको छोडना पाप कार्योंकी आजीविका नहीं करना पशुओंके बधन छुडाकर अभयदान करना दूसरोंका अपवाद नहीं करना भूखोंको अन्नदान देना, दीन, अपगु, अंधा, कोढी, दुःखी जीवोंकी रक्षा करना, जीवोंको पापमार्गसे बचाना, श्री जिनेंद्र भगवानके भक्त साधर्मी भाइयोंकी सेवा सुश्रुषा विनय तथा आदरभाव करना, भोजन पानादिकसे संतुष्ट करना, स्थिरभाव करना वात्सल्य प्रकट करना, जिनमार्गकी प्रभावना प्रकट करना इत्यादिक शुभ कार्योंसे शुभनामकर्मके आश्रव होते है ।

अर्थः— श्रीमत्तीर्थंकर प्रभुका गोत्र कौनसे शुभ कार्योसे होता है ?

हे मगधेश्वर इन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्र आदि समस्त त्रिलोकी जीवोंसे सदैव पूजित पचकल्याणोंके द्वारा जगतमें परमाश्चर्यको प्रकट करनेवाले ऐसे श्री तीर्थकर प्रभुका गोत्र षोडश भावनासे बंध होता है । उनका स्पष्टीकरण विशेष रूपके द्वारा बतलाते है उसको हे राजन् एकाग्र मनसे सुन जिससे पापोंका नाश हो ।

अर्थ—हे मगधेश्वर ! समस्त पापरूपी पर्वतों के नाश करनेके लिये वज्रके समान, समस्त व्रतोंमें मुख्य से सदैव आराध्य समस्त दोषोंसे रहित समस्त जीवोंका उपकार करनेवाली यह दर्शनशुद्धि भावना है । जो

दोषे सर्वविवर्जितां मुनिवरो यो धारयत्येव भो । नूनं सैव लभत्यहो वरमति सद्भावना भुपते ॥ ८१ ॥
यो रत्नत्रयपालकेषु मुनिषु अत्यंतहर्षात्सदा । कुर्यादेव विनाकषायमुद्रा निर्वाणशर्मपदम् ॥ ८२ ॥
नानाशर्मप्रदायकंच विनय प्राप्नोति सैव ध्रुव । सर्वेषु विनयाभिधा मनिनुता सद्भावना श्रेणिक ॥ ८३ ॥
सर्वेषु योहि वत्ते असमगुणनिधि शीलव्रतेषु मौनी । अनतीचारत्वमेवानुदिन सचनेत्रैवशुद्धया नरेन्द्र ॥ ८४ ॥

मुनीश्वर इस पवित्र भावना को परिणामोकी विशुद्धता से धारण करता है वह श्रीतीर्थंकर गोत्रका बंध अवश्यही करता है ।

पच्चीस दोष रहित आठ गुणो सहित निर्मल परिणामो से श्रीजिनदेव जिनागम-और श्रीजिनगुरूका श्रद्धान पूर्वक सम्यग्दर्शनको धारण करना सो दर्शनविशुद्धि है ।

अर्थ—हे श्रेणिक ! रत्नत्रय और रत्नत्रयको पालन करने वाले मुनिजनोकी अतिशय भक्तिपूर्वक और अत्यंत हर्षके साथ निष्कषाय शुद्ध भावोसे विनय करना उनके गुणोंमें आसक्त होना, हाथ जोडकर नमस्कार करना अंतरंग परिणामोंसे अतिशय पूज्य मानना लोकोत्तम शरणभूत और मोक्ष मार्गके हितकारी समझना सो विनय नामकी भावना है । इसमे सर्व सुखकी प्राप्ति होती है ।

देव शास्त्र और गुरुको सत्य सत्य प्रमाणित मानकर आत्महितके लिये सेवा भक्तिपूर्वक विनय करना चाहिये । इसी जिन धर्म जिनचैत्य जिनचैत्यालय धर्मको धारण करनेवाले भव्यजीव आदि की यथा योग्य विनय करना चाहिये ।

अर्थ—हे श्रेणिक ! जो भव्यजीव समस्त व्रतो में अतीचार नहीं लगाता है, मन वचन कायकी विशुद्ध भावना से सम्यक् श्रद्धा पूर्वक पालन करता है और अपने व्रतोको सर्वोत्कृष्ट समझकर निर्मल भावोंसे निस्पृह (निर्वांछा)

अनतीचारत्वसज्ञा परमपददा भावना धर्मवीना । वद्या इन्द्रादिदेवै सकलमलहरा पालयत्येव नूनम् ॥ ८५ ॥
ज्ञानं दोषविवर्जित जिनमुखादुत्पन्नमेव शुभ । पापापापविभेदक रविप्रम त्रेधा विशुद्धया मुनि ॥ ८६ ॥
काले काले सदैव सु पठति य ईदृश धर्मबीज । शुद्धा सैव सुभावनामघहरा ज्ञानाभिधा शर्मदाम् ॥ ८७
संसार दु खमूल बुधजननिकरै सर्वकालेपु हेयं । निस्सारं शर्महीनं सकलविधिकरं पारहीन अभव्यै ॥८८॥

पूर्वक पालन करता है वह समस्त उत्तम सुखोंको प्रदान करनेवाली देवोंसे पूजित शील व्रतेपु अनतीचार नामकी भावना को धारण करता है।

अर्थ—हे श्रेणिक जो भव्यजीव दोष रहित–श्रीजिनद्र भगवानके मुख कमलसे उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञान का मन वचन कायकी विशुद्धिसे कालमें पठन पाठन मनन स्वाध्याय करता है वह ज्ञान भावनाको धारण करता है।

श्रीजिनागमके श्रद्धापूर्वक विशुद्ध भावोंसे पठन पाठन करना सो ज्ञानभावना है। जिनागम ही धर्मका बीज है। पापोंका नाश करने वाला है और आत्मा आदि अमूर्तीक अतीन्द्रिय पदार्थोंको प्रकाशने के लिये सूर्यके सनान है। कल्याण मार्ग इससेही प्रकट होगा। वस्तुका यथार्थ परिज्ञान जिनागम से ही प्राप्त होगा। इस प्रकारके भावोंसे श्रीजिनागमका अभ्यास करना और इसके सिवाय अन्य ज्ञानको ससारका मार्ग समझकर त्याग करना सो ज्ञानभावना है। अपने वालक वालिकाओंको भी जिनागमका अभ्यास सवसे प्रथम कराना चाहिये। अन्य ज्ञानके अभ्याससे बुद्धि मलिन और सस्कार मलिन होते है।

अर्थ— ससार दुःखका मूल है। विचारशील भव्यजीव इस ससारको सर्वथा हेय और निस्सार समझते है। इसमें रच मात्र सुख नही है। समस्त उत्तम कार्योंका नाश करनेवाला है। उसका पार पाना अभव्योसे कठिन

एव चित्ते विचारं सकलविभिदुरं गो मुनिर्भावशुद्ध्या । सैव संवेगसंज्ञा सुभजति नृपते भावनां कुर्वते हि ॥ ८९ ॥
शक्त्यनुसारतोवै सकलसुखकरं पुण्यबीजं सुदानम् । पात्राय यच्छति यः सकलमतिप्रदं शुद्धभावाद्यतेन्द्र ॥ ९० ॥
त्यागाख्या सैव नूनं लभति च नृपते भावना भावशुद्ध्या । अहानां वारनाशे ह्यसुखप्रवहरा वज्रतुल्या सदैव ॥९१
प्रोक्तं श्रीजिननायकैर्मुनिनुतं संसारपारप्रदम् । नानाकर्मविनाशक मुनिवरो य शक्तिलोपाद्वृते ॥ ९२ ॥
पालत्येव विशुद्धितो हि अमलं द्विषट्प्रमं सत्तप । सैव भो मगधाधिप सुतपजा ता भावना सेवते ॥ ९३ ॥
साधूना साधुबुद्ध्या अमलगुणप्रदा य करोति नरेन्द्र । तेषामुत्पन्नविघ्नेनशनतपवशात शीलसद्युतानाम ॥ ९४ ॥

है । ऐसे ससारको अपना हितरूप न समझकर संसार संबंध भोगोपभोगोपर ममत्व भावका त्याग करना और ससार की चाहना मन वचन कायकी शुद्धिसे नहीं करना सो संवेग भावना है । समारसे विरक्तता और आत्मभावना सो सवेग भावना है ।

अर्थ—हे राजन् अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिपूर्वक भावोकी विशुद्धिसे मन वचन काय और द्रव्यकी शुद्धिसे पात्रमें दान देना सो त्याग भावना है । इस प्रकार नित्य ही पात्रमें दान देनेकी उत्कट भावना और अत्यत हर्षित परिणाम त्यागभावना के उत्पादक है । इस प्रकार की भावनास समस्त सुख प्राप्त होते है ।

अर्थ-हे मगधेश्वर श्री जिनेंद्र भगवानने संसारका नाश करनेके लिए और समस्त कर्मोका विध्वंस करनेके लिए अत्यंत पवित्र बारह प्रकारका तप प्रतिपादन किया है। उसको जो यतीश्वर भावोकी विशुद्धिसे अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर धारण करते है वे तपोभावनाका पालन करते हैं ।

अर्थः— हे मगधेश्वर शील संयम व्रत तपयुक्त साधुगणोंके व्रत नियम तपादि अनुष्ठानमें आनेवाले विघ्नोंका दूर करना, अतिशय कठिन पाषाण आदि पर योग धारण करनेपर आये हुए दुस्सह उपसर्गोंके विघ्नोंको दूर कर

योगाना धारणाद्वै अतिकठिनशिलातिष्ठनाचोपसर्गात् । दुष्टाना योगतो वै व्रतयमनियहपालकाना सदैव ॥
राद्धातालापबोधे परमसुखपदे पापसतापहारे । वान्योपायैर्मुनीन्द्र तदुपशमनं भो वाहि विघ्नस्य नाश ॥ ९५ ॥
यद्या पूज्या मुनीन्द्रै शुभगुणपदा भावना मोक्षबीजा । साधुसमाधिसञ्ज्ञा परमहितकरा सैव प्राप्नोति नूनम् ॥
वृद्धाद्याना मुनीना परमगुणवता क्रियते यो मुनीन्द्र । पादादिमर्दनाद्धि सकलसुखप्रदा सैव नृपेन्द्र नूनम् ॥ ९६ ॥
वैयावृत्य च सैव लभतिच शिवदा सर्वव्रतेषु सारा । वैयावृत्याख्ययुक्ता सकलविधिहरा भावना सत्यवचाम ॥
विधीयते गन्धस्नपनादिजाप्य स्तव तथा तद्गुणचिंतनच । श्रीमदर्हता शुभभावशुद्ध्या सदैव काले मुनिमत्तमोहि ॥ ९७ ॥

रत्नत्रय की रक्षा करना । आधि व्याधि और दैवी उपसर्ग आजाने पर संयम और रत्नत्रय की रक्षा करना दुष्ट मनुष्य तिर्यंच और देव आदि से होनेवाले उपद्रवोंसे रत्नत्रय की रक्षा करना मरणादिक भयकर उपद्रव उपस्थित होनेपर शास्त्रों का उत्तम धर्मोपदेश-सम्यग्ज्ञानका सदुपदेश ससारकी निस्सारता आदिका प्रदर्शन कर रत्नत्रयकी रक्षा करना समाधिमरण समय संक्लेश परिणामोसे सद्बोध द्वारा रक्षा करना सो सब साधु समाधि है। इस भावना से आत्मा स्थिर-शात-और आत्म भावनामें तल्लीन रहता है ।

अर्थ—हे राजन् ! वृद्ध बाल असमर्थ रोगी ऐसे परम गुणवान् मुनीश्वरोंकी हृदयसे भक्तिपूर्वक सुश्रुषा पाद मर्दन—आदि अनेक प्रकार से वैयावृत्य करना सो वैयावृत्य भावना है । रोगी मुनियोंको ओषधी (प्रासुक और रोग को नाश करने वाली) प्रदान करना असमर्थ और शीतादिसे पीड़ित मुनियोंको वसतिकादि प्रदान कर वैयावृत्य करना बाल मुनियों को जिस प्रकार धर्ममें दृढता प्राप्त हो वैसे वैयावृत्य करना चाहिये ।

अर्थ—हे राजन् ! जो श्रीमान् जगत पूज्य अरहत भगवानकी प्रतिमाको साक्षात् अरहत मानकर भक्ति-

सैव नरेन्द्र भजते विशुद्धा भक्ति मन पापविभंजकानाम्। तन्नाभजा ता शुभभावनाहि सत्सातदा भव्यनरैः प्रपूज्याम् ॥ ९८ ॥
आचार्याणा करोति परमरुचिवशात्पादपद्मस्य पूजा— । मभ्युत्थान तदासे सन्मुखप्रगमनं सप्रमस्य विधानम् ॥
आज्ञादानंच तेषा पुन प्रणतयो यतीन्द्र त्रिशुद्ध्या । प्राप्नोति भावना स सकलमुनिनुता सूरिभक्त्याल्ययुक्ता ॥ ९९ ॥
शास्त्राब्धिपारगेषु सुमुनिषु मतिमान् यो विधत्तेनुराग । वचनालापैरनल्पै गुणयश कथनैरभ्युत्थानादिकैश्च ॥
सैव बहुश्रुतज्ञा सदा सुखप्रदा भो भूपते भावना । लभते सयमश्री सुभगगुणयुक् द्वापरो नात्र भव्य ॥ १०० ॥

पूर्वक विशुद्ध भावोंसे (मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक) पचामृताभिषेक पूर्वक पूजा करना गुणगान करना स्तवन करना पूजन करना वदन करना अष्टविधार्चन करना आदि समस्त रूपसे श्री जिनेन्द्र भगवानके स्वरूपका चितन करना सो सव अरहत भक्ति है ।

हे राजन् जो हृदयकी विशुद्धि और भक्तिभावनासे आचार्य परमेष्ठीके चरणकमलोंकी पूजा करना आचार्य महाराजको सामने आतेही [देखकर । खडे होजाना हाथ जोडकर विनय से नमन करना उनके पीछे पीछे विनयसे चलना उनकी आज्ञाको शिरसा वंद्य समझकर बहुत सन्मान पूर्वक धारण करना उनका योग्य सन्मान कर सदैव अर्चना करना उच्च आसन देकर अभ्यर्थना करना और उनकी सेवा सुश्रुषा करना सो आचार्यभक्ति है ।

अर्थः— हे राजन् जो समस्त शास्त्रके पारगामी और आगमको जाननेवाले ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीकी भक्ति करता है, उसके बहुश्रुत भक्ति होती है। उपाध्याय परमेष्ठीकी आज्ञाको शिरोधारण करना, विनय करना, सेवा सुश्रुषा करना, हाथ जोडना, नमस्कार करना, मधुर वचनालापसे संतोपित करना, पाद मर्दन करना इत्यादि अनेक प्रकारसे भक्ति की जाती है।

जिसके आगमपर पूर्ण विश्वास है ऐसे भव्य जोव अपना हित आगमसे ही मानकर आगमके ज्ञाता

शुद्धे श्रीमज्जिनोक्ते सकलसुरगणैर्माननीये प्रपूज्ये । भव्याना तारके हि अमलमतिप्रदे तत्वदीपे मनोज्ञे ॥
भूपेदृक्षे करोति मुनि च प्रवचने भावशुद्धयानुराग– । माप्नोति शर्मदां य प्रवचनसुनामजां वरां भावनां स· ॥ १०१ ॥
आवश्यकानि मुनिसत्तमाना यो विभृते पट् शिवदायकानि । काले च काले सकलांहहान्यै त्रिशुद्धितो वै मुनिसत्तमश्च ।१०२
सो भावना संभजते हि आवश्यकापरिहाण्यभिधा विशुद्धाम् । सामायिकाद्यानि सुशुद्धकानि तेषाच चित्तस्य अतो हि कार्या ॥१०३॥

उपाध्याय परमेष्ठीकी पूजा भक्ति कर समस्त सुखको प्राप्त होते हैं।

अर्थः— हे राजन् जैनागम समस्त देव, इद्र, नरेंद्र और गणधरेंद्रोंसे पूज्य है। भव्य जीवोको ससारसमुद्रसे पार करनेके लिये समर्थ है, उत्तम निर्दोप ज्ञानका प्रदान करनेवाला है, जगत उपकार करनेवाला है, समस्त तत्वोका प्रकाश करनेवाला है। ऐसे सर्वोत्कृष्ट जिनागमकी भाव शुद्धिसे श्रद्धा कर भक्ति करना सो श्रुतभक्ति है।

एक श्रुतभक्तिसे जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर मोक्षसुखको प्राप्त होता है। देशनाके विना किसी जीवका हित नही हुआ है। इसलिये जिनागमपर पूर्ण श्रद्धान रखकर आत्मकल्याण करना चाहिये।

अर्थ—हे राजन्! पट् आवश्यक क्रियाओका पालन करना नितांत आवश्यक है। जो भव्यजीव शरीरादिके अस्वस्थ हो जानेपर–और (गृहादिकके) आवश्यक कार्य उपस्थित होनेपर भी पट आवश्यक क्रियाओके पालन करनेमे प्रमादी नहीं होता है वह इस भावनाको पालन करता है।

सामायिकादि पट् आवश्यक कर्मोंको जो अपना मुख्य कर्तव्य समझता है और समस्त कार्योंको छोडकर समस्त प्रकारकी क्रियाओको रोककर मन वचन काय की एक भावनासे पट् आवश्यक कर्मोंका पालन करता है वह इस श्रेष्ट भावनाका आराधक होता है। इस लिये जिस क्रियाका जो समय है उस समय वह आवश्यक क्रिया अवश्य ही करनी चाहिये।

शुद्धत्र ज्ञानयोगात्पुन जिनस्नपनाद्वा चतुर्दानदानात् । विद्यामंत्राद्य नैमित्तिकजिनगृहतीर्थयात्राभिगमनात् ॥
इत्यादिहेतुनावै परममतिप्रयुक् य करोति विशुद्धया । श्रीमज्जिनेन्द्र ग्रेहत्न खलु नृपते सुप्रभाव मनोज्ञम् ॥ १०४ ॥
प्राप्नोति सैव नूनं शिवपदजनका चित्तशान्तिदात्री । मार्गप्रभावनांत जिनवरकथिता धर्मवृद्धि प्रयोगात ॥

अर्थ—हे राजन जो भव्य जीव सर्वोत्कृष्ट जिनागमके ज्ञानके द्वारा समस्त मत मतांतरके असत् (मिथ्या) तत्वोंका खंडन कर सत्य और प्रमाणित अनेकांत स्वरूप तत्वोंका प्रकाश कर जैन शासनकी दृढता करता है वह मार्गप्रभावना प्रकट करता है। अथवा शास्त्रार्थके द्वारा जैन मतकी सर्वोत्कृष्टताका प्रकाशना सो मार्गप्रभावना है।

भगवानकी प्रतिमाका विशुद्ध भावोंसे और उत्तम गीत नृत्यादि पूर्वक पंचामृताभिषेक जलयात्रा प्रतिष्ठा महोत्सव-रथमहोत्सव-और चतुःसंघको दान प्रदानके द्वारा महान प्रभावना की जाती है।

इसी प्रकार मंत्रकी शक्तिसे अनेक प्रकारके चमत्कार बतलाकर धर्मका प्रभाव प्रकट कर समस्त दुर्वादि और जड अज्ञानी जीवोंको सन्मार्ग में लगा देनेसे भी प्रभावना होती है।

इसी प्रकार जप-तप-तीर्थयात्रा-जिनमंदिर निर्माण आदि धार्मिक कार्यों की महिमा प्रदर्शन करनेसे मार्ग-प्रभावना होती है।

अथवा चतुःसंघ (मुनि—आर्यिका श्रावक श्राविका) निकालकर धर्मका उद्योत करने से भी मार्गप्रभावना होती है।

जीवों का अभयदान प्रदान करने से और परोपकार केलिये करुणादान करनेसे भी प्रभावना होती है।

इस प्रकार जैनधर्मकी महिमा अन्य मिथ्यामतियोंमें प्रकट कर देनेसे धर्मका प्रभाव प्रकट होता है। अपनी शक्तिके अनुसार जैनधर्मका प्रभाव प्रकट करना सो मार्गप्रभावना है।

वृद्धया धर्मस्य लोके किमपि न भवति दु खपंक्ति शरीरे । शक्त्यानुसारयोगात्सुमुनिवरगणै सर्वदैव प्रकार्या ॥ १०५ ॥
पुरूपे भूप करोति य सुहृदा स्नेह महानददं । स्ववत्से हि यथा च श्रृंगिणि तथा सद्य प्रसूता मुदा ॥
धर्मे जैनेन्द्रसस्थे भजति प्रवचनवत्सलत्वाख्ययुक्ता । सैव सच्छर्मकारा परमगुणपदा भावना भो मुनीन्द्र ॥ १०६ ॥
एतानि मगधाधिप हृदि सदा जानीहि तीर्थकरस्यैव । तानि षोडश कारणानि सुखदान्येवाहु सुकर्मण ॥
अस्यैवाश्रवकारणानि सकललेखादिवधस्यवै । ससारातपघातकस्य सुमते हे हि भवत्येवच ॥ १०७ ॥
लोपनं सद्गुणानां च इतराणा प्रकाशनम् । एभिर्हि कर्मभि सैव चतुर्भि दु खदायकै. ॥ १०८ ॥
लभत नीचगोत्रंच शृणु त्व वर्णनं तथा । एतेषामेकचित्तेन प्रवक्ष्येहं पृथक् पृथक् ॥ १०९ ॥

धर्मकी वृद्धि–धर्मकी स्थिरता–और धर्मकी महिमा प्रकट होने से यह भावना सर्वोत्कृष्ट है। समस्त पापोंके नाश करने वाली है और समस्त प्रकार के सुखोको प्रदान करनेवाली है।

अर्थ—हे राजन जो भव्यजीव श्रीजिनेन्द्र देवके पवित्र धर्मको धारण करनेवाला है और जिसके देव शास्त्र गुरुका पूर्ण श्रद्धान है उसको अपना धर्मबंधु समझकर गाय और बछडेके समान प्रेमभाव करना उसको सावर्मी भाई मानकर आदर सत्कार करना सो प्रवचनवात्सल्य भावना है।

अर्थ—हे राजन् ! उपर्युक्त दर्शनविशुद्ध्यादि षोडश कारणभावनाए तीर्थंकर गोत्रके आश्रव करने वाली है। देवोसे पूज्य और लोकोत्तम महिमाको प्रदान करने वाली है और संसारके समस्त पापोको नाश करनेवाली है इसलिये भावोंकी विशुद्धिसे नित्यही भावना चाहिये।

अर्थ—हे राजन् ! दूसरोके सद्गुणोको ढक देना। अपने सद्गुणोका प्रकाश करना, दूसरोके मिथ्या दोषोको प्रकट करना और अपने दोषोंको ढक देना इससे नीच गोत्र कर्मका आश्रव होता है जिसका स्पष्टीकरण करते हैं सो

परनिंदाभिधं दोष भजंते परनिंदनात । अयं पुमान् न संदेह अनंतभवदु स्सदन् ॥ ११० ॥
विधीयते च य स्वस्य प्रशंसा परमा मदा । प्रशंसाख्य न दुर्दोषं मेव सभाजने नृप ॥ १११ ॥
ज्ञानसत्तपोयुक्तस्य पूज्यस्य महतस्तथा । परोपकारकर्तुश्च जिनधर्मरतस्य च ॥ ११२ ॥
पालकस्यैव शीलस्य धर्मोपदेशकस्य च । मुन वा श्रावकस्यैव वीतरागमतस्यच ॥ ११३ ॥
इत्यादिसद्गुणानाच धारकस्य नश्यति । सद्गुणान नस्य यो मर्गे पैशुन्यागुणत्राणन ॥ ११४ ॥

एकाग्र मनमें श्रवण करना चाहिये ।

अर्थ—हे राजन् ! दूसरोंकी निंदा करना दूसरे जीवोंके परोक्षरूप अपवाद या मलिन वचन बोलना बुराई करना—उसको निंदा कहते हैं। (समाचार पत्रोंमें भी यह निंदा की जा सक्ती है) मनकी कुटिलता से दूसरोंका अभ्युदय सहन नहीं होनेके कारण उसको गिरा देनेके भाव प्रकट करना सो निंदा है ।

हे राजन् ! जो अपने गुणगान अपने आप करना अथवा अपने में गुण नहीं रहनेपर मिथ्यारूपसे करना अपनी प्रशसा कीर्ति और बढाई के लिये कहना सो आत्मप्रशंसा है ।

अर्थ—सम्यग्ज्ञान सम्यकतप और सम्यक् चारित्र सहित महान पूज्य पुरुष तथा जगतके जीवोंको सन्मार्ग में लगानेवाले श्रेष्ट उपदेशक—श्री जिनधर्मको पालन करनेवाले मिथ्यामार्गका परित्याग करानेवाले शील धर्मको वढाने-वाले ब्रह्मचर्यकी महिमाको व्यक्त करनेवाले धर्मका उपदेश देनेवाले ऐसे मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका—जिनधर्म धारक भव्य जीवोंके उन सर्वोत्कृष्ट गुणोंको धारण करने वालो को मनके दुष्परिणामोंसे ढक देना उनकी प्रशसा और उनका आदरभाव नहीं करना सो सद्गुणोच्छादन नामका दोष है ।

आच्छादयति यो भूप महान् दुर्बुद्धिमण्डित । सद्गुणोच्छादनाख्यच स दोप भजते खलु ॥ ११५ ॥
केनचित्कारणेनैव कस्यैव पुरुपस्य च । किमपि आगत दोष प्रकटं त करोत्यहो ॥ ११६ ॥
असद्गुणोद्भावनच स दोष भजते पुमान् । महादु खस्य कर्तार नीचगोत्रप्रदायकम् ॥ ११७ ॥
चत्वारि खलु कर्माणि एतानि मगधेश्वर । अस्य मलिनगोत्रस्य आश्रवकारणान्यहो ॥ ११८ ॥
भवत्येव पुन त्वं च शृणु अन्यानपि नृप । कारणानस्य सक्षेपात् दु गोत्रकर्मदायकान् ॥ ११९ ॥
करणाद्यातिमदस्यैव कुलरूपमदस्य च । शिल्पिज्ञानबलस्यैव तपश्चैश्वर्यकस्य च ॥ १२० ॥
परेषामपमानस्य चापवादस्य कारणात् । वृथा हास्यैव काणात् परवधस्य दानत ॥ १२१ ॥

गुणोकी प्राप्ति गुणोंमें और गुणी जनोमें अनुराग करनेसे होती है। परन्तु जिस मनुष्यका मन दुष्ट है वह मनकी दुष्टतासे उन गुणी जनोका आदर नहीं करता है और न उन सर्वोत्कृष्ट गुणोको धारण करनेकी भावनाही व्यक्त करता है बल्कि उन गुणोको ढाकता है। ऐसे समय वह सद्गुणोच्छादन नामके दोपको प्राप्त होता है।

अर्थः— हे राजन् किसी एक कारण विशेपसे (अनिवार्य कारण विशेपसे) किसी एक भव्य जीवको कोई भी दोप लग गया हो तो उसको प्रकट कर देना सो असद्गुणोद्भावन नामका दोप है। अथवा मिथ्या दूपण लगाकर प्रकट करना सो भी असद्गुणोद्भावन नामका दोप है। इससे नीच गोत्र कर्मका आश्रव होता है।

अर्थः— हे मगधाधिप उपर्युक्त चार कारण नीच गोत्रके आश्रव करनेवाले है। कुलमद १, जातिमद २, रूपमद ३, शिल्पिज्ञानमद ४, बलमद ५, तपमद ६, ऐश्वर्यमद ७, ऋद्धिमद ८ आदि आठ प्रकारका अभिमान दूसरोका अपमान करना, दूसरोका तिरस्कार करना, वृथा हसना, दूसरोकी हसी कर नीचा दिखाना, दूसरोका वधबंधन

उद्घाटनाद्गुरूणां न पराभवस्य कारणात् । दोषाणां कथनाच्चैव तथापमानकारणात् ॥ १२२ ॥
निर्भर्त्सने पुनस्तेषां भक्तययोदनात्मया । स्तुतकरणाच्चैव अनभ्युत्थानस्य कारणात् ॥ १२३ ॥
इत्याद्या हि नरस्यात्र आस्रवाश्च भवन्ति हि । प्रगाढ नीच गोत्रस्य नीचगोत्रस्य दायका ॥ १२४ ॥
आत्मनो निंदनाच्चैव परेषां च प्रशंसनात् । सद्गुणाच्छादनाच्चैवासद्गुणोद्भावनात्पुनः ॥ १२५ ॥
तथा नीचैर्वृत्तिर्वा्दनुत्सेकाच्च अन्यादि । भवति आस्रवा उच्चगोत्रस्यैव इमे गुणा ॥ १२६ ॥
नीचवृत्तेस्तथा स्वामिन् अनुत्सेकस्य लक्षणम् । किं स्यादि तत्कृपां कृत्वा महाप्रमेवद नृप ॥१२७॥
स्वात्मनो गुणवृद्धेषु ज्ञानाद्यै यो नटः मानव । प्रह्वीभाव करोत्येव नित्यशुद्धया नरेषु हि ॥१२८॥

करना, गुरुओंके दोषोंका उद्घाटन करना पराभव करना, गुरुओंकी निंदा करना, गुरुओंको अवर्णवाद लगाना, अपमान करना, गुरुको देखकर खडे नहीं होना, हाथ नहीं जोडना, नमस्कार नहीं करना, धर्मका अनुराग नहीं करना, धर्मकी निंदा मजाक और हसी करना, श्रेष्ठ आचरणोंकी हसी करना, निंदा करना, चारित्र धर्मका लोप करना इत्यादि अनेक नीच गोत्रके आस्रव हैं ।

अर्थ—अपनी निंदा करना—दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करना अपने गुणोंका आच्छादन करना और दूसरोंके गुणोंको प्रगट करना दूसरोंके दुर्गुणोंको ढांकना अपने दुर्गुणोंको निकालनेका प्रयत्न करना इत्यादि कारणोंसे ऊंच गोत्रका आस्रव होता है ।

अर्थ-हे भगवन् नीचवृत्ति नामक गुणका क्या लक्षण है ? हे राजन् जो अपने से अधिक गुणवान् चारित्रवान्-और सम्यग्दर्शनादि उत्तम गुणोंसे संपन्न हो उसको देखकर हर्ष करना, गुणी और संयमी देखकर प्रमोद भावना प्रकट करना धर्मात्मा भाईको देखकर हर्षित होना, मनकी प्रफुल्लता प्रकट करना- गुरुजन (गुणोंसे वृद्धिंगत) को देखकर

नमस्कारं तथा हर्षादभ्युत्थान सुभाषणम् । उपवेशनं तस्माद्धि नीचस्थानेषु नंददम् ॥१२९॥
नीचैर्वृत्त्यभिध सैव गुणमाप्नोति शोभनम् । नम्रत्वात्सर्वकार्याणा सिद्धिर्भवति निश्चयात् ॥ १३० ॥
ज्ञानसत्तपोयुक्तोपि तथान्यगुणमडित । तथापि नो करोत्येव यो मद स्वात्मनि नृ ॥ १३१ ॥
मेव संभजते नूनमनु सेकाभिध गुणम् । समारवनदावाग्ने सदृश मोक्षशर्मदम् ॥ १३२ ॥
वसि षट्कर्मभिश्चास्य बधो भवति भूपते । उच्चगोत्रस्य मर्त्यस्य नाकमोक्षस्य दायक ॥ १३३ ॥
अष्टाना मदसत्यागात्परेषा मानवर्द्धनात् । अनहास्यैव करणात् मृदुवचनभाषणात् ॥ १३४ ॥
अपग्विादनस्यैव करणाज्जिनपूजनात् । सुपूज्याना नराणा व सत्कारादिककारणात् ॥ १३५ ॥

नमस्कार करना उच्चासन देना हाथ जोडना मिष्ट समापण कर उनके नीचे बैठना दृष्टिको नीचा कर विनयभावसे रहना उनकी आज्ञाको शिरसा वद्य समझना भोजन पान दान सन्मान आदिद्वारा उनकी पूजा करना—स्तुति करना प्रशसा कर उनके गुणोको महान पूज्य मानना सो नीचवृत्ति नामका गुण है।

अर्थ—अपनेमें निर्दोष ज्ञान और उत्तम तप विद्यमान होने पर भी अथवा अन्य चारित्रादि उत्तमोत्तम गुण विद्यमान होनेपर भी अभिमान नही करना और अपने परिणामोको सरल व कोमल रखना-सो अनुत्सेक नामका गुण है। इस प्रकार षट् कारणोसे उच्चगोत्रका आश्रव होता है।

अर्थ—आठ प्रकारके मदोका परित्याग करना, गुणवान् व्यक्तियोका योग्य सन्मान करना उनका आदर भाव—प्रशसा—गुणकीर्तनादि करना दूसरोकी हसी नही करना सदैव मीठे वचन बोलना दूसरोको तिरस्कार करनेके भाव नही करना मुनिजनके स्वभावसे मलिन और रत्नत्रयसे पवित्र ऐसे शरीरको देखकर ग्लानि नही

गुरूणा सद्गुणाढ्यानामनुद्धतप्रवर्तनात् । तेषाच स्तवनादभ्युत्थानस्य करणात्तथा ॥ १३६ ॥
स्थानार्पणाच्च सन्मानविधानाद्गुणख्यापनात् । निवारणात्परेषाच पीडादिकर्मणस्तथा ॥१३७॥
इत्यादयोपि अस्यैव वध्यंते आश्रवाश्च नु । महागोत्रस्य कर्तारि शुद्धभावान्नराधिप ॥ १३८ ॥
तभि सुकर्मभिश्चाय पट्खडपालकस्यच । बलभद्राच्युतस्यैव कामदेवस्य भूपते ॥ १३९ ॥
इत्यादिकस्य संशुद्धे नाना सपद्भिभूषिते । नरोत्तमस्य भो नूनं सद्गोत्रे सुरवंदिते ॥ १४० ॥
उत्पद्यते महाशर्म तत्र भुक्त्वा ह्यनुक्रमात् । निहत्य कर्मसंदोहं तपसा याति सत्पदम् ॥ १४१ ॥
महत्कुलोद्भवा मर्त्या ये भवति शुभोदयात् । सारवीर्यादिसपन्ना तेजसा भास्करोपमा ॥ १४२ ॥

करना श्री जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का नित्य पूजन अभिषेक और इसी प्रकार स्तवन गुणकीर्तन करना पूज्य पुरुषोका सत्कार करना गुरुओंके साथ नम्र भावोसे विनीत स्वरूपमें रहना—उद्धतताका परित्याग करना गुरुओ की पूजा सन्मान प्रभावनाके साथ शुद्ध भावोसे करना अभ्युत्थान प्रणामांजलि करना उच्चासन प्रदान करना उनके गुणोंका यशोगान करना दूसरोंके दु खोको निवारण करना गुरुओको योग्य वसतिका गुफा बनवाकर प्रदान करना और गुरुओंके लिये योग्य औषधी बनाकर प्रदान करना इत्यादिक शुभ कार्योंसे ऊच गोत्रका कर्माश्रव होता है।

अर्थ—इस प्रकार उपर्युक्त शुभ कार्योंसे चक्रवर्ती बलभद्र नारायण कामदेव आदि पदवी धारक पुरुषोंके ऊच गोत्रको प्राप्त होता है। जिस गोत्रम उत्पन्न हुए पुरुषोंकी देवगण भी नित्य सेवा करते हैं और जो लोकमें उत्तम समझा जाता है। जिस ऊच गोत्रको प्राप्त करने पर ही भव्यजीव मोक्ष मार्गके योग्य होता है। ऊच गोत्रके प्रभावसे ही जीव कर्मोका नाशकर मोक्षसुखको प्राप्त होता है। ऊच गोत्रसे जीव महान उत्तम कुल उत्तम जाति और उत्तम

चद्रप्रभसमा कात्या प्राप्नुवत्येव ते तथा । शिवशर्म निराबाधं कर्मातीत च्युतोपमम् ॥ १४३ ॥
पचभिः कर्मभिश्चैव भवति आश्रवोऽस्य नुः । नानादु खप्रदेर्नूनमतरायस्य कर्मण ॥ १४४ ॥
दानस्य चैव लाभस्य भोगोपभोगकस्यच । वीर्यस्यैव करो येन विघ्न स्वस्य कुवुद्धित ॥ १४५ ॥
दातुः पात्रस्य भो भूपास्यवहि बध्यते च यः । स्वात्मनि शर्महतारमतरायाभिध विधिम् ॥ १४६ ॥
यच्छति कोपि पात्राय दानमाहारसंज्ञकम् । वर्जयत्येव त कोपि महाकृपणभावयुक् ॥ १४७ ॥

वशको प्राप्त होते है । जिनको अतुल बल वीर्य प्राप्त होता है । जिसका प्राप्त करना बडा ही दुर्लभ है । जिस कुलमें तेज कातिरूप आदि सर्व आश्चर्यकारी महिमा होती है। और अतमें मोक्षसुखको प्राप्त होते है।

अर्थ—हे राजन्! इस जीवको पाच प्रकार कारणोमे अंतराय कर्मका बध होता है।

दानांतराय—लाभातराय—भोगातराय—उपभोगातराय—वीर्यान्तराय । इस प्रकार पांच कार्यों में विघ्न करना सो इससे अतराय कर्मका बध होता है।

यदि दाता इस प्रकार दानादिक कार्योंमें विघ्न करता है तो दाताको अंतराय कर्मका आश्रय होगा । यदि मात्र इस प्रकार विघ्न करावे तो उसको आश्रव होगा । इसका स्पष्टीकरण आगे लिखा है।

दानातराय —

अर्थ—हे राजन् कोई भव्य जीव किसी पात्रको आहार दान करनेका भाव करता हो या देता हो उसको देखकर कृपणबुद्धि से या दुर्भावो से निषेध करना, अथवा कोई विशेष कारण बतलाकर दान करनेसे रोक देना या कुबुद्धि को धारण कर पात्रकी अयोग्यता (मिथ्या कल्पनाकर) प्रकट कर दान देने में विघ्न कर देना इत्यादि

केनचिद्वा कुबुद्धेन भ्रान्तिमुत्पादयत्यहो । येन तस्यैव दातुश्च मतिर्दाने न जायते ॥ १४८ ॥
दानान्तरायदुःकर्म स लभत्येव मूढधीः । अनेन कर्मणा तस्य दानाप्तिर्नो भवत्यहो ॥ १४९ ॥
लाभाप्तिर्जायते कस्य विघातार्थं न तस्य वै । कुबुद्ध्या यः करोत्येव लाभस्यैव विनाशकम् ॥ १५० ॥
बध्यते सैव दुःकर्म लाभान्तरायसंज्ञकम् । अनेन विधियोगेन लाभाप्त्यस्यैव नो भवेत् ॥ १५१ ॥
भोगवस्तो करोत्येव वियोगं यो हि मानव । कस्यैव पुरुषस्यैवासहमानस्तदोदयम् ॥ १५२ ॥
भोगान्तरायसंज्ञं च सैव दुःकर्म दुःखदम् । परजन्मनि प्राप्नोति संशयो नात्र भूपते ॥ १५३ ॥

कार्यों से दानांतराय कर्मका आश्रव होता है जिससे जीवोंको सब कुछ साधन मौजूद होनेपर भी दान देनेके भाव नहीं होते हैं या दान देनेका नियोग नहीं प्राप्त होता है।

अर्थः— जिस किसी जीवको धनादिक वस्तुका लाभ प्राप्त हो, व्यापारादिकके द्वारा धन प्राप्त होता हो तो कुबुद्धि या दुर्भावनासे उसके लाभ प्राप्तिमें विघ्न कर देना या उस लाभको ही नष्ट कर देना अथवा ऐसे व्यापारको किसी प्रकार जानकर स्वतः उसका फल (लाभ) लेकर उसको लाभसे वंचित रखना सो इससे लाभान्तराय नामका कर्म बंधता है। जिससे जीवको लाभ प्राप्तिका योग नहीं होता है।

अर्थ - हे राजन् ! जो मनुष्य दूसरोंके भोग वस्तु की प्राप्ति में विघ्न करे अथवा किसीको भोग प्राप्त होते हों तो उसको नष्ट करदेना भोगोंको भोगने में विघ्न करदेना भोगने नहीं देना इससे भोगांतराय नामका कर्मबंध का आश्रव होता है।

उपभोगस्य सद्वस्तो नाशं करोति य कुधी । कस्यैव सैव भो नूनमग्रजन्मनि जन्मनि ॥ १५४ ॥
लभते उपभोगांतरायाख्यं शर्मनाशकम् । कुकर्म मगधाधीश परोपभोगवर्जनात् ॥ १५५ ॥
केनचित्कारणेनैव कोपि कस्यैव भूपत । नाशं करोति वीर्यस्य नानादुःखप्रदायकम् ॥ १५६ ॥
वीर्यान्तरायसंज्ञञ्च विधिंच बध्यते खलु । सैव संसारकांतारभवभ्रमणकारकम् ॥ १५७ ॥
यात्रादिधर्मकार्येषु कृपणत्वान्नराधिप । कारणाद्दाननिंदाया देवनैवेद्यभक्षणात् ॥ १५८ ॥
जिनकोशस्थवित्तस्य क्रयविक्रयकारणात । तदशनाल्लोपनाच्चैव धारणाद्वाहि स्वापणे ॥ १५९ ॥
छेदनाज्जिनधर्मस्य परविश्वासघातनात् । अधर्माचरणाच्चैव वञ्चनाद्बधनात्तथा ॥ १६० ॥
कर्त्तनाच्चैव जिह्वाया विपरयचैव दापनात् । अवकोत्पाटनाच्चैव तथातंकविवर्द्धनात् ॥ १६१ ॥

अर्थ—हे राजन्! उपभोग वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न करना दूसरोंको उपभोगोंके भोगने में विघ्न कर देना उपभोगोंको नष्ट कर देना सो इससे उपभोगान्तराय नामका कर्मका आश्रव होता है।

अर्थ—किसी कारणसे या दुर्भावोसे किसी जीवके वीर्यका नाश करना उसकी शक्तिका न्हास करना या लोप कर देना इससे वीर्यांतराय नामका कर्मबंध होता है। यह वीर्यांतराय संसारके भ्रमण करानेमें मुख्य सहायक है।

अर्थ—हे राजन् यात्रा-प्रतिष्ठा-रथमहोत्सव जिनमंदिर निर्माण आदि धर्मकार्योंमें विघ्न करना। कोई प्रतिष्ठादि करता हो तो उसको रोकना " अभी प्रतिष्ठा व प्रतिमा बहुत होगई अब जरूरत नहीं " इस प्रकार प्रलोभन या दुर्भावोसे उत्तम प्रतिष्ठादिक कार्योंमें विघ्न करना, कृपणतासे धर्मकार्य नही होने देना, देवकी पूजाके लिये अर्पण किया हुआ धन जमीन आदि द्रव्यका भक्षण करना। ये सब अंतरायके कारण है।

इत्याद्या आश्रवा भूप अंतरायस्य कर्मण । भवति सर्वमर्त्यानां शर्मान्तरायकारका ॥ १६२ ॥
सदैव एभि भो भूप अस्य नु. चाष्टकर्मभि । वध्यते कर्मणो वंधा शर्माशर्मप्रदायका ॥ १६३ ॥
सातासिश्चैव दु खानि यतद्धि प्राणिना नृप । जायते नात्र संदेह शुभाशुभैककर्मणा ॥ १६४ ॥
मृते भर्तरि या नारी व्यभिचारं करोत्यहो । तथा भरणवस्त्राद्यै. बहुमूल्यात्समुद्भवे ॥ १६५ ॥

अर्थ—तीर्थ-जिनमदिर-जिनशास्त्र भडार और जिनायतनो के भंडारका भक्षण करना । जिनधर्मका ध्वस जिनमूर्ति का खंडन करना । जिनधर्मका विश्वास (सत्यता) का लोप करना पवित्राचरणोंका नाश करना अधर्माचरणोको वढाना वध वधनादि हिंसा कार्योंकी वृद्धि करना दूसरोकी नाक काटना जिव्हाका छेदन करना, विना प्रयोजन वृक्षोका छेदन कराना गुह्य अगोका छेदन भेदन करना इत्यादिक वहुतसे कारणोंसे अतराय कर्मका आश्रव होता है ।

हे राजन् ! इस प्रकार आठ कर्मोंके आश्रव बतलाये हैं इनमें कितने ही पुण्योत्पादक है और कितनेही पापोत्पादक है । जीवोको शुभाशुभ कर्मोंसे सुखदुःख प्राप्त होता है ।

अर्थ—विधवा स्त्री व्यभिचार सेवन करे । अथवा व्यभिचार सेवन करनेके कारणो (पुनर्विवाह) को धारण करे । शरीरपर सुदर मनको लुभानेवाले वस्त्राभूषण पहने बहुमूल्य साडी पहने । शरीरका शृंगार करे । केशो की रचना करे नेत्रमें सुरमा आदि लगा कर कामोत्पादक वेशको वनावे । भड राग को गान करे ऐसा कि जिससे ब्रह्मचर्य नष्ट होजावे। पुष्ट रसोसे अपने शरीरको कामोत्पादक योग्य वनाये रखे। या पुष्ट रसभोजन पान सेवन कर कामोत्पादक बनावे । दूसरो की निंदा और अपनी प्रशंसाके गान करे । मायाचार और मानको धारण कर धर्म धारण करनेका ढोढ वतलावे । कुकथा और कुशिक्षाका ऐसा पठन पाठन और अभ्यास करे कि जिससे काम-

नेत्राणा नंददैश्चैव भूषयत्येव स्वतनो । नेत्राजन करोत्येव केशादिमडन तथा ॥ १६६ ॥
गायति भडराग च ब्रह्मचर्यविनाशकम । तथैव पोषयत्येव शरीरं च रसात्करै ॥ १६७ ॥
परनिंदात्मशसा च मायामान च स्वात्मनि । कुकथा प्रकरोत्येव कुशिक्षा कामवर्द्धका ॥ १६८ ॥

वृद्धि हो व्यभिचार की वृद्धि हो । अथवा मिथ्या शास्त्रोका पठन पाठन करे जिससे कि सदैव कुबुद्धि बनी रहे और कुमार्ग (धर्मलोप करनेके मिथ्यामार्ग) की वृद्धिकी वासना बढे इत्यादि कारणोसे स्त्री मर कर भवभवमें जन्म जन्मांतरो में विधवा होती है क्यो कि उसने अपने धर्माचरण वैधव्य दीक्षाका नाश किया ।

विधवा स्त्रीका वैधव्य दीक्षा देना ही जरूरी है धर्म शास्त्रोमे विधवाके लिये वैधव्य दीक्षाका विधान बतलाया है । वैधव्य दीक्षाको धारण कर वह केशका उत्पाटन-श्रृंगारका त्याग-सुंदर वस्त्र जिसे सौभाग्यशाली स्त्रिया पहनती है उनका त्याग करना पडता है ।

असलमें जो स्त्री वैधव्य दीक्षाको धारणकर सयमसे धर्माचरण पूर्वक रहती है वह एक प्रकारकी घरमें रहने वाली आर्यिकाके समान है परम साध्वी है । उससे समस्त कुटबको शीलकी शिक्षा प्राप्त होती है वह सबको पवित्र आचरण सिखलाती है और शीलकी रक्षा और माहात्म्यका आदर्श जगतके सामने रखकर स्त्री समाजका और अपना कल्याण करती है । किंतु जो विधवा वैधव्य दीक्षाको स्वीकार न कर शृगार करती है उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण पहनती है और ऐसी कुशिक्षा प्राप्त करती है कि जिससे व्यभिचार बढे और धर्माचरण का लोप हो शील (ब्रम्हचर्य) व्रत नष्ट हो जावे । ऐसी ही विधवायें धर्मका लोप कर केवल व्यभिचार बढाती है ।

पठति पाठयत्येव मिथ्याशास्त्रं कुबुद्धिदम् । इत्यादिकर्मभि नारी निर्धवा च भवं भवं ॥ १६९ ॥
भवति शोकसयुक्ता धर्माचरणविघातनात् । अतिनिर्दयभावेन स्वपतिं मारयत्यहो ॥ १७० ॥
भुक्त्वा तं सेवते चान्यं जीवंत स्वपतिं खला । पापाचार सदा पालयत्येव धर्मवर्जिता ॥ १७१ ॥
कर्मणामितरत्वेन एतेषा साहि भूपते । शीलव्रतान्विता चाग्रे जन्मनि जन्मनि तथा ॥ १७२ ॥

कुशिक्षाका फल—

असलमें व्यभिचार की जड कुशिक्षा है, कुशिक्षा के प्रभाव से विधवा स्त्रियें ब्रह्मचर्य की मर्यादाका परित्याग कर निर्लज्ज बनकर व्यभिचार में प्रवृत्त हो जाती है और उसको निर्भरर्म कर तथा धर्मका लोप कर पुनर्विवाह के द्वारा व्यभिचार बढाती हैं।

कुशिक्षा से सब कुछ हो जाता है कुशिक्षा से समस्त मार्ग खुले हैं। और कुशिक्षाका परिणाम सबसे प्रथम धर्म लोप—तथा ढीट बनना है।

अर्थ—हे राजन्! कुशिक्षासे स्त्री अपने पतिको सजीवन अवस्थामें अतिशय निर्दय भावोसे मार डालती है। अथवा जीवित सुंदर पतिको छोडकर भग जाती है। दूसरोको पति बना लेती है। यह पापाचार कुशिक्षाके प्रभावसे धर्मका नाश करनेवाला होता है।

अर्थ—ऊपर जितने कारण विधवा होनेके बतलाये हैं उनसे विपरीत कारण सधवा होनेके जानना चाहिये। जो स्त्री शीलव्रतका पालन करती है श्री जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका श्रद्धान कर अपना आचरण आगमके अनुकूल रखती

भवति नात्र संदेहो नानाशर्मविमडिता। अत्ययात्येन सधवा महासौभाग्यमडिता ॥ १७३ ॥
वित्तागनाश्च मृत्वाहि शीलहीना भवंत्यहो । सदैव कामदेवस्य क्रीडाशक्ता मदोद्धता ॥ १७४ ॥
म्लेच्छोत्पंना नरा नार्यः मृत्वाहि मगधेश्वर । भवंति व्रतहीनाश्च इमे वामाश्च मानवा ॥१७५॥

है । वैधव्य दशा प्राप्त होनेपर वह वैधव्य दीक्षा धारण कर ससार देह भोगो से उदास रहती है । न शृंगारादि कामोत्पादन दुष्ट कार्योंको करती है वह भवभवमें सधवा होती है । महान् सौभाग्य उसको प्राप्त होता है ।

अर्थः—वेश्यायें जो व्यभिचारका धंदा फैलाकर शीलसे रहित होती हैं वे मरकर पर जन्ममें शीलविहीन मदोद्धता[1] अनत पापोको सेवन करनेवाली और समारमें परिभ्रमण करनेवाली होती हैं ।

अर्थ—जिनके यहां पुनर्विवाहादि मलिन आचरण हैं जिनको उत्तम व्रत धारण करनेकी योग्यता ही नहीं प्राप्त होती है उनको म्लेच्छ वा शूद्र कहते हैं । शूद्रोको शीलव्रत किसी प्रकार भी पालन नहीं हो सक्ता है । क्योंकि उनके यहां उनकी जातिमें पुनर्विवाह होता है । पुनर्विवाह व्यभिचार है । व्यभिचार करनेवालोंके शीलव्रत हो नहीं सक्ता है । शीलव्रतके अभावसे अन्य व्रतोंका पालन भी परिपूर्ण नहीं होता है । अतएव ऐसे जीव मरकर व्रतविहीन होते हैं ।

---

१ म्लेच्छ व शूद्र जो स्त्रीका पुनर्विवाह करते हों अतएव व्यभिचार जिनके सुतरां होता है व्रत होनेकी योग्यता उनको नहीं प्राप्त होती है । शीलव्रत धारण करनेका जिनको अवसर ही प्राप्त नहीं होता है ऐसे म्लेच्छ जीव मरकर व्रतविहीन अनत संसार के बढानेवाले पापी होते हैं ।

भूत आतमभूतमेव ह्यखिल ससारतापापहं । वीरो वीरगुणाकरो मुनिनुतो वृतातमेवाजसा ॥
आयु:कायसुमारवैभवयुतान पुण्योदयात सत्सुखान् । मर्त्यांना च पृथक्पृथक् जिनपति त्रिषष्टिकाना शुभम् ॥१७६॥
योगणाश्च तथाहि अन्यमनुजाना च चरित्रं महत । तत्वातत्वविभेदकं च स्मरतो मोक्षस्वरूप तथा ॥
कृ्‍त्स्न च जिनेश्वरो ह्यवहरो व्याख्यानक चोत्तम । मोक्ष ह्याप दयार्द्रधी जितरिपु सर्वाधिपैर्वंदित ॥ १७७ ॥
इत्थ कर्णसुनपदा मुनिवरैर्वद्याच मोक्षप्रदाम् । श्रीतीर्थंकरवक्त्रजामघहरा श्रुत्वा गणास्तेऽखिला ॥
वाणीमानुमनदाच वै निरुपमा सन्देहवृंदापहा । मोद मोदकरा सुरासुरगणै पूज्याच पुण्योदयाम् ॥ १७८ ॥

अर्थः— हे मनुष्येश्वर जो कुछ ससारमें जितना वृत्तात हो गया है, आगे होगा और वर्तमानकालमें हो रहा है वह सब वीर प्रभु अपने दिव्य ज्ञानसे परिपूर्ण यथार्थ रूपसे जानते हैं। इसी लिये वीर प्रभु सर्वज्ञ वीतराग और त्रिलोक वदित हैं । मुनिगणोसे पूज्य हैं । जो मनुष्य वीर प्रभुके वचनोका श्रद्धान कर उनको ही अपना ध्येय समझता है, अपना कर्तव्य मानता है वही आयुः काय भोग सपदा आदि उत्तमोत्तम सामग्रीको प्राप्त कर महान् पुण्यका सपादन करता है। वह पुण्य त्रिषष्टि पुरुषोके चरित्रादिकोका श्रवण करनेसे सपादित होता है।

अर्थ— श्री वीर प्रभूने त्रिषष्टी शलाका पुरुषोका पुण्योत्पादक जीवन चरित्र, तत्वातत्वका विवेचन मोक्षका स्वरूप आदि समस्त पदार्थोका व्याख्यान समोशरण में दिया । वे दयालु भगवान् सदैव जयवत रहो ।

अर्थ—इस प्रकार मुनिगणोंसे भी पूजित समस्त प्रकारके सुखोको प्रदान करनेवाली— समस्त पापोका नाश करनेवाली निरुपम-समस्त सदेहोंको विनाश करनेवाली समस्त जीवोको आनंद प्रदान करनेवाली महान् पुण्योदय से प्राप्त होनेवाली ऐसी वीर प्रभुकी मनोहर श्री जिनवाणीको प्रभुके मुखकमल से श्रवण कर समस्त गणधर देव प्रसन्नताको प्राप्त हुए ।

केचिद्भव्यास्तदा भीत्वा समागशर्मत खलु । स्वीचक्रु जिनमुद्राञ्च श्रावकाचारज व्रतम् ॥ १७९ ॥

दानेच पूजने केचित मतिं चक्रु शिवाप्तये । दिनाभिषेकनियम पचामृतरसोत्करै ॥ १८० ॥

निशाया भक्षणस्यैव त्यागं चक्रुश्च केचन । स्वस्त्रिया नियम केचित् पर्वण्या चाग्रशर्मणे ॥ १८१ ॥

अष्टान्हिकविधि केचित् कर्मा ददहनं व्रतम् । रत्नत्रयव्रतं केचित जग्रहु कनकावलिम् ॥ १८२ ॥

पचकल्याणनामापि पचकल्याणदायकम् । पल्यास्य व्रतमुल्यच केचिच्च जग्रहुस्तदा । १८३ ॥

समेदाचलयात्रार्थं मतिं चक्रुश्च केचन । दुष्टाष्टविधिनाशार्थं शुद्धभावेन मडिता ॥ १८४ ॥

श्रेणिकोपि नराधीशो भाविनीर्थकराग्रणी । शुद्धसम्यक्त्वभूषाढ्यः वीरनाथस्य भाक्तिक ॥१८५॥

महावीरस्तवकाले भावनामास भावनाम तथा यात्रावृताडीना स्वहृदि शुद्धभावत ॥ १८६ ॥

अर्थ—वीर प्रभुकी दिव्यध्वनि श्रवणकर कितने ही भव्योने ससारके दुःखोसे भयभीत होकर श्रीजिनदीक्षा धारण करली। श्रावकाचारके व्रतोको धारण किया । कितनोने दान करनेकी प्रतिज्ञा ली कितनोने जिनपूजनका नियम ग्रहण किया । कितनोने पचामृतसे नित्य जिनाभिषेक करनेका नियम लिया । रात्रिमें भोजनका त्याग कितनोने किया। स्वदारसतोष नियम पालन करनेकी प्रतिज्ञा बहुतोने ली । ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया । कितने ही जीवोने अष्टान्हिक रत्नत्रय–कर्मदहन पल्यव्रत-पचकल्याणव्रत कनकावलि–द्विकावलि मेरुपक्ति आदि व्रतोको पालन करनेका नियम लिया । श्री समेदाचलकी यात्रा चतुर्विध सघ सहित करनेका पुण्यकार्य कितने ही भव्यजीवोने स्वीकार किया ।

इस प्रकार शुद्ध भावोसे मडित भव्यजीवोने श्री वीर प्रभुकी दिव्य ध्वनिको श्रवण करके दुष्ट अष्ट कर्मोको नाश करने के लिये विविध प्रकारका चारित्र धारण किया ।

अर्थ—भावि तीर्थंकर ऐसे श्रेणिक महाराजने श्री वीर प्रभुकी भक्तिसे शुद्ध सम्यक्त्व से अपनेको विभुषित

इत्याद्यं धर्मसंदोहं स्वस्वशक्त्यनुसारत. । गृहीत्वा सह भूपेन ययुस्ते स्वपुरे मुदा ॥ १८७ ॥
चेलनाद्या· प्रियास्तस्य वारिषेणादय· सुताः । नागरा भव्यभावाढ्याः तेषां वामाश्च नंदना ॥ १८८ ॥
इत्याद्याः सकला भव्याः व्रत तं कर्मनाशकम् । यथोक्तविधिना चक्रु कर्मादिदहनाभिधम् ॥ १८९ ॥
राज्ञ· सजायते भव्या धर्मोत्पत्तिर्न संशयः । यत्र राजा च धर्मात्मा भवत्येन प्रजापिच ॥ १९० ॥

किया और जो देशना (धर्मोपदेश) वीर प्रभुने दिया था उसकी भावना की तीर्थ यात्रादिको की भावना की। इस प्रकार धर्म श्रवणकर समस्त भव्यलोक अपने अपने स्थानको गये।

अर्थ—श्रेणिक महाराजकी चेलना आदि महादेवी वारिषेण आदि राजकुमार और नगरके समस्त नरनारी गणने इस कर्मदहन व्रतको यथोक्त विधिसे धारण किया।

अर्थ—इस प्रकार श्रेणिक महाराजकी धर्म भावना को देखकर समस्त प्रजा धर्ममय बन गई। नीति है कि राजा धर्मात्मा होने से प्रजा भी धर्मात्मा होती है क्योंकि राजाके भले बुरे आचरण प्रजा सीख लेती है।

धर्मकी वृद्धि और धर्मकी मर्यादा राजाओंमे ही स्थिर रह सक्ती है। क्योंकि राजगण दंड आदिके द्वारा प्रजाको अनीति और असदाचार (अधर्म) से रोक सकते हैं। राजाओंकी आज्ञा समस्त प्रजाको पालन करनी ही पड़ती है। राजाकी आज्ञा धर्मरूप—नीतिसे पूर्ण होगी तो प्रजा भी वही नीति वही धर्मव्यवस्था सांगोपांग स्वीकार करेगी।

वर्तमान में वर्णव्यवस्था लोप विधवा विवाह स्पर्शास्पर्श लोप—समान हक—आदि समस्त धर्मविरुद्ध नीतिविरुद्ध मर्यादाविरुद्ध—वार्तोको धर्म नीति और कर्तव्य बतलाया जारहा है यह सब राजा और राजाकी ऐसी ही कुशिक्षाका फल है। यह बात सच है कि यथा राजा तथा प्रजाः।

इमा च महिमां मत्वा बुधा व्रतस्य चास्य वै । कुर्वीध्व सद्व्रतं चेमं तूर्णमेव शिवप्रदम् ॥ १९१ ॥
जिनवक्त्रोद्भवा वृता इमे सर्वे नरोत्तमाः । विधिना क्रियमाणाश्च शिवशर्मप्रदायकाः ॥ १९२ ॥
शास्त्रोक्तविधिना व्रतमेकमप्येव ये नरा । करिष्यति भजिष्यंति मोक्षसौख्यं न संशय ॥ १९३ ॥
मातंगाद्याश्च ये मर्त्या शुद्धैकव्रतपालनात् । सुखमाप्ता अतो भव्या बहुभिः कारणं च किम् ॥ १९४ ॥
कर्तव्यं यत्न भो भव्या निरारंभेण तद्व्रतम् । आरंभेणैव संयुक्ता इमे हि भवदायकाः ॥ १९५ ॥
कृत्वा चैवोपवासं च आरंभं य करोत्यहो । गजस्नानसमं शर्म प्राप्नोति सैव मानव ॥ १९६ ॥

अर्थः— हे राजन् कर्मदहनकी महिमा अपरपार है। इस प्रकार जो भव्य जीव इस महिमाको सर्वोत्कृष्ट और परम दुर्लभ समझते हैं वे मोक्षको प्रदान करनेवाले इस व्रतको भावोंकी विशुद्धिसे करें। हे भव्य जीवो ! यह व्रत श्री जिनेन्द्र देव भगवानके मुखकमलसे प्रकाशित है। इसलिये जो भव्य जीव शास्त्रोक्त विधिसे इस व्रतका पालन करते हैं वे मोक्षसुखको प्राप्त होते हैं।

अर्थः— हे भव्य जीवो, मातंग आदिक अनेक भव्य प्राणी इस व्रतके माहात्म्यसे सुखको प्राप्त हुए है तो आप लोगोंको भी निःसंदेह भावसे शुद्ध व्रत पालन करना चाहिये।

अर्थः—समस्त प्रकारके हिंसक और मोहोत्पादक आरंभोंका परित्याग कर व्रतोका परिपालन करना चाहिये। जो उपर्युक्त प्रकारका आरंभ कर व्रतोंका पालन नहीं करता उसके संसारके मार्गकी वृद्धि होती है।

अर्थः— इस प्रकार जो मनुष्य आरंभ सहित उपवास करते हैं उनके व्रत सुख प्रदायी नहीं होते है। गजस्नानके समान उनकी क्रिया हैं।

अथ श्रीमज्जिनाधीशो महावीर सुरार्चित । विहारं कृतवान् आर्ये वर्षे भव्यनैर्भृत ॥ १९७ ॥
तर्पयतिस्म तान् भव्यान् वचनामृतवर्षणै । मिथ्यातमो हि तेषाच वाग्मयूखैर्विघट्टयन् । १९८ ॥
स्थापयन् श्रीजिनेन्द्रोक्तं सद्धर्म मोक्षदायकम् । उत्थापयन् कुधर्मच भवसततिदायकम् ॥ १९९ ॥
एव कृतेच भव्यौघा· तद्वदनेन्दुजं वरम्·। गद्धान्तामृतमत्पानमितरेषाच दुर्लभम् ॥ २०० ॥
जहुरनादितो लग्न भवाकूपारवर्द्धकम् । मिथ्या विष महाक्रूर शर्मलेशविनाशकम् ॥ २०१ ॥
ततश्च जग्रहु· शुद्धसम्यक्त्वं भवनाशकम् । यस्यैव धारणात्सर्वे तरंति भवतो नरा ॥ २०२ ॥
याता याति तथा भव्याः यास्यंति शिवसत्पदे । अस्यैव पालनात्कोपि अन्योपायो हि नो बुधा ॥२०३॥

अर्थ—इस प्रकार त्रिलोकगुरु श्री वीर भगवानने अपने वचनामृतसे समस्त भव्य जीवोंको परम सतोष करते हुए अपने वचन किरणोसे जगतके निबिड मोहाधकारको नाश करते हुए श्रीमज्जिनेन्द्र देवके अनादिनिधन जैन धर्मको समस्त जगतमे स्थापन करते हुए तथा कुधर्मोंका नाश करते हुए भारत क्षेत्रके आर्यखडमें विहार किया। और अगणित भव्योंको ससारसे पार कर परमसुख धाममें पहुंचाया ।

अर्थ—इस प्रकार त्रिलोकबधु श्री भगवान् महावीर प्रभुके मुखकमलसे विनिर्गत वचनामृत का पानकर अनेक भव्योने अनादि कालसे सलग्न ऐसे मिथ्यात्वरूपी हालाहलका परित्याग किया ।

अर्थ—हे राजन् श्रीवीर प्रभुके वचनामृतके पानसे बहुतसे भव्यजीवोने शुद्ध सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति की। जिस सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर अनतभवके समस्त पाप एक क्षणमात्रमें नाश होजाते हैं। और भव्यजीव ससार समुद्रसे पार होजाते हैं।

अर्थ—इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ही भव्यजीव संसार से पार हुए। होते हैं। और होगे। इसके सिवाय मो-

एव संबोधयन् भव्यान् पावापुरस्य सो जिन । प्रत्यागूर्णस्थकासारे सिताम्भोजैर्विमंडित । २०४ ॥
तन्मध्ये रचिते देवैश्चन्द्रकांतमये शुभे । शिलापट्टे निरौपम्ये सर्वदेवाधिपै सह ॥ २०५ ॥
आययौ तत्प्रभावाच्च पूर्वमेव सुरार्चित । तस्योपरि तदा दध्रे प्रतिमायोगमुत्तमम् ॥ २०६ ॥
अंत्यशुक्लासिना हत्वा कर्मारातीन् ततो जिन । बाहुलाभिधसन्मासे दर्शे च शर्वरीक्षये ॥ २०७ ॥
मोक्षमाप सुखाढ्यच नक्षत्रे स्वातिकाभिधे । महावीरो गुणं पूर्णः तारको भव्यप्राणिनाम् ॥ २०८ ॥
चतुर्निकायदेवेन्द्रा तदैवासनकपनात । आजग्मु तस्य पूजार्थं ज्ञात्वा निर्वाणसद्गतिम् ॥ २०९ ॥

क्षपद प्राप्त करनेका अन्य उपाय नही है ।

अर्थ— इस प्रकार त्रिलोकगुरु देवाधिदेव श्रीवीर भगवान् समस्त भव्यजीवोंको संबोध (रत्नत्रयका परिज्ञान) कराते हुए पावापुरके तलावके मध्यभाग भूमिपर आये । देवगणोने कमलोसे विभूषित उस तलावके मध्यभाग में चन्द्रकांतिमणि की दिव्य और परम सुंदर एक शिला स्थापन की । देवगणोसे पूज्य श्रीवीर प्रभुने उस रत्नमयी शिलापर प्रतिमायोग धारण किया और कार्तिक वदी चतुर्दशीकी रात्रिके अंतिम समय स्वाति नक्षत्रके उदयमें वे अंत्य शुक्ल ध्यानके प्रभाव से समस्त कर्मशत्रुओका समूल नाश कर निर्वाण पदको प्राप्त हुए ।

भव्य जीवोको ससार से पार करनेवाले समस्त आत्मीक शुद्ध गुणोसे परिपूर्ण ऐसे वीर [महावीर] प्रभु पावापुरके तलावके मध्यभाग से मोक्ष को पधारे ।

अर्थ—वीर प्रभुके मोक्ष पधारनेके समय देवोके आसन कपायमान हुए । जिससे चतुर्णिकाय देव प्रभुके निर्वाण के समयको जानकर भगवानकी निर्वाण पूजा करनेके लिये वहांपर आये ।

महदानदसंपन्ना. सैन्यसप्तविमंडिता । नानाशोभाभिसंपन्ना. सागना सहवाहना. ॥ २१० ॥
पदे पदे प्रकाशार्थं चक्रु देवा मुदान्विता । नाकरत्नोद्भवानां च प्रकाश तमनाशकम् ॥ २११ ॥
सुराधिशा. विभो देहं दृष्ट्वा वरस्वंगतस्तदा । नत्वाच स्थापयामासु शिबिकाया सुरैः कृताम् (?) ॥२१२॥
अग्नीन्द्रमुकुटोद्भूतपावकेन पुन शुभै. । काश्मीरागुरुकर्पुरैरन्यैर्द्रव्यैः सुरोद्भवै. ॥ २१३ ॥
पर्यायांतरमेवाशु चक्रुस्ते सुरनायका । तं काय अतिहर्षेण शिवशर्मकर वरम् ॥ २१४ ॥
तदग्रे मृतपिंडेज्या शुभां चक्रु. शिवाप्तये । महामंत्रेण सौधर्मप्रमुखाश्च सुरेश्वरा ॥ २१५ ॥

अर्थ—महान् आनद और हर्षसे प्रफुल्लित सात प्रकारकी सेनासे विभूषित अपनी अपनी देवांगनाओं सहित अपने अपने वाहनोंपर बैठे हुए देवता अपूर्व शोभाके साथ वहांपर आये ।

अर्थः— उस समय हर्षसे प्रफुल्लित देवगणोंने अधकार नाश करनेवाले और अपूर्व प्रकाशको प्रकट करनेवाले ऐसे स्वर्गके रत्नमयी दीपक स्थान स्थान पर रखे । अगणित दीपकोसे दीपावली (दिवाली को प्रकट किया । उसी दिवस से यह उत्सव दीपावलि के नामसे दिवाली आजतक प्रचलित है ।

अर्थः— देवगणोंने त्रिलोकपूज्य वीर प्रभुके उस परम औदारिक दिव्य देहको एक सुंदर पालकीमें विराजमान कर महान उत्सव प्रकट किया ।

अर्थः— पावापुरके उस तलावके मध्यभागमें ही अग्निकुमारके देवोंके मुकुटोसे प्रज्वलित अग्निके द्वारा अत्यत सुगधित केशर, अगर, चदन, कपूर आदि स्वर्गकी पवित्रतम दिव्य वस्तुओंसे वीरप्रभुके परम पुनीत उस दिव्य देहको देवेंद्रोने पर्यायांतर किया ।

अर्थ— सौधर्म इन्द्र आदि मुख्य देवेन्द्रोने भगवानके उस (पर्यायांतर अवस्थाको प्राप्त हुए) शरीरको मोक्षकी प्राप्तिके लिये महान मन्त्रोंके द्वारा पूजा की (मृतपिंडकी पूजा की)।

मोक्षाभिरेहि कल्याणे मोदकेन मता बुधा. । गणाधीशैर्जिनेन्द्रस्य इज्या मोक्षप्रदायिका ॥ २१६ ॥
प्रपेठु. शांतिसत्पाठं सर्वशांतिप्रदायकम् । सर्वेन्द्राश्चातिहर्षेण महदानंदसभृता. ॥ २१७ ॥
तद्भस्म भुजयो. भाले नेत्रेच हृदये सुराः । तथा सर्वशरीरेषु विभो कायसमुद्भवम् ॥ २१८ ॥
सधृत्वा चेति दध्युस्ते इयमस्तु हि नो शुभा ।.शिवदा स्वामिनो नून मतिर्नास्त्यत्र संशय· ॥ २१९ ॥
आनदनाटकं चक्रे सौधर्मेन्द्रो हि हर्षत । अग्रे निर्वाणसद्भूमे· सह शच्या तथा सुरै· ॥ २२० ॥

अर्थ—मोक्ष कल्याणक की कल्याणक पूजा गणधर देवोंने मोक्षको प्रदान करनेवाली बतलाई है इस लिये प्रत्येक भव्यजीवको अतिहर्षभावसे करना चाहिये ।

देवगणोने अति हर्षभावसे मत्रपूर्वक विधिक्रमसे निर्वाण कल्याणक पूजाको कर अंतमें शांतिपाठ जगतकी शांतिके लिये किया।

अर्थ—भगवानके शरीरकी भस्मको देवगणोंने अतिशय पूज्य भावोसे उस भस्मको अतिशय पूज्य समझकर सुखकी प्राप्तिके लिये अपने भुजोपर हृदयमें भाल नेत्र और समस्त शरीर में लगाई और अपनेको पवित्र माना ।

अर्थ—देवगणों ने उस पवित्रतम और मोक्षको प्रदान करनेवाली भगवानके शरीरकी भस्मको उत्तम और शुभ-वस्तु को अत्यन्त सरक्षणीय समझकर अपनी अपनी रत्नोंकी पिटारियोंमें बडे यत्नसे गोप्य कर रखी । और उससे देवोने अपनेको मोक्षगति प्राप्त होगी ऐसा निश्चय किया ।

अर्थः— सौधर्म इन्द्रने उस समय निर्वाण भूमिपर अपनी इन्द्राणी और देवगणोंके साथ आनंद नाटक अत्यंत हर्षसे किया ।

आतोद्यानां तदा श्रुत्वा ध्वनिं कर्णसुखप्रदम् । श्रेणिकाद्याश्च भव्यौघाः प्रचेलुः सह भीरुभिः ॥ २२१ ॥
इज्याद्रव्येण संयुक्ता मोदभारविमंडिताः । एवं सर्वे च संप्रापुः यत्र देवेश्वराश्च ये ॥ २२२ ॥
तमुत्सवं च संदृष्ट्वा चितां ते भूमिपादयः । मुदमापुश्च संचक्रुः प्रणतिमचलां च ताम् ॥ २२३ ॥
सुनासीरकृतानंदनाटकं नंददायकम् । विभो भूमे पुम्स्त च ददृशुस्ते नरोत्तमाः ॥ २२४ ॥
परिपूर्णं विधायाशु सुनृत्यं नृत्यागमार्थवित् । मघवा सह देवौघैः सर्वेषां चकनंददम् ॥ २२५ ॥
सुनासीरस्ततश्चाह शृणु श्रेणिक भूपते । षष्टिसहस्रप्रश्नानां कर्तारं मगधाधिप ॥ २२६ ॥
अद्य प्रभृतितो जाता वृषभाद्या जिनेश्वराः । तेषां निर्वाणसत्पूजा अस्माभी रचिता वराः ॥ २२७ ॥

अर्थः— वीर प्रभुके निर्वाण हर्षमें देवोंने दुंदुभि बाजे त्रिलोकको शब्दायमान करनेवाले बजाये । जिनकी ध्वनिको श्रवण कर श्रेणिक प्रमुख राजाओंने वीर भगवानका निर्वाण महोत्सव जान लिया । और उस महोत्सवकी पूजा करनेके लिये सपरिवार सेना और समस्त प्रजासहित सुंदर सुंदर पूजाकी द्रव्यको साथ लेकर पावापुरके तलावपर वीरप्रभुको निर्वाणभूमिपर आये ।

प्रभुके शरीरकी चिताको देखकर अतिशय हर्षको प्राप्त हुए । और भक्तिभावसे मोक्षकी प्राप्ति के लिये उस चिताकी पूजा की । नमस्कार किया और देवोंके उस निर्वाण महोत्सवको देखकर हर्षित हुए ।
देवेंद्रोंके उस आनंद नाटककों समस्त राजाओंने देखा और वीरप्रभुकी महिमाको अपूर्व समझ हर्ष प्रकट किया ।

अर्थ—नृत्यकलामें प्रवीण ऐसे इन्द्रने नृत्यकी विधिको समाप्त किया ।

अर्थ—आनंद नाटकको समाप्त कर इन्द्रने श्रेणिक महाराज आदि प्रमुख राजगणोंसे कहा । श्री वृषभादि पार्श्वनाथ पर्यंत तेवीस तीर्थंकर प्रभुकी निर्वाण पूजा (निर्वाण कल्याणक) विशुद्ध भावोंसे उत्तम की । और आज

अत्रैव वीरनाथस्य गतिर्निर्वाणकाऽभवत् । अस्यैव चिंतनार्थंच मोक्षसौख्याप्तये नृप ॥ २२८ ॥
प्रत्यब्दं मोदकेनैव दीपव्रातैर्घृतोद्भवै । राध्यंते वीरनाथस्य इज्या कार्या शुभावतः ॥ २२९ ॥
इत्युक्त्वा तं च नाकेन्द्र सहलेखै सुरास्पदं । जगाम वीरनाथस्य चिंतयन् सद्गुणोत्करान् ॥ २३० ॥
सह भव्यैस्तदा भूपो मोदकेन शुभेनच । कृत्वेज्यां सिद्धभूमेश्च आयातवान् स्वमास्पदम् ॥ २३१ ॥
तदा प्रभृतितो भव्याः आर्यवर्षे च सद्विधिः । अयं विख्याततां जातः सर्वकार्यकरावहः ॥ २३२ ॥

ही श्री वीर भगवानकी निर्वाण पूजा की है। इस महान महोत्सवके स्मरणार्थ प्रत्येक वर्ष (रात्रिके अंतप्रहर) इसी समय में घृतोंके उत्तमोत्तम दीपसमूह को प्रज्वालित कर और महा सुंदर-दिव्य रससे परिपूर्ण इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले ऐसे लाड्डूसे निर्वाण पूजा करनी चाहिये।

इस प्रकार कहकर वीर प्रभुके गुणोंको स्मरण करता हुआ इंद्र अपने स्थानपर गया।

अर्थ—इन्द्रकी आज्ञा से श्रेणिक महाराजने अनेक भव्य राजगणोके साथ सुंदर लाड्डूसे श्रीवीर भगवानकी निर्वाण पूजा की तथा उस सिद्ध भूमिकी (पावापुरके तलावमध्य जहां से श्री वीर प्रभु मोक्ष धामको पधारे) पूजा मुख्यता से की। इस प्रकार समस्त प्रजाके समक्ष निर्वाण पूजा व सिद्धभूमि पूजाको यथाविधिसे परिपूर्ण कर श्रेणिक महाराज वीर प्रभुके गुणोका स्मरण करते हुए अपने स्थानको गये।

अर्थ—श्रीवीर भगवानकी निर्वाण पूजा भारतवर्षमें सर्वत्र उत्तमोत्तम लाड्डू और घृतोंकी सुंदर दीपावलीसे भव्यजीव तब से आजपर्यंत करते आ रहे हैं। कर रहे हैं। और जबतक जिन शासन है तबतक करते रहेंगे।

दिवालीके दिवस लाड्डू चढानेकी विधिकी प्रवृत्ति उसी समयसे हुई है।

कृत्वा सुरचनां तत्र कासारे जलसभृते । तदालयस्य स भूप' प्रतिष्ठां तस्य स्थापना ॥ २३३ ॥
अंतकाले च त्यक्त्वा हि रौद्रध्यानस्य भावत । प्रस्तरे प्रथमस्यैव श्वभ्रस्य गतिबधभाक् ॥ २३४ ॥
प्राणान् जगाम दु खाढ्ये तत्र भुक्त्वाच आयुषम् । मित्राष्टसहाब्दांत पश्चान्निर्गत्य तत्रत ॥ २३५ ॥
अत्रैव कोशले देशे अयोध्याया भविष्यति । महापद्माख्यसयुक्त' आद्यस्तीर्थकराग्रणी ॥ २३६ ॥
क भूप नारकी चैव क पुन' तीर्थनायक । अहो भव्याश्च पश्यध्वं चरित्रं कर्मणोद्भुतम् ॥ २३७ ॥
के के न कर्मणा प्राप्ता दु खवृंदं बुधोत्तमा । देवमानवसंसेव्या भरताद्या नरोत्तमा' ॥ २३८ ॥

अर्थ—श्रेणिक महाराजने (जलसे परिपूर्ण) उस पावापुरके तलावके मध्यभागमें (जहांसे श्रीवीर प्रभु निर्वाण पदको प्राप्त हुए थे ।) श्रीवीर प्रभुका जिनालय बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा अतिशय धूमधामसे की । उस जिनालयमें श्रीवीर प्रभुके स्मरणार्थ वीरप्रभुकी चरण पादुका स्थापित की ।

अर्थ —श्रीवीर प्रभुसे साठ हजार प्रश्नोंको करनेवाले शुद्ध सम्यग्दृष्टि भव्य श्रेणिक महाराजने रौद्रपरिणामोसे नरक आयुका बध किया था और इसीलिये अंतसमयमें संक्लेश परिणामोसे प्राणोका परित्याग कर श्रेणिक महाराजका जीव प्रथम नरकके प्रथम पाथडेमें चौरासी हजार वर्ष की आयु पाकर उत्पन्न हुआ । वहां से निकलकर कोशल देश अयोध्या नगरमें महापद्मनामके प्रथम तीर्थंकरका महान पद प्राप्त करेगा ।

अर्थः—कहां तो महा मंडलीक राज्यपद और कहांपर नारकी अवस्था तथा कहांपर फिर तीन जगतसे पूज्य तीर्थंकर पद ! ये सर्व बातें एकसे एक आश्चर्य करनेवाली हैं । हे भव्य जीवो ! परंतु इसमें कुछ भी आश्चर्य मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये सब कर्मके चरित्र हैं । कर्म इससे भी अधिक आश्चर्यकारी घटनाको कराता है । संसारमें कर्मोंसे कौन कौन जीवोको दुःख प्राप्त नहीं हुए । अरे भरत महाराज सरीखे चक्रवर्ती पुण्य पुरुष भी

मत्वेत्थं सकला भव्या कर्माराति विहानये । एक श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तं कुर्वीध्वं धर्ममुत्तमम् ॥ २३९ ॥

अथ श्री गिरनारि सिद्धक्षेत्र प्रकरण.

अथ शृणुथ भो भव्या वृत्तातमपरं शुभम् । संक्षेपत प्रवक्ष्येह जिनमार्गस्य सूत्रकम ॥२४०॥

श्रीनेमिनाथस्य सुशोभितेन । पादारविंदेन मनोहरेण । यदूर्जयतामिधभूधरोहि । पवित्रता भो गतनिर्जरार्च्य ॥२४१॥

यस्याद्गता मोक्षपुरे मुनीन्द्रा । द्विसप्ततिकोटिप्रमाणमध्यानात् । जायाशतं सार्धमहो सुराच्र्या । वंदाम्यह तान् सकलान् त्रिकाले॥२४२

तस्य गुहाया वसनैर्विहीनो धरादिसेन सुरपूज्यपाद । तपोदयाकृतगात्रमूर्ति वासं चकार मुनिराट् शिवार्थ ॥२४३॥

कर्मोके द्वारा दुःखको प्राप्त हुए तो अन्य साधारण जीवोंकी क्या बात ? इसलिए समस्त भव्य जीवोको कर्मोके नाश करनेके लिये श्रीजिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रतिपादित दयामयी पवित्र एक जैनधर्मका पालन करना चाहिये ।

अर्थ--हे भव्यजीवो समस्त जीवोके कल्याणके लिये अब एक दूसरा वृत्तांत संक्षेपसे कहते हैं । जिससे जैनमार्गकी महत्वता प्रकट होगी ।

त्रिलोक पूजित देवाधिदेव श्री नेमिनाथ भगवान के पवित्र चरण कमलों से पवित्र तीर्थ अवस्थाको प्राप्त हुआ ऐसा पवित्र नेमिनाथ भगवानकी निर्वाण भूमि श्रीगिरनार पर्वत सोरठ देशमें प्रसिद्ध है । जहांसे वहत्तर कोडि मुनीश्वर मोक्ष धामको पधारे है । उस पर्वतराजको मै त्रिकाल भाव विशुद्धि से नमस्कार करता हू ।

अर्थः— गिरनार पर्वतकी गुफामें नग्न दिगंबर धरसेन नामके एक योगीश्वर ध्यान धारण कर रहते थे ।

श्रीधरसेन योगीश्वर देवगणोसे साक्षात् पूजित थे । दया, तप, सयम आदि उत्तमोत्तम गुणोसे विभूषित अगके कुछ अश पर्यंत महान ज्ञानके धारक, तपसे तैजस, ऋद्धिको प्राप्त, ध्यान क्रियामें अतिशय निपुण, समस्त तत्वके

अंगांशधारी तपदीसिधारी ध्यानाधिकारी सकलार्थचारी । श्रीजैनधर्माब्धिसुसोमकारी पुनातु न स वसुभावधारी ॥ २४४ ॥
तेन मुनीन्द्रेण विचारितेयं अंगाश्च पूर्वा. ह्यखिलाः गताश्च । स्वस्य हृदि ह्येकदिने शुभाख्ये श्रीजैनमार्गस्य प्रवर्त्तनार्थम् ॥ २४५ ॥
शास्त्राद्दते नैव नराखिलाश्च । धर्मस्य मार्गं श्रुतपाठनं च ॥ ज्ञास्यंति नैवात्र श्रुतार्णवं च । अतो रचिष्यामि दलेषु मध्ये ॥ २४६ ॥
जयादिशुभ्रं प्रथम चकार । ग्रंथ ह्यकूपारसमं मुनीन्द्र ॥ अनेकभेदार्थभृतं मनोज्ञं । श्रीवीरनाथस्य ध्वनेश्च तुल्यं ॥ २४७॥
प्रमाणं तस्य ज्ञाख्यं सहस्रसप्तति खलु । बुधैर्नमाम्यहं तंच शिरसा समये त्रिके ॥ २४८ ॥
विचित्रशब्दं गहनार्थयुक्तं महादि अंते धवलंच ग्रंथम् । तत परं भो मतिराट् चकार बुद्धयाबलेन द्वितीयं शुभंच ॥
सेत्ता, श्रीजिनधर्म रूपी समुद्रको बढानेके लिये चद्र समान प्रभुताको धारण करनेवाले ऐसे श्रीधरसेन मुनीश्वर हमारी
रक्षा करो।

अर्थः— श्रीभगवान् श्रीधरसेनाचार्यने अंगको अपने हृदयमें धारण कर जैन मार्गकी प्रवृत्तिके लिये ग्रंथोंकी
रचना की।

श्रीधरसेनाचार्यने विचार किया कि अब आगे जीव मंदज्ञानी धारणा शक्ति विहीन होगे। इसलिये वे
धर्ममार्ग व श्रुतका पठन पाठन नहीं जान सकेंगे। इसलिये मैं श्रुतको पत्रोंपर लिखकर जगतमें प्रकाश करू ?

श्री धरसेनाचार्यने सबसे प्रथम समुद्रके समान गंभीर अनेक शब्दार्थों से मनोज्ञ जगतके हित कारक श्रीवीर
भगवानकी ध्वनी समान परमपूज्य जयधवलादि ग्रंथ निर्माण किये।

अर्थ— जयधवल ग्रंथकी श्लोक संख्या सत्तर हजार श्लोक प्रमाण है। उस ग्रंथराजको मैं शिर नमाकर
त्रिकाल वंदना करता हूं।

अर्थः— विचित्र शब्दरचनासे गुम्फित और गंभीर अर्थका प्रतिपादक ऐसा महाधवल ग्रंथ बनाया जिसके

चत्वारिंशत्सहस्रस्य मानमस्य बुधैर्मतम् । तस्मै ग्रंथाय शुद्धाय नमोस्तु समय प्रति ॥ २५० ॥

विजयादिंअंते धवलंच ग्रंथं । गूढार्थयुक्तं तृतीय वरंच । मतांतराः यच्छ्रवणात्प्रयाति विखंडिता ह्युत्तरवर्जिताश्च ॥

षष्टिसहस्रसंख्याढ्यं भव्यजीवैश्च पूजितम् । साष्टांगेन सदा तंच वदे कर्मारिनाशकम् ॥ २५२ ॥

एषा त्रयाणां रचना कृता वै ज्येष्ठस्य मासे शुभध्यानयोगात् । तेन मुनीन्द्रेण दलेपुमध्ये शुक्लाभिधे पंचमीवासरेच ॥

मुन्यार्यिकाश्रावकश्राविकौघैश्चतु:प्रकारैं महते सुसंघे । इज्या कृता वै अभिषेकमुख्या तेषांच गानैर्वरदानमानै ॥

सद्धर्मध्यानेन ह्यसून् प्रत्यक्त्वा धरादिसेनो यतिराट् गतश्च । स्वर्गेन्वभूत शर्मततिं शुभाच्च किं किं न यात्येव शुभोदयाद्धि ॥

त्रयाणा धारकास्तस्य शिष्या बुद्धयब्धिपारगा । भूतवल्यादयो जाता योगीन्द्रा वसनोज्झिता ॥ २५६ ॥

श्लोकोंका प्रमाण चालीस हजार है ऐसे समय ग्रथको मैं त्रिकाल नमस्कार करता हू ।

अर्थ — विजयधवल ग्रंथ अतिशय गूढार्थ वनाया जिसको श्रवण करतेही मतांतर खडित हो जाते हैं और वडे २ प्रवादि निरुत्तर होकर सत्य मार्गको ग्रहण करते है। यह ग्रथ साठ हजार श्लोक प्रमाण वनाया। उस ग्रंथ राजको त्रिकाल मै वदना करता हू ।

अर्थः— उक्त तीन ग्रंथोंकी ज्येष्ट सुदी ५ को ताडपत्रपर लिपिरूप स्वामी श्री धरसेनाचार्यने रचना की ।

अर्थ — श्री धरसेनाचार्यकी चार प्रकारके संघने (मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका) महान् उत्सव और भक्तिपुर्वक अभिपेकपूर्वक पूजा की ।

श्रीधरसेनाचार्य शुभ ध्यानसे प्राणोका परित्यागकर स्वर्गमें उत्तम सुखोको प्राप्त हुए । शुभ ध्यानसे क्या क्या नहीं होता है ।

अर्थ—उक्त तीनों ग्रथराजोको धारण करनेवाले आगमके पारगामी श्रीभूतवली आदि अनेक दिगंबर योगीश्वर उत्पन्न हुए ।

ग्रंथप्रवर्तना कृत्वा गतास्तेपि दिव खलु । मुनीन्द्रा ध्यानयोगेन त्यक्त्वा प्राणान् शिवाप्तये ॥ २५७ ॥
ह्यनुक्रमेण योगीन्द्रो नेमिचन्द्रो मुनीश्वरः । आसीत् क्षितौ प्रविख्यातः तत्त्रयाणां च वाचनात् ॥ २५८ ॥
तदनुसारतस्तेन ग्रथाना स्वस्य बुद्धित । कृता च रचना लोके ग्रंथवर्द्धनहेतवे ॥ २५९ ॥
संस्कृतापि कृता ग्रथा प्राकृतापि कृता पुन । तेन धर्मप्रकाशार्थं चात्मकल्याणसिद्धये ॥ २६० ॥
त्रयाणा रचना तेन महाधवलग्रंथत । ग्रंथानाच कृता नूनं सर्वार्थस्य प्रकाशिका ॥ २६१ ॥

अर्थ—श्रीमान् भूतबली आदि आचार्यगण भी उन ग्रथोकी प्रवृत्ति समस्त ससार में कराकर शुभध्यानसे उत्तम सुखको प्राप्त हुए ।

अर्थः—आचार्य भूतबलि आदि महर्षियोंके बाद अनुक्रमसे श्रीनिखिल परमागमके वेत्ता श्रीदिगंबर योगीश्वर सूरि श्रीनेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती उत्पन्न हुए । जिनने उक्त तीनो ग्रथोको पढकर अपनी प्रसिद्धि सर्वत्र अखड रूपसे व्याप्त कर दी थी ।

श्री आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीने उन ग्रंथोको [जय धवल महा धवलादि] पारगत कर उन ग्रथोके अनुसार प्राकृत संस्कृत के बहुतसे ग्रंथ बनाये । प्राकृतके ग्रथ गोमटसार आदि प्रसिद्ध हैं । कितने ही ग्रथ संस्कृत भाषामें भी बनाये । जिससे जैनधर्मकी महिमा बढे और अपनी आत्माका कल्याण हो ।

महाधवल ग्रथसे उनने तीन ग्रथोकी संस्कृत भाषामें रचना की । उसमें अनागत प्रकाश नामका ग्रंथ निर्माण किया, जो समस्त मत मतांतरोका खडन करनेमें एक अद्वितीय श्रेणिको (छटा) धारण करता है और जिसमें समस्त क्रियाओका स्वरूप वर्णन किया है ।

अनागतप्रकाशाख्यमाद्यमानन्ददं खलु । सर्वक्रियादिकथक मतातरविघातकम् ॥ २६२ ॥
द्वितीय मोक्षद तत्वप्रकाशाख्यमघापहम् । ग्रथ सकलतत्वाना प्रकाशकरणे रविम् ॥ २६३ ॥
मुनीना वा गृहस्थाना सद्धर्मोत्पादक शुभम् । धर्मप्रकाशसंज्ञ च नाकशिवप्रदायकम् ॥ २६४ ॥
इमे च निर्मिताः शुद्धा' त्रयो ग्रथाश्च तेन वै । समृताश्च विवेकाद्यै कलाभि शिवदायका ॥ २६५ ॥
अनागतप्रकाशस्यानुसाराच्च प्रनिर्मित । सूर्यप्रकाशसन्नामा ग्रथ मया बुधोत्तमा ॥ २६६ ॥

दूसरा ग्रथ तत्वप्रकाश नामका बनाया जो समस्त तत्वोंओ प्रकाश करनेके लिए सूर्य समान है । और समस्त पापोका नाश करनेवाला है ।

तीसरा ग्रंथ धर्मप्रकाश बनाया जिसमें मुनि और गृहस्थोके धर्मका पूर्ण रूपसे वर्णन है । जिसको पढनेसे स्वर्ग और मोक्षके सुख प्राप्त होते है । आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीने उक्त ग्रंथोकी रचना की जिनमें विविध प्रकारकी कलाएं गुम्फित की ।

इस ग्रंथका अवतरण

अर्थ—श्री आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीके बनाए हुए अनागत प्रकाश नामक ग्रथके आधार से यह सूर्यप्रकाश नामका ग्रथ मैंने हे विद्वानो बनाया है।

१—सूर्यप्रकाश यह स्वतत्र ग्रथ है । परन्तु इसकी रचना आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धात चक्रवर्तीके बनाए हुए अनागत प्रकाश नामके ग्रंथसे की है ।

अनेकनयसयुक्तो मिथ्याघरविसदृश । सज्जनैर्भव्यभावाढ्यै सदा मान्यो न दुर्जनै· ॥ २६७ ॥
अस्य श्रवणमात्रेण कुपथपोषका नरा । मूकवत् येत्र स्थास्यंति यथा नागाश्च कीलिता ॥२६८॥
सार्थनामयुतं चेदं सकलार्थप्रकाशकम् । सुमत्या दायकं भव्या पठध्व शिवसिद्धये ॥ २६९ ॥
अस्मिन् ग्रंथे वृता केचित् सबंधाश्चान्यग्रथत । केचिद्धि मूलग्रथाच्च जैनमार्गप्रकाशका ॥२७० ॥
ग्रथोऽय सज्जनाना च महद्धर्षप्रवर्द्धक । दुर्जनाना पुनश्चाय महत्क्रोधस्य वर्द्धक ॥ २७१ ॥

यह सूर्यप्रकाश अनेक नय सहित मिथ्याधकारको नाश करनेके लिये सूर्यके समान है और भव्यभावोसे सज्जन पुरुष इसको सर्वोत्कृष्ट समझते है । और सदैव मान्य करते हैं । परंतु दुर्जन पुरुष इसको श्रवणकर मनोनीत भावना करेंगे ।

अर्थ —इस ग्रथके श्रवण मात्रसे कुमार्गको पुष्ट करनेवाले मनुष्य मूंकके समान स्थगित रह जांयगे । जैसे सर्प मंत्र से कीलित होकर स्थगित हो जाते है ।

अर्थः— यह सूर्यप्रकाश ग्रंथका नाम सार्थक है । समस्त अर्थको प्रकाश करनेवाला और सुमतिका प्रदान करनेवाला यह ग्रंथ है । इसलिये इसका पठन पाठन मोक्षकी सिद्धिके लिये करना चाहिये ।

अर्थः—इस ग्रथ में कितने ही संबध अन्य ग्रथो से लेकर किये हैं । कितने ही मूलग्रथ का प्रबंध जैसा का तैसा रखदिया है ।

अर्थ — यह सूर्यप्रकाश नामक ग्रथ सज्जनोको महान हर्षको बढानेवाला है और दुर्जन पुरुषोंको क्रोधको उत्पन्न करनेवाला है ।

सज्जना दुर्जना लोके हिताहितकरा घना । संति ह्यनादित अस्मिन् गोपन्नगसमा बुधाः ॥ २७२ ॥
तत्क्षणे सज्जना नैव परकाव्य गुणोज्वलम् । दूषयत्येव त दृष्ट्वा मुदमेव प्रयात्यहो ॥ २७३ ॥
चरत्यहो तृणानेव यथा गौ पयसततिम् । ददात्येव न रक्तं च कदापि तद्वि द्वेषत ॥ २७४ ॥
तथा हि सज्जनाना च सदा प्रकृति निर्मला । स्वयमेव मनोमोददायका द्वेषवर्जिता ॥ २७५ ॥
दह्यमानोपि भो भव्या पावकेनैव चदन । तथापि नैव दुर्गंध ददात्यहो न सशय ॥ २७६ ॥
तथाहि सज्जनो नैव पीड्यमानोपि दुर्जनै । मुंचति सज्जनत्व च शत्रुमित्रसमानधी ॥ २७७ ॥

अर्थः— सज्जन और दुर्जन पुरुष गाय और सर्पके समान हिताहित करनेवाले अनादिसे ही है।

अर्थः— मज्जनोका यह स्वभाव ही है कि दूसरोके निर्माण किये हुए काव्यको गुणसपन्न देखकर प्रसन्न होते हैं।

अर्थः— जिस प्रकार गाय तृणोको भक्षण कर दूध देती है परतु कभी भी द्वेषसे रक्त नहीं देती है। ऐसे ही सज्जन पुरुष सदैव गुणग्राही ही रहते हैं।

अर्थः — सज्जन पुरुषोंका ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे मनको आनंद ही प्रदान करते हैं परतु किसीसे भी द्वेष नही करते है।

अर्थः— चंदन जिस प्रकार जलानेपर भी अपनी सुगंधीको नहीं छोडता है और कभी किसी अवस्थामें दुर्गंध नहीं देता है। यह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार मज्जनोंका भी ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे गुणोको ग्रहण करते है।

अर्थ—चंदनके समान सज्जनोंका भी यही स्वभाव है कि दुर्जनोंके त्रासको सहन कर भी सज्जन पुरुष

शर्करामिश्रितं दुग्ध पिबत्येव भुजगमा. । तथापि गरलं येहि मुंचंत्येवामृतं न च ॥ २७८ ॥
तथाहि दुर्जनाना च स्वभावोय न सशय । दोपाणा ग्रहणे दक्षा गुणग्रहणविच्युता ॥ २७९ ॥
दर्शने परदोपस्य खलाश्चात्येवचातुरा । स्वदोपदर्शने ते हि जन्माधसदृशाः खलु ॥ २८० ॥
रुच्यते नैव दुष्टानां परोदय कदाप्यहो । रवेस्तेजो यथा लोके दिवाधाना तथैव हि ॥ २८१ ॥
परोदय च दृष्ट्वा हि वृथा कोप भजंत्यहो । ये ते च दुर्जना नूनं धिक् वृथा कोपकारिण ॥ २८२ ॥
परकीय महाकाव्यं निंदयत्येव दुर्जना । मनोहरहि तेपाच स्वभावोयं सनातन. ॥ २८३ ॥

अपनी सुजनताका परित्याग नहीं करते है और शत्रु मित्रपर एक समान हित रखते है।

अर्थ—मिश्री मिश्रित दूध सांपको पिलानेपर भी सांप विष ही उत्पन्न करता है अमृत नहीं । वैसे ही दुर्जनोका यह स्वभाव ही है कि वे दोपोको ग्रहण करते है और गुणोका परित्याग करते है।—

अर्थ-दुर्जन पुरुप दूसरोंके दोप देखनेमें ही अतिशय निपुण होते हैं। परतु कभी भी अपने दोपोको जन्मांध पुरुपके समान चक्षु रहने पर भी नहीं देखते हैं।

अर्थ—दुष्ट पुरुपोको दूसरोका अभ्युदय (उन्नति) रुचकर नहीं होता है। जैसे सूर्यका प्रकाश उल्लू नामके जीवको नही रुचता है। दुष्ट पुरुप दूसरोके उदयको देखकर वृथा ही क्रोध करते हैं इस प्रकार विनाकारण क्रोध करनेवाले दुर्जनोंको धिक्कार है।

अर्थ—दुर्जन पुरुप दूसरोके बनाये हुए काव्य की निंदा करते हैं यह उनका सनातन स्वभाव ही है।

सज्जनाना गुणानाच गृह्यार्थं निर्मिता इमे । सज्जना अत्र लोके वा स्वयंभुवा बुधोत्तमा ॥ २८४ ॥
गृह्यार्थं दोष वस्तूना इमेच निर्मिता खलाः । ब्रम्हणा चात्र सदेहो नो खलु सज्जनोत्तमा ॥ २८५ ॥
सुज्ञानधारका लोके कुज्ञानधारका खलु । माहेषीसदृशा येहि ज्ञेयाः पन्नगसदृशा ॥ २८६ ॥
वचनाडंबरैः किं स्यात् सज्जना गुणपोषका । भो बुधा दुर्जना नूनं दोषपोषणसरता ॥ २८७ ॥
मे काव्योपरि कोपव मा कुरुध्व वृथाच भो । कोपोहि सर्वपापस्य वर्द्धको नात्र संशय ॥ २८८ ॥
हृदिहि भवता नैव रुच्यते भो नरोत्करा । अथोय भजथ नून माध्यस्थं पापनाशकम् ॥ २८९ ॥

अर्थ—सज्जन पुरुषोंका निर्माण गुणोको ग्रहण करनेके लिये ही हुआ है। परंतु दुर्जन पुरुषोका निर्माण दुर्गुणो (दोषो) को ग्रहण करनेके लिये हुआ है। इसमें हर्ष विषाद नही करना चाहिये। जिसका जैसा स्वभाव होता है वह वैसा ही करता है।

अर्थ—इस विशाल संसार में सुज्ञान और कुज्ञान के धारक अनेक मनुष्य हैं। कितने गायके समान सुजन हैं और कितने ही सांपके समान दुर्जन है। इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है। परन्तु सबका साराश मात्र यही है कि सुजन गुणोका पोषण करते हैं और दुर्जन दोषोको पुष्ट करते है।

अर्थ—मेरे इस काव्य के लिये वृथाही क्रोध किसीको नहीं करना चाहिये क्योंकि क्रोध समस्त पापोका मूल कारण है।

अर्थः—हे सज्जनो ! जो आपको यह मेरा बनाया हुआ सूर्यप्रकाश नामका ग्रंथ रुचिकर न हो तो आप मध्यस्थ भावको धारण करे।

आत्मनिंदां च कुर्वंति परेषा सज्जनाश्च न । परकाव्यं च ते दृष्ट्वा हर्षोल्लासं भजत्यहो ॥ २९० ॥
वातातंकप्रयुक्तश्च यद्वत् कश्चित् ब्रुवति ना । वचसा सतति नूनं शब्दाशब्दविवर्जिताम् ॥ २९१ ॥
तद्वत् उक्ता मया ह्यस्मिन् ग्रंथेच वचनावलि । यां दृष्ट्वा सज्जनास्ता च मा भजध्व क्षमापहम् ॥ २९२ ॥
अभिमानेन स्वस्यैव नो कृता रचना बुधाः । मया केवलधर्मस्योद्योतनार्थे शिवप्रदा ॥ २९३ ॥
आलस्ययोगाद् बुधसत्तमा हि । अस्मिन् कृतादित्यप्रकाशग्रंथे ॥
शब्दा अशुद्धा यदि चेन्मया वै । क्षमध्वमेवाखिलसज्जनाद्यः ॥२९४॥
मा यातु ज्ञानसंपन्ना बालकोपरि मे खलु । रोषत्व सजनास्तेहि हीनशब्दार्थदर्शनात् ॥ २९५ ॥

अर्थः—सज्जन पुरुष दूसरोकी निंदा नही करते है। और दूसरोके काव्यको देखकर वे अतिशय हर्षित होते है ।

अर्थ–जिस प्रकार वात रोगी यद्वा तद्वा वकवाद करता है कुछ भी शब्दाशब्दका वोलने न बोलनेका विचार नही करता है। ऐसे ही यह मेरी वचनावलि इस ग्रथमें गुफित की है। सज्जन पुरुष इससे दुर्भावको धारण नहीं करेंगे।

अर्थः—मैंने यह ग्रथ अभिमान या किसी अन्य स्वार्थकी सिद्धिके उद्देश्यसे नही बनाया है। केवल धर्मका उद्योत हो एक इसी सद्भावनासे प्रेरित हो यह ग्रंथ निर्माण किया है।

अर्थः—इस सूर्यप्रकाश ग्रंथमें प्रमादसे कोई अशुद्ध शब्द रखे हो। उस पर सज्जन पुरुष क्षमा भाव धारण करें। ज्ञानसे विभूषित सज्जन पुरुष मुझे बालक समझकर क्रोधभावका प्रकाश नहीं करें।

वीरः शर्मप्रदायको मुनिनुतो वीरं श्रिता ज्ञानिनो— । वीरेणैव समाप्यते शिवपदो वीराय मूर्ध्ना नमः ॥२९६॥
वीरान्नास्त्यपरोहि देव भवने वीरस्य शुद्धा गुणा । वीरे चित्तमहं दधे ह्यनुदिनं हे वीर मेघं नहि ॥ २९७ ॥
देवेश पूज्यपाद हतसकलमलश्चिन्मय शांतरूपः । वीरेशः स्वात्मसंस्थो गणधरमहितो लोकभागाग्रसंस्थ ॥
पापानां वारनाशो अतुलपविसम काममातंगसिंहः । ह्यस्तु मेसौ जिनेन्द्रो विमलमतिप्रदो मंगलाय शिवाते ॥२९८॥
शेषास्ते जिननायका शिवप्रदाः संसारविच्छेदका । देवेन्द्रैः खचरेश्वरैर्मुनिवरैः सेव्या सदा शंप्रदा ॥
पापातंकविघातका सुविमला नानागुणैः संभृता । कुर्वंतु मम मंगलं शिवपदं वद्या मया संस्तुता ॥ २९९ ॥
सिद्धा कर्माष्टहीना गणधरमहिता लोकभागाग्रसंस्था । वद्या नेमीन्दुनाम्ना शिवपदजनका सर्वपापाग्निमेघा ॥

अर्थ—वीर भगवान् ही सर्व सुखोको प्रदान करनेवाले हैं। श्री वीर प्रभुका ही शरण सज्जन पुरुष स्वीकार करते है। श्री वीर भगवान्के प्रसादसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसलिये श्री वीर प्रभुको मस्तक नमाकर नमस्कार है। श्री वीर भगवान्के सिवाय अन्य कोई इस जगतमें देव नही है। वीर भगवान्के शुद्ध गुण है। मै वीर भगवान्में अपने चित्तको लगाता हूं। हे वीर प्रभो मेरे पापोको दूर करो।

अर्थः—देवाधिदेव पूज्यपाद समस्त कर्ममल कलंकको नाश करनेवाले चिन्मय परमशांत अपने स्वरूपमें स्थिरीभूत गणधर देवोसे पूजित लोकके अग्रभागमें विराजमान पापोके नाशक काम रूपी हाथी का नाश करनेकेलिये सिंह समान और विमल ज्ञानके प्रदान करनेवाले ऐसे अरहंत श्रीवीर परमात्मा हमे मंगल प्रदान करें।

अर्थ—मोक्षको प्रदान करनेवाले संसारका नाश करनेवाले देवेन्द्र विद्याधर और मुनीश्वरोसे सदैव पूज्य, पापोका नाश करनेवाले अनंत गुणोंको प्रदान करनेवाले ऐसे चतुर्विंशति वृषभादि देव हमे मंगल प्रदान करो।

अर्थः— आठ कर्मोंसे सर्वथा रहित गणधर देवोसे पूज्य लोकके अग्रभागमें विराजमान मोक्षपदको प्रदान

निष्काया निर्विकल्पा गुणगणनिलया सर्वकालेषु सस्था~। ते मे कुर्वंतु नित्य सकलसुखकर मंगल पावनं च ॥ ३०० ॥
आचार्या धर्मतीर्था मुनिवरनिवहै पूजिता सत्पदाब्जा । राम शत्रुर्गुणाना सुधरणकुशला सर्वपापारिहीना ॥
धीरा वै वीरसेव्या सुरअसुरनुता पूर्णज्ञानाब्धिचद्रा । नो वो यच्छतु शुद्ध शिवपथजनक मगल सत्तपाढ्या ॥ ३०१ ॥
वदेहं पाठकाना पदद्वयमनिशं पावनाना त्रिशुद्ध्या । येषा शक्त्यस्ति नित्य श्रवणमपठने पाठने लेखपूज्यम् ॥
शिष्याना तेच दद्यु परममतियुता पापसतापहारा । ये शुद्धं मगलौघ कविमतिजनका शुद्धमाराय शुद्धा ॥३०२॥
पक्षे वा मासमध्ये सुनियमकरणे विद्यतेनल्पशक्ति । मूले वृक्षस्य चापि गिरिशिरसि तथा वा तटे चैव नद्या ॥

करनेवाले समस्त पापोको नाश करनेवाले शरीर रहित समस्त प्रकारके सकल्प विकल्पोसे रहित गुणोके स्थानभूत सब कालमें अनादिनिधन रूपसे विराजमान और नेमिचन्द्र (ग्रंथकर्ताका नाम) आचार्य से वंदनीक ऐसे सिद्ध परमात्मा परम पवित्र मगल प्रदान करो ।

अर्थः— धर्मतीर्थके नायक मुनिवरोसे पूज्यपाद छत्तीस गुणोसे विराजमान समस्त पचाचारके धारण करनेमें कुशल समस्त पापोके नाशक सुधीर वीर पूर्ण ज्ञानके समुद्र ऐसे आचार्य परमेष्ठी हमे मोक्ष पथमें जानेके योग्य मगल प्रदान करो ।

अर्थ — जिनमें समस्त द्वादशागके पठन पाठनकी अपूर्व शक्ति विद्यमान है देवोसे पूजित समस्त संतापका नाश करनेवाले और परमबुद्धिके प्रदान करनेवाले (पाठक) उपाध्याय परमेष्ठी मगल प्रदान करो । मै सतत वदना करता हू ।

अर्थ — पन्द्रह दिवस-अथवा एक मास पर्यंत प्रोपध (उपवास) धारण करनेकी जिनमे अपूर्व शक्ति होती है । जो वृक्षके मूल या पर्वतके शिखर अथवा नदीके किनारेपर योगासन लगाकर अपने आत्मध्यानमें लवलीन होते है

साधूना सर्वकाले पदयुगलमहं वा त्रिशुद्धया च येषां । ते मे हि साधुवर्गाः परमसुखप्रदाः मंगलाय भवंतु ॥३०३॥
एतया परमेष्ठिना बुधजना गात्रस्थपापोत्करा । नानादुःखप्रदायका ह्यतिदृढाश्चैव प्रयांत्येव वै ॥
नाशत्वं अमलासये शुभहृद संस्मरणत तत्क्षणे । कुर्वीध्वं शिवशर्मदं हृदि सदा स्मरण ह्यत पापहम् ॥ ३०४ ॥
आधिव्याधिहरा सुशर्मजनका पापाग्निनाशकरा । वद्या. पूज्या. सुरेंद्रैः सकलगुणधरा पापसतापहीनाः ॥
चेमे वद्या. ययावै भवभयहतकाः ते दिशंतु च नो व । शर्म मोक्षस्य नून गुणनिवहकराः तारकाहि भवाब्धे ॥ ३०५ ॥
त वदे सर्वकाले परमसुखपद श्रीजिनेन्द्रैः प्रणीतम् । भव्याना तारणेशं सकलसुरगणैः सेव्यमान सदास्थम् ॥

ऐसे साधु परमेष्ठी के चरण कमलोको त्रिशुद्धिसे नमस्कार करता हूं । वे साधु परमेष्ठी परम सुखको प्रदान करने वाला मगल प्रदान करो ।

अर्थ—ये उपर्युक्त अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और सर्व साधु पंच परमेष्ठी भव्यजीवोंके समस्त प्रकारके पापोंका नाश करनेवाले हैं । और जिनके स्मरण से अमल गुणोंकी प्राप्ति होती है । वे पंचपरमेष्ठी हमे मंगल प्रदान करो । और हमारे पापोंका नाश करो ।

अर्थ—समस्त प्रकारकी आधिव्याधियोको दूर करनेवाले पापोके सतापको हरनेवाले देवेंद्रोंसे पूज्य समस्त गुणोको धारण करनेवाले ससारके समस्त दुःखोका नाश करनेवाले संसार समुद्रसे तारनेवाले ऐसे पंचपरमेष्ठी मोक्षसुख प्रदान करो ।

अर्थः— परम सुखको प्रदान करनेवाली भव्य जीवोंको संसारसमुद्रसे पार करनेवाली समस्त देवगणोंसे पूज्य

निर्दोषं सत्यपूज्यं विपथनगपविं धीरवीरैर्गणेन्द्रैः । सेनाधस्यैव म्या अमलगुण (युता·) याति मोक्षे सदा हि ॥२०६॥
यो धर्मोऽधर्महंता जिनवरपददो वंदनीयो मुनीन्द्रैः । यावन्मुक्त्यगनायाः परमतपवशात्रैव प्राप्तिर्भिन्मे ॥
तावन्मे शुद्धचित्ते दुरितनगपवि तिष्ठतु सर्वपूज्य । दुःप्राप्यो दुर्जनानाममरमतिनदः सो हि संसारहंता ॥ २०७ ॥
वंदे त धर्मनाथ नरसुरखचरैः सेव्यमान गणेशं । प्राग्भागा ब्रह्मरूप सकलमुनिगणैः सद्दिशायां च सत्यम् ॥
श्रीमत मुक्तिकांतं सकलभयहरं वंदनात्सेनकाना । भक्त्या सीमंधराख्यं हरतु मम हृद सो जिन पापशत्रुम् ॥२०८॥
नरसुरपतिवंद्य पापदावाग्निमेघ—। समस्तगुणनिधानं सर्वतत्त्वार्थसारं ॥

समस्त दोषोंसे विमुक्त, कुमार्गका नाश करनेवाली, पूर्वापर विरोध रहित, निर्मल गुणोंसे पूर्ण ऐसी श्री जिनेन्द्र भगवानके मुखकमलसे विनिर्गत श्री शारदा देवीको मैं त्रिकाल वंदना करता हूं।

अर्थ — अधर्मका नाश करनेवाला, श्री जिनेन्द्र भगवानका उत्तम पद प्रदान करनेवाला, मुनिगणोंसे वंदनीय, परम तपसे प्राप्त, समस्त पापोंको नाश करनेवाला, संसारका विध्वंस करनेवाला, विमल बुद्धिका प्रदान करनेवाला और दुष्ट जीवोंको अप्राप्य ऐसा पवित्र जैनधर्म जब तक मोक्षसुखकी प्राप्ति न हो तब तक मेरे हृदयमें विराजित रहो।

अर्थः— धर्मके ईश, नर सुर विद्याधरोंसे पूज्य, गणधरोंसे सेव्यमान, पूर्व दिशामें ब्रह्माका स्वरूप धारण करनेवाले, मुक्तिके वल्लभ, समस्त भयोंको हरनेवाले ऐसे देवाधिदेव श्री सीमंधर स्वामी मेरे पापशत्रुओंका नाश करो।

अर्थ—नर देव इन्द्र चक्रवर्ती आदि त्रिलोकके जीवोंसे पूज्य पापरूपी दावाग्निको शांत करनेके लिये मेघके समान समस्त गुणोंका निधान सर्व तत्त्वोंका सारभूत ऐसी दिव्य ध्वनिरूप (जिनवाणी) को नमस्कार करता हूं।

जिनवरमुखजातं गौतमाद्यै प्रणीतं । सकलमुनिपसेव्य हि इद भो भजध्वम् ॥ ३०९ ॥

अस्यैव श्रवणाद्भवेन्नरवरा ज्ञानं क्रियाणा तथा । धर्मस्यैव फलस्य शर्मजनक मुक्ते स्वरूपस्य वै ॥

अन्यस्यापि सदैव भो हृदि खलु एव च ज्ञात्वा हृदि । कुर्वीध्व ह्यघहानये अनुदिनं स्वाध्यायमस्यैव वै ॥ ३१० ॥

अस्य प्रयोगात्सकलाश्च अहा । प्रयात्यहो दूरतरा जनाना ॥ खगेश्वरदर्शनतो यथा हि । पवनाशना दुर्जनरूपयुक्ता ॥३११॥

पठंतु चेमं बुधसत्तमास्त अथ मन पापविभजक हि । वादस्य कर्तु गजसिंहतुल्यमनेकभेदार्थभृत मनोज्ञम् ॥ ३१२ ॥

यह वाणी श्रीगौतम स्वामीने प्रतिपादन की हे । और क्रमसे गुरुपरपराद्वारा वैसीही अविच्छिन्न धाराप्रवाह रूप चली आ रही है ।

अर्थ--इस ग्रथराजके श्रवण करनेसे मनुष्य समस्त क्रियाओके ज्ञाता हो जाते है धर्म और धर्मफलके स्वरूप को जानने लग जाते है । जो इस ग्रथराजका स्वाध्याय करेंगे वे समस्त तत्वोंके ज्ञाता होगे । इस लिये पापोके नाश के लिये इस ग्रथराजका स्वाध्याय नित्य प्रतिदिवस करना चाहिये ।

अर्थ—जिस प्रकार गरुडके दर्शन मात्रसे सर्प भाग जाते है । उसी प्रकार इस ग्रंथके पठन पाठन स्वाध्याय और श्रवण करनेसे समस्त पाप शीघ्रही नष्ट हो जाते है ।

अर्थ — इस ग्रंथका पठन पाठन हे भव्यगणो अवश्य ही करिये इससे मनके समस्त पाप शीघ्रही नाश को प्राप्त हो जायगे । यह ग्रंथ वाद विवाद करनेवाले कों सिंहके समान है और अनेक भेदार्थ को प्रकट करनेवाला है ।

सूर्य प्रकाश ग्रंथ प्रशस्तिः

श्रीमूलसंघे विदित भगाया गच्छे हि तस्मिन् वरभारतीये । तस्मिन् बलात्कारगणेतिरम्ये श्रीकुंदकुन्दाख्यमुवशयुक्ते ॥ ३१३ ॥
तपर्द्धियुक्ते वरनंदिनाम्न आम्नायेषु तस्य तपन्मुनेश्च । स्वर्णादिकीर्तिवरसूरिनाम्ना चंपावतीनामपुरे प्रशस्ते ॥ ३१४ ॥
सूरेः हि तस्य वर बोधयुक्त । बभूव सुनाम्ना विदुषांच मान्य ॥ विद्वद्वर श्रीयुतराजमल्ल । शिष्यो नृपै पूजितपादपद्म ॥
नाम्ना फतेचंद्र सुबुद्धियुक्त । शिष्यो बभूवस्य मनोभिराम ॥ शास्त्राब्धिपारंगतचित्तवृत्ति । रवीव देवगवरधर्मकारी ॥ ३१६ ॥
तस्याप्यभूच्छ्रीवरगोववान् वै । वृंदावनाख्य सुरपूज्यपाद ॥ प्रतापवान् शुभगुणांकितश्च ॥ जिनेन्द्रपादाब्जद्विरेफतुल्य ॥३१७॥

अर्थ-संसार मात्रमें प्रसिद्ध ऐसे मूलसंघमें भारतीय नामक गच्छमें बलात्कारगण में और श्रीकुंदकुंद आम्नाय में तप ऋद्धि से विभूषित-पद्मनंदी मुनिकी आम्नायमें स्वर्णकीर्ति नामके प्रसिद्ध आचार्य चंपापुर नगर में थे ।

अर्थ—स्वर्णकीर्ति आचार्यके पट्ट पर विद्वानोंसे मान्य श्रेष्ठ विद्वद्वर्य श्रीयुक्त राजमलजी हुए । जिनके अनेक राजा शिष्य थे ।

श्रीराजमलजी के फतेचंद्रजी नामके सुजन शिष्य थे । फतेचद्रजी समस्त शास्त्रों में पारगत सरस्वतीको अपने चित्तमें धारण करनेवाले और धर्मको प्रकट करनेवाले थे ।

अर्थ—फतेचंद्रजी के वृंदावन नामके शिष्य थे । वे प्रतापी गुणवान् श्रीजिनधर्म के प्रेमी देवताओंसे पुजित ज्ञानकलामें अतिशय निपुण थे ।

स्मरारिहता सकलार्थवेत्ता, परोपकारे धृतशुद्धचित्त । धराधिपै. सेवितपादपद्म धर्माब्धिइन्दुसमभावयुक्त ॥ ३१८ ॥
कलाकलापांकितविग्रहश्च पचाक्षशर्मोद्विमुख सदा वै । मायाभिमानेन विवर्जितांग नि.क्रोधरूपश्च्युतलोभशत्रु ॥ ३१९ ॥
मतांतरपालकभिश्च पादौ सद्वंदितौ यस्य प्रतापतेजसा । तस्यापरा किं कथयामि शोभा धर्मोपदेशे धृतचित्तवृत्ति ॥ ३२० ॥
वृन्दावनस्यापि ह्यभूद्वरेण्य· सीतादिरामाभिधशिष्य वाग्मी । भव्यै नृभि सेवितपादपद्मो मृद्धाशयो वा वरपुण्यमूर्तिः ॥३२१॥
विवेकधर्ता वररूपयुक्त दयाव्रतपालनचचु शुद्ध' । श्रीजैनधर्मस्य प्रकाशकारी विद्वज्जनाना मनमोदकारी ॥
षट्कर्मधर्ता बिहताहवारः श्रीसिद्धभूमेश्च कृता सुयात्रा । सच्छीलव्रतेन विभूषितांगो मानापमाने समधी सदैव ॥

अर्थ—श्रीवृंदावनका वर्णन ऊपर कहा जा चुका है । फिर भी तीन श्लोकोमें विशेष दिखलाते हैं ।

कामदेवको नाश करनेवाले समस्त तत्वको जाननेवाले परोपकार करनेमें विशेष लवलीन राजाओसे सदैव मान्य धर्मको वृद्धिगत करनेके लिए चद्रमाके समान अनेक कलाओसे जगतमें चमत्कार प्रकट करनेवाले पांच इन्द्रियोको जीतनेवाले विषयोसे विरक्त–मान माया लोभ आदि कषायोसे रहित क्रोधादि दुर्भावनासे विरक्त परमशात अनेक मतांतरोका खडन कर समस्त वादियोमे पूजित परम प्रतापी और तेजस्वी ऐसे वृंदावनके गुणोका कौनसे शब्दोसे वर्णन करें । उनके समस्त गुण कह नही सक्ते ।

अर्थः— वृंदावनके शिष्य सीता[illegible] थे । सीतारामजी वाग्मी भव्य जीवोसे पूजित, सरल परिणामी, पुण्य-मूर्ति, विवेकी, सुरूपवान, दयाव्रतके पालनेमें विशेष उपयोग लगानेवाले, अतःकरणकी शुद्धताको धारण करनेवाले, श्री जैनधर्मके प्रभावक विद्वानोसे मान्य, आनद स्वभाववाले, षट्कर्ममें प्रवीण, पापोको नाश करनेवाले, सिद्धभूमिकी यात्रा करनेवाले, शील और व्रतसे विभूषित, मानापमानमें चित्तको सावधान रखनेवाले, परम शांत थे ।

श्री राम ब्रूंते शिवजीहि आदौ शिष्यो धराया विदित. कृपालु' । अभूच्च तस्यापि गुणोत्कराढ्यो विपश्चिदोघेषु सुमुख्यमूर्ति ॥
अनेकविज्ञानप्रकाशकारी सद्धर्मध्याने धृतधीः निशान्हि ॥ सिद्धात पौराणविचारदक्षः सद्गी· सदासेवितधर्मवर्त्मा ॥ ३२२ ॥
कियत्प्रमाब्दैर्विहिताच तेन तत्रैव चंपावति सत्पुरे हि ॥ सद्धर्मयुक्तेन गुणाकरेण भव्याब्जभानुसदृशेन येन ॥ ३२३ ॥
तस्माद्धि चागत्य पुरे मनोज्ञे तक्षाभिधे सैव स्थितिं चकार । कियन्समैर्वा सुखतश्च वाग्मी श्रीधर्मवर्त्मैव प्रवर्द्धनार्थम् ॥
आगत्य तस्मादपि सोहि भव्य द्रोणीपुरे वा विदिते क्षितौ हि ॥ अनेकशोभाभिभृते मनोज्ञे सत्खातिकाशालविमडिते च ॥
तस्मिन् विभात्येव मनोहरोहि जिनेंद्रसद्मो वरभूतियुक्तः ॥ सशोभते तस्मिन् पापहंता श्रीपार्श्वनाथो हि जिनेन्द्रदेव ॥

अर्थः— सीतारामके शिष्य शिवजीराम प्रसिद्ध हुए। शिवजीराम कृपालु, गुणगणोसे विभूषित, विद्वानोमें सबसे अग्रेश्वर, विज्ञानको प्रकट करनेवाले, धर्मध्यानमे अपनी बुद्धिको लगानेवाले, धर्मके सर्व सिद्धांत समुद्रके पारगन् श्रेष्ठ वाणीको प्रकाश करनेवाले और धर्ममार्गकी सदैव सेवा करनेवाले थे।

अर्थः— शिवजीरामजी चपापुर नगरमे विशेष रहे। और धर्मकी महिमा चपापुरमें विशेष रूपसे प्रकट की। फिर वहासे तक्षाभिध नगरमें कुछ समय सुखसे रहे। और यहांपर भी धर्मका उद्योत करते रहे।

शिवजीरामने अपनी पर्यायमें अपनी शक्तिसे असीम धर्मकी महिमा प्रकट की। और स्थान स्थानपर धर्मके प्रकाशनके लिये विहार करते थे।

अर्थ—श्रीयुक्त शिवजी रामजी वहांसे (तक्षनगर से) कुछ दिवस वाद चले आये और द्रोणी नामक ग्राममें रहे। उस समय द्रोणीपुर समस्त ससारमें प्रसिद्ध था। खातिका कोट-सरोवर आदिसे विशेष शोभायुक्त और व्यापार का केन्द्र था। द्रोणीपुरमें एक पार्श्वनाथ भगवान्‌का दिगबर जैन मंदिर था। यह जिन मंदिर बडी बडी भारी विभूतिसे सुशोभित था। उस मंदिरमें समस्त पापोका नाश करनेवाले स्वर्णके सिंहासन पर विराजमान समस्त प्राणि-

मृगारिपीठोपरि सस्थितं हि दर्विकराक मनमोददच । छत्रादि शोभाभि विराजमानं पद्मासनस्थं वरसौम्यमूर्तिम् ॥३२७॥
आतंकमातंगमृगेन्द्रतुल्यं । सुरेन्द्रपूज्यच नगेन्द्रवद्यं ॥ चित्तस्थपापालिविनाशक तं । हंतारमेवाखिलदुःखकाना ॥३२८॥
इत्यादिशोभाभि विमडित तं दृष्ट्वाच नत्वा हृदि प्राप्य मोदं । वासं चकार विदितो धरिश्र्या धर्मोपदेशार्थमहो हि तस्मिन् ॥
तत्रैव तस्यापि अभूच्च शिष्यो । नेमीन्दु नाम्ना वरधीप्रयुक्त । श्रीशारदासेवनचित्तवृत्ति तस्या' प्रसादाच्च अयं कृतोवै ३३०
ग्रंथेऽस्मिन् जिनवक्त्रजे तनुधिया किंचिद्विरुद्धच यत् । मात्राशब्द पदाक्षरादिरहितं आलस्यसंयोगत ॥
राद्धातागमतश्च भो शिवप्रदे नानाकथासभृते । प्रोक्तंच क्षमता सुतद्धि विमले सर्वं ममाग खलु ॥ ३३१ ॥

योको आनंद के देनेवाले छत्र चमर भामडलसे अनुपम आत्माको धारण करनेवाले पद्मासन विराजमान सौम्यमूर्ति परम शांत मुद्राके धारक समस्त रोग शोक आदि व्याधिको दूर करनेवाले देवगणोसे पूजित व भव्य जीवोसे वंदनीय सबके मनके पापोको शांत करनेवाले समस्त प्रकारके कष्टोंको नष्ट करनेवाले सातिशय चमत्कार को धारण करनेवाले इत्यादि बहुतसी शोभासे विभूपित श्री पार्श्वनाथ भगवान् देवाधिदेव विराजमान थे।

शिवजी रामजीने यह स्थान धर्मसाधनके लिये सुयोग्य समझा। और यहांपर वही धर्मोपदेश देकर (धर्मका प्रकाश कर) धर्मकी महिमाको बढाने के अभिप्राय से निवास किया।

अर्थ—द्रोणी नगरमे शिवजीरामके शिष्य नेमिचद्रजीने अनेक शास्त्रोका पठन पाठन किया था और सरस्वती माताकी विशेप सेवा की थी जिसके प्रसाद से इस ग्रथकी रचना हुई।

अर्थ—इस ग्रथ में (सूर्यप्रकाशमें) श्रीजिनवर भगवान् के मुखकमलसे विनिर्गत दिव्यध्वनि (जिनागम) के विरुद्ध जो हो और अक्षरपद मात्रादि दोप तथा व्याकरणके दोप सहित जो कुछ कहा गया हो विद्वान भव्य मेरे अपराधोंको क्षमा करे। शास्त्र समुद्रमें कौन नही भूल खाता है ?

यस्याः प्रसादादृचयंति ग्रंथान् कवीश्वराः धर्मप्रकाशकान् हि। श्रीशारदायाः शुभबुद्धियोगात् ईडे हि तां सन्मतिसिद्धयेहं ॥
पूजार्थं ख्यातितार्थं ननुच बुधजना नो कृतोयंच ग्रंथः। द्वेषाद्वा रागभावात् शिवपदजनको वा कवित्वाभिमानात् ॥
बोधार्थं आत्मनो वै पुनश्च शिवपदप्राप्तये सज्जनानां। संबोधार्थं पुनातु ममच खलु हृदं वा शरीरंच वाक्यम् ॥३३२॥
बुधाश्चेमे ग्रंथं प्रवरगुणद धर्मजनकम्। अघा नाश याति श्रवणपठनादस्य निखिलाः ॥
ततो नूनं दु खनिवहविषमाः दुर्जनसमाः। सदाकाले शुद्धे अमलमतिभा भो पठथ वै ॥ ३३३ ॥

अर्थ—जिस सरस्वती के कृपाकटाक्षसे कवीश्वर धर्मकी महिमाको प्रकट करनेवाले ग्रथोंकी रचना करते हैं। उस सरस्वती माताको मैं भाव विशुद्धिसे सन्मति की प्राप्तिके लिये पूजा करता हूं।

अर्थः— मैने यह ग्रंथ अपनी प्रसिद्धिके लिये या मान बढाई प्राप्त करनेके अभिप्रायसे नही बनाया है या द्वेष और राग भावसे अभिमानके वश होकर नहीं बनाया है। मैने केवल अपनी आत्माको बोध करनेके लिये और सज्जनोको सबोध करनेके लिये पवित्र भावोंसे बनाया है। इसलिये यह ग्रथ मेरे हृदय, वचन और शरीरको पवित्र करो।

भावार्थः— ग्रंथकारका अभिप्राय है कि इस ग्रथकी रचना किसी दुष्ट बुद्धिसे अभिमानकी रक्षाके लिये राग द्वेषके विकार भावोसे या किसी भी स्वार्थ बुद्धिसे नही की है। जिससे इस ग्रंथमें जिनागमके विरुद्ध वर्णन लिखा जाय। जो कुछ वर्णन किया है वह श्री जिनागमका स्वरूप ही है। मात्र शब्द योजना मैने की है।

अर्थः— हे विद्वज्जन हो यह ग्रंथ अनेक गुणोको प्रदान करनेवाला और धर्मका बीजभूत है। इसके श्रवण करने और पढनेसे पाप नाशको प्राप्त होते है। परतु दुर्जनोको यह न रुचेगा। सुजन जन तो सदा काल इसका पठन पाठन करेंगे।

नो सति सज्जनात्र परममुनिनुताः पचमज्ञानिनो हि । लोकाना तारणेशाः सकलसुरनुताः संपदासारयुक्ता ॥
एषु हि संमतान वुधजननिकग तेऽपि शास्त्रेषु नूनम् । तत्तुल्या सति भव्या कलियुगभवने नो खलु सशयोत्र ।३३३।
ग्रथो वुद्धिप्रद सदा सुखकरो ग्रथ श्रिता ज्ञानिनो । ग्रथेनैव समाप्यतेऽमलपदो ग्रथाय तस्मै नम ॥
ग्रथाच्चास्त्यपरो हितोत्र भवने सच्छर्मद सज्जना । ग्रथस्यैव शुभा गुणा शुभप्रदे तस्मिन् हि ग्रथे सदा ॥ ३३४ ॥
नानासारकथाश्रिते वुधजनैर्वद्येच देवेश्वरै । प्रोक्ते श्रीजिनदेवभिश्च महति सर्वैव ग्रंथा खलु ॥
चित्त मोक्षपदे दधेच शुभगं भो ईदृशे नददे । मा त्व चोद्धर शीघ्रमेव भवत ईहाहि नो चापरा ॥ ३३५ ॥

अर्थः— इस विषम पचम कालमें, मुनियोसे पूज्य, समस्त जगतके तारक, अनत चतुष्टय और समोसरणादि विभूतियुक्त ऐसे तीर्थंकर केवली भगवान् साक्षात् नहीं है । परतु उनके वचन ही गणधरोंने तीर्थंकर केवली भगवान माने है । केवली और उनके वचनोमें भेद नही है । इसमें कुछ सदेह नहीं करना चाहिये ।

ग्रथ ही वुद्धिके प्रदाता है सुखको करनेवाले है । ज्ञानी पुरुषोने ग्रथोका आश्रय ग्रहण किया है । ग्रथो से ही अमलपदकी प्राप्ति होती है । ग्रथके लिये मेरा नमस्कार हो । ग्रथके सिवाय अन्य कोई इस ससार में सुखका प्रदाता नही है । ग्रथके शुभ गुण सर्वत्र प्रसिद्ध है—ग्रथमें शुभ गुण रहते है ।

अर्थ—अनेक कथाओसे विभूषित वुध जनोसे मान्य श्रीजिनराजके मुखकमलसे प्रतिपादित समस्त प्रकारके आनदको प्रदान करनेवाले मोक्षको देनेवाले और ससारका नाश करनेवाले ऐसे शास्त्रोको भव्य जीव अपने हृदयमंदिर में विराजमान करते है ।

ग्रंथेमं बुधसत्तमा· शिवप्रदं विद्वद्वरेणैव वै । प्रोक्तं पापप्रणाशक बुधनुतं सद्बुद्धिद पावनम् ॥
सारं सिद्धान्तसिन्धो. सकलमन प्रियं नेमिचन्द्रेण धीरा. । बुद्धयब्धे पारप्राप्ता सकलमदच्युतास्ते मुदा शोधयतु ॥
जिनेन्द्रपादाब्जमधुव्रतेन ग्रथ कृतोय शुभचेतसा वै । तेन मुदा भव्यप्रबोधनार्थं शिवाय वोऽस्तु ननु नोपि शुद्ध ॥३३७
कराच्च स्वस्यैव लिखति चेद वित्ताच्च स्वस्यैव च लेखयति । श्रीजैनमार्गस्य प्रवर्द्धनार्थं तस्मै भविष्यति सुबोधयुक्ता: ॥
ग्रंथ सूर्यप्रकाशनामकलितो विद्वज्जनैर्वंदित । सूर्याचंद्रमसा उडूपनिकरा अभ्रे महानिर्मले ॥
स्थास्यंत्येव स्वयं यथाक्षितितले मिथ्यामतध्वसनो । मान्यो भव्यनृभिस्तथाहि भवने पूज्यश्चिर नदतु ॥ ३३९ ॥

अर्थ—समस्त पापोका नाश करनेवाला बुद्धिका प्रदाता मोक्षके सुखको देनेवाला परमपवित्र सिद्धांतका सार भूत समस्त जनोको प्रिय यह सूर्यप्रकाश ग्रथ श्री विद्वद्वर्य श्री नेमिचद्रने बनाया है । इसका निरभिमानी विद्वान गण शोधन करें ।

अर्थः— श्री जिनराजके पवित्र चरणोकी सेवा करनेमें तत्पर, विशुद्ध भावोंसे विभूपित ऐसे नेमिचद्रने भव्य जीवोके प्रबोधके लिये तथा अपने आत्मकल्याणके लिये यह ग्रंथ बनाया है ।

अर्थः— जो सज्जन इस ग्रथको अपने हाथोसे लिखेंगे या जो भव्य जीव अपनी संपत्तिसे लिखायेंगे और इसका विस्तार करेंगे वे जैन धर्मकी वृद्धि करेंगे उनको भविष्यमें श्रेष्ठ ज्ञान सपादन होगा ।

अर्थः— विद्वज्जनोसे वदनीक भव्य जीवोसे सदैव मान्य और मिथ्या मतका ध्वंस करनेवाला यह सूर्यप्रकाश नामका ग्रथ संसारमें जब तक सूर्यचंद्र या ग्रहनक्षत्र हैं तब तक सदैव स्थिर रहो । चिरकाल तक जैनधर्मका प्रकाश करो ।

अथच ग्रथ पठकस्य नित्यं करोतु पापालिविनाशनंहि । सन्मगलं बुद्धिवरा तथाहि ह्ृद्वाछितं शर्मततिं पुनश्च । ३४०॥
समाधिमृत्यु सुगतिं तथैव सद्दर्शन ज्ञान तथाच व्रतम् । पुत्रादिवृद्धिं जिनधर्मसिद्धिं जिनपादद्वयसन्नुतिंच ॥३४१॥
ममापि सर्वे सुगुणा भवतु इमेहि मोक्षपददायकाश्च । दु पापसंदोहविनाशकाश्च नाकादि स्यात् तस्य कथाहि नास्ति ॥
अकाश्रनंदेदुप्रमेहि चाब्दे मित्राद्रिशैलेन्दु सुशाकयुक्ते । मासे नभाख्ये शुभनदपक्षे विरोचनस्यैव सुवारके हि ॥ ३४३ ॥
द्रोणोनगर्यां विदितेऽचलायामनेकशोभाविमडिते च । मध्यान्हकाले अरुणस्य शुद्धे । राधानक्षत्रे शुभनामयोगे ॥३४४॥
श्रीपार्श्वनाथायतने हि तस्मिन् सपूर्णता हि अगमदय च । सदा पुनातु प्रवरो हि ग्रंथो नो वश्च चित्त जयति धरित्र्याम् ॥३४५॥

अर्थः— यह सूर्यप्रकाश ग्रथ पढनेवाले भव्य जीवोके पापोका नाश करो, मगल करो, बुद्धि प्रदान करो और मनके मनोरथ सफल करो।

अर्थः— यह ग्रथ पढनेवालोको समाधि मरण, सुगति गमन, बोधि लाभ, पुत्रकलत्र आदिकी प्राप्ति और जिनधर्मकी सिद्धि प्रदान करो।

अर्थः--यह सूर्यप्रकाश ग्रथ ग्रथकर्ता श्रीनेमिचदको भी समस्त गुणोकी प्राप्ति करो जिससे मोक्षसुख की प्राप्ति हो और पापोका नाश हो। स्वर्गके सुखोंकी आवश्यकता नही है।

अर्थः—यह सूर्यप्रकाश ग्रथ ससारमें प्रसिद्ध विचित्र शोभा से सुशोभित द्रोणी (दूनी) नगरमें मध्यान्ह के समय राधा नक्षत्र शुभयोगमें विशुद्ध भावोंसे श्रीपार्श्वनाथ दिगबर जैन चैत्यालय मे पूर्ण किया। यह ग्रंथ चिरकाल पर्यंत ससारमें जैनधर्मकी वृद्धि करो, हमारे चित्तको पवित्र करो।

ज्ञानी ध्यानी मुनीन्द्रो मुनिगणमहितो नेमिचंद्रश्च नाम्ना । सिद्धान्तावारकर्ता सकलमुनिगणेपुच मुख्यत्वमाप ॥
योहि देवै प्रपूज्य सुरगुरुमतिम द्वंद्वभिर्वर्जिताग । सैव सपातु नोव शिवन्दसुखद मंगलं वा करोतु ॥३४६॥

अर्थ—अनागत प्रकाशादिकके कर्ता और गोमट्टसार आदि महान ग्रंथोंके निर्माता श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती मुनीश्वर का आभार (नेमिचंद्र ग्रंथकार) माननेके लिये विनयसे श्रीनेमिचन्द्र मुनीश्वरका गुणानुवाद करता है । क्योंकि उनके अनागत प्रकाशसेही यह ग्रंथ निर्माण किया है। अतएव जिसने उपकार किया है उनका आभार मानना परमावश्यक है ।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ज्ञानी ध्यानी तपस्वी व समस्त मुनियोंमे मान्य थे जिन्होने सिद्धांत ग्रंथ बनाये है जो देवोंसे पूज्य समस्त प्रकारके द्वंद्वसे रहित मुनियोंके स्वामी बृहस्पतिके समान ऐसे श्री नेमिचन्द्र आचार्य ग्रंथकर्ता नेमिचन्द्रको मंगल प्रदान करो ।

इति श्री मुनिनेमिचद्रसिद्धातचक्रवर्तिना कृत अनागत प्रकाशग्रथस्तदनुसारतो विद्वद्वर श्रीनेमिचन्द्र-
विरचिते श्रीसूर्यप्रकाशनामग्रथे श्रीकुदकुदस्वाम्याद्युत्पत्तिवर्णनो नाम
प्रथमोध्याय. ॥

श्रीरस्तु—कल्याणमस्तु । श्री

सूर्यप्रकाशग्रंथ समाप्तः ॥